ॐ अर्हं

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क १७

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्रीजोरावरमलजी महाराज की पुण्य-स्मृति मे आयोजित]

दशममङ्गम्

प्रश्नव्याकरणसूत्रम्

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, परिशिष्ट, शब्दकोश सहित]

सन्निधि □
उपप्रवर्त्तक शासनसेवी स्वामी श्री व्रजलालजी महाराज

सयोजक तथा प्रधान सम्पादक □
युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

अनुवादक □
मुनिश्री प्रवीणऋषिजी महाराज

सम्पादक □
प० शोभाचन्द्र भारिल्ल

प्रकाशक □
श्री आगम प्रकाशन-समिति, ब्यावर (राजस्थान)

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्त्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि
पण्डित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल

☐ प्रबन्धसम्पादक
श्रीचन्द सुराणा 'सरस'

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ प्रकाशनतिथि
वि. स २०४०, ई. सन् १९८३

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशनसमिति
जैनस्थानक, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य ३५) रुपये

Published at the Holy Remembrance occasion

of

Rev Guru Sri Joravarmalji Maharaj

TENTH ANGA

A H VY¯ A A T A

[With Original Text, Hindi Version, Notes, Annotations, Appendices etc]

Proximity ☐

Up-pravartaka Shasansevi Rev Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Chief Editor ☐

Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Translator ☐

Muni Shri Praveen Rishiji Maharaj

Editor ☐

Pt Shobha Chandra Bharilla

Publishers ☐

Sri Agam Prakashan Samiti

Beawar (Raj)

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्त्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि
पण्डित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल

☐ प्रबन्धसम्पादक
श्रीचन्द सुराणा 'सरस'

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ प्रकाशनतिथि
वि. स २०४०, ई. सन् १९८३

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशनसमिति
जैनस्थानक, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य ३५) रुपये

समर्पण

जिनके जीवन का क्षण–क्षण, कण-कण परम उज्ज्वल, निर्मल सयमाराधन से अनुप्राणित था,

जिनका व्यक्तित्व सत्य, शील तथा आत्मशौर्य की दिव्य ज्योति से जाज्वल्यमान था,

ध्यान तथा स्वाध्याय के सुधा-रस से जो सर्वथा आप्यायित थे,

धर्मसघ के समुन्नयन एव समुत्कर्ष मे जो सहज आत्मतुष्टि की अनुभूति करते थे,

"मनसि वचसि काये पुरायपीयूषपूर्णा" के जो सजीव निदर्शन थे,

मेरे सयम-जीवितव्य, विद्या-जीवितव्य तथा साहित्यिक सर्जन मे जिनकी प्रेरणा, सहयोग, प्रोत्साहन मेरे लिए अमर वरदान थे,

आगम-वाणी की भावात्मक परिव्याप्ति जिनकी रग-रग मे उल्लसित थी,

मेरे सर्वतोमुखी अभ्युदय, धर्मशासन के अभिवर्धन तथा अध्यात्म-प्रभावना मे ही जिन्होने जीवन की सारवत्ता देखी,

उन परम श्रद्धास्पद, महातपा, बालब्रह्मचारी, सयम-सूर्य,

मेरे समादरणीय गुरुपम, ज्येष्ठ गुरु-बन्धु, स्व उप-प्रवर्तक परम पूज्य प्रात स्मरणीय

मुनि श्री व्रजलालजी स्वामी

म सा की पुण्य स्मृति मे,
श्रद्धा, भक्ति, आदर एवं विनयपूर्वक समर्पित

—मधुकर मुनि

Jinagam Granthmala Publication No 17

Board of Editors

Anuyoga-pravartaka Muni Shri Kanhaiyalal 'Kamal'

Sri Devendra Muni Shastri

Sri Ratan Muni

Pt Shobhachandra Bharilla

Managing Editor

Srichand Surana 'Saras'

Promotor

Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendramuni 'Dinakar'

Publihers

Sri Agam Prakashan Samiti,
Jain Sthanak, Pipaliya Bazar, Beawar (Raj)
Pin 305901

Printer

Satish Chandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kesarganj, Ajmer

Price : Rs. 35/-

प्रकाशकीय

अतीव प्रसन्नता के साथ आगमप्रेमी स्वाध्यायशील पाठको के कर-कमलो मे दसवाँ अग प्रश्नव्याकरण समर्पित किया जा रहा है। श्रीमद्‌भगवतीसूत्र और साथ ही प्रज्ञापनासूत्र के दूसरे भाग मुद्रणाधीन है। इनका मुद्रण पूर्त्ति के सन्निकट है। यथासभव शीघ्र ये भी पाठको के ममक्ष प्रस्तुत किए जा सकेंगे। तत्पश्चात् उत्तराध्ययन मुद्रणालय मे देने की योजना है, जो सम्पादित हो चुका है।

प्रस्तुत अग का अनुवाद श्रमणसघ के आचार्यवय पूज्य श्री आनन्दऋषिजी म सा के विद्वान् सन्त श्री प्रवीणऋषिजी म ने किया है। इसके सम्पादन-विवेचन मे प श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आशा है पाठको को यह सस्करण विशेष उपयोगी होगा ।

श्रमणसघ के युवाचार्य विद्वद्वरिष्ठ पूज्य श्री मिश्रीमलजी म 'मधुकर' के प्रति, जिनके प्रवल प्रयास एव प्रभाव के कारण यह विराट् श्रुतसेवा का कार्य सफलतापूर्वक चल रहा है, आभार प्रकट करने के लिए हमारे पास उपयुक्त शब्द नही है।

जिन-जिन महानुभावो का आर्थिक, वौद्धिक तथा अन्य प्रकार से प्रत्यक्ष-परोक्ष सहकार प्राप्त हो रहा है और जिसकी बदौलत हम द्रुतगति से प्रकाशन-कार्य को अग्रसर करने मे समर्थ हो सके है, उन सब के प्रति भी आभार प्रकट करना हमारा कर्त्तव्य है।

अन्त मे, घोर परिताप एव दु ख के साथ उल्लेख करना पड रहा है कि जिन महान् सन्त की सात्त्विक सन्निधि और शुभाशीर्वाद से आगम प्रकाशन का यह पुण्य अनुष्ठान चल रहा था, उन प पू उपप्रवर्त्तक श्री व्रजलालजी म सा का सान्निध्य अब हमे प्राप्त नही रहेगा। दिनाक २ जुलाई, १९८३ को धूलिया (खानदेश) मे आपका स्वर्गवास हो गया। तथापि हमे विश्वास है कि आपका परोक्ष शुभाशीर्वाद हमे निरन्तर प्राप्त रहेगा और शक्ति प्रदान करता रहेगा। प्रस्तुत आगम उन्ही महात्मा की सेवा मे समर्पित किया जा रहा है।

रतनचन्द मोदी	जतनराज मेहता	चांदमल विनायकिया
अध्यक्ष	महामत्री	मत्री

श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

प्रकाशकीय

अतीव प्रसन्नता के साथ आगमप्रेमी स्वाध्यायशील पाठको के कर-कमलो मे दसवाँ अग प्रश्नव्याकरण समर्पित किया जा रहा है। श्रीमद्भगवतीसूत्र और साथ ही प्रज्ञापनासूत्र के दूसरे भाग मुद्रणाधीन है। इनका मुद्रण पूर्त्ति के सन्निकट है। यथासभव शीघ्र ये भी पाठको के समक्ष प्रस्तुत किए जा सकेगे। तत्पश्चात् उत्तराध्ययन मुद्रणालय मे देने की योजना है, जो सम्पादित हो चुका है।

प्रस्तुत अग का अनुवाद श्रमणसघ के आचार्यवर्य पूज्य श्री आनन्दऋषिजी म सा के विद्वान् सन्त श्री प्रवीणऋषिजी म ने किया है। इसके सम्पादन-विवेचन मे प श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आशा है पाठको को यह सस्करण विशेष उपयोगी होगा ।

श्रमणसघ के युवाचार्य विद्वद्वरिष्ठ पूज्य श्री मिश्रीमलजी म 'मधुकर' के प्रति, जिनके प्रबल प्रयास एव प्रभाव के कारण यह विराट् श्रुतसेवा का कार्य सफलतापूर्वक चल रहा है, आभार प्रकट करने के लिए हमारे पास उपयुक्त शब्द नही है।

जिन-जिन महानुभावो का आर्थिक, बौद्धिक तथा अन्य प्रकार से प्रत्यक्ष-परोक्ष सहकार प्राप्त हो रहा है और जिसकी बदौलत हम द्रुतगति से प्रकाशन-कार्य को अग्रसर करने मे समर्थ हो सके है, उन सब के प्रति भी आभार प्रकट करना हमारा कर्त्तव्य है।

अन्त मे, घोर परिताप एव दु ख के साथ उल्लेख करना पड रहा है कि जिन महान् सन्त की सात्त्विक सन्निधि और शुभाशीर्वाद से आगम प्रकाशन का यह पुण्य अनुष्ठान चल रहा था, उन प पू उपप्रवर्त्तक श्री व्रजलालजी म सा का सान्निध्य अब हमे प्राप्त नही रहेगा। दिनाक २ जुलाई, १९८३ को धूलिया (खानदेश) मे आपका स्वर्गवास हो गया। तथापि हमे विश्वास है कि आपका परोक्ष शुभाशीर्वाद हमे निरन्तर प्राप्त रहेगा और शक्ति प्रदान करता रहेगा। प्रस्तुत आगम उन्ही महात्मा की सेवा मे समर्पित किया जा रहा है।

रतनचन्द मोदी	जतनराज मेहता	चांदमल विनायकिया
अध्यक्ष	महामत्री	मत्री

श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

आदि-वचन

विश्व के जिन दार्शनिको—दृष्टाओ/चिन्तको ने "आत्मसत्ता" पर चिन्तन किया है, या आत्म-साक्षात्कार किया है, उन्होने पर-हितार्थ आत्म-विकास के साधनो तथा पद्धतियो पर भी पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। आत्मा तथा तत्सम्बन्धित उनका चिन्तन-प्रवचन आज आगम/पिटक/वेद/उपनिषद् आदि विभिन्न नामो से विश्रुत है।

जैनदर्शन की यह धारणा है कि आत्मा के विकारो—राग-द्वेष आदि को साधना के द्वारा दूर किया जा-सकता है, और विकार जब पूर्णत निरस्त हो जाते हैं तो आत्मा की शक्तिया ज्ञान/सुख/वीर्य आदि सम्पूर्ण रूप मे उद्घाटित-उद्भासित हो जाती हैं। शक्तियो का सम्पूर्ण प्रकाश-विकास ही सर्वज्ञता है और सर्वज्ञ/आप्त-पुरुष की वाणी, वचन/कथन/प्ररूपणा—"आगम" के नाम से अभिहित होती है। आगम अर्थात् तत्त्वज्ञान, आत्म-ज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिबोध देने वाला शास्त्र/सूत्र/आप्तवचन।

सामान्यत सर्वज्ञ के वचनो/वाणी का सकलन नही किया जाता, वह बिखरे सुमनो की तरह होती है, किन्तु विशिष्ट अतिशयसम्पन्न सर्वज्ञ पुरुष, जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते है, सघीय जीवन पद्धति मे धर्म-साधना को स्थापित करते है, वे धर्मप्रवर्तक/अरिहत या तीर्थंकर कहलाते है। तीर्थंकर देव की जनकल्याणकारी वाणी को उन्ही के अतिशयसम्पन्न विद्वान् शिष्य गणधर सकलित कर "आगम" या शास्त्र का रूप देते है अर्थात् जिन-वचनरूप सुमनो की मुक्त वृष्टि जब मालारूप मे ग्रथित होती है तो वह "आगम" का रूप धारण करती है। वही आगम अर्थात् जिन-प्रवचन आज हम सब के लिए आत्म-विद्या या मोक्ष-विद्या का मूल स्रोत हैं।

"आगम" को प्राचीनतम भाषा मे "गणिपिटक" कहा जाता था। अरिहतो के प्रवचनरूप समग्र शास्त्र-द्वादशाग मे समाहित होते हैं और द्वादशाग/आचाराग-सूत्रकृताग आदि के अग-उपाग आदि अनेक भेदोपभेद विकसित हुए है। इस द्वादशागी का अध्ययन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक और उपादेय माना गया है। द्वादशागी मे भी बारहवा अग विशाल एव समग्र श्रुतज्ञान का भण्डार माना गया है, उसका अध्ययन बहुत ही विशिष्ट प्रतिभा एव श्रुतसम्पन्न साधक कर पाते थे। इसलिए सामान्यत एकादशाग का अध्ययन साधको के लिए विहित हुआ तथा उसी ओर सबकी गति/मति रही।

जब लिखने की परम्परा नही थी, लिखने के साधनो का विकास भी अल्पतम था, तब आगमो/शास्त्रो/को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से कठस्थ करके सुरक्षित रखा जाता था। सम्भवत इसलिए आगम ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा गया और इसीलिए श्रुति/स्मृति जैसे सार्थक शब्दो का व्यवहार किया गया। भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद तक आगमो का ज्ञान स्मृति/श्रुति परम्परा पर ही आधारित रहा। पश्चात् स्मृतिदौर्बल्य, गुरुपरम्परा का विच्छेद, दुष्काल-प्रभाव आदि अनेक कारणो से धीरे-धीरे आगमज्ञान लुप्त होता चला गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पदमात्र रह गया। मुमुक्षु श्रमणो के लिए यह जहाँ चिन्ता का विषय था, वहाँ चिन्तन की तत्परता एव जागरूकता को चुनौती भी थी। वे तत्पर हुए श्रुतज्ञान-निधि के सरक्षण हेतु। तभी महान् श्रुतपारगामी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने विद्वान् श्रमणो का एक सम्मेलन बुलाया और स्मृति-दोष से लुप्त होते आगम-ज्ञान को सुरक्षित एव सजोकर रखने का आह्वान किया। सर्व-सम्मति से आगमो को लिपि-बद्ध किया गया।

जिनवाणी को पुस्तकारूढ करने का यह ऐतिहासिक कार्य वस्तुत आज की समग्र ज्ञान-पिपासु प्रजा के लिए एक अवर्णनीय उपकार सिद्ध हुआ। सस्कृति, दर्शन, धर्म तथा आत्म-विज्ञान की प्राचीनतम ज्ञानधारा को प्रवहमान रखने का यह उपक्रम वीरनिर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् प्राचीन नगरी वलभी (सौराष्ट्र) मे आचार्य श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे सम्पन्न हुआ। वैसे जैन आगमो की यह दूसरी अन्तिम वाचना थी, पर लिपिवद्ध करने का प्रथम प्रयास था। आज प्राप्त जैन सूत्रो का अन्तिम स्वरूप-सस्कार इसी वाचना मे सम्पन्न किया गया था।

पुस्तकारूढ होने के वाद आगमो का स्वरूप मूल रूप मे तो सुरक्षित हो गया, किन्तु काल-दोष, श्रमण-सघो के आन्तरिक मतभेदो, स्मृतिदुर्वलता, प्रमाद एव भारतभूमि पर बाहरी आक्रमणो के कारण विपुल ज्ञान-भण्डारो का विध्वस आदि अनेकानेक कारणो से आगमज्ञान की विपुल सम्पत्ति, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा धीरे-धीरे क्षीण एव विलुप्त होने से नही रुकी। आगमो के अनेक महत्त्वपूर्ण पद, सन्दर्भ तथा उनके गूढार्थ का ज्ञान, छिन्न-विछिन्न होते चले गए। परिपक्व भाषाज्ञान के अभाव मे, जो आगम हाथ से लिखे जाते थे, वे भी शुद्ध पाठ वाले नही होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही मिलते। इस प्रकार अनेक कारणो से आगम की पावन धारा सकुचित होती गयी।

विक्रमीय सोलहवी शताब्दी मे वीर लोकाशाह ने इस दिशा मे क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमो के शुद्ध और यथार्थ अर्थज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुन चालू हुआ। किन्तु कुछ काल बाद उसमे भी व्यवधान उपस्थित हो गये। साम्प्रदायिक-विद्वेष, सैद्धान्तिक विग्रह तथा लिपिकारो का अत्यल्प ज्ञान आगमो की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थबोध मे बहुत बडा विघ्न बन गया। आगम-अभ्यासियो को शुद्ध प्रतिया मिलना भी दुर्लभ हो गया।

उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो सुधी पाठको को कुछ सुविधा प्राप्त हुई। धीरे-धीरे विद्वत्-प्रयासो से आगमो की प्राचीन चूर्णिया, निर्युक्तिया, टीकायें आदि प्रकाश मे आई और उनके आधार पर आगमो का स्पष्ट-सुगम भावबोध सरल भाषा मे प्रकाशित हुआ। इससे आगम-स्वाध्यायी तथा ज्ञान-पिपासु जनो को सुविधा हुई। फलत आगमो के पठन-पाठन की प्रवृत्ति वढी है। मेरा अनुभव है, आज पहले से कही अधिक आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढी है, जनता मे आगमो के प्रति आकर्षण व रुचि जागृत हो रही है। इस रुचि-जागरण मे अनेक विदेशी आगमज्ञ विद्वानो तथा भारतीय जैनेतर विद्वानो की आगम-श्रुत-सेवा का भी प्रभाव व अनुदान है, इसे हम सगौरव स्वीकारते हैं।

आगम-सम्पादन-प्रकाशन का यह सिलसिला लगभग एक शताब्दी से व्यवस्थित चल रहा है। इस महनीय-श्रुत-सेवा मे अनेक समर्थ श्रमणो, पुरुपार्थी विद्वानो का योगदान रहा है। उनकी सेवाये नीव की ईंट की तरह आज भले ही अदृश्य हो, पर विस्मरणीय तो कदापि नही, स्पष्ट व पर्याप्त उल्लेखो के अभाव मे हम अधिक विस्तृत रूप मे उनका उल्लेख करने मे असमर्थ है, पर विनीत व कृतज्ञ तो है ही। फिर भी स्थानकवासी जैन परम्परा के कुछ विशिष्ट-आगम श्रुत-सेवी मुनिवरो का नामोल्लेख अवश्य करना चाहेंगे।

आज मे लगभग साठ वर्ष पूर्व पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज ने जैन आगमो—३२ सूत्रो का प्राकृत मे हिन्दी वोली मे अनुवाद किया था। उन्होने अकेले ही वत्तीस सूत्रो के अनुवाद का कार्य सिर्फ ३ वर्ष व १५ दिन मे पूर्ण कर अद्भुत कार्य किया। उनकी दृढ लगनशीलता, साहस एव आगमज्ञान की गम्भीरता उनके कार्य मे ही स्वत परिलक्षित होती है। वे ३२ ही आगम अल्प समय मे प्रकाशित भी हो गये।

इससे आगमपठन बहुत सुलभ व व्यापक हो गया और स्थानकवासी-तेरापथी समाज तो विशेष उपकृत हुआ।

गुरुदेव श्री जोरावरमल जी महाराज का संकल्प

मैं जब प्रात स्मरणीय गुरुदेव स्वामीजी श्री जोरावरमलजी म० के सान्निध्य मे आगमो का अध्ययन-अनुशीलन करता था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित आचार्य अभयदेव व शीलाक की टीकाओ से युक्त कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्ही के आधार पर मै अध्ययन-वाचन करता था। गुरुदेवश्री ने कई बार अनुभव किया— यद्यपि यह सस्करण काफी श्रमसाध्य व उपयोगी है, अब तक उपलब्ध सस्करणो मे प्राय शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट है, मूलपाठो मे व वृत्ति मे कही-कही अशुद्धता व अन्तर भी है। सामान्य जन के लिये दुरूह तो है ही। चू कि गुरुदेवश्री स्वय आगमो के प्रकाण्ड पण्डित थे, उन्हे आगमो के अनेक गूढार्थ गुरु-गम से प्राप्त थे। उनकी मेधा भी व्युत्पन्न व तर्क-प्रवण थी, अत वे इस कमी को अनुभव करते थे और चाहते थे कि आगमो का शुद्ध, सर्वोपयोगी ऐसा प्रकाशन हो, जिससे सामान्य ज्ञान वाले श्रमण-श्रमणी एव जिज्ञासु जन लाभ उठा सकें। उनके मन की यह तडप कई बार व्यक्त होती थी। पर कुछ परिस्थितियो के कारण उनका यह स्वप्न-सकल्प साकार नही हो सका, फिर भी मेरे मन मे प्रेरणा बन कर अवश्य रह गया।

इसी अन्तराल म आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, श्रमणसघ के प्रथम आचार्य जैनधर्मदिवाकर आचार्य श्री आत्माराम जी म०, विद्वद्रत्न श्री घासीलाल जी म० आदि मनीषी मुनिवरो ने आगमो की हिन्दी, सस्कृत, गुजराती आदि भाषाओ मे सुन्दर विस्तृत टीकाये लिखकर या अपने तत्त्वावधान मे लिखवा कर कमी को पूरा करने का महनीय प्रयत्न किया है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय के विद्वान् श्रमण परमश्रुतसेवी स्व० मुनि श्री पुण्यविजय जी ने आगम-सम्पादन की दिशा मे बहुत व्यवस्थित व उच्चकोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। विद्वानो ने उसे बहुत ही सराहा। किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उस मे व्यवधान उत्पन्न हो गया। तदपि आगमज्ञ मुनि श्री जम्बूविजयजी आदि के तत्त्वावधान मे आगम-सम्पादन का सुन्दर व उच्चकोटि का कार्य आज भी चल रहा है।

वर्तमान मे तेरापथ सम्प्रदाय मे आचार्य श्री तुलसी एव युवाचार्य महाप्रज्ञजी के नेतृत्व मे आगम-सम्पादन का कार्य चल रहा है और जो आगम प्रकाशित हुए हैं उन्हे देखकर विद्वानो को प्रसन्नता है। यद्यपि उनके पाठ-निर्णय मे काफी मतभेद की गु जाइश है, तथापि उनके श्रम का महत्त्व है। मुनि श्री कन्हैयालाल जी म० "कमल" आगमो की वक्तव्यता को अनुयोगो मे वर्गीकृत करके प्रकाशित कराने की दिशा मे प्रयत्नशील हैं। उनके द्वारा सम्पादित कुछ आगमो मे उनकी कार्यशैली की विशदता एव मौलिकता स्पष्ट होती है।

आगम-साहित्य के वयोवृद्ध विद्वान् प० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, विश्रुत मनीषी श्री दलसुखभाई मालवणिया जैसे चिन्तनशील प्रज्ञापुरुष आगमो के आधुनिक सम्पादन की दिशा मे स्वय भी कार्य कर रहे हैं तथा अनेक विद्वानो का मार्ग-दर्शन कर रहे है। यह प्रसन्नता का विषय है।

इस सब कार्य-शैली पर विहगम अवलोकन करने के पश्चात् मेरे मन मे एक सकल्प उठा। आज प्राय सभी विद्वानो की कार्यशैली काफी भिन्नता लिये हुए है। कही आगमो का मूल पाठ मात्र प्रकाशित किया जा रहा है तो कही विशाल व्याख्याएँ की जा रही है। एक पाठक के लिए दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। सामान्य पाठक को सरलतापूर्वक आगमज्ञान प्राप्त हो सके एतदर्थ मध्यमार्ग का अनुसरण आवश्यक है। आगमो का ऐसा सस्करण होना चाहिए जो सरल हो, सुबोध हो, सक्षिप्त हो और प्रामाणिक हो। मेरे गुरुदेव ऐसा ही चाहते थे। इसी भावना को लक्ष्य मे रख कर मैंने ५-६ वर्ष पूर्व इस विषय की चर्चा प्रारम्भ की

थी, सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् वि स २०३६ वैशाख शुक्ला दशमी, भगवान् महावीर कैवल्यदिवस को यह दृढ निश्चय घोषित कर दिया और आगमबत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहसिक निर्णय मे गुरुभ्राता शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलाल जी म की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा प्रमुख सम्बल बना है। साथ ही अनेक मुनिवगे तथा सद्गृहस्थो का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये बिना मन सन्तुष्ट नही होगा। आगम अनुयोग शैली के सम्पादक मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल", प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म० के प्रशिष्य भण्डारी श्री पदमचन्दजी म० एव प्रवचन-भूषण श्री अमरमुनिजी, विद्वद्रत्न श्री ज्ञानमुनिजी म०, स्व० विदुषी महासती श्री उज्ज्वलकु वरजी म० की सुशिष्याएँ महासती दिव्यप्रभाजी, एम ए, पी-एच डी, महासती मुक्तिप्रभाजी एम ए, पी-एच डी तथा विदुषी महासती श्री उमरावकु वरजी म० 'अर्चना', विश्रुत विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, सुख्यात विद्वान् प० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, स्व प श्री हीरालालजी शास्त्री, डा० छगनलालजी शास्त्री एव श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" आदि मनीषियो का सहयोग आगमसम्पादन के इस दुरूह कार्य को सरल बना सका है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिभूत है। इसी के साथ सेवा-सहयोग की दृष्टि से सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एव महेन्द्र मुनि का साहचर्य-सहयोग, महासती श्री कानकु वरजी, महासती श्री झणकारकु वरजी का सेवाभाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रसग पर इस कार्य के प्रेरणा-स्रोत स्व० श्रावक चिमनसिंहजी लोढा, तथा श्री पुखराजजी *सिसोदिया का स्मरण भी सहजरूप मे हो आता है जिनके अथक प्रेरणा-प्रयत्नो से आगम समिति अपने कार्य मे* इतनी शीघ्र सफल हो रही है। चार वर्ष के अल्पकाल मे ही सत्तरह आगम ग्रन्थो का मुद्रण तथा करीब १५-२० आगमो का अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सब सहयोगियो की गहरी लगन का द्योतक है।

मुझे सुदृढ विश्वास है कि परम श्रद्धेय स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज आदि तपोपूत आत्माओ के शुभाशीर्वाद से तथा हमारे श्रमणसघ के भाग्यशाली नेता राष्ट्र-सत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० आदि मुनिजनो के सद्भाव-सहकार के बल पर यह सकल्पित जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी शुभाशा के साथ,

—मुनि मिश्रीमल "मधुकर"
(युवाचार्य)

□□

प्रस्तावना

आगमसाहित्य और प्रश्नव्याकरणसूत्र

दो धर्मधारायें

भारतीय सस्कृति, सभ्यता, आचार-विचार, चिन्तन यहा तक कि लौकिक और लोकोत्तर दृष्टिकोण दो धाराओ मे प्रवाहित हुआ है। एक धारा 'वैदिक' और दूसरी धारा 'श्रमण' के नाम से प्रसिद्ध हुई। बाद मे वैदिकधारा वैदिकधर्म और श्रमणधारा जैनधर्म एव बौद्धधर्म के नाम से प्रचलित हो गई। इन दोनो की तुलना की जाए तो उनका पार्थक्य स्पष्ट हो जाएगा।

तुलना का मुख्य माध्यम उपलब्ध साहित्य ही हो सकता है। साहित्य एक ऐसा कोश है जिसमे ऐतिहासिक सूत्र भी मिलते हैं और उन आचार-विचारो का पु ज भी मिलता है जो समाज-रचना तथा लोकोत्तर साधना के मौलिक उपादान होते है।

वैदिकधर्म की साहित्यिक परम्परा की आद्य इकाई वेद है। वेदो का चिन्तन इहलोक तक सीमित है, पुरुषार्थ को पराहत करने वाला है, व्यक्ति के व्यक्तित्व का ऊर्ध्वीकरण करने मे अक्षम है, पारतन्त्र्य की पग-पग पर अनुभूति कराने वाला है। यही कारण है कि आराध्य के रूप मे जिन इन्द्रादि देवो की कल्पना की गई है, उनमे मानव-सुलभ काम, क्रोध, राग-द्वेष आदि वृत्तियो का साम्राज्य है। इन वैदिक देवो की पूज्यता किसी आध्यात्मिक शक्ति के कारण नही किन्तु अनेक प्रकार के अनुग्रह और निग्रह करने की शक्ति के कारण है। धार्मिक विधि-विधानो के रूप मे यज्ञ मुख्य था और वैदिक देवो का डर यज्ञ का मुख्य कारण था।

वेद के बाद ब्राह्मणकाल प्रारम्भ हुआ। इसमे विविध प्रकार और नाम वाले देवो के सृजन की प्रक्रिया और देवो को गौणता प्राप्त हो गई किन्तु यज्ञ मुख्य बन गये। पुरोहितो ने यज्ञ क्रिया का इतना महत्त्व बढाया कि देवताओ को यज्ञ के अधीन कर दिया। अभी तक उनको जो स्वातन्त्र्य प्राप्त था, वह गौण हो गया और वे यज्ञाधीन हो गए। ब्राह्मणवर्ग ने अपना इतना अधिक वर्चस्व स्थापित कर लिया कि उसके द्वारा किए गए वैदिक मन्त्रपाठ और विधि-विधान के बिना यज्ञ की सपूर्ति हो ही नही सकती थी। उन्होने वेदपाठो के अध्ययन-उच्चारण को अपने वर्ग तक सीमित कर दिया और वेद उनकी अपनी सपत्ति हो गए।

वेदो का दर्शन ब्राह्मण वर्ग तक सीमित हो जाने की प्रतिक्रिया का यह परिणाम हुआ कि उपनिषदो की रचना प्रारम्भ हुई। औपनिषदिक ऋषियो ने आत्मस्वातन्त्र्य के द्वार जन-साधारण के लिये उद्घाटित किये। उपनिषत् काल मे विद्या, ज्ञान साधना के क्षेत्र मे क्षत्रियों का प्रवेश हुआ और आत्मविद्या को प्रमुख स्थान दिया एव यह स्पष्ट किया कि धर्म का सच्चा अर्थ आध्यात्मिक उत्कर्ष है, जिसके द्वारा व्यक्ति बहिर्मुखता को छोडकर वासनाओं के पाश से मुक्त होकर, शुद्ध सच्चिदानन्द-घन रूप आत्म-स्वरूप की उपलब्धि के लिये अग्रसर होकर उसे प्राप्त करता है। यही यथार्थ धर्म है।

थी, सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् वि स २०३६ वैशाख शुक्ला दशमी, भगवान् महावीर कैवल्यदिवस को यह दृढ निश्चय घोषित कर दिया और आगमबत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहसिक निर्णय मे गुरुभ्राता शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलाल जी म की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा प्रमुख सम्बल बना है। साथ ही अनेक मुनिवगे तथा सद्गृहस्थो का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये विना मन सन्तुष्ट नही होगा। आगम अनुयोग शैली के सम्पादक मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल", प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म० के प्रशिष्य भण्डारी श्री पदमचन्दजी म० एव प्रवचन-भूषण श्री अमरमुनिजी, विद्वद्रत्न श्री ज्ञानमुनिजी म०, स्व० विदुषी महासती श्री उज्ज्वलकु वरजी म० की सुशिष्याएँ महासती दिव्यप्रभाजी, एम ए , पी-एच डी , महासती मुक्तिप्रभाजी एम ए , पी-एच डी तथा विदुषी महासती श्री उमरावकु वरजी म० 'अर्चना', विश्रुत विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, सुख्यात विद्वान् प० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, स्व प श्री हीरालालजी शास्त्री, डा० छगनलालजी शास्त्री एव श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" आदि मनीषियो का सहयोग आगमसम्पादन के इस दुरूह कार्य को सरल बना सका है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिभूत है। इसी के साथ सेवा-सहयोग की दृष्टि से सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एव महेन्द्र मुनि का साहचर्य-सहयोग, महासती श्री कानकु वरजी, महासती श्री झणकारकु वरजी का सेवाभाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रसग पर इस कार्य के प्रेरणा-स्रोत स्व० श्रावक चिमनसिंहजी लोढा, तथा श्री पुखराजजी सिसोदिया का स्मरण भी सहजरूप मे हो आता है जिनके अथक प्रेरणा-प्रयत्नो से आगम समिति अपने कार्य मे इतनी शीघ्र सफल हो रही है। चार वर्ष के अल्पकाल मे ही सत्तरह आगम ग्रन्थो का मुद्रण तथा करीब १५-२० आगमो का अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सब सहयोगियो की गहरी लगन का द्योतक है।

मुझे सुदृढ विश्वास है कि परम श्रद्धेय स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज आदि तपोपूत आत्माओ के शुभाशीर्वाद से तथा हमारे श्रमणसघ के भाग्यशाली नेता राष्ट्र-सत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० आदि मुनिजनो के सद्भाव-सहकार के बल पर यह सकल्पित जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी शुभाशा के साथ,

—मुनि मिश्रीमल "मधुकर"
(युवाचार्य)

□□

प्रस्तावना

आगमसाहित्य और प्रश्नव्याकरणसूत्र

दो धर्मधारायें

भारतीय सस्कृति, सभ्यता, आचार-विचार, चिन्तन यहा तक कि लौकिक और लोकोत्तर दृष्टिकोण दो धाराओ मे प्रवाहित हुआ है। एक धारा 'वैदिक' और दूसरी धारा 'श्रमण' के नाम मे प्रसिद्ध हुई। बाद मे वैदिकधारा वैदिकधर्म और श्रमणधारा जैनधर्म एव बौद्धधर्म के नाम से प्रचलित हो गई। इन दोनो की तुलना की जाए तो उनका पार्थक्य स्पष्ट हो जाएगा।

तुलना का मुख्य माध्यम उपलब्ध साहित्य ही हो सकता है। साहित्य एक ऐसा कोश है जिसमे ऐतिहासिक सूत्र भी मिलते हैं और उन आचार-विचारो का पु ज भी मिलता है जो समाज-रचना तथा लोकोत्तर साधना के मौलिक उपादान होते हैं।

वैदिकधर्म की साहित्यिक परम्परा की आद्य इकाई वेद है। वेदो का चिन्तन इहलोक तक सीमित है, पुरुषार्थ को पराहत करने वाला है, व्यक्ति के व्यक्तित्व का ऊर्ध्वीकरण करने मे अक्षम है, पारतन्त्र्य की पग-पग पर अनुभूति कराने वाला है। यही कारण है कि आराध्य के रूप मे जिन इन्द्रादि देवो की कल्पना की गई हैं, उनमे मानव-सुलभ काम, क्रोध, राग-द्वेप आदि वृत्तियो का साम्राज्य है। इन वैदिक देवो की पूज्यता किसी आध्यात्मिक शक्ति के कारण नही किन्तु अनेक प्रकार के अनुग्रह और निग्रह करने की शक्ति के कारण है। धार्मिक विधि-विधानो के रूप मे यज्ञ मुख्य था और वैदिक देवो का डर यज्ञ का मुख्य कारण था।

वेद के बाद ब्राह्मणकाल प्रारम्भ हुआ। इसमे विविध प्रकार और नाम वाले देवो के सृजन की प्रक्रिया और देवो को गौणता प्राप्त हो गई किन्तु यज्ञ मुख्य बन गये। पुरोहितो ने यज्ञ क्रिया का इतना महत्त्व बढाया कि देवताओ को यज्ञ के अधीन कर दिया। अभी तक उनको जो स्वातन्त्र्य प्राप्त था, वह गौण हो गया और वे यज्ञाधीन हो गए। ब्राह्मणवर्ग ने अपना इतना अधिक वर्चस्व स्थापित कर लिया कि उसके द्वारा किए गए वैदिक मन्त्रपाठ और विधि-विधान के विना यज्ञ की सपूर्ति हो ही नही सकती थी। उन्होने वेदपाठो के अध्ययन-उच्चारण को अपने वर्ग तक सीमित कर दिया और वेद उनकी अपनी सपत्ति हो गए।

वेदो का दर्शन ब्राह्मण वर्ग तक सीमित हो जाने की प्रतिक्रिया का यह परिणाम हुआ कि उपनिषदो की रचना प्रारम्भ हुई। औपनिषिदिक ऋषियो ने आत्मस्वातत्र्य के द्वार जन-साधारण के लिये उद्‌घाटित किये। उपनिषत् काल मे विद्या, ज्ञान साधना के क्षेत्र मे क्षत्रियो का प्रवेश हुआ और आत्मविद्या को प्रमुख स्थान दिया एव यह स्पष्ट किया कि धर्म का सच्चा अर्थ आध्यात्मिक उत्कर्ष है, जिसके द्वारा व्यक्ति बहिर्मुखता को छोडकर वासनाओ के पाश से मुक्त होकर, शुद्ध सच्चिदानन्द-घन रूप आत्म-स्वरूप की उपलब्धि के लिये अग्रसर होकर उसे प्राप्त करता है। यही यथार्थ धर्म है।

उपर्युक्त समग्र कथन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि वैदिक धर्मधारा व्यक्ति मे ऐसा कोई उत्साह जाग्रत नही कर सकी जो व्यक्तित्व-विकास का आवश्यक अग है, नर से नारायण बनने का प्रशस्त पथ है। कालक्रम से परस्पर भिन्न आचार-विचारो के प्रवाह उसमे मिलते रहे। अतएव यह कहने मे कोई सक्षम नही है कि वैदिक धर्म का मौलिक रूप अमुक है।

लेकिन जब हम जैन धर्म के साहित्य की अथ से लेकर अर्वाचीन धारा तक पर दृष्टिपात करते है तो भाषागत भिन्नता के अतिरिक्त आचार-विचार के मौलिक स्वरूप मे कोई अन्तर नही देखते हैं। जैनो के आराध्य कोई व्यक्तिविशेष नही, अमुक नाम वाले भी नही किन्तु वे है जो पूर्ण आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न वीतराग है। वीतराग होने से वे आराधक से न प्रसन्न होते है और न अप्रसन्न ही। वे तो केवल अनुकरणीय आदर्श के रूप से आराध्य है।

यही कारण है कि जैनधर्म मे व्यक्ति को उसके स्वत्व का बोध कराने की क्षमता रही हुई है। साराश यह है कि मानव की प्रतिष्ठा बढाने मे जैन धर्म अग्रसर है। इसलिये किसी वर्णविशेष को गुरुपद का अधिकारी और साहित्य का अध्ययन करने वाला स्वीकार नही करके वहाँ यह बताया कि जो भी त्याग तपस्या का मार्ग अपनाए चाहे वह शूद्र ही क्यो न हो, गुरुपद को प्राप्त कर सकता है और मानव मात्र का सच्चा मार्गदर्शक भी बन सकता है एव उसके लिए जैनशास्त्र-पाठ के लिये भी कोई बाधा नही है।

इसी प्रकार की अन्यान्य विभिन्नताएँ भी वैदिक और जैन धारा मे है, जिन्हे देखकर कतिपय पाश्चात्य दार्शनिक विद्वानो ने प्रारम्भ मे यह लिखना शुरू किया कि बौद्धधर्म की तरह जैनधर्म भी वैदिकधर्म के विरोध के लिये खडा किया गया एक क्रातिकारी नया विचार है। लेकिन जैसे-जैसे जैनधर्म और बौद्धधर्म के मौलिक साहित्य का अध्ययन किया गया, पश्चिमी विद्वानो ने ही उनका भ्रम दूर किया तथा यह स्वीकार कर लिया गया कि जैनधर्म वैदिकधर्म के विरोध मे खडा किया नया विचार नही किन्तु स्वतन्त्र धर्म है, उसकी शाखा भी नही है।

जैन-साहित्य का आविर्भाव काल

जैन परम्परा के अनुसार इस भारतवर्ष मे कालचक्र उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के रूप मे विभक्त है। प्रत्येक के छह आरे—विभाग—होते है। अभी अवसर्पिणी काल चल रहा है, इसके पूर्व उत्सर्पिणी काल था। इस प्रकार अनादिकाल से यह कालचक्र चल रहा है और चलता रहेगा। उत्सर्पिणी मे सभी भाव उन्नति को प्राप्त होते है और अवसर्पिणी मे ह्रास को। किन्तु दोनो मे तीर्थकरो का जन्म होता है, जिनकी सख्या प्रत्येक विभाग मे चौबीस होती है। तदनुसार प्रस्तुत अवसर्पिणी काल मे चौबीस तीर्थंकर हो चुके हैं। उनमे प्रथम ऋषभदेव और अतिम महावीर है। दोनो के बीच असख्य वर्षो का अतर है। इन चौबीस तीर्थंकरो मे से कुछ का निर्देश जैनेतर शास्त्रो मे भी उपलब्ध है।

इन चौबीस तीर्थंकरो द्वारा उपदिष्ट और उस उपदेश का आधार लेकर रचा गया साहित्य जैन परम्परा मे प्रमाणभूत है। जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर अनेक हो किन्तु उनके उपदेश मे साम्य होता है और जिस काल मे जो भी तीर्थंकर हो, उन्ही का उपदेश और शासन तात्कालिक प्रजा मे विचार और आचार के लिये मान्य होता है। इस दृष्टि से भगवान् महावीर अतिम तीर्थंकर होने से वर्तमान मे उन्ही का उपदेश अतिम उपदेश है और वही प्रमाणभूत है। शेष तीर्थंकरो का उपदेश उपलब्ध भी नही है और यदि हो, तब भी वह भगवान् महावीर के उपदेश के अन्तर्गत हो गया ऐसा मानना चाहिये। इसकी पुष्टि डा जैकोबी आदि के विचारो से भी होती है।

उनका कहना है कि समय की दृष्टि से जैन आगमो का रचना-समय जो भी माना जाए, किन्तु उनमे जिन तथ्यो का सग्रह है, वे तथ्य ऐसे नही है, जो उसी काल के हो ।[1]

प्रस्तुत मे यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया, उसे सूत्रबद्ध किया है गणधरो ने । इसीलिये अर्थोपदेश या अर्थ रूप शास्त्र के कर्त्ता भगवान् महावीर माने जाते है और शब्द रूप शास्त्र के कर्त्ता गणधर है ।[2] अनुयोगद्वार सूत्र मे सुत्तागम, अत्थागम, अत्तागम, अणतरागम आदि जो लोकोत्तर आगम के भेद किये है, उनसे भी इसी का समर्थन होता है ।

जैन साहित्य का नामकरण

आज से पच्चीस सौ वर्ष अथवा इससे भी पहले के जिज्ञासु श्रद्धाशील अपने-अपने समय के साहित्य को, जिसे आदर-सम्मानपूर्वक धर्मशास्त्र के रूप मे मानते थे, विनयपूर्वक अपने-अपने गुरुओ से कठोपकठ प्राप्त करते थे । वे इस प्रकार से प्राप्त होने वाले शास्त्रो को कठाग्र करते और उन कठाग्र पाठो को वार-वार स्मरण करके याद रखते । धर्मवाणी के उच्चारण शुद्ध सुरक्षित रहे, इसका वे पूरा ध्यान रखते । कही भी काना, मात्रा, अनुस्वार, विसर्ग आदि निरर्थक रूप मे प्रविष्ट न हो जाए, अथवा निकल न जाए इसकी पूरी सावधानी रखते थे । इसका समर्थन वर्तमान मे प्रचलित अवेस्ता गाथाओ एव वेदपाठो की उच्चारणप्रक्रिया से होता है ।

जैनपरम्परा मे भी एतद्विषयक विशेष विधान है । सूत्र का किस प्रकार उच्चारण करना चाहिए, उच्चारण करते समय किन-किन दोषो से दूर रहना चाहिए, इत्यादि का अनुयोगद्वार सूत्र आदि मे स्पष्ट विधान किया गया है । इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल मे जैन परम्परा मे भी उच्चारणविषयक कितनी सावधानी रखी जाती थी । इस प्रकार विशुद्ध रीति से सचित श्रुत-सम्पत्ति को गुरु अपने शिष्यो को तथा शिष्य पुन अपनी परम्परा के शिष्यो को सौपते थे । इस प्रकार श्रुत की यह परम्परा भगवान् महावीर के निर्वाण के वाद लगभग एक हजार वर्ष तक निरतर चलती रही । अविसवादी रूप से इसको सम्पन्न करने के लिये एक विशिष्ट और आदरणीय वर्ग था, जो उपाध्याय के रूप मे पहचाना जाता है । इसकी पुष्टि णमोकार मत्र से होती है । जैन परम्परा मे अरिहत आदि पाच परमेष्ठी माने गये है, उनमे इस वर्ग का चतुर्थ स्थान है । इससे ज्ञात हो जाता है कि जैन सघ मे इस वर्ग का कितना सम्मान था ।

धर्मशास्त्र प्रारम्भ मे लिखे नही गये थे, अपितु कठाग्र थे और वे स्मृति द्वारा सुरक्षित रखे जाते थे, इसको प्रमाणित करने के लिये वर्तमान मे प्रचलित श्रुति, स्मृति और श्रुत शब्द पर्याप्त है । ब्राह्मणपरम्परा मे मुख्य प्राचीन शास्त्रो का नाम श्रुति और तदनुवर्ती बाद के शास्त्रो का नाम स्मृति है । ये दोनो शब्द रूढ नही, किन्तु यौगिक और अन्वर्थक हैं । जैन परम्परा मे शास्त्रो का प्राचीन नाम श्रुत है । यह शब्द भी यौगिक है । अत इन नामो वाले शास्त्र सुन-सुनकर सुरक्षित रखे गये ऐसा स्पष्टतया फलित होता है । जैनाचार्यो ने श्रुतज्ञान का जो स्वरूप वतलाया है और उसके जो विभाग किये हैं, उसके मूल मे 'सुत्त'—श्रुत शब्द रहा हुआ है । वैदिक परम्परा मे वेदो के सिवाय अन्य किसी भी ग्रन्थ के लिये श्रुति शब्द का प्रयोग नही हुआ है, जबकि जैन परम्परा मे समस्त प्राचीन अथवा अर्वाचीन शास्त्रो के लिये श्रुत शब्द का प्रयोग प्रचलित है । इस प्रकार श्रुत शब्द मूलत यौगिक होते हुए भी अव रूढ हो गया है ।

---

१ Doctrine of the Jainas P 15

२ अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गथति गणहरा निउण ।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्त पवत्तई ।।

यद्यपि आज शास्त्रो के लिये 'आगम' शब्द जैन परम्परा मे व्यापक रूप मे प्रचलित हो गया है, लेकिन प्राचीन काल मे वह 'श्रुत' या 'सम्यक् श्रुत' के नाम से प्रसिद्ध था। इसी से 'श्रुतकेवली' शब्द प्रचलित हुआ न कि 'आगमकेवली' या 'सूत्रकेवली'। इसी प्रकार स्थविरो की गणना मे भी 'श्रुतस्थविर' शब्द को स्थान मिला है जो श्रुत शब्द के प्रयोग की प्राचीनता सिद्ध कर रहा है।

शास्त्रो के लिये आगम शब्द कब से प्रचलित हुआ और उसके प्रस्तावक कौन थे ? इसके सूत्र हमे आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थभाष्य मे देखने को मिलते है। उन्होने वहा श्रुत के पर्यायो का सग्रह कर दिया है। जो इस प्रकार है—श्रुत, आप्तवचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन और जिनवचन। इनमे आगम शब्द बोलने मे सरल रहा तथा दूसरे शब्द अन्य-अन्य कथनो के लिये रूढ हो गये तो जैन शास्त्र को आगम शब्द से कहा जाना शुरु हो गया हो, यह सम्भव है, जिसकी परम्परा आज चालू है।

जैन आगमो का वर्गीकरण

समवायाग आदि आगमो से ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर ने जो देशना दी थी उसकी सकलना द्वादशागो मे हुई थी। लेकिन उसके बाद आगमो की सख्या मे वृद्धि होने लगी और इसका कारण यह है कि गणधरो के अतिरिक्त प्रत्येकबुद्ध महापुरुषो ने जो उपदेश दिया उसे भी प्रत्येकबुद्ध के केवली होने से आगमो मे समाविष्ट कर लिया गया। इसी प्रकार द्वादशागी के आधार पर मदबुद्धि शिष्यो के हितार्थ श्रुतकेवली आचार्यो ने जो ग्र थ बनाये उनका भी समावेश आगमो मे कर लिया गया। इसका उदाहरण दशवैकालिक सूत्र है। अन्त मे सम्पूर्ण दस पूर्व के ज्ञाता द्वारा ग्रथित ग्रन्थ भी आगम मे समाविष्ट इसलिये किये गये कि वे भी आगम के आशय को ही पुष्ट करने वाले थे। उनका आगम से विरोध इसलिये भी नही हो सकता था कि वे आगम के आशय का ही बोध कराते थे और उनके रचयिता सम्यग्दृष्टि थे, जिसकी सूचना निम्नलिखित गाथा से मिलती है—

सुत्त गणहरकथिद तहेव पत्तेयबुद्धकथिद च।
सुदकेवलिणा कथिद अभिण्णदस पुव्व कथिद च॥[1]

इसके बाद जब दशपूर्वी भी नही रहे तब भी आगमो की सख्या मे वृद्धि होना नही रुका। श्वेताम्बर परम्परा मे आगम रूप से मान्य कुछ प्रकीर्णक ग्रन्थ ऐसे भी है जो उस काल के बाद भी आगम रूप मे सम्मिलित होते रहे। इसके दो कारण सभाव्य हैं। एक तो उनका वैराग्यभावना की वृद्धि मे विशेष उपयोग होना माना गया हो और दूसरा उनके कर्त्ता आचार्यों की उस काल मे विशेष प्रतिष्ठा रही हो।

इस प्रकार से जैनागमो की सख्या मे वृद्धि होने लगी तब उनका वर्गीकरण करना आवश्यक हो गया। भगवान् महावीर के मौलिक उपदेश का गणधरकृत सग्रह, जो द्वादश अग के रूप मे था, स्वय एक वर्ग बन जाए और उसका अन्य से पार्थक्य भी दृष्टिगत हो, अतएव आगमो का प्रथम वर्गीकरण अग और अगबाह्य के आधार पर हुआ। इसीलिये हम देखते है कि अनुयोगद्वार सूत्र मे अगप्रविष्ट और अगबाह्य, ऐसे श्रुत के दो भेद किये गये है। नन्दी सूत्र से भी ऐसे ही दो भेद होने की सूचना मिलती हैं। आचार्य उमास्वाति के तत्वार्थसूत्र-भाष्य (१-२०) से भी यही फलित होता है कि उनके समय तक अगप्रविष्ट और अगबाह्य यही दो विभाग प्रचलित थे।

अगप्रविष्ट आगमो के रूप मे वर्गीकृत बारह अगो की सख्या निश्चित थी अत उसमे तो किसी प्रकार की वृद्धि नही हुई। लेकिन अगबाह्य आगमो की सख्या मे दिनोदिन वृद्धि होती जा रही थी। अतएव उनका

१ मूलाचार ५/८०

पुनर्वर्गीकरण किया जाना आवश्यक हो गया था। इसके लिये उनका वर्गीकरण १ उपाग, २ प्रकीर्णक, ३ छेद ४ चूलिका सूत्र और ५ मूल सूत्र, इन पाच विभागो मे हुआ। लेकिन यह वर्गीकरण कब और किसने शुरु किया—यह जानने के निश्चित साधन नही है।

उपाग विभाग मे बारह, प्रकीर्णक विभाग मे दस, छेद विभाग मे छह, चूलिका विभाग मे दो और मूल सूत्र विभाग मे चार शास्त्र है। इनमे से दस प्रकीर्णको को और छेद सूत्रो मे से महानिशीथ और जीतकल्प को तथा मूलसूत्रो मे से पिंडनिर्युक्ति को स्थानकवासी और तेरापथी परम्परा मे आगम रूप मे मान्य नही किया गया है।

आगमिक विच्छेद

आगमो की सख्या मे वृद्धि हुई और वर्गीकरण भी किया गया लेकिन साथ ही यह भी विडवना जुडी रही कि जैन श्रुत का मूल प्रवाह मूल रूप मे सुरक्षित नही रह सका। आज उसका सम्पूर्ण नही तो अधिकाश भाग नष्ट विस्मृत और विलुप्त हो गया है। अग आगमो का जो परिमाण आगमो मे निर्दिष्ट है, उसे देखते हुए, अगो का जो भाग आज उपलब्ध है उसका मेल नही बैठता।

यह तो पूर्व मे सकेत किया जा चुका है कि प्रत्येक परम्परा अपने धर्मशास्त्रो को कठस्थ रखकर शिष्य-प्रशिष्यो को उसी रूप मे सौपती थी। जैन श्रमणो का भी यही आचार था, काल के प्रभाव से श्रुतधरो का एक के बाद एक काल कवलित होते जाना जैन श्रमण के आचार के कठोर नियम, जैन श्रमण सघ के सख्यावल की कमी और वार-वार देश मे पडने वाले दुर्भिक्षो के कारण कठाग्र करने की धारा टूटती रही। इस स्थिति मे जब आचार्यो ने देखा कि श्रुत का ह्रास हो रहा है, उसमे अव्यवस्था आ रही है, तब उन्होने एकत्र होकर जैन श्रुत को व्यवस्थित किया।

भगवान् महावीर के निर्वाण के करीब १६० वर्ष बाद पाटलिपुत्र मे जैन श्रमणसघ एकत्रित हुआ। उन दिनो मध्यप्रदेश मे भीषण दुर्भिक्ष के कारण जैन श्रमण तितर-वितर हो गये थे। अतएव एकत्रित हुए उन श्रमणो ने एक दूसरे से पूछकर ग्यारह अगो को व्यवस्थित किया किन्तु उनमे से किसी को भी सपूर्ण दृष्टिवाद का स्मरण नही था। यद्यपि उस समय दृष्टिवाद के ज्ञाता आचार्य भद्रबाहु थे, लेकिन उन्होने बारह वर्षीय विशेष प्रकार की योगसाधना प्रारम्भ कर रखी थी और वे नेपाल मे थे। अतएव सघ ने दृष्टिवाद की वाचना के लिये अनेक साधुओ के साथ स्थूलभद्र को उनके पास भेजा। उनमे से दृष्टिवाद को ग्रहण करने मे स्थूलभद्र ही समर्थ हुए। किन्तु दस पूर्वो तक सीखने के बाद उन्होने अपनी श्रुतलब्धि-ऋद्धि का प्रयोग किया और जब यह बात आर्य भद्रबाहु को ज्ञात हुई तो उन्होने वाचना देना बद कर दिया, इसके बाद बहुत अनुनय-विनय करने पर उन्होने शेष चार पूर्वो की सूत्रवाचना दी, किन्तु अर्थवाचना नही दी। परिणाम यह हुआ कि सूत्र और अर्थ से चौदह पूर्वो का ज्ञान आर्य भद्रबाहु तक और दस पूर्व तक का ज्ञान आर्य स्थूलभद्र तक रहा। इस प्रकार भद्रबाहु की मृत्यु के साथ ही अर्थात् वीर स १७० वर्ष बाद श्रुतकेवली नही रहे। फिर दस पूर्व की परम्परा भी आचार्य वज्र तक चली। आचार्य वज्र की मृत्यु विक्रम स० ११४ मे अर्थात् वीरनिर्वाण से ५८४ बाद हुई। वज्र के बाद आर्य रक्षित हुए। उन्होने शिष्यो को भविष्य मे मति मेधा धारणा आदि से हीन जानकर, आगमो का अनुयोगो मे विभाग किया। अभी तक तो किसी भी सूत्र की व्याख्या चारो प्रकार के अनुयोगो से होती थी किन्तु उन्होने उसके स्थान पर विभाग कर दिया कि अमुक सूत्र की व्याख्या केवल एक ही अनुयोगपरक की जाएगी।

आर्य रक्षित के बाद भी उत्तरोत्तर श्रुत-ज्ञान का ह्रास होता रहा और एक समय ऐसा आया जब पूर्वो का विशेषज्ञ कोई नही रहा। यह स्थिति वीरनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद हुई और दिगम्बर परम्परा के अनुसार वीरनिर्वाण स ६८३ के बाद हुई।

नन्दीसूत्र की चूर्णि मे उल्लेख है कि द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण ग्रहण, गुणन और अनुप्रेक्षा के अभाव मे सूत्र नष्ट हो गया अर्थात् कठस्थ करने वाले श्रमणो के काल-कवलित होते जाने और दुष्काल के कारण श्रमण वर्ग के तितर-बितर हो जाने से नियमित सूत्रबद्धता नही रही। अतएव बारह वर्ष के दुष्काल के बाद स्कदिलाचार्य के नेतृत्व मे साधुसघ मथुरा मे एकत्र हुआ और जिसको जो याद था, उसका परिष्कार करके कालिक श्रुत को व्यवस्थित किया। आर्य स्कदिल का युगप्रधानत्वकाल वीर नि सवत् ८२७ से ८४० तक माना जाता है। अतएव यह वाचना इसी बीच हुई होगी।

इसी माथुरी वाचना के काल मे वलभी मे नागार्जुन सूरि ने श्रमणसघ को एकत्रित कर आगमो को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया तथा विस्मृत स्थलो को पूर्वापर सम्बन्ध के अनुसार ठीक करके वाचना दी गई।

उपर्युक्त वाचनाओ के पश्चात् करीब डेढ सौ वर्ष बाद पुन वलभी नगर मे देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे श्रमणसघ इकट्ठा हुआ और पूर्वोक्त दोनो वाचनाओ के समय व्यवस्थित किये गये जो ग्रन्थ मौजूद थे उनको लिखवाकर सुरक्षित करने का निश्चय किया तथा दोनो वाचनाओ का परस्पर समन्वय किया गया और जहाँ तक हो सका अन्तर को दूर कर एकरूपता लाई गई। जो महत्त्वपूर्ण भेद थे उन्हे पाठान्तर के रूप मे सकलित किया गया। यह कार्य वीर नि स ९८० मे अथवा ९९३ मे हुआ। वर्तमान मे जो आगम उपलब्ध है, उनका अधिकाश भाग इसी समय स्थिर हुआ, ऐसा कहा जा सकता है। फिर भी कई आगम उक्त लेखन के बाद भी नष्ट हुए है ऐसा नन्दीसूत्र मे दी गई सूची से स्पष्ट है।

आगमो का रचनाकाल

भगवान् महावीर का उपदेश विक्रम पूर्व ५०० वर्ष मे शुरु हुआ था, अतएव उपलब्ध किसी भी आगम की रचना का उससे पहले होना सभव नही है और अतिम वाचना के आधार पर उनका लेखन विक्रम स ५१० (मतान्तर से ५२३) मे हुआ था। अत यह समयमर्यादा आगमो का काल है, ऐसा मानना पडेगा।

इस काल-मर्यादा को ध्यान मे रखकर जब हम आगमो की भाषा का विचार करते है तो आचाराग के प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध भाव और भाषा मे भिन्न है। प्रथम श्रुतस्कन्ध द्वितीय से ही नही अपितु समस्त जैन-वाङ्मय मे सबसे प्राचीन है। इसमे कुछ नया नही मिला हो, परिवर्तन परिवर्धन नही हुआ हो, यह तो नही कहा जा सकता, किन्तु नया सबसे कम मिला है। वह भगवान् के साक्षात् उपदेश के अत्यन्त निकट है। इस स्थिति मे उसे प्रथम वाचना की सकलना कहा जाना सम्भव है।

अग आगमो मे प्रश्नव्याकरण सूत्र

उपर्युक्त के परिप्रेक्ष्य मे अब हम प्रश्नव्याकरण सूत्र की पर्यालोचना कर लें।

प्रश्नव्याकरण सूत्र अगप्रविष्ट श्रुत माना गया है। यह दसवा अग है। समवायाग, नन्दी और अनुयोग-द्वार सूत्र मे प्रश्नव्याकरण के लिये 'पण्हावागरणाइ' इस प्रकार से बहुवचन का प्रयोग किया है, जिसका सस्कृत रूप 'प्रश्नव्याकरणानि' होता है। किन्तु वर्तमान मे उपलब्ध प्रश्नव्याकरण सूत्र के उपसहार मे पण्हावागरण इस प्रकार एकवचन का ही प्रयोग किया है। तत्त्वार्थभाष्य मे भी प्रश्नव्याकरणम् इस प्रकार से एक वचनान्त का

प्रयोग किया गया है। दिगम्बर परम्परा मे एकवचनान्त 'पण्हवायरण' 'प्रश्नव्याकरणम्' एकवचनान्त का ही प्रयोग किया गया है। स्थानागसूत्र के दशम् स्थान मे प्रश्नव्याकरण का नाम 'पण्हावागरणदसा' बतलाया है, जिसका सस्कृत रूप टीकाकार अभयदेव सूरि ने 'प्रश्नव्याकरणदशा किया है, किन्तु यह नाम अधिक प्रचलित नही हो पाया।

प्रश्नव्याकरण यह समासयुक्त पद है। इसका अर्थ होता है—प्रश्नो का व्याकरण अर्थात् निर्वचन, उत्तर एव निर्णय। इसमे किन प्रश्नो का व्याकरण किया गया था, इसका परिचय अचेलक परपरा के धवला आदि ग्रन्थो एव सचेलक परपरा के स्थानाग, समवायाग और नन्दी सूत्र मे मिलता है।

स्थानाग मे प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययनो का उल्लेख है—उपमा, सख्या, ऋषिभाषित, आचार्यभाषित, महावीरभाषित, क्षौमकप्रश्न, कोमलप्रश्न, अद्दागप्रश्न, अगुष्ठप्रश्न और बाहुप्रश्न।

समवायाग मे बताया गया है कि प्रश्नव्याकरण मे १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न और १०८ प्रश्नाप्रश्न है, जो मन्त्रविद्या एव अगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि विद्याओ से सम्बन्धित है और इसके ४५ अध्ययन है। नन्दीसूत्र मे भी यही बताया गया है कि प्रश्नव्याकरण मे १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न और १०८ प्रश्नाप्रश्न है, अगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि विचित्र विद्यातिशयो का वर्णन है, नागकुमारो व सुपर्णकुमारो की सगति के दिव्य सवाद हैं, ४५ अध्ययन हैं।

अचेलकपरम्परा के धवला आदि ग्रन्थो मे प्रश्नव्याकरण का विषय बताते हुए कहा है—प्रश्नव्याकरण मे आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेदनी और निर्वेदनी, इन चार प्रकार की कथाओ का वर्णन है। आक्षेपणी मे छह द्रव्यो और नौ तत्त्वो का वर्णन है। विक्षेपणी मे परमत की एकान्त दृष्टियो का पहले प्रतिपादन कर अनन्तर स्वमत अर्थात् जिनमत की स्थापना की जाती है। सवेदनी कथा पुण्यफल की कथा है, जिसमे तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव वासुदेव, देव एव विद्याधरो की ऋद्धि का वर्णन होता है। निर्वेदनी मे पापफल निरूपण होता है अत उसमे नरक, तिर्यंच, कुमानुषयोनियो का वर्णन है और अगप्रश्नो के अनुसार हृतु नष्ट, मुष्टि, चिन्तन, लाभ, अलाभ, सुख, दु ख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और सख्या का भी निरूपण है।

उपर्युक्त दोनो परम्पराओ मे दिये गये प्रश्नव्याकरण के विषयसकेत से ज्ञात होता है कि प्रश्न शब्द मन्त्रविद्या एव निमित्तशास्त्र आदि के विषय से सम्बन्ध रखता है। और चमत्कारी प्रश्नो का व्याकरण जिस सूत्र मे वर्णित है, वह प्रश्नव्याकरण है। लेकिन वर्तमान मे उपलब्ध प्रश्नव्याकरण मे ऐसी कोई चर्चा नही है। अत यहाँ प्रश्नव्याकरण का सामान्य अर्थ जिज्ञासा और उसका समाधान किया जाए तो ही उपयुक्त होगा। अहिंसा-हिंसा सत्य-असत्य आदि धर्माधर्म रूप विषयो की चर्चा जिस सूत्र मे की गई है वह प्रश्नव्याकरण है। इसी दृष्टि से वर्तमान मे उपलब्ध प्रश्नव्याकरण का नाम सार्थक हो सकता है।

एक प्रश्न और उसका उत्तर

सचेलक और अचेलक दोनो ही परम्पराओ मे प्राचीन प्रश्नव्याकरण सूत्र का जो विषय बताया है, और वर्तमान मे जो उपलब्ध है, उसके लिये एक प्रश्न उभरता है कि इस प्रकार का परिवर्तन किसने किया और क्यो किया ? इसके सम्बन्ध मे वृत्तिकार अभयदेव सूरि लिखते हैं—इस समय का कोई अनधिकारी मनुष्य चमत्कारी विद्याओ का दुरुपयोग न करे, इस दृष्टि से वे विद्यायें इस सूत्र मे से निकाल दी गईं और केवल आस्रव और सवर का समावेश कर दिया गया। दूसरे टीकाकार आचार्य ज्ञानविमल भी ऐसा ही उल्लेख करते है। परन्तु इन समाधानो से सही उत्तर नही मिल पाता है। हा यह कह सकते है कि वर्तमान प्रश्नव्याकरण भगवान् द्वारा प्रति-

पादित किसी प्रश्न के उत्तर का आंशिक भाग हो। इसी नाम से मिलती-जुलती प्रतियाँ ग्रन्थभडारो मे उपलब्ध होती है, जैसे कि जैसलमेर के खरतरगच्छ के आचायशाखा के भडार मे 'जयपाहुड-प्रश्नव्याकरण' नामक स १३३६ की एक ताडपत्रीय प्रति थी। प्रति अशुद्ध लिखी गई थी और कही कही अक्षर भी मिट गये थे। मुनिश्री जिनविजय जी ने इसे सम्पादित और यथायोग्य पाठ सशोधित कर स २०१५ मे सिंघी जैन ग्रन्थमाला के ग्र थाक ४३ के रूप मे प्रकाशित करवाया। इसकी प्रस्तावना मे मुनिश्री ने जो सकेत किया है, उसका कुछ अश है—

'प्रस्तुत ग्र थ अज्ञात तत्त्व और भावो का ज्ञान प्राप्त करने-कराने का विशेष रहस्यमय शास्त्र है। यह शास्त्र जिस मनीषी या विद्वान् को अच्छी तरह से अवगत हो, वह इसके आधार से किसी भी प्रश्नकर्ता के लाभ-अलाभ, शुभ-अशुभ, सुख-दु ख एव जीवन-मरण आदि वातो के सम्बन्ध मे वहुत निश्चित एव तथ्यपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता हे तथा प्रश्नकर्त्ता को बता सकता ह।'

इसके बाद उपसहार के रूप मे मुनिश्री ने लिखा है—

'इस ग्र थ का नाम टीकाकार ने पहले 'जयपाहुड' और फिर 'प्रश्नव्याकरण' दिया है। मूल ग्र थकार ने 'जयपायड' दिया है। अन्त मे भी 'प्रश्नव्याकरण समाप्तम्' लिखा है। प्रारम्भ मे टीकाकार ने इस ग्र थ का जो नाम 'प्रश्नव्याकरण' लिखा है, उसका उल्लेख इस प्रकार है—'महावीराख्य सि (शि) रसा प्रणम्य प्रश्न-व्याकरण शास्त्र व्याख्यामीति।' मूल प्राकृत गाथाएँ ३७८ है। उसके साथ सस्कृतटीका हे। यह प्रति २२७ पन्नो मे वि० १३३६ की चैत वदी १ की लिखी हुई है। अन्त मे 'चूडामणिसार-ज्ञानदीपक ग्र थ ७३ गाथाओ का टीका सहित है। इसके अन्त मे लिखा हुआ है 'इति जिनेन्द्रकथित प्रश्नचूडामणिसारशास्त्र समाप्तम्।'

जिनरत्नकोश के पृ १३३ मे भी इस नाम वाली एक प्रति का उल्लेख है। इसमे २२८ गाथाएँ बतलाई हैं तथा शान्तिनाथ भण्डार, खम्भात मे इसकी कई प्रतियाँ है, ऐसा कोश से ज्ञात होता है। नेपाल महाराजा की लाइब्रेरी मे भी प्रश्नव्याकरण या ऐसे ही नाम वाले ग्रन्थ की सूचना तो मिलती है, लेकिन क्या वह अनुपलब्ध प्रश्नव्याकरण सूत्र की पूरक है, इसकी जानकारी अप्राप्य है।

उपर्युक्त उद्धरणो से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि मूल प्राचीन प्रश्नव्याकरण सूत्र भिन्न-भिन्न विभागो मे वट गया और पृथक् पृथक् नाम वाले अनेक ग्रन्थ वन गये। सम्भव है उनमे मूल प्रश्नव्याकरण के विपयो की चर्चा की गई हो। यदि इन सवका पूर्वापर सन्दर्भो के साथ समायोजन किया जाए तो बहुत कुछ नया जानने को मिल सकता है। इसके लिये श्रीमन्तो का प्रचुर धन नही किन्तु सरस्वतीसाधको का समय और श्रम अपेक्षित है।

प्राचीन प्रश्नव्याकरण की विलुप्ति का समय

प्राचीन प्रश्नव्याकरण कब लुप्त हुआ ? इसके लिये निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। आगमो को लिपिवद्ध करने वाले आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने इस विपय मे कुछ सूचना नही दी है। इससे ज्ञात होता है कि समवायाग आदि मे जिस प्रश्नव्याकरण का उल्लेख है वह उनके समक्ष विद्यमान था। उसी को उन्होने लिपिवद्ध कराया हो, अथवा प्राचीन श्रुतपरम्परा से जैसा चला आ रहा था, वैसा ही समवायाग आदि मे उसका विपय लिख दिया गया हो, कुछ स्पष्ट नही होता है। दिगम्बर परम्परा अग साहित्य का विच्छेद मानती है, अत वहाँ तो आचाराग आदि अग साहित्य का कोई अग नही है। अत प्रश्नव्याकरण भी नही है जिस पर कुछ

विचार किया जा सके। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा मे जो प्रश्नव्याकरण प्रचलित है उमसे यह स्पष्ट है कि तत्कालीन आगमो मे इसकी कोई चर्चा नही है।

आचार्य जिनदास महत्तर ने शक सवत् ५०० की समाप्ति पर नन्दीसूत्र पर चूर्णि की रचना की। उसमे सर्वप्रथम वर्तमान प्रश्नव्याकरण के विषय से सम्बन्धित पाच सवर आदि का उल्लेख है। इसके बाद परम्परागत एक सौ आठ अगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न आदि का उल्लेख किया है। इससे लगता है कि जिनदास गणि के समक्ष प्राचीन प्रश्नव्याकरण नही था, किन्तु वर्तमान प्रचलित प्रश्नव्याकरण ही था जिसके सवर आदि विषयो का उन्होने उल्लेख किया है। इसका अर्थ यह है कि शक सवत् ५०० से पूर्व ही कभी प्रस्तुत प्रश्नव्याकरण सूत्र का निर्माण एव प्रचार-प्रसार हो चुका था और अग साहित्य के रूप मे उसे मान्यता मिल चुकी थी।

रचयिता और रचनाशैली

प्रश्नव्याकरण का प्रारम्भ इस गाथा से होता है—

जबू ! इणमो अण्हय-सवरविणिच्छय पवयणस्स नीसद।
वोच्छामि णिच्छयत्थ सुहासियत्थ महेसीहि।

अर्थात् हे जम्बू ! यहाँ महर्षि प्रणीत प्रवचनसार रूप आस्रव और सवर का निरूपण करूगा।

गाथा मे आर्य जम्बू को सम्बोधित किये जाने से टीकाकारो ने प्रश्नव्याकरण का उनके साक्षात् गुरु सुधर्मा से सम्बन्ध जोड दिया है। आचार्य अभयदेवसूरि ने अपनी टीका मे प्रश्नव्याकरण का जो उपोद्घात दिया है, उसमे प्रवक्ता के रूप मे सुधर्मा स्वामी का उल्लेख किया है परन्तु 'महर्षियो द्वारा सुभाषित' शब्दो से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका निरूपण सुधर्मा द्वारा नही हुआ है। यह सुधर्मा स्वामी के पश्चाद्वर्ती काल की रचना है। सुधर्मा और जम्बू के सवाद रूप मे पुरातन शैली का अनुकरण मात्र किया गया है और रचनाकार अज्ञातनामा कोई गीतार्थ स्थविर है।

वर्तमान प्रश्नव्याकरण की रचना-पद्धति काफी सुघटित है। अन्य आगमो की तरह विकीर्ण नही है। भाषा अर्धमागधी प्राकृत है, किन्तु समासबहुल होने से अतीव जटिल हो गई है। प्राकृत के साधारण अभ्यासी को समझना कठिन है। सस्कृत या हिन्दी की टीकाओ के बिना उसके भावो को समझ लेना सरल नही है। कही-कही तो इतनी लाक्षणिक भाषा का उपयोग किया गया है जिसकी प्रतिकृति कादम्बरी आदि ग्रन्थो मे देखने को मिलती है। इस तथ्य को समर्थ वृत्तिकार आचार्य अभयदेव ने भी अपनी वृत्ति के प्रारम्भ मे स्वीकार किया है।

प्रस्तुत प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययन है। इन दस अध्ययनो का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है। प्रथम तो प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययन और एक श्रुतस्कन्ध। जो प्रस्तुत श्रुत के उपसहार वचन से स्पष्ट है—'पण्हावागरणे ण एगो सुयक्खधो दस अज्झयणा। नन्दी और समवायाग श्रुत मे भी प्रश्नव्याकरण का एक श्रुतस्कन्ध मान्य है। किन्तु आचार्य अभयदेव ने अपनी वृत्ति मे पुस्तकान्तर से जो उपोद्घात उद्धृत किया है, उसमे दूसरे प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। वहाँ प्रश्नव्याकरण के दो श्रुतस्कन्ध बतलाये है और प्रत्येक के पाँच-पाँच अध्ययनो का उल्लेख किया है—दो सुयक्खधा पण्णत्ता-आसवदारा य सवरदारा य। पढमस्स ण सुयक्खधस्स पचअज्झयणा। दोच्चस्स ण सुयक्खधस्स पच अज्झयणा। लेकिन आचार्य अभयदेव के समय मे यह कथन मान्य नही था ऐसा उनके इन वाक्यो से स्पष्ट है—'या चेय द्विश्रुतस्कन्धतोक्ताऽस्य सा न रूढा, एक श्रुतस्कन्धताया एव रूढत्वात्।' लेकिन प्रतिपाद्य विषय की भिन्नता को देखते हुए इसके दो श्रुतस्कन्ध मानना अधिक युक्तसगत है।

प्रतिपाद्य विषय

प्रस्तुत प्रश्नव्याकरण मे हिंसादि पाच आस्रवो और अहिंसा आदि पाच सवरो का वर्णन है। प्रत्येक

का एक-एक अध्ययन मे सागोपाग विस्तार से आशय स्पष्ट किया है। जिस अध्ययन का जो वणनीय विषय है, उसके सार्थक नामान्तर बतलाये है। जैसे कि आस्रव प्रकरण मे हिंसादि प्रत्येक आस्रव के तीस-तीस नाम गिनाये हैं और इनके कटुपरिणामो का विस्तार से वर्णन किया है।

हिंसा आस्रव-अध्ययन का प्रारभ इस प्रकार से किया है—

जारिसओ जनामा जह य कओ जारिस फल दिंति।
जे वि य करेंति पावा पाणवह त निसामेह ॥

अर्थात् (सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते है—हे जम्बू!) प्राणवध (हिंसा) का क्या स्वरूप है? उसके कौन-कौन से नाम है? वह जिस तरह से किया जाता है तथा वह जो फल देता है और जो-जो पापी जीव उसे करते है, उसे सुनो।

तदनन्तर हिंसा के पर्यायवाची नाम, हिंसा क्यो, किनको और कैसे? हिंसा के करने वाले और दुष्परिणाम, नरक गति मे हिंसा के कुफल, तिर्यंचगति और मनुष्यगति मे हिंसा के कुफल का समग्र वर्णन इस प्रकार की भाषा मे किया गया है कि पाठक को हिंसा की भीषणता का साक्षात् चित्र दिखने लगता है।

इसी हिंसा का वर्णन करने के प्रसग मे वैदिक हिंसा का भी निर्देश किया है एव धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा का उल्लेख करना भी सूत्रकार भूले नही हैं। इसके अतिरिक्त जगत् मे होने वाली विविध अथवा समस्त प्रकार की हिंसा-प्रवृत्ति का भी निर्देश किया गया है। हिंसा के सदर्भ मे विविध प्रकार के मकानो के विभिन्न नामो का, खेता के साधनो के नामो का तथा इसी प्रकार के हिंसा के अनेक निमित्तो का भी निर्देश किया गया है। इसी सदर्भ मे अनार्य—म्लेच्छ जातियो के नामो की सूची भी दी गई है।

असत्य आस्रव के प्रकरण मे सर्वप्रथम असत्य का स्वरूप बतलाकर असत्य के तीस सार्थक नामो का उल्लेख किया है। फिर असत्य भाषण किस प्रयोजन से किया जाता है और असत्यवादी कौन है, इसका सकेत किया है और अन्त मे असत्य के कटुफलो का कथन किया है।

सूत्रकार ने असत्यवादी के रूप मे निम्नोक्त मतो के नामो का उल्लेख किया है—

१ नास्तिकवादी अथवा वामलोकवादी—चार्वाक,
२ पचस्कन्धवादी—बौद्ध,
३ मनोजीववादी—मन को जीव मानने वाले,
४ वायु जीववादी—प्राणवायु को जीव मानने वाले,
५ अडे से जगत् की उत्पत्ति मानने वाले,
६ लोक को स्वयभूकृत मानने वाले,
७ ससार को प्रजापति द्वारा निर्मित्त मानने वाले,
८ ससार को ईश्वरकृत मानने वाले,
९ समस्त ससार को विष्णुमय मानने वाले,
१० आत्मा को एक, अकर्त्ता, वेदक, नित्य, निष्क्रिय, निर्गुण, निर्लिप्त मानने वाले,

११ जगत् को यादृच्छिक मानने वाले,
१२ जगत् को स्वभावजनित मानने वाले,
१३ जगत् को देवकृत मानने वाले,
१४ नियतिवादी—आजीवक।

इन असत्यवादको के नामोल्लेख से यह स्पष्ट किया गया है कि विभिन्न दर्शनान्तरो की जगत् के विषय मे क्या-क्या धारणाएं थी और वे इन्ही विचारो का प्रचार करने के लिये वैध-अवैध उपाय करते रहते थे।

चौर्य आस्रव का विवेचन करते हुए ससार मे विभिन्न प्रसगो पर होने वाली विविध चोरियो और चोरी करने वालो के उपायो का विस्तार से वर्णन किया है। इस प्रकरण का प्रारम्भ भी पूर्व के अध्ययनो के वर्णन की तरह किया गया है। सर्वप्रथम अदत्तादान (चोरी) का स्वरूप बतलाकर सार्थक तीस नाम गिनाये हैं। फिर चोरी करने वाले कौन-कौन है और वे कैसी-कैसी वेशभूषा धारण कर जनता मे अपना विश्वास जमाते और फिर धन-सपत्ति आदि का अपहरण कर कहां जाकर छिपते है, आदि का निर्देश किया है। अत मे चोरी के दुष्परिणामो को इसी जन्म मे किस-किस रूप मे और जन्मान्तरो मे किन रूपो मे भोगना पडता है, आदि का विस्तृत और मार्मिक चित्रण किया है।

अब्रह्मचर्य आस्रव का विवेचन करते हुए सर्व प्रकार के भोगपरायण मनुष्यो, देवो, देवियो, चक्रवर्तियो, वासुदेवो, माण्डलिक राजाओ एव इसी प्रकार के अन्य व्यक्तियो के भोगो और भोगसामग्रियो का वर्णन किया है। साथ ही शारीरिक सौन्दर्य, स्त्री-स्वभाव तथा विविध प्रकार की कामक्रीडाओ का भी निरूपण किया है और अन्त मे बताया है कि ताओ वि उवणमति मरणधम्म अवितित्ता कामाण। इसी प्रसग मे स्त्रियो के निमित्त होने वाले विविध युद्धो का भी उल्लेख हुआ है। वृत्तिकार ने एतद्विषयक व्याख्या मे सीता, द्रौपदी, रुक्मिणी, पद्मावती, तारा, रक्तसुभद्रा, अहिल्या, सुवर्णगुटिका, रोहिणी, किन्नरी, सुरूपा तथा विद्युन्मती की कथाएँ जैन परम्परा के अनुसार उद्धृत की है।

पाचवें परिग्रह आस्रव के विवेचन मे ससार मे जितने प्रकार का परिग्रह होता है और दिखाई देता है, उसका सविस्तार निरूपण किया है। इस परिग्रह रूपी पिशाच के पाश मे सभी प्राणी आवद्ध है और यह जानते हुए भी कि इसके सदृश लोक मे अन्य कोई बन्धन नही है, उसका अधिक से अधिक सचय करते रहते है। परिग्रह के स्वभाव के लिये प्रयुक्त ये शब्द ध्यान देने योग्य है—

अणत असरण दुरत अधुवमणिच्च असासय पावकम्मनेम अवकिरियव्व विणासमूल वहबधपरिकिलेसबहुल अणतसकिलेसकारण।

इन थोडे से शब्दो मे परिग्रह का समग्र चित्रण कर दिया है। कहा है—उसका अत नही है, यह किसी को शरण देने वाला नही है, दु खद परिणाम वाला है, अस्थिर, अनित्य और अशाश्वत है, पापकर्म का मूल है, विनाश की जड है, वध, बध और सक्लेश से व्याप्त है, अनन्त क्लेश इसके साथ जुडे हुए हैं।

अत मे वर्णन का उपसहार इन शब्दो के साथ किया है—**मोक्खवरमोत्तिमग्गस्स फलिहभूयो चरिम अधम्मदार समत्त** अर्थात् श्रेष्ठ मोक्षमार्ग के लिये यह परिग्रह अर्गलारूप है।

इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कन्ध के पाच अधिकारो मे रोगो के स्वरूप और उनके द्वारा होने वाले दु खो—पीडाओ का वर्णन है। रोग है आतरिक विकार हिंसा, असत्य, स्तेय—चोरी, अब्रह्मचर्य—कामविकार और परिग्रह

तथा तज्जन्य दु ख है—वध, वधन, अनेक प्रकार की कुयोनियो, कुलो मे जन्म-मरण करते हुए अनन्त काल तक ससार मे परिभ्रमण करना।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध है इन रोगो से निवृत्ति दिलाने वाले उपायो के वर्णन का। इसमे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के स्वरूप का और उनके सुखद प्रतिफलो का सविस्तार निरूपण किया है।

प्रथम सवर अहिंसा के प्रकरण मे विविध व्यक्तियो द्वारा आराध्य विविध प्रकार की अहिंसा का विवेचन है। सर्वप्रथम अहिंसा के साठ सार्थक नामो का उल्लेख किया है। इन नामो मे प्रकारान्तर से भगवती अहिंसा की महिमा, अतिशय और प्रभाव का निर्देश किया है। इन नामो से अहिंसा के व्यापक—सर्वांगीण—स्वरूप का चित्रण हो जाता है। अत मे अहिंसावृत्ति को सपन्न बनाने मे कारणभूत पाच भावनाओ का वर्णन किया है।

सत्यरूप द्वितीय सवर के प्रकरण मे विविध प्रकार के सत्यो का वर्णन किया है। इसमे व्याकरणसम्मत वचन को भी अमुक अपेक्षा से सत्य कहा है तथा बोलते समय व्याकरण के नियमो तथा उच्चारण की शुद्धता का ध्यान रखने का सकेत किया गया है। साथ ही दस प्रकार के सत्यो का निरूपण किया है—जनपदसत्य, समतसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीतिसत्य, व्यवहारसत्य, भावसत्य, योगसत्य और उपमासत्य।

इसके अतिरिक्त बोलने वालो को वाणीमर्यादा और शालीनता का ध्यान रखने के लिये कहा गया है कि ऐसा वचन नही बोलना चाहिये जो सयमघातक हो, पीडाजनक हो, भेद-विकथाकारक हो, कलहकारक हो, अपशब्द हो और अशिष्ट जनो द्वारा प्रयोग मे लाया जाने वाला हो, अन्याय पोषक हो, अवर्णवाद से युक्त हो, लोकनिन्द्य हो, स्वप्रशसा और परनिन्दा करने वाला हो, इत्यादि। ऐसे वचन सयम का घात करने वाले है, अत उनका प्रयोग नही करना चाहिये।

अचौर्य सबन्धी प्रकरण मे अचौर्य से सम्बन्धित अनुष्ठानो का वणन किया गया है। इसमे अस्तेय की स्थूल से लेकर सूक्ष्मतम व्याख्या की गई है।

अचौर्य के लिये प्रयुक्त अदत्तादानविरमण और दत्तानुज्ञात इन दो पर्यायवाची नामो का अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया है कि अदत्त के मुख्यतया पाच प्रकार हैं—देव-अदत्त, गुरु-अदत्त, राज-अदत्त, गृहपति-अदत्त और सहधर्मी-अदत्त। इन पाचो प्रकारो के अदत्तो का स्थूल या सूक्ष्म किसी न किसी रूप मे ग्रहण किया जाता है तो वह अदत्तादान है। ऐसे अदत्तादान का मन-वचन-काया से सर्वथा त्याग करना अदत्तादानविरमण कहलाता है। दत्तानुज्ञात मे दत्त और अनुज्ञात यह दो शब्द हैं। इनका अर्थ सुगम है किन्तु व्यञ्जनिक अर्थ यह है कि दाता और आज्ञादायक के द्वारा भक्तिभावपूर्वक जो वस्तु दी जाए तथा लेने वाले की मानसिक स्वस्थता बनी रहे, ऐसी स्थिति का नियामक शब्द दत्तानुज्ञात है। दूसरा अर्थ यह है कि स्वामी के द्वारा दिये जाने पर भी जिसके उपयोग करने की अनुज्ञा—आज्ञा स्वीकृति गुरुजनो से प्राप्त हो, वही दत्तानुज्ञात है। अन्यथा उसे चोरी ही कहा जाएगा।

ब्रह्मचर्यसवर प्रकरण मे ब्रह्मचर्य के गौरव का प्रभावशाली शब्दो में विस्तार से निरूपण किया गया है। इसकी साधना करने वालो के समानित एव पूजित होने का प्ररूपण किया है। इन दोनो के माहात्म्यदशक कतिपय अश इस प्रकार हैं—

सव्वपवित्तसुनिम्मियसार, सिद्धिविमाणअवगुयदार।

\+ \+ \+ \+

वेरविरामणपज्जवसाण सव्वसमुद्दमहोदधितित्थ ।

जेण सुद्धचरिएण भवइ सुबभणो सुसमणो सुसाहू सुइसी सुमुणी स सजए स एव भिक्खू जो सुद्ध चरति वभचेर ।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य विरोधी प्रवृत्तियो का भी उल्लेख किया है और वह इसलिये कि ये कार्य ब्रह्मचर्य-साधक को साधना से पतित करने मे कारण हैं ।

अन्तिम प्रकरण अपरिग्रहसवर का है । इसमे अपरिग्रहवृत्ति के स्वरूप, तद्विपयक अनुष्ठानो और अपरिग्रहव्रतधारियो के स्वरूप का निरूपण है । इसकी पाच भावनाओ के वणन मे सभी प्रकार के ऐन्द्रियिक विपयो के त्याग का सकेत करते हुए बताया है कि—

मणुन्नामणुन्न-सुब्भि-दुब्भि-राग-दोसपणिहियप्पा साहू मणवयणकायगुत्ते सवुडेण पणिहितिंदिए चरेज्ज धम्म ।

इस प्रकार से प्रस्तुत सूत्र का प्रतिपाद्य विपय पाच आस्रवो और पाच सवरो का निरूपण है । इनके वर्णन के लिये जिस प्रकार की शब्दयोजना और भावाभिव्यक्ति के लिए जैसे अलकारो का उपयोग किया ह, उसके लिये अनन्तरवर्ती शीर्पक मे सकेत करते है ।

साहित्यिक मूल्यांकन

किसी भी ग्रन्थ के प्रतिपाद्य के अनुरूप भाव-भापा-शैली का उपयोग किया जाना उसके साहित्यिक स्तर के मूल्याकन की कसौटी है । इस दृष्टि से जब हम प्रस्तुत प्रश्नव्याकरणसूत्र का अवलोकन करते हैं तो स्पष्ट होता है कि भारतीय वाड्मय मे इसका अपना एक स्तर है ।

भावाभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त शब्दयोजना प्रौढ, प्राजल और प्रभावक है । इसके द्वारा वर्ण्य का समग्र शब्दचित्र पाठक के समक्ष उपस्थित कर दिया है । इसके लिये हम पच आस्रवो अथवा पच सवरो मे से किसी भी एक को उदाहरण के रूप मे ले सकते है । जैसे कि हिंसा-आस्रव की भीपणता का बोध कराने के लिये निम्न प्रकार के कर्कश वर्णो और अक्षरो का प्रयोग किया है—

'पावो चडो रुद्दो खुद्दो साहसिओ अणारिओ णिग्घिणो णिस्ससो महब्भओ पइभओ अइभओ वीहणओ तासणओ अणज्जो उव्वेयणओ य णिरवयक्खो णिद्धम्मो णिप्पिवासो णिक्कलुणो णिरयवासगमणनिधणो मोहमह-ब्भयपयट्टओ मरणविमणस्सो ।'

इसके विपरीत सत्य-सवर का वर्णन करने के लिये ऐसी कोमल-कात-पदावली का उपयोग किया हैं, जो हृदयस्पर्शी होने के साथ-साथ मानवमन मे नया उल्लास, नया उत्साह और उन्मेष उत्पन्न कर देती है । उदाहरण के लिये निम्नलिखित गद्याश पर्याप्त है—

' सच्चवयण सुद्ध सुचिय सिव सुजाय सुभासिय सुव्वय सुकहिय सुदिट्ठ सुपतिट्ठिय सुपइट्ठियजस सुसजमियवयणवुइय सुरवरनरवसभपवरबलवगसुविहियजणबहुमय परमसाहुधम्मचरण तवनियमपरिग्गहिय सुगतिपहदेसग च लोगुत्तम वयमिण ।'

भापा, भाव के अनुरूप है, यत्र-तत्र साहित्यिक अलकारो का भी उपयोग किया गया है । मुख्य रूप से उपमा और रूपक अलकरो की बहुलता है । फिर भी अन्यान्य अलकारो का उपयोग भी यथाप्रसग किया गया है, जिनका ज्ञान प्रासगिक वर्णनो को पढने से हो जाता है ।

भावो की सही अनुभूति की बोधक भापायोजना रस कहलाती है। इस अपेक्षा से भापा का विचार करें तो प्रस्तुत ग्र थ मे शृ गार, वीर, करुणा, वीभत्स आदि साहित्यिक सभी रसो का समावेश हुआ है। जैसे कि हिंसा-आस्रव के कुफलो के वर्णन मे वीभत्स और उनका भोग करने वालो के वर्णन मे करुण रस की अनुभूति होती है। इसी प्रकार का अनुभव अन्य आस्रवो के वर्णन मे भी होता है कि प्राणी अपने क्षणिक स्वार्थ की पूर्ति के लिये कितने-कितने वीभत्स कार्य कर बैठते है और परिणाम की चिन्ता न कर रुद्रता की चरमता को भी लाघ जाते है। लेकिन विपाककाल मे बनने वाली उनकी स्थिति करुणता की सीमा भी पार जाती है। पाठक के मन मे एक ऐसा स्थायी निर्वेदभाव उत्पन्न हो जाता है कि वह स्वय के अतर्जीवन की ओर झाकने का प्रयत्न करता है।

अब्रह्मचर्य-आस्रव के वर्णन मे शृ गाररस से पूरित अनेक गद्याश है। लेकिन उनमे उद्दाम शृ गार नही है, अपितु विरागभाव से अनुप्राणित है। सर्वत्र यही निष्कर्ष रूप मे बताया है कि उत्तम से उत्तम भोग भोगने वाले भी अन्त मे कामभोगो से अतृप्त रहते हुए ही मरणधर्म को प्राप्त होते है।

लेकिन अहिंसा आदि पाच सवरो के वर्णन मे वीररस की प्रधानता है। आत्मविजेताओ की अदीन-वृत्ति को प्रभावशाली शब्दावली मे जैसा का तैसा प्रकट किया है। सर्वत्र उनकी मनस्विता और मनोबल की सबलता का दिग्दर्शन कराया है।

इस प्रकार हम प्रस्तुत आगम को किसी भी कसौटी पर परखें, वाड्मय मे इसका अनूठा, अद्वितीय स्थान है। साहित्यिक कृति के लिये जितनी भी विशेपतायें होना चाहिये, वे सब इस मे उपलब्ध हैं। विद्वान् गीतार्थ रचयिता ने इसकी रचना मे अपनी प्रतिभा का पूर्ण प्रयोग किया है और प्रतिपाद्य के प्रत्येक आयाम पर प्रौढता का परिचय दिया है।

तत्कालीन आचार-विचार का चित्रण

ग्र थकार ने तत्कालीन समाज के आचार-विचार का भी विवरण दिया है। लोकजीवन की कैसी प्रवृत्ति थी और तदनुरूप उनकी कैसी मनोवृत्ति थी, आदि सभी का स्पष्ट उल्लेख किया है। एक ओर उनके आचार-विचार का कृष्णपक्ष मुखरित है तो दूसरी ओर उनके शुक्लपक्ष का भी परिचय दिया है। मनोविज्ञान-वेत्ताओ के लिये तो इसमे इतनी सामग्री सकलित कर दी गई है कि उससे यह जाना जा सकता है कि मनोवृत्ति की कौनसी धारा मनुष्य की किस प्रवृत्ति को प्रभावित करती है और उससे किस आचरण की ओर मुडा जा सकता है।

प्रस्तुत सस्करण

वैसे तो आस्रव और सवर की चर्चा अन्य आगमो मे भी हुई है, किन्तु प्रश्नव्याकरणसूत्र तो इनके वर्णन का ही ग्र थ है। जितना व्यवस्थित और क्रमबद्ध वर्णन इसमे किया गया है, उतना अन्यत्र नही हुआ है। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यो ने इस पर टीकायें लिखी, इसके प्रतिपाद्य विषय के आशय को सरल सुबोध भापा मे स्पष्ट करने का प्रयास किया और वे इसमे सफल भी हुए है। उन्होने ग्र थ की समासबहुल शैली के आशय को स्पष्ट किया है, प्रत्येक शब्द मे गर्भित गूढ रहस्य को प्रकट किया है। उनके इस उपकार के लिये वर्त्तमान ऋणी रहेगा, लेकिन आज साहित्यसृजन की भापा का माध्यम बदल जाने से वे व्याख्याग्रन्थ भी सर्वजन-सुबोध नही रहे। इसीलिये वर्तमान की हिन्दी आदि लोकभापाओ मे अनेक सस्करण प्रकाशित हुए। उन सबकी अपनी-अपनी विशेपताऍ है। परन्तु यहाँ प्रस्तुत सस्करण के सम्बन्ध मे ही कुछ प्रकाश डाल रहे है।

प्रस्तुत सस्करण के अनुवादक प मुनि श्री प्रवीणऋषिजी म है, जो आचार्यसम्राट् श्री आनन्द-ऋषिजी म के अन्तेवासी है। इस अनुवाद के विवेचक सपादक गुरुणागुरु श्रद्धेय पडितरत्न श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल है। जैन आगमो का आपने अनेक बार अध्ययन-अध्यापन किया है। यही कारण है कि आपने ग्र थ के विवेचन मे अभिधेय के आशय को स्पष्ट करने के लिये आवश्यक सभी विवरणो को यथाप्रसग समायोजित कर ग्र थ के हार्द को सुललित शैली मे व्यक्त किया है। इसमे न तो कुछ अप्रासगिक जोडा गया है और न वह कुछ छूट पाया है जो वर्ण्य के आशय को स्पष्ट करने के लिये अपेक्षित है। पाठक को स्वत यह अनुभव होगा कि पडितजी ने पाडित्यप्रदर्शन न करके स्वान्त सुखाय लिखा है और जो कुछ लिखा है, उसमे उनकी अनुभूति तदाकार रूप मे अवतरित हुई है। सक्षेप मे कहे तो निष्कर्ष रूप मे यही कहा जा सकता कि आपकी भाषाशैली का जो भागीरथी गगा जैसा सरल प्रवाह है, मनोभावो की उदारता है, वाचाशक्ति का प्रभाव है, वह सब इसमे पु ज रूप से प्रस्तुत कर दिया है। इसके सिवाय अधिक कुछ कहना मात्र शब्दजाल होगा, परन्तु इतनी अपेक्षा तो है ही कि पडितप्रवर अन्य गम्भीर आगमो के आशय का ऐसी ही शैली मे सम्पादन कर अपने ज्ञानवृद्धत्व के द्वारा जन-जन की ज्ञानवृद्धि के सूत्रधार बनें।

आशा और विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आगमसाहित्य के क्षेत्र मे यह सुरुचिपूर्ण सस्करण यशस्वी और आकर्षक रहेगा।

आगमसाहित्य के प्रकाशन की दशा और दिशा

उपसहार के रूप मे एतद् विषयक मुख्य बिन्दुओ पर सक्षेप मे प्रकाश डालना उपयुक्त होगा।

यह तो पूर्व मे कहा जा चुका है कि एक समय था जब धर्मग्रन्थ कठोपकठ सुरक्षित रखे जाते थे, लिखने का रिवाज न था। लेकिन परिस्थिति के परिवर्तित होने पर लेखन-प्रणाली स्वीकार कर ली गई और जैन आगमो को ताडपत्रादि पर लिपिबद्ध किया गया। जैन आचार्यो का यह परिश्रम अमूल्य एव अभिनदनीय रहा कि उनके प्रयासो के फलस्वरूप आगम ग्रन्थ किसी न किसी रूप मे सुरक्षित रहे।

इसके बाद कागज पर लिखने का युग आया। इस युग मे आगमो की अनेक प्रतिलिपिया हुई और भिन्न-भिन्न ग्राम, नगरो के ग्रन्थभडारो मे सुरक्षित रखी गई। लेकिन इस समय मे लिपिकारो की अल्पज्ञता आदि के कारण पाठो मे भेद हो गये। ऐसी स्थिति मे यह निर्णय करना कठिन हो गया कि शुद्ध पाठ कौनसा है ? इसी कारण आचार्यो ने उपलब्ध पाठो के आधार पर अपने-अपने ढग से व्याख्याएँ की।

तत्पश्चात् मुद्रणयुग मे जैनसघ का प्रारभ मे प्रयत्न नगण्य रहा। विभिन्न दृष्टियो से सघ मे शास्त्रो के मुद्रण के प्रति उपेक्षाभाव ही नही, विरोधभाव भी रहा। लेकिन विदेश मे कुछ जर्मन विद्वानो और देश मे कुछ प्रगतिशील जैनप्रमुखो ने आगमो को प्रकाशित करने की पहल की। उनमे अजीमगज (बगाल) के बाबू धनपतसिंहजी का नाम प्रमुख है। उन्होने आगमो को टब्बो के साथ मुद्रित कर प्रकाशित कराया। इसके बाद विजयानन्दसूरिजी ने आगम-प्रकाशन कार्य करने वालो को प्रोत्साहित किया। सेठ भीमसिंह माणेक ने भी आगम-प्रकाशन की प्रवृत्ति प्रारभ की और एक दो आगम टीका सहित निकाले। इसी प्रकार अन्यान्य व्यक्तियो की ओर से आगम-प्रकाशन का कार्य प्रारभ किया गया। उसमे आगमोदय समिति का नाम प्रमुख है। समिति ने सभी आगमो को समयानुकूल और साधनो के अनुरूप प्रकाशित करवाया।

स्थानकवासी जैन सघ मे सर्वप्रथम जीवराज घेलाभाई ने जर्मन विद्वानो द्वारा मुद्रित रोमन लिपि के आगमो को नागरी लिपि मे प्रकाशित किया। इसके बाद पूज्य अमोलकऋषिजी ने बत्तीस आगमो का हिन्दी

अनुवाद किया और हैदराबाद से वे प्रकाशित हुए। तत्पश्चात् सघ मे आगमो को व्यवस्थित रीति से सपादित करके प्रकाशित करने का मानस बना। पूज्य आत्मारामजी महाराज ने अनेक आगमो की अनुवाद सहित व्याख्याएँ की, जो पहले भिन्न-भिन्न सद्ग्रहस्थो की ओर से प्रकाशित हुई और अब आत्माराम जैन साहित्य प्रकाशन समिति लुधियाना की ओर से मुद्रण और प्रकाशन कार्य हो रहा है। मुनिश्री फूलचन्दजी म पुप्फभिक्खु ने दो भागो मे मूल बत्तीसो आगमो को प्रकाशित किया। जिनमे कुछ पाठो को बदल दिया गया। इसके बाद पूज्य घासीलालजी महाराज ने हिन्दी, गुजराती और सस्कृत विवेचन सहित प्रकाशन का कार्य किया। इस समय आगम प्रकाशन समिति ब्यावर की ओर से भी शुद्ध मूल पाठो सहित हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन का कार्य हो रहा है।

इसके सिवाय महावीर जैन विद्यालय बबई के तत्त्वावधान मे मूल आगमो का परिष्कार करके शुद्ध पाठ सहित प्रकाशन का कार्य चल रहा है। अनेक आगम ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके है। जैन विश्वभारती लाडनू की ओर से भी ग्यारह अग—आगम मूल प्रकाशित हो चुके है।

इस प्रकार से समग्र जैन सघ मे आगमो के प्रकाशन के प्रति उत्साह है और मूल पाठो, पाठान्तरो, विभिन्न प्रतियो से प्राप्त लिपिभेद के कारण हुए शब्दभेद, विषयसूची, शब्दानुक्रमणिका, परिशिष्ट, प्रस्तावना सहित प्रकाशित हो रहे है। इससे यह लाभ हो रहा है कि विभिन्न ग्रन्थभडारो मे उपलब्ध प्रतियो के मिलाने का अवसर मिला, खडित पाठो आदि को फुटनोट के रूप मे उद्धृत भी किया जा रहा है। लेकिन इतनी ही जैन आगमो के प्रकाशन की सही दिशा नही मानी जा सकती है। अब तो यह आवश्यकता है कि कोई प्रभावक और बहुश्रुत जैनाचार्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण जैसा साहस करके सर्वमान्य, सर्वत शुद्ध आगमो को प्रकाशित करने-कराने के लिये अग्रसर हो।

साथ ही जैन सघ का भी यह उत्तरदायित्व है कि आगममर्मज्ञ मुनिराजो और वयोवृद्ध गृहस्थ विद्वानो के लिये ऐसी अनुकूल परिस्थितियो का सर्जन करे, जिससे वे स्वसुखाय के साथ-साथ परसुखाय अपने ज्ञान को वितरित कर सकें। उनमे ऐसा उल्लास आये कि वे सरस्वती के साधक सरस्वती की साधना मे एकान्तरूप से अपने को अर्पित कर दें। सभवत यह स्थिति आज न बन सके, लेकिन भविष्य के जैन सघ को इसके लिये कार्य करना पडेगा। विश्व मे जो परिवर्तन हो रहे हैं, यदि उनके साथ चलना है तो यह कार्य शीघ्र प्रारभ करना चाहिए।

देश के विभिन्न विश्वविद्यालयो मे जैन पीठो की स्थापना होती जा रही है और शोधसस्थान भी स्थापित हो रहे हैं। उनसे जैन साहित्य के सशोधन को प्रोत्साहन मिला है और प्रकाशन भी हो रहा है। यह एक अच्छा कार्य है। अत उनसे यह अपेक्षा है कि अपने साधनो के अनुरूप प्रतिवर्ष भडारो मे सुरक्षित दो-चार प्राचीन ग्रन्थो को मूल रूप मे प्रकाशित करने की ओर उन्मुख हो।

ऐसा करने से जैन साहित्य की विविध विधाओ का ज्ञान प्रसारित होगा और जैन साहित्य की विशालता, विविधरूपता एव उपादेयता प्रकट होगी।

विज्ञेषु किं बहुना!

जैन स्थानक,
ब्यावर (राज) ३०५९०१

—देवकुमार जैन

अपनी बात

हमारे श्रमणसघ के विद्वान् युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी महाराज जितने शान्त एव गम्भीर प्रकृति के है, ज्ञान-गरिमा की दृष्टि से उतने ही स्फूर्त तथा क्रियाशील है। ज्ञान के प्रति अगाध प्रेम और उसके विस्तार की भावना आप मे बडी तीव्र है। जब से आपश्री ने समस्त बत्तीस आगमो के हिन्दी अनुवाद-विवेचन युक्त आधुनिक शैली मे प्रकाशन-योजना की घोषणा की है, विद्वानो तथा आगमपाठी ज्ञान-पिपासुओ मे बडी उत्सुकता व प्रफुल्लता की भावना बढी है। यह एक ऐतिहासिक आवश्यकता भी थी।

बहुत वर्षों पूर्व पूज्यपाद श्री अमोलकऋषिजी महाराज ने आगमो के हिन्दी अनुवाद का जो भगीरथ कार्य सम्पन्न किया था, वह सम्पूर्ण स्थानकवासी जैन समाज के लिए एक गौरव का कार्य तो था ही, अत्यन्त आवश्यक व उपयोगी भी था। वर्तमान मे उन आगमो की उपलब्धि भी कठिन हो गई और आगमपाठी जिज्ञासुओ को बडी कठिनाई का अनुभव हो रहा था। श्रद्धेय आचार्यसम्राट् श्री आनन्दऋषिजी महाराज भी इस दिशा मे चिन्तनशील थे और आपकी हार्दिक भावना थी कि आगमो का आधुनिक सस्करण विद्यार्थियो को सुलभ हो। युवाचार्यश्री की साहसिक योजना ने आचार्यश्री की अन्तरग भावना को सन्तोष ही नही किन्तु आनन्द प्रदान किया।

आगम-सम्पादन-कार्य मे अनेक श्रमण, श्रमणियो तथा विद्वानो का सहकार अपेक्षित है और युवाचार्यश्री ने बडी उदारता के साथ सबका सहयोग आमन्त्रित किया। इससे अनेक प्रतिभाओ को सक्रिय होने का अवसर व प्रोत्साहन मिला। मुझ जैसे नये विद्यार्थियो को भी अनुभव की देहरी पर चढने का अवसर मिला। सिकन्द्राबाद वर्षावास मे राजस्थानकेसरी श्री पुष्करमुनिजी, साहित्यवाचस्पति श्री देवेन्द्रमुनिजी आदि भी आचार्यश्री के साथ थे। श्री देवेन्द्रमुनिजी हमारे स्थानकवासी जैन समाज के सिद्धहस्त लेखक व अधिकारी विद्वान् है। उन्होने मुझे भी आगम-सम्पादन-कार्य मे प्रेरित किया। उनकी बार-बार की प्रोत्साहनपूर्ण प्रेरणा से मैंने भी आगम-सम्पादन-कार्य मे सहयोगी बनने का सकल्प किया। परम श्रद्धेय आचार्यश्री का मार्गदर्शन मिला और मैं इस पथ पर एक कदम बढाकर आगे आया। फिर गति मे कुछ मन्दता आ गई। आदरणीया विदुषी महासती प्रीतिसुधाजी ने मेरी मन्दता को तोडा, बल्कि कहना चाहिए झकझोरा, उन्होने सिर्फ प्रेरणा व प्रोत्साहन ही नही, सहयोग भी दिया, बार-बार पूछते रहना, हर प्रकार का सहकार देना तथा अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ, टीकाएँ, टब्बा आदि उपलब्ध कराना, यह सब उन्ही का काम था। यदि उनकी बलवती प्रेरणा व जीवन्त सहयोग न होता तो मैं शायद प्रश्नव्याकरणसूत्र का अनुवाद नही कर पाता।

प्रश्नव्याकरणसूत्र अपनी शैली का एक अनूठा आगम है। अन्य आगमो मे जहाँ वर्ण्यविषय की विविधता विहगम गति से चली है, वहाँ इस आगम की वर्णनशैली पिपीलिकायोग-मार्ग की तरह पिपीलिकागति से क्रमबद्ध चली है। पाच आश्रवो तथा पाच सवरो का इतना सूक्ष्म, तलस्पर्शी, व्यापक और मानव-मनोविज्ञान को छूने वाला वर्णन ससार के किसी भी अन्य शास्त्र या ग्रन्थ मे मिलना दुर्लभ है।

शब्दशास्त्र का नियम है कि कोई भी दो शब्द एकार्थक नही होते। प्रत्येक शब्द, जो भले पर्यायवाची हो, एकार्थक प्रतीत होते हो, किन्तु उनका अर्थ, प्रयोजन, निष्पत्ति भिन्न होती है और वह स्वय मे कुछ न कुछ भिन्न

अर्थवत्ता लिये होता है। प्रश्नव्याकरणसूत्र मे भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यही अद्भुतता है, विलक्षणता है कि हिंसा, अहिंसा, सत्य, असत्य आदि के ६०, ३० आदि जो पर्यायवाची नाम दिये है, वे सभी भिन्न-भिन्न अर्थ के द्योतक है। उनकी पहुँच मानव के गहन अन्त करण तक होती है और भिन्न-भिन्न मानसवृत्तियो, स्थितियो और प्रवृत्तियो को दर्शाती हैं। उदाहरण स्वरूप—हिंसा के पर्यायवाची नामो मे क्रूरता भी है और क्षुद्रता भी है। क्रूरता को हिंसा समझना वहुत सरल है, किन्तु क्षुद्रता भी हिंसा है, यह बडी गहरी व सूक्ष्म वात है। क्षुद्र का हृदय छोटा, अनुदार होता है तथा वह भीत व त्रस्त रहता है। उसमे न देने की क्षमता है, न सहने की, इस दृष्टि से अनुदारता, असहिष्णुता तथा कायरता 'क्षुद्र' शब्द के अर्थ को उद्घाटित करती है और यहाँ हिंसा का क्षेत्र वहुत व्यापक हो जाता है।

तीसरे सवर द्वार मे अस्तेयव्रत की आराधना कौन कर सकता है, उसकी योग्यता, अर्हता व पात्रता का वर्णन करते हुए बताया है—'सग्रह-परिग्रहकुशल' व्यक्ति अस्तेयव्रत की आराधना कर सकता है।

सग्रह-परिग्रह शब्द की भावना वडी सूक्ष्म है। टीकाकार आचार्य ने वताया है—'सग्रह-परिग्रह-कुशल' का अर्थ है सविभागशील, जो सबको समान रूप से बँटवारा करके सन्तुष्ट करता हो, वह समवितरणशील या सविभाग मे कुशल व्यक्ति ही अस्तेयव्रत की आराधना का पात्र है।

'प्रार्थना' को चौर्य मे गिनना व आदर को परिग्रह मे समाविष्ट करना वहुत ही सूक्ष्म विवेचना व चिन्तना की बात है। इस प्रकार के सैकडो शब्द है, जिनका प्रचलित अर्थो से कुछ भिन्न व कुछ विशिष्ट अर्थ है और उस अर्थ के उद्घाटन से बहुत नई अभिव्यक्ति मिलती है। मैंने टीका आदि के आधार पर उन अर्थो का उद्घाटन कर उनकी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि स्पष्ट करने का प्रयत्न भी किया है।

यद्यपि आगम अनुवाद-सम्पादन के क्षेत्र मे यह मेरा प्रथम प्रयास है, इसलिए भाषा का सौष्ठव, वर्णन की प्रवाहबद्धता व विषय की विशदता लाने मे अपेक्षित सफलता नही मिली, जो स्वाभाविक ही है, किन्तु सुप्रसिद्ध साहित्यशिल्पी श्रीचन्दजी सुराना का सहयोग, पथदर्शन तथा भारतप्रसिद्ध विद्वान् मनीषी आदरणीय प श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल का अकथनीय सहयोग इस आगम को सुन्दर रूप प्रदान करने मे समर्थ हुआ है। वास्तव मे युवाचार्यश्री की उदारता तथा गुणज्ञता एव प श्री भारिल्लजी साहव का सशोधन-परिष्कार मेरे लिए सदा स्मरणीय रहेगा। यदि भारिल्ल साहव ने सशोधन-श्रम न किया होता तो यह आगम इतने सुव्यवस्थित रूप मे प्रकट न होता। मैं आशा व विश्वास करता हूँ कि पाठको को मेरा श्रम सार्थक लगेगा और मुझे भी उनकी गुणज्ञता से आगे बढने का साहस व आत्मबल मिलेगा। इसी भावना के साथ—

—प्रवीणऋषि

विषयानुक्रमणिका

प्रथम श्रुतस्कन्ध : आस्रवद्वार

द्वितीय अध्ययन—मृषावाद

तृतीय अध्ययन—अदत्तादान

चतुर्थ अध्ययन—अब्रह्म

पञ्चम अध्ययन—परिग्रह

द्वितीय श्रुतस्कन्ध—संवरद्वार

प्रथम अध्ययन—अहिंसा

द्वितीय अध्ययन—सत्य

तृतीय अध्ययन—दत्तानुज्ञात

चतुर्थ अध्ययन—ब्रह्मचर्य

पचम अध्ययन—परिग्रहत्याग

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

कार्यकारिणी समिति

पचमगणहर-सिरिसुहम्मसामिपणीय दसमं अगं

पण्हावागरणाइं

पञ्चमगणधर-श्रीसुधर्मस्वामिप्रणीत दशम अंग

प्रश्नव्याकरणसूत्र

प्रश्नव्याकरणसूत्र

पूर्वपीठिका

प्रश्नव्याकरणसूत्र भगवान् महावीर द्वारा अर्थत प्रतिपादित द्वादशागी मे दसवे अग के रूप मे परिगणित है। नन्दी आदि आगमो मे इसका प्रतिपाद्य जो विषय बतलाया गया है, उपलब्ध प्रश्न-व्याकरण मे वह वर्णित नही है। वर्त्तमान मे यह सूत्र दो मुख्य विभागो मे विभक्त है—आस्रवद्वार और सवरद्वार। दोनो द्वारो मे पाँच-पाँच अध्ययन होने से कुल दस अध्ययनो मे यह पूर्ण हुआ है। अत इसका नाम 'प्रश्नव्याकरणदशा' भी कही कही देखा जाता है।

प्रथम विभाग मे हिंसा आदि पाँच आस्रवो का और दूसरे विभाग मे अहिंसा आदि पाँच सवरो का वर्णन किया गया है।

प्रथम विभाग का प्रथम अध्ययन हिंसा है।

बहुतो की ऐसी धारणा है कि हिंसा का निषेध मात्र अहिंसा है, अतएव वह निवृत्तिरूप ही है, किन्तु तथ्य इससे विपरीत है। अहिंसा के निवृत्तिपक्ष से उसका प्रवृत्तिपक्ष भी कम प्रबल नही है। करुणात्मक वृत्तियाँ भी अहिंसा है।

हिंसा-अहिंसा की परिभाषा और उनका व्यावहारिक स्वरूप विवादास्पद रहा है। इसीलिए आगमकार हिंसा का स्वरूप-विवेचन करते समय किसी एक दृष्टिकोण से बात नही करते हैं। उसके अन्तरग, बहिरग, सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक स्वरूप की तथा उसके कारणो की भी मीमासा करते है।

प्रस्तुत आगम मे विषय-विश्लेषण के लिए पाँच द्वारो से हिंसा का वर्णन किया गया है—हिंसा का स्वभाव, उसके स्वरूपसूचक गुणनिष्पन्न नाम, हिंसा की विधि—हिंस्य जीवो का उल्लेख, उसका फल और हिंसक व्यक्ति। इन पाँच माध्यमो से हिंसा का स्वरूप स्पष्ट कर दिया गया है। हिंसा का कोई आयाम छूटा नही है।

हिंसा केवल चण्ड और रौद्र ही नही, क्षुद्र भी है। अनेकानेक रूप है और उन रूपो को प्रदर्शित करने के लिए शास्त्रकार ने उसके अनेक नामो का उल्लेख किया है। वस्तुत परिग्रह, मैथुन, अदत्तादान और असत्य भी हिंसाकारक एव हिंसाजन्य है, तथापि सरलता से समझाने के लिए इन्हे पृथक्-पृथक् रूप मे परिभाषित किया गया है। अतएव आस्रवद्वार प्रस्तुत आगम मे पाँच बतलाए गए हैं और इनका हृदयग्राही विशद वर्णन किया गया है।

आस्रव और सवर सात तत्त्वो या नौ पदार्थों मे परिगणित हैं। अ॰ ..
जनो के लिए इनका बोध होना आवश्यक ही नही, सफल साधना के लिए अनिवार्य भी

[१]

आस्रवद्वार

प्रथम अध्ययन : हिंसा

१—जंबू[1] !

इणमो अण्हय-संवर विणिच्छयं, पवयणस्स णिस्संदं ।
वोच्छामि णिच्छयत्थं, सुभासियत्थं महेसीहिं ॥१॥

पंचविहो पण्णत्तो, जिणेहिं इह अण्हओ अणाईओ ।
हिंसामोसमदत्तं, अब्बंभपरिग्गहं चेव ॥२॥

जारिसओ जं णामा, जह य कओ जारिसं फलं देइ ।
जे वि य करेंति पावा, पाणवहं[2] तं णिसामेह ॥३॥

१—हे जम्बू ! आस्रव और संवर का भलीभाँति निश्चय कराने वाले प्रवचन के सार को मैं कहूंगा, जो महर्षियों—तीर्थंकरों एवं गणधरों आदि के द्वारा निश्चय करने के लिए सुभाषित है—समीचीन रूप से कहा गया है ॥१॥

जिनेश्वर देव ने इस जगत् में अनादि आस्रव को पाँच प्रकार का कहा है—(१) हिंसा, (२) असत्य, (३) अदत्तादान, (४) अब्रह्म और (५) परिग्रह ॥२॥

प्राणवधरूप प्रथम आस्रव जैसा है, उसके जो नाम हैं, जिन पापी प्राणियों द्वारा वह किया जाता है, जिस प्रकार किया जाता है और जैसा (घोर दुःखमय) फल प्रदान करता है, उसे तुम सुनो ॥३॥

विवेचन—आ—अभिविधिना सर्वव्यापकविधित्वेन श्रौति-स्रवति वा कर्म येभ्यस्ते आश्रवाः । जिनसे आत्मप्रदेशों में कर्म-परमाणु प्रविष्ट होते हों उन्हें आश्रव या आस्रव कहते हैं। आत्मा जिस समय क्रोधादि या हिंसादि भावों में तन्मय होती है उस समय आश्रव की प्रक्रिया संपन्न होती है। बंधपूर्व प्रवृत्ति की उत्तर अवस्था आश्रव है। आत्मभूमि में शुभाशुभ फलप्रद कर्म-बीजों के बोने की प्रक्रिया आश्रव है।

आश्रवों की संख्या और नामों के विषय में विविध प्रक्रियाएँ प्रचलित हैं स्थानांगसूत्र में एक, पाँच छह, आठ दस[3] आश्रव के प्रकार गिनाये हैं।

---

१ देखिए परिशिष्ट ।

२ पाठान्तर—पाणिवहं ।

३ स्थानांग-[१ १२ ५-१०९ ६-१६ ८ १२ १०-११]

[१]

आसृवद्वार

प्रथम अध्ययन : हिसा

१—जबू[१]!

इणमो अण्हय-सवर विणिच्छय, पवयणस्स णिस्सदं ।
वोच्छामि णिच्छयत्थ, सुभासियत्थ महेसीहि ॥१॥

पचविहो पण्णत्तो, जिर्णेहि इह अण्हओ अणाईओ ।
हिंसामोसमदत्त, अव्वभपरिग्गह चेव ॥२॥

जारिसओ ज णामा, जह य कओ जारिस फल देइ ।
जे वि य करेंति पावा, पाणवह[२] त णिसामेह ॥३॥

१—हे जम्बू! आस्रव और सवर का भलीभाँति निश्चय कराने वाले प्रवचन के सार को मैं कहूगा, जो महर्षियो—तीर्थंकरो एव गणधरो आदि के द्वारा निश्चय करने के लिए सुभाषित है—समीचीन रूप से कहा गया है ॥१॥

जिनेश्वर देव ने इस जगत् मे अनादि आस्रव को पाँच प्रकार का कहा है—(१) हिंसा, (२) असत्य, (३) अदत्तादान, (४) अब्रह्म और (५) परिग्रह ॥२॥

प्राणवधरूप प्रथम आस्रव जैसा है, उसके जो नाम है, जिन पापी प्रणियो द्वारा वह किया जाता है, जिस प्रकार किया जाता है और जैसा (घोर दु खमय) फल प्रदान करता है, उसे तुम सुनो ॥३॥

विवेचन—आ—अभिविधिना सर्वव्यापकविधित्वेन औति-स्रवति वा कर्म येभ्यस्ते आश्रवा । जिनसे आत्मप्रदेशो मे कर्म-परमाणु प्रविष्ट होते हो उन्हे आश्रव या आस्रव कहते हैं। आत्मा जिस समय क्रोधादि या हिंसादि भावो मे तन्मय होती है उस समय आश्रव की प्रक्रिया सपन्न होती है। बधपूर्व प्रवृत्ति की उत्तर अवस्था आश्रव है। आत्मभूमि मे शुभाशुभ फलप्रद कर्म-बोजो के बोने की प्रक्रिया आश्रव है।

आश्रवो की सख्या और नामो के विषय मे विविध प्रक्रियाएँ प्रचलित है स्थानागसूत्र मे एक, पाँच छह, आठ, दस[३] आश्रव के प्रकार गिनाये हैं।

---

१ देखिए परिशिष्ट १

२ पाठान्तर—पाणिवह ।

३ स्थानाग-[१ १२ ५-१०९ ६-१६ ८ १२ १०-११]

तत्त्वार्थसूत्र मे आश्रव के पाँच भेद—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कपाय, (५) योग माने है।[1]

कही-कही आश्रव के बीस भेद भी गिनाये गये है।

प्रस्तुत तीन गाथाओ मे से प्रथम गाथा मे इस शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख कर दिया गया है, अर्थात् यह प्रदर्शित कर दिया गया है कि इस शास्त्र मे आस्रव और सवर की प्ररूपणा की जाएगी।

'सुभासियत्थ महेसीहिं (सुभाषितार्थ महर्षिभि) अर्थात् यह कथन तीर्थंकरो द्वारा समीचीन रूप से प्रतिपादित है। यह उल्लेख करके शास्त्रकार ने अपने कथन को प्रामाणिकता एव विश्वसनीयता प्रकट की है।

जिसने कर्मबन्ध के कारणो—आस्रवो और कर्मनिरोध के कारणो को भलीभाति जान लिया, उसने समग्र प्रवचन के रहस्य को ही मानो जान लिया। यह प्रकट करने के लिए इसे 'प्रवचन का निष्यद' कहा है।

दूसरी गाथा मे बताया है—प्रत्येक ससारी जीव को आस्रव अनादिकाल से हो रहा है—लगातार चल रहा है। ऐसा नही है कि कोई जीव एक बार सर्वथा आस्रवरहित होकर नये सिरे से पुन आस्रव का भागी बने। अतएव आस्रव को यहाँ अनादि कहा है। अनादि होने पर भी आस्रव अनन्तकालिक नही है। सवर के द्वारा उसका परिपूर्ण निरोध किया जा सकता है, अन्यथा सम्पूर्ण अध्यात्मसाधना निष्फल सिद्ध होगी।

यहाँ पर स्मरण रखना चाहिए कि आस्रव सततिरूप से—परम्परा रूप से ही अनादि है।

इसमे आगे कहे जाने वाले पाँच आस्रवो के नामो का भी उल्लेख कर दिया गया है।

तृतीय गाथा मे प्रतिपादित किया गया है कि यहाँ हिसा आस्रव के सबध मे निम्नलिखित विषयो पर प्रकाश डाला जायेगा—

(१) हिंसा आस्रव का स्वरूप क्या है?
(२) उसके क्या-क्या नाम है, जिनसे उसके विविध रूपो का ज्ञान हो सके?
(३) हिंसारूप आस्रव किस प्रकार से किन-किन कृत्यो द्वारा किया जाता है?
(४) किया हुआ वह आस्रव किस प्रकार का फल प्रदान करता है?
(५) कौन पापी जीव हिंसा करते है?

हिंसा-आस्रव के सबध मे प्ररूपणा की जो विधि यहाँ प्रतिपादित की गई है, वही अन्य आस्रवो के विषय मे भी समझ लेनी चाहिये।

प्राण-वध का स्वरूप—

२—पाणवहो णाम एसो जिणेहिं भणिओ—१ पावो २ चडो ३ रुद्दो ४ खुद्दो ५ साहसिओ ६ अणारिओ ७ णिग्घिणो ८ णिस्ससो ९ महब्भओ १० पइभओ ११ अइभओ १२ बीहणओ १३ तासणओ १४ अणज्जओ १५ उव्वेयणओ य १६ णिरवयक्खो १७ णिद्धम्मो १८ णिप्पिवासो १९

---

१ मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकपाययोगास्तद्भेदा। —अ ८-१।

णिक्कलुणो २० णिरयवासगमणनिधणो २१ मोहमहब्भयपयट्टग्रो २२ मरणवेमणस्सो। एस पढम ग्रहम्मदार ॥१॥

२—जिनेश्वर भगवान् ने प्राणवध को इस प्रकार कहा है—यथा (१) पाप (२) चण्ड (३) रुद्र (४) क्षुद्र (५) साहसिक (६) अनार्य (७) निर्घृण (८) नृशस (९) महाभय (१०) प्रतिभय (११) अतिभय (१२) भापनक (१३) त्रासनक (१४) अनार्य (१५) उद्वेगजनक (१६) निरपेक्ष (१७) निर्धर्म (१८) निष्पिपास (१९) निष्करुण (२०) नरकवास गमन-निधन (२१) मोहमहाभय प्रवर्तक (२२) मरणवैमनस्य, इति प्रथम अधर्म-द्वार।

विवेचन—कारण-कार्य की परपरानुसार अर्थात् सत्कार्यवाद के चिंतनानुसार कार्य का अस्तित्व केवल अभिव्यक्तिकाल मे ही नही अपितु कारण के रूप मे, अतीत मे और परिणाम के रूप मे भविष्य मे भी रहता है।

हिंसा क्षणिक घटना नही है, हिंसक कृत्य दृश्यकाल मे अभिव्यक्त होता है, पर उसके उपादान अतीत मे एव कृत्य के परिणाम के रूप मे वह भविष्य मे भी व्याप्त रहती है। अर्थात् उसका प्रभाव त्रैकालिक होता है।

कार्यनिष्पत्ति के लिए उपादान के समकक्ष ही निमित्तकारण की भी आवश्यकता होती है। उपादान आत्मनिष्ठ कारण है। निमित्त, परिवेष, उत्तेजक, उद्दीपक एव साधनरूप है। वह वाहर स्थित होता है। आश्रव—हिंसा का मौलिक स्वरूप उपादान मे ही स्पष्ट होता है। आश्रव का उपादान चैतन्य की विभाव परिणति है। निमित्तसापेक्षता के कारण वैभाविक परिणति मे वैविध्य आता है। स्वरूपसूचक नामो का विषय है दृश्य—अभिव्यक्ति कालीन हिंसा के विविध आयामो को अभिव्यक्त करना। हिसा के स्वरूपसूचक ग्रथकार द्वारा निर्दिष्ट कई विशेषण प्रसिद्ध हिंसाप्रवृत्ति के प्रतिपादक हैं, किंतु कई नाम हिंसा की अप्रसिद्ध प्रवृत्ति को प्रकाशित करते है। इन नामो का अभिप्राय इस प्रकार है—

(१) पाव—पापकर्म के बन्ध का कारण होने से यह पाप-रूप है।

(२) चडो—जब जीव कषाय के भडकने से उग्र हो जाता है, तब प्राणवध करता है, अतएव यह चण्ड है।

(३) रुद्दो—हिंसा करते समय जीव रौद्र-परिणामी बन जाता है, अतएव हिंसा रुद्र है।

(४) खुद्दो—सरसरी तौर पर देखने से क्षुद्र व्यक्ति हिंसक नजर नही आता। वह सहिष्णु, प्रतीकार प्रवृत्ति से शून्य नजर आता है। मनोविज्ञान के अनुसार क्षुद्रता के जनक है दुर्बलता, कायरता एव सकीर्णता। क्षुद्र अन्य के उत्कर्ष से ईर्ष्या करता है। प्रतीकार की भावना, शत्रुता की भावना उसका स्थायी भाव है। प्रगति का सामर्थ्य न होने के कारण वह अन्तर्मानस मे प्रतिक्रियावादी होता है। प्रतिक्रिया का मूल है असहिष्णुता। असहिष्णुता व्यक्ति को सकीर्ण बनाती है। अहिंसा का उद्गम सर्वजगजीव के प्रति वात्सल्यभाव है और हिंसा का उद्गम अपने और परायेपन की भावना है।

सकीर्णता की विचारधारा व्यक्ति को चिंतन की समदृष्टि से व्यष्टि मे केन्द्रित करती है।

१—पाठान्तर—पवड्ढग्रो

तत्त्वार्थसूत्र मे आश्रव के पाँच भेद—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय, (५) योग माने है ।[1]

कही-कही आश्रव के बीस भेद भी गिनाये गये है ।

प्रस्तुत तीन गाथाओ मे से प्रथम गाथा मे इस शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख कर दिया गया है, अर्थात् यह प्रदर्शित कर दिया गया है कि इस शास्त्र मे आस्रव और सवर की प्ररूपणा की जाएगी ।

'सुभासियत्थ महेसीहिं (सुभाषितार्थ महर्षिभि) अर्थात् यह कथन तीर्थंकरो द्वारा समीचीन रूप से प्रतिपादित है । यह उल्लेख करके शास्त्रकार ने अपने कथन को प्रामाणिकता एव विश्वसनीयता प्रकट की है ।

जिसने कर्मबन्ध के कारणो—आस्रवो और कर्मनिरोध के कारणो को भलीभाति जान लिया, उसने समग्र प्रवचन के रहस्य को ही मानो जान लिया । यह प्रकट करने के लिए इसे 'प्रवचन का निष्यद' कहा है ।

दूसरी गाथा मे बताया है—प्रत्येक ससारी जीव को आस्रव अनादिकाल से हो रहा है—लगातार चल रहा है । ऐसा नही है कि कोई जीव एक बार सर्वथा आस्रवरहित होकर नये सिरे से पुन आस्रव का भागी बने । अतएव आस्रव को यहाँ अनादि कहा है । अनादि होने पर भी आस्रव अनन्तकालिक नही है । सवर के द्वारा उसका परिपूर्ण निरोध किया जा सकता है, अन्यथा सम्पूर्ण अध्यात्मसाधना निष्फल सिद्ध होगी ।

यहाँ पर स्मरण रखना चाहिए कि आस्रव सततिरूप से—परम्परा रूप से ही अनादि है ।

इसमे आगे कहे जाने वाले पाँच आस्रवो के नामो का भी उल्लेख कर दिया गया है ।

तृतीय गाथा मे प्रतिपादित किया गया है कि यहाँ हिंसा आस्रव के सबध मे निम्न-लिखित विषयो पर प्रकाश डाला जायेगा—

(१) हिंसा आस्रव का स्वरूप क्या है ?
(२) उसके क्या-क्या नाम है, जिनसे उसके विविध रूपो का ज्ञान हो सके ?
(३) हिंसारूप आस्रव किस प्रकार से किन-किन कृत्यो द्वारा किया जाता है ?
(४) किया हुआ वह आस्रव किस प्रकार का फल प्रदान करता है ?
(५) कौन पापी जीव हिंसा करते है ?

हिंसा-आस्रव के सबध मे प्ररूपणा की जो विधि यहाँ प्रतिपादित की गई है, वही अन्य आस्रवो के विषय मे भी समझ लेनी चाहिये ।

प्राण-वध का स्वरूप—

२—पाणवहो णाम एसो जिणेहिं भणिओ—१ पावो २ चडो ३ रुद्दो ४ खुद्दो ५ साहसिओ ६ अणारिओ ७ णिग्घिणो ८ णिस्ससो ९ महब्भओ १० पइभओ ११ अइभओ १२ बीहणओ १३ तासणओ १४ अणज्जओ १५ उव्वेयणओ य १६ णिरवयक्खो १७ णिद्धम्मो १८ णिप्पिवासो १९

---

१ मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगास्तद्भेदा । —अ ८-१ ।

णिवकलुणो २० णिरयवासगमणनिधणो २१ मोहमहब्भयपयट्टग्रो २२ मरणवेमणस्सो। एस पढम ग्रहम्मदार ॥१॥

२—जिनेश्वर भगवान् ने प्राणवध को इस प्रकार कहा है—यथा (१) पाप (२) चण्ड (३) रुद्र (४) क्षुद्र (५) साहसिक (६) ग्रनार्य (७) निर्घृण (८) नृशस (९) महाभय (१०) प्रतिभय (११) ग्रतिभय (१२) भापनक (१३) त्रासनक (१४) ग्रनार्य (१५) उद्वेगजनक (१६) निरपेक्ष (१७) निर्धर्म (१८) निष्पिपास (१९) निष्करुण (२०) नरकवास गमन-निधन (२१) मोहमहाभय प्रवर्तक (२२) मरणवैमनस्य, इति प्रथम ग्रधर्म-द्वार।

विवेचन—कारण-कार्य की परपरानुसार अर्थात् सत्कार्यवाद के चितनानुसार कार्य का ग्रस्तित्व केवल ग्रभिव्यक्तिकाल मे ही नही ग्रपितु कारण के रूप मे, ग्रतीत मे ग्रौर परिणाम के रूप मे भविष्य मे भी रहता है।

हिसा क्षणिक घटना नही है, हिंसक कृत्य दृश्यकाल मे अभिव्यक्त होता है, पर उसके उपादान ग्रतीत मे एव कृत्य के परिणाम के रूप मे वह भविष्य मे भी व्याप्त रहती है। ग्रर्थात् उसका प्रभाव त्रैकालिक होता है।

कार्यनिष्पत्ति के लिए उपादान के समकक्ष ही निमित्तकारण की भी ग्रावश्यकता होती है। उपादान आत्मनिष्ठ कारण है। निमित्त, परिवेष, उत्तेजक, उद्दीपक एव साधनरूप है। वह बाहर स्थित होता है। ग्राश्रव—हिंसा का मौलिक स्वरूप उपादान मे ही स्पष्ट होता है। आश्रव का उपादान चैतन्य की विभाव परिणति है। निमित्तसापेक्षता के कारण वैभाविक परिणति मे वैविध्य ग्राता है। स्वरूपसूचक नामो का विषय है दृश्य—ग्रभिव्यक्ति कालीन हिंसा के विविध ग्रायामो को ग्रभिव्यक्त करना। हिसा के स्वरूपसूचक ग्रथकार द्वारा निर्दिष्ट कई विशेषण प्रसिद्ध हिंसाप्रवृत्ति के प्रतिपादक हैं, किंतु कई नाम हिंसा की अप्रसिद्ध प्रवृत्ति को प्रकाशित करते है। इन नामो का अभिप्राय इस प्रकार है—

(१) पाव—पापकर्म के बन्ध का कारण होने से यह पाप-रूप है।

(२) चडो—जब जीव कषाय के भडकने से उग्र हो जाता है, तब प्राणवध करता है, अतएव यह चण्ड है।

(३) रुद्दो—हिंसा करते समय जीव रौद्र-परिणामी बन जाता है, ग्रतएव हिंसा रुद्र है।

(४) खुद्दो—सरसरी तौर पर देखने से क्षुद्र व्यक्ति हिंसक नजर नही ग्राता। वह सहिष्णु, प्रतीकार प्रवृत्ति से शून्य नजर ग्राता है। मनोविज्ञान के अनुसार क्षुद्रता के जनक है दुर्बलता, कायरता एव सकीर्णता। क्षुद्र ग्रन्य के उत्कर्ष से ईर्ष्या करता है। प्रतीकार की भावना, शत्रुता की भावना उसका स्थायी भाव है। प्रगति का सामर्थ्य न होने के कारण वह ग्रन्तर्मानस मे प्रतिक्रियावादी होता है। प्रतिक्रिया का मूल है असहिष्णुता। ग्रसहिष्णुता व्यक्ति को सकीर्ण बनाती है। ग्रहिंसा का उद्गम सर्वजगजीव के प्रति वात्सल्यभाव है और हिंसा का उद्गम ग्रपने ग्रौर परायेपन की भावना है।

सकीर्णता की विचारधारा व्यक्ति को चिंतन की समदृष्टि से व्यष्टि मे केन्द्रित करती है।

१—पाठान्तर—पवड्ढग्रो

स्वकेन्द्रित विचारधारा व्यक्ति को क्षुद्र बनाती है। क्षुद्र प्राणी इसका सेवन करते है। यह आत्मभाव की अपेक्षा नीच भी है। अतएव इसे क्षुद्र कहा गया है।

(५) साहसिक—आवेश मे विचारपूर्वक प्रवृत्ति का अभाव होता है। उसमे आकस्मिक अनसोचा काम व्यक्ति कर गुजरता है। स्वनियत्रण भग होता है। उत्तेजक परिस्थिति से प्रवृत्ति गतिशील होती है। विवेक लुप्त होता है। अविवेक का साम्राज्य छा जाता है। दशवैकालिक के अनुसार विवेक अहिंसा है, अविवेक हिंसा है। साहसिक अविवेकी होता है। इसी कारण उसे हिंसा कहा गया है। 'साहसिक' सहसा अविचार्य कारित्वात्' अर्थात् विचार किए विना कार्य कर डालने वाला।

(६) अणारिओ—अनार्य पुरुषो द्वारा आचरित होने से अथवा हेय प्रवृत्ति होने से इसे अनार्य कहा गया है।

(७) णिग्घिणो—हिंसा करते समय पाप से घृणा नही रहती, अतएव यह निर्घृण है।

(८) णिस्ससो—हिंसा दयाहीनता का कार्य है, प्रशस्त नही है, अतएव नृशस है।

(९, १०, ११,) महब्भअ, पइभय, अतिभअ—'अप्पेगे हिंसिसु मे त्ति वा वहति, अप्पेगे हिसति मे त्ति वा वहति, अप्पेगे हिंसिस्सत्ति मेत्ति वा वहति, (आचाराग १।७।५२) अर्थात् कोई यह सोच कर हिंसा करते है कि इसने मेरी या मेरे सबधी की हिंसा की थी या यह मेरी हिंसा करता है अथवा मेरी हिंसा करेगा। तात्पर्य यह है कि हिंसा की पृष्ठभूमि मे प्रतीकार के अतिरिक्त भय भी प्रबल कारण है। हिंसा की प्रक्रिया मे हिंसक भयभीत रहता है। हिंस्य भयभीत होता है। हिंसा कृत्य को देखनेवाले दर्शक भी भयभीत होते है। हिंसा मे भय व्याप्त है। हिंसा भय का हेतु होने के कारण उसे महाभयरूप माना है। 'महाभयहेतुत्वात् महाभय।' (ज्ञानविमलसूरि प्र त्या)

हिंसा प्रत्येक प्राणी के लिए भय का कारण है। अतएव प्रतिभय है— 'प्रतिप्राणि-भयनिमित्तत्वात्।' हिंसा प्राणवध (मृत्यु) स्वरूप है। प्राणिमात्र को मृत्युभय से बढकर अन्य कोई भय नहीं। अतिभय—'एतस्मात् अन्यत् भय नास्ति, 'मरणसम नत्थि भयमिति' वचनात् अर्थात् मरण से अधिक या मरण के समान अन्य कोई भय नही है।

(१२) बीहणओ—भय उत्पन्न करने वाला।

(१३) त्रासनक—दूसरो को त्रास या क्षोभ उत्पन्न करने वाली है।

(१४) अन्याय्य—नीतियुक्त न होने के कारण वह अन्याय्य है।

(१५) उद्वेजनक—हृदय मे उद्वेग—घबराहट उत्पन्न करने वाली।

(१६) निरपेक्ष—हिंसक प्राणी अन्य के प्राणो की अपेक्षा—परवाह नही करता—उन्हे तुच्छ समझता है। प्राणहनन करना उसके लिए खिलवाड होती है। अतएव उसे निरपेक्ष कहा गया है।

(१७) निर्द्धर्म—हिंसा धर्म से विपरीत है। भले ही वह किसी लौकिक कामना की पूर्ति के लिये, सद्गति की प्राप्ति के लिए अथवा धर्म के नाम पर की जाए, प्रत्येक स्थिति मे वह अधर्म है, धर्म से विपरीत है। 'हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति।' अर्थात् हिंसा त्रिकाल मे भी धर्म नही हो सकती।

(१८) निष्पिपास—हिंसक के चित्त मे हिंस्य के जीवन की पिपासा—इच्छा नहीं होती, अत वह निष्पिपास कहलाती है।

(१९) निष्करुण—हिंसक के मन मे करुणाभाव नही रहता—वह निर्दय हो जाता है, अतएव निष्करुण है।

(२०) नरकवासगमन-निधन—हिंसा नरकगति की प्राप्ति रूप परिणाम वाली है।

(२१) मोहमहाभयप्रवर्त्तक—हिंसा मूढता एव परिणाम मे घोर भय को उत्पन्न करने वाली प्रसिद्ध है।

(२२) मरणवैमनस्य—मरण के कारण जीवो मे उससे विमनस्कता उत्पन्न होती है।

उल्लिखित विशेषणो के द्वारा सूत्रकार ने हिंसा के वास्तविक स्वरूप को प्रदर्शित करके उसकी हेयता प्रकट की है।

प्राणवध के नामान्तर—

३—तस्स य णामाणि इमाणि गोण्णाणि होंति तीस, त जहा—१ पाणवह २ उम्मूलणा सरीराओ ३ अवीसभो ४ हिंसविहिंसा तहा ५ अकिच्चं च ६ घायणा य ७ मारणा य ८ वहणा ९ उद्दवणा १० लिवायणा[1] य ११ आरंभसमारंभो १२ आउयकम्मस्सुवद्दवो भेयणिट्ठवणगालणा य संवट्टगसंखेवो १३ मच्चू १४ असंजमो १५ कडगमद्दणं १६ वोरमण १७ परभवसंकामकारओ १८ दुग्गइप्पवाओ १९ पावकोवो य २० पावलोभो २१ छविच्छेओ २२ जीवियंतकरणो २३ भयंकरो २४ अणकरो २५ वज्जो २६ परियावणअण्हओ २७ विणासो २८ णिज्जवणा २९ लुंपणा ३० गुणाणं विराहणत्ति विय तस्स एवमाईणि णामधिज्जाणि होंति तीस, पाणवहस्स कलुसस्स कडुयफलदेसगाइ ॥२॥

३—प्राणवधरूप हिंसा के विविध आयामो के प्रतिपादक गुणवाचक तीस नाम है। यथा (१) प्राणवध (२) शरीर से (प्राणो का) उन्मूलन (३) अविश्वास (४) हिंस्य विहिंसा (५) अकृत्य (६) घात (ना) (७) मारण (८) वधना (९) उपद्रव (१०) अतिपातना (११) आरम्भ-समारंभ (१२) आयुकर्म का उपद्रव—भेद—निष्ठापन—गालना—सवर्तक और सक्षेप (१३) मृत्यु (१४) असयम (१५) कटक (सैन्य) मर्दन (१६) व्युपरमण (१७) परभवसंक्रामणकारक (१८) दुर्गतिप्रपात (१९) पापकोप (२०) पापलोभ (२१) छविच्छेद (२२) जीवित-अतकरण (२३) भयकर (२४) ऋणकर (२५) वज्र (२६) परितापन आस्रव (२७) विनाश (२८) निर्यापना (२९) लुपना (३०) गुणो की विराधना। इत्यादि प्राणवध के कलुष फल के निर्देशक ये तीस नाम हैं।

१—पाणवह (प्राणवध)—जिस जीव को जितने प्राण प्राप्त है, उनका हनन करना।

२—उम्मूलणा सरीराओ (उन्मूलना शरीरात्)—जीव को शरीर से पृथक् कर देना—प्राणी के प्राणो का उन्मूलन करना।

---

१ पाठान्तर—णिवायणा।

(३) अवीसभ (अविश्रम्भ)—अविश्वास, हिंसाकारक पर किसी को विश्वास नही होता। वह अविश्वासजनक है, अत. अविश्रम्भ है।

(४) हिंसविहिंसा (हिंस्यविहिंसा)—जिसकी हिंसा की जाती है उसके प्राणो का हनन।

(५) अकिच्च (अकृत्यम्)—सत्पुरुषो द्वारा करने योग्य कार्य न होने के कारण हिंसा अकृत्य—कुकृत्य है।

(६) घायणा (घातना)—प्राणो का घात करना।

(७) मारणा (मारणा)—हिंसा मरण को उत्पन्न करने वाली होने से मारणा है।

(८) वहणा (वधना)—हनन करना, वध करना।

(९) उद्दवणा (उपद्रवणा)—अन्य को पीडा पहुँचाने के कारण यह उपद्रवरूप है।

(१०) तिवायणा (त्रिपातना) मन, वाणी एव काय अथवा देह, आयु और इन्द्रिय—इन तीन का पतन कराने के कारण यह त्रिपातना है। इसके स्थान पर 'निवायणा' पाठ भी है, किन्तु अर्थ वही है।

(११) आरभ-समारभ (आरम्भ-समारम्भ)—जीवो को कष्ट पहुँचाने से या कष्ट पहुँचाते हुए उन्हे मारने से हिंसा को आरम्भ-समारम्भ कहा है। जहाँ आरम्भ-समारम्भ है, वहाँ हिंसा अनिवार्य है।

(१२) आउयकम्मस्स-उवद्दवो—भेयणिट्ठवणगालणा य सवट्टगसखेवो (आयु कर्मण उपद्रव —भेदनिष्ठापनगालना—सवर्त्तकसक्षेप)—आयुष्य कर्म का उपद्रवण करना, भेदन करना अथवा आयु को सक्षिप्त करना—दीर्घकाल तक भोगने योग्य आयु को अल्प समय मे भोगने योग्य बना देना।

(१३) मच्चू (मृत्यु)—मृत्यु का कारण होने से अथवा मृत्यु रूप होने से हिंसा मृत्यु है।

(१४) असजमो (असयम)—जब तक प्राणी सयमभाव मे रहता है, तब तक हिसा नही होती। सयम की सीमा से बाहर—असयम की स्थिति में ही हिंसा होती है, अतएव वह असयम है।

(१५) कडगमद्दण (कटकमर्दन)—सेना द्वारा आक्रमण करके प्राणवध करना अथवा सेना का वध करना।

(१६) वोरमण (व्युपरमण)—प्राणो से जीव को जुदा करना।

(१७) परभवसकामकारओ (परभवसक्रमकारक)—वर्त्तमान भव से विलग करके परभव मे पहुँचा देने के कारण यह परभवसक्रमकारक है।

(१८) दुग्गतिप्पवाओ (दुर्गतिप्रपात)—नरकादि दुर्गति मे गिराने वाली।

(१९) पावकोव (पापकोप)—पाप को कुपित—उत्तेजित करने वाली—भडकाने वाली।

(२०) पावलोभ (पापलोभ)—पाप के प्रति लुब्ध करने वाली—प्रेरित करने वाली।

(२१) छविच्छेअ (छविच्छेद)—हिसा द्वारा विद्यमान शरीर का छेदन होने से यह छविच्छेद है।

(२२) जीवियतकरण (जीवितान्तकरण)—जीवन का अन्त करने वाली।

(२३) भयकर (भयङ्कर)—भय को उत्पन्न करने वाली।

(२४) अणकर (ऋणकर)—हिंसा करना अपने माथे ऋण—कर्ज चढाना है, जिसका भविष्य मे भुगतान करते घोर कष्ट सहना पडता है।

(२५) वज्ज (वज्र-वर्ज्य)—हिंसा जीव को वज्र की तरह भारी बनाकर अधोगति मे ले जाने का कारण होने से वज्र है और आर्य पुरुषो द्वारा त्याज्य होने से वर्ज्य है।

(२६) परियावण-अण्हअ (परितापन-आस्रव)—प्राणियो को परितापना देने के कारण कर्म के आस्रव का कारण।

(२७) विणास (विनाश)—प्राणो का विनाश करना।

(२८) णिज्जवणा (निर्यापना)—प्राणो की समाप्ति का कारण।

(२९) लुपणा (लुम्पना)—प्राणो का लोप करना।

(३०) गुणाण विराहणा (गुणाना विराधना)—हिंसा मरने और मारने वाले—दोनो के सद्गुणो को विनष्ट करती है, अत वह गुणविराधनारूप है।

विवेचन—स्वरूपसूचक नामो मे दृश्यकालीन अर्थात् अभिव्यक्त हिंसा का चित्रण हुआ है। साथ ही हिंसा की प्रवृत्ति, परिणाम, कारण, उपजीवी, अनुजीवी, उत्तेजक, उद्दीपक, अतर्बाह्य तथ्यो के आधार पर भी गुणनिष्पन्न नाम दिए है। ग्रथकार ने गुणनिष्पन्न नामो का आधार बताते हुए लिखा है—**'कलुसस्स कडुयफलदेसगाइ'**—कलुष (हिंसारूप पाप) के कटुफल-निर्देशक ये नाम है। भाषा का हम सदैव उपयोग करते है, किंतु शब्दगत अर्थभेद की विविधता से प्राय परिचित नही रहते। एक परिवार के अनेक शब्द होते हैं, जो समानताओ मे बँधे होकर भी एक सूक्ष्म विभाजक रेखा से अलग-अलग होते है। गुणनिष्पन्न नाम ऐसे ही है।

प्राणवध, व्युपरमण, मृत्यु, जीवनविनाश ये गुणनिष्पन्न नाम समानताओ मे बधे होकर भी स्वय की विशेषता प्रदर्शित करते है। प्राणवध मे हिंसाप्रवृत्ति द्वारा प्राणियो का (प्राणो का) घात अभिप्रेत है। व्युपरमण मे प्राणो से अर्थात् जीवन से प्राणी पृथक् होता है। व्युपरमण—प्राणेभ्य उपरमण। प्राणवध से चैतन्य के शारीरिक सम्बन्ध के लिए आधारभूत जो प्राणशक्ति है, उस प्राण-शक्ति पर ही आघात प्रकट होता है। व्युपरमण मे उस आधारभूत शक्ति से चैतन्य विरत होता है या परिस्थितियो के कारण उसे विरत होना पडता है। प्राणवध मे हत्या का भाव तथा व्युपरमण मे आत्महत्या का भाव समाविष्ट है। मृत्यु, जीवनविनाश एव परभवसक्रामणकारक, इस शब्दत्रयी मे जीवन-समाप्तिकाल की घटना को तीन दृष्टियो से विश्लेषित किया गया है। 'मृत्यु, परलोकगमनकाल। परभवसक्रामणकारक प्राणातिपातस्यैव परभवगमन। जीवितव्य प्राण-धारण तस्य अतकर।' सहजतया होनेवाली मृत्यु हिंसा नही है। परभवसक्रामणकारक मे भवान्तक की जो हेतु है वह अभिप्रेत है। जीवित-अतकर मे जीने की इच्छा को या जिसके लिए व्यक्ति जीता है, जिसके आलवन से जीता है, उसका विनाश अभिप्रेत है। जैसे धनलोभी व्यक्ति का धन ही सर्वस्व होता है। उसके प्राण धन मे होते है। धन का विनाश उसके जीवन का विनाश होता है।

अवीसभो (अविश्वास)—आस्था जीवन का शिखर है। जीवन के सारे व्यवहार विश्वास के बल पर ही होते है। विश्वसनीय बनने के लिए परदुःखकातरता तथा सुरक्षा का आश्वासन व्यक्ति की तरफ से अपेक्षित है। अहिंसा को आ-श्वास कहते है। विश्वास भी कहते हैं। क्योकि अहिंसा 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' तथा सहजीवन जैसे जीवनदायी कल्याणकारक पवित्र सूत्रो को जीवन मे साकार करती है। हिंसा का आधार सहजीवन नही, उसका विरोध है। सहअस्तित्व की अस्वीकृति जनसामान्य की दृष्टि मे हिंसक को अविश्वसनीय बनाती है।

आस्था वहाँ पनपती है, जहाँ अपेक्षित प्रयोजन के लिए प्रयुक्त साधन से साध्य सिद्ध होता है। हिंसा साध्य-सिद्धि का सार्वकालिक सार्वभौमिक साधन नही है। हिंसा मे साध्यप्राप्ति का आभास होता है किंतु वह मृगमरीचिका होती है। इसलिए हिंसा अविश्वास है।

हिंस-विहिंसा—श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा, 'हे पार्थ! अहंकार का त्याग कर, तू निमित्त-मात्र है। जिन्हे तू मार रहा है, वे मर चुके है, नियति के गर्भ मे।'

आत्मा शाश्वत, अमर, अविनाशी, अछेद्य एव अभेद्य है। शरीर जड है, हिंसा किसकी? अहिंसा के चिंतको के सामने यह प्रश्न सदा रहा। हिटलर ने आत्म-अस्तित्व को अस्वीकृति देकर युद्ध की भयानकता को ओझल किया। श्रीकृष्ण ने आत्मस्वीकृति के साथ युद्ध को अनिवार्य बताकर अर्जुन को प्रेरित किया, किंतु श्रमण महर्षियो के सम्मुख युद्धसमर्थन-असमर्थन का प्रश्न न होने पर भी अहिंसा और हिंसा की व्याख्या आत्मा की अमरता की स्वीकृति के साथ हिंसा की सगति और हिंसा के निषेध को कैसे स्पष्ट किया जाय, यह प्रश्न था ही।

अहिंसा के परिपालन मे श्रमण सस्कृति और उसमे भी जैनधर्म सर्वाधिक अग्रसर रहा। समस्या का समाधान देते हुए आचार्य उमास्वाति ने लिखा है 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणम् हिंसा' अर्थात् हिंसा मे परप्राणवध से भी महत्त्वपूर्ण प्रमाद है। जैन चिंतको ने अहिंसा का मूल आत्मस्वभाव मे माना है। आत्मा की विभावपरिणति ही हिंसा है। जिस समय चेतन स्वभाव से भ्रष्ट हो जाता है, उसके फलस्वरूप घटने वाली अनेक क्रोधादि क्रियाएँ प्राणातिपातादि १८ पाप घटित होते है। अतएव वस्तुत हिंसा के साथ आत्महिंसा होती ही है। अर्थात् स्व-घाती होकर ही हिंसा की जा सकती है। जब आत्मगुणो का घात होता है, तब ही हिंसा होती है।

न हिंसा परप्राणवधमात्र है, न परप्राणवध-निवृत्तिमात्र अहिंसा है। अप्रमत्त अवस्था की वह श्रेणी जो वीतरागता मे परिणत होती है। द्रव्यहिंसा भी भाव अहिंसा की श्रेणी मे आती है, जब कि प्रमत्त उन्मत्त अवस्था मे द्रव्यहिंसा न होकर भी भाव हिंसा के कारण हिंसा मान्य होती है। हिंसा मे स्वभावच्युति प्रधान है। हिंसक सर्वप्रथम स्वय के शात-प्रशात अप्रमत्त स्वभाव का हनन करता है।

पापकोप—हिंसा का प्रथम नाम है पाप। हिंसा पाप है, क्योकि उसका आदि, मध्य और अन्त अशुभ है। कर्मशास्त्रानुसार हिंसा औदायिकभाव का फल है। औदायिक भाव पूर्वबद्ध कर्मोदय-जन्य है। अर्थात् हिंसक हिंसा तब करता है जब उसके हिंसक सस्कारो का उदय होता है। आवेगमय सस्कारो का उदय कषाय है। कषाय मे स्फोटकता है, तूफान है, अतएव उसे कोप भी कहा जाता है। बिना कषाय के हिंसा सभव नही है। अत हिंसा को पापकोप कहा है।

पापलोभ—हिंसा पापो के प्रति लोभ—आकर्षण—प्रीति बढाने वाली है, अतएव इसका एक नाम पापलोभ है।

पापियों का पापकर्म —

४—तं च पुण करेंति केइ पावा असंजया अविरया अणिहुयपरिणामदुप्पयोगा पाणवहं भयकरं बहुविहं बहुप्पगारं परदुक्खुप्पायणपसत्ता इमेहिं तसथावरेहिं जीवेहिं पडिणिविट्ठा ।

किं ते ?

४—कितने ही पातकी, संयमविहीन, तपश्चर्या के अनुष्ठान से रहित, अनुपशान्त परिणाम वाले एवं जिनके मन वचन और काम का व्यापार दुष्ट है, जो अन्य प्राणियो को पीडा पहुँचाने मे आसक्त रहते हैं तथा त्रस और स्थावर जीवो की रक्षा न करने के कारण वस्तुतः जो उनके प्रति द्वेषभाव वाले हैं, वे अनेक प्रकारो से, विविध भेद-प्रभेदो से भयकर प्राणवध—हिंसा किया करते हैं ।

वे विविध भेद-प्रभेदो से कैसे हिंसा करते हैं ?

जलचर जीव—

५—पाठीण-तिमि-तिमिंगल-अणेगझस-विविहजातिमंडुक्क-दुविहकच्छभ-नक्क[1] -मगर-दुविह-गाह-दिलिवेढय-मंडुय-सीमागार-पुलुय-सुंसुमार-बहुप्पगारा जलयरविहाणा कते य एवमाई ।

५—पाठीन-एक विशेष प्रकार की मछली, तिमि-बडे मत्स्य, तिमिंगल—महामत्स्य, अनेक प्रकार की मछलियाँ, अनेक प्रकार के मेढक, दो प्रकार के कच्छप—अस्थिकच्छप और मासकच्छप, मगर—सुंडामगर एवं मत्स्यमगर के भेद से दो प्रकार के मगर, ग्राह—एक विशिष्ट जलजन्तु, दिलिवेष्ट—पूंछ से लपेटने वाला जलीय जन्तु, मडूक, सीमाकार, पुलक आदि ग्राह के प्रकार, सुंसुमार, इत्यादि अनेकानेक प्रकार के जलचर जीवो का घात करते हैं ।

विवेचन—पापासक्त करुणाहीन एवं अन्य प्राणियो को पीडा पहुँचाने मे आनन्द का अनुभव करने वाले पुरुष जिन-जिन जीवो का घात करते है, उनमे से प्रस्तुत पाठ मे केवल जलीय जीवो का उल्लेख किया गया है । जलीय जीव इतनी अधिक जातियो के होते है कि उन सब के नामो का निर्देश करना कठिन ही नही, असभव-सा है । उन सब का नामनिर्देश आवश्यक भी नही है । अतएव उल्लिखित नामो को मात्र उपलक्षण ही समझना चाहिए । सूत्रकार ने स्वय ही 'एवमाई' पद से यह लक्ष्य प्रकट कर दिया है ।

स्थलचर चतुष्पद जीव—

६—कुरंग-रुरु-सरभ- चमर-संबर- उरब्भ-ससय- पसय-गोण-रोहिय-हय- गय-खर-करभ-खग्ग-वाणर-गवय- विग-सियाल- कोल-मज्जार-कोलसुणह- सिरियंदलगावत्त- कोकंतिय-गोकण्ण-मिय-महिस-वियग्घ-छगल-दीविय-साण-तरच्छ-अच्छ-भल्ल-सद्दूल-सीह-चिल्लल-चउप्पयविहाणाकए य एवमाई ।

६—कुरंग और रुरु जाति के हिरण, सरभ—अष्टापद, चमर—नील गाय, संबर—साभर, उरभ्र—मेढा, शशक—खरगोश, पसय—प्रशय—वन्य पशुविशेष, गोण—बैल, रोहित—पशुविशेष, घोडा, हाथी, गधा, करभ—ऊंट, खड्ग—गैंडा, वानर, गवय—रोझ, वृक—भेडिया, शृगाल—सियार—गीदड, कोल—शूकर, मार्जार—विलाव—बिल्ली, कोलशुनक—बडा शूकर, श्रीकदलक एवं आवर्त्त

---

१ पाठान्तर—नक्कचक्क ।

अवीसमो (अविश्वास)—आस्था जीवन का शिखर है। जीवन के सारे व्यवहार विश्वास के बल पर ही होते है। विश्वसनीय बनने के लिए परदु खकातरता तथा सुरक्षा का आश्वासन व्यक्ति की तरफ से अपेक्षित है। अहिंसा को आ-श्वास कहते है। विश्वास भी कहते है। क्योकि अहिंसा **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'** तथा सहजीवन जैसे जीवनदायी कल्याणकारक पवित्र सूत्रो को जीवन मे साकार करती है। हिंसा का आधार सहजीवन नही, उसका विरोध है। सहअस्तित्व की अस्वीकृति जनसामान्य की दृष्टि मे हिंसक को अविश्वसनीय बनाती है।

आस्था वहाँ पनपती है, जहाँ अपेक्षित प्रयोजन के लिए प्रयुक्त साधन से साध्य सिद्ध होता है। हिंसा साध्य-सिद्धि का सार्वकालिक सार्वभौमिक साधन नही है। हिंसा मे साध्यप्राप्ति का आभास होता है किंतु वह मृगमरीचिका होती है। इसलिए हिंसा अविश्वास है।

हिंस-विहिंसा—श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा, 'हे पार्थ! अहकार का त्याग कर, तू निमित्त-मात्र है। जिन्हे तू मार रहा है, वे मर चुके है, नियति के गर्भ मे।'

आत्मा शाश्वत, अमर, अविनाशी, अच्छेद्य एव अभेद्य है। शरीर जड है, हिंसा किसकी? अहिंसा के चिंतको के सामने यह प्रश्न सदा रहा। हिटलर ने आत्म-अस्तित्व को अस्वीकृति देकर युद्ध की भयानकता को ओझल किया। श्रीकृष्ण ने आत्मस्वीकृति के साथ युद्ध को अनिवार्य बताकर अर्जुन को प्रेरित किया, किंतु श्रमण महर्षियो के सम्मुख युद्धसमर्थन-असमर्थन का प्रश्न न होने पर भी अहिंसा और हिंसा की व्याख्या आत्मा की अमरता की स्वीकृति के साथ हिंसा की सगति और हिंसा के निषेध को कैसे स्पष्ट किया जाय, यह प्रश्न था ही।

अहिंसा के परिपालन मे श्रमण सस्कृति और उसमे भी जैनधर्म सर्वाधिक अग्रसर रहा। समस्या का समाधान देते हुए आचार्य उमास्वाति ने लिखा है 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणम् हिंसा' अर्थात् हिंसा मे परप्राणवध से भी महत्त्वपूर्ण प्रमाद है। जैन चिंतको ने अहिंसा का मूल आत्मस्वभाव मे माना है। आत्मा की विभावपरिणति ही हिंसा है। जिस समय चेतन स्वभाव से भ्रष्ट हो जाता है, उसके फलस्वरूप घटने वाली अनेक क्रोधादि क्रियाएँ प्राणातिपातादि १८ पाप घटित होते है। अतएव वस्तुत हिंसा के साथ आत्महिंसा होती ही है। अर्थात् स्व-घाती होकर ही हिंसा की जा सकती है। जब आत्मगुणो का घात होता है, तब ही हिंसा होती है।

न हिंसा परप्राणवधमात्र है, न परप्राणवध-निवृत्तिमात्र अहिंसा है। अप्रमत्त अवस्था की वह श्रेणी जो वीतरागता मे परिणत होती है। द्रव्यहिंसा भी भाव अहिंसा की श्रेणी मे आती है, जब कि प्रमत्त उन्मत्त अवस्था मे द्रव्यहिंसा न होकर भी भाव हिंसा के कारण हिंसा मान्य होती है। हिंसा मे स्वभावच्युति प्रधान है। हिंसक सर्वप्रथम स्वय के शात-प्रशात अप्रमत्त स्वभाव का हनन करता है।

पापकोप—हिंसा का प्रथम नाम है पाप। हिंसा पाप है, क्योकि उसका आदि, मध्य और अन्त अशुभ है। कर्मशास्त्रानुसार हिंसा औदायिकभाव का फल है। औदायिक भाव पूर्वबद्ध कर्मोदय-जन्य है। अर्थात् हिंसक हिंसा तब करता है जब उसके हिंसक सस्कारो का उदय होता है। आवेगमय सस्कारो का उदय कषाय है। कषाय मे स्फोटकता है, तूफान है, अतएव उसे कोप भी कहा जाता है। बिना कषाय के हिंसा सभव नही है। अत हिंसा को पापकोप कहा है।

पापलोभ—हिंसा पापो के प्रति लोभ—आकर्षण—प्रीति बढाने वाली है, अतएव इसका एक नाम पापलोभ है।

पापियों का पापकर्म—

४—तं च पुण करेंति केइ पावा असंजया अविरया अणिहुयपरिणामदुप्पयोगा पाणवहं भयंकरं बहुविहं बहुप्पगारं परदुक्खुप्पायणपसत्ता इमेहिं तसथावरेहिं जीवेहिं पडिणिविट्ठा।

किं ते?

४—कितने ही पातकी, संयमविहीन, तपश्चर्या के अनुष्ठान से रहित, अनुपशान्त परिणाम वाले एवं जिनके मन, वचन और काम का व्यापार दुष्ट है, जो अन्य प्राणियो को पीडा पहुँचाने मे आसक्त रहते है तथा त्रस और स्थावर जीवो की रक्षा न करने के कारण वस्तुत· जो उनके प्रति द्वेषभाव वाले है, वे अनेक प्रकारो से, विविध भेद-प्रभेदो से भयकर प्राणवध—हिंसा किया करते है।

वे विविध भेद-प्रभेदो से कैसे हिंसा करते हैं?

जलचर जीव—

५—पाठीण-तिमि-तिमिंगल-अणेगझस-विविहजातिमंडुक्क-दुविहकच्छभ-नक्क[1]-मगर-दुविह-गाह-दिलिवेढय-मंडुय-सीमागार-पुलुय-सुंसुमार-बहुप्पगारा जलयरविहाणा कते य एवमाई।

५—पाठीन-एक विशेष प्रकार की मछली, तिमि-बडे मत्स्य, तिमिंगल—महामत्स्य, अनेक प्रकार की मछलियाँ, अनेक प्रकार के मेढक, दो प्रकार के कच्छप—अस्थिकच्छप और मासकच्छप, मगर—सुंडामगर एवं मत्स्यमगर के भेद से दो प्रकार के मगर, ग्राह—एक विशिष्ट जलजन्तु, दिलिवेष्ट—पूंछ से लपेटने वाला जलीय जन्तु, मंडूक, सीमाकार, पुलक आदि ग्राह के प्रकार, सुंसुमार, इत्यादि अनेकानेक प्रकार के जलचर जीवो का घात करते है।

विवेचन—पापासक्त करुणाहीन एवं अन्य प्राणियो को पीडा पहुँचाने मे आनन्द का अनुभव करने वाले पुरुष जिन-जिन जीवो का घात करते है, उनमे से प्रस्तुत पाठ मे केवल जलीय जीवो का उल्लेख किया गया है। जलीय जीव इतनी अधिक जातियो के होते हैं कि उन सब के नामो का निर्देश करना कठिन ही नही, असभव-सा है। उन सब का नामनिर्देश आवश्यक भी नही है। अतएव उल्लिखित नामो को मात्र उपलक्षण ही समझना चाहिए। सूत्रकार ने स्वय ही 'एवमाई' पद से यह लक्ष्य प्रकट कर दिया है।

स्थलचर चतुष्पद जीव—

६—कुरंग-रुरु-सरभ-चमर-संबर-उरब्भ-ससय-पसय-गोण-रोहिय-हय-गय-खर-करभ-खग्ग-वाणर-गवय-विग-सियाल-कोल-मज्जार-कोलसुणह-सिरियंदलगावत्त-कोकंतिय-गोकण्ण-मिय-महिस-वियग्घ-छगल-दीविय-साण-तरच्छ-अच्छ-भल्ल-सद्दूल-सीह-चिल्लल-चउप्पयविहाणाकए य एवमाई।

६—कुरंग और रुरु जाति के हिरण, सरभ—अष्टापद, चमर—नील गाय, संबर—साभर, उरभ्र—मेढा, शशक—खरगोश, पसय—प्रशय—वन्य पशुविशेष, गोण—बैल, रोहित—पशुविशेष, घोडा, हाथी, गधा, करभ—ऊंट, खड्ग—गेंडा, वानर, गवय—रोझ, वृक—भेडिया, शृगाल—सियार—गीदड, कोल—शूकर, मार्जार—बिलाव—बिल्ली, कोलशुनक—बडा शूकर, श्रीकदलक एवं आवर्त्त

1 पाठान्तर—नक्कचक्क।

नामक खुर वाले पशु, लोमडी, गोकर्ण—दो खुर वाला विशिष्ट जानवर, मृग, भैसा, व्याघ्र, बकरा, द्वीपिक—तेंदुआ, श्वान—जगली कुत्ता, तरक्ष—जरख, रीछ—भालू, शार्दूल—सिंह, सिंह—केसरीसिंह, चित्तल—नाखून वाला एक विशिष्ट पशु अथवा हिरण की आकृति वाला पशुविशेष, इत्यादि चतुष्पद प्राणी है, जिनकी पूर्वोक्त पापी हिंसा करते है।

विवेचन—ऊपर जिन प्राणियो के नामो का उल्लेख किया गया है, उनमे से अधिकाश प्रसिद्ध है। उनके सम्बन्ध मे विवेचन की आवश्यकता नही।

इन नामो मे एक नाम 'सरभ' प्रयुक्त हुआ है। यह एक विशालकाय वन्य प्राणी होता है। इसे परासर भी कहते है। ऐसी प्रसिद्धि है कि सरभ, हाथी को भी अपनी पीठ पर उठा लेता है।

खड्ग ऐसा प्राणी है, जिसके दोनो पार्श्वभागो मे पखो की तरह चमडी होती है और मस्तक के ऊपर एक सीग होता है।[1]

उरपरिसर्प जीव—

७—अयगर-गोणस-वराहि-मउलि-काउदर-दब्भपुप्फ-आसालिय-महोरगोरगविहाणकाए य एवमाई।

७—अजगर, गोणस—बिना फन का सर्पविशेष, वराहि—दृष्टिविष सर्प—जिसके नेत्रो मे विष होता है, मुकुली—फन वाला साप, काउदर—काकोदर—सामान्य सर्प, दब्भपुप्फ—दर्भपुष्प—एक प्रकार का दर्वीकर सर्प, आसालिक—सर्पविशेष, महोरग—विशालकाय सर्प, इन सब और इस प्रकार के अन्य उरपरिसर्प जीवो का पापी जन वध करते है।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे उरपरिसर्प जीवो के कतिपय नामो का उल्लेख किया गया है। उरपरिसर्प जीव वे कहलाते है जो छाती से रेग कर चलते है। इन नामो मे एक नाम आसालिक आया है। टीका मे इस जन्तु का विशेष परिचय दिया गया है। लिखा है—आसालिक बारह योजन लम्बा होता है। यह सम्मूर्च्छिम है और इसकी आयु मात्र एक अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण होती है। इसकी उत्पत्ति भूमि के अन्दर होती है। जब किसी चक्रवर्ती अथवा वासुदेव के विनाश का समय सन्निकट आता है तब यह उसके स्कन्धावार—सेना के पडाव के नीचे अथवा किसी नगरादि के विनाश के समय उसके नीचे उत्पन्न होता है। उसके उत्पन्न होने से पृथ्वी का वह भाग पोला हो जाता है और वह स्कन्धावार अथवा बस्ती उसी पोल मे समा जाती है—विनष्ट हो जाती है।

महोरग का परिचय देते हुए टीकाकार ने उल्लेख किया है कि यह सर्प एक हजार योजन लम्बा होता है और अढाई द्वीप के बाहर होता है। किन्तु यदि यह अढाई द्वीप से बाहर ही होता है तो मनुष्य इसका वध नही कर सकते। सभव है अन्य किसी जाति के प्राणी वध करते हो। चतुर्थ सूत्र मे 'केइ पावा' आदि पाठ है। वहाँ मनुष्यो का उल्लेख भी नही किया गया है। तत्त्व केवलिगम्य है।

भुजपरिसर्प जीव—

८—छीरल-सरब-सेह-सेल्लग-गोधा-उदुर-णउल-सरड-जाहग-मुगुस-खाडहिल-वाउप्पिय[2] घिरोलिया सिरीसिवगणे य एवमाई।

---

१ प्रश्नव्याकरण—आचार्य हस्तीमलजी म, पृ १६

२ 'वाउप्पिय' शब्द के स्थान पर कुछ प्रतियो मे 'चाउप्पाइय'—चातुष्पदिक शब्द है।

८—क्षीरल—एक विशिष्ट जीव जो भुजाओं के सहारे चलता है, शरम्ब, सेह—सेही—जिसके शरीर पर बडे-बडे काले-सफेद रग के काटे होते है जो उसकी आत्मरक्षा मे उपयोगी होते हैं, शल्यक, गोह, उदर—चूहा, नकुल—नेवला—सर्प का सहज वैरी, शरट—गिरगिट—जो अपना रग पलटने मे समर्थ होता है, जाहक—काटो से ढका जीवविशेष—मुगु स—गिलहरी, खाडहिल—छछू दर, गिल्लोरी, वातोत्पत्तिका—लोकगम्य जन्तुविशेष, घिरोलिका—छिपकली, इत्यादि अनेक प्रकार के भुजपरिसर्प जीवो का वध करते है।

विवेचन—परिसर्प जीव दो प्रकार के होते है—उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प। सर्प और चूहे का सावधानी से निरीक्षण करने पर दोनो का अन्तर स्पष्ट प्रतीत होता है। प्रस्तुत पाठ मे ऐसे जीवो का उल्लेख किया गया है, जो भुजाओ—अपने छोटे-छोटे पैरो से चलते हैं। उरपरिसर्पो के ऐसा कोई अग नही होता। वे रेग-रेग कर ही चलते है।

नभचर जीव—

९—कादबक-बक-बलाका-सारस-आडा-सेतीय कुलल-वजुल-पारिप्पव-कीर-सउण-दीविय-हस-धत्तरिट्ठग भास-कुलीकोस-कु च-दगतु ड-ढेणियालग-सुईमुह-कविल-पिगलक्खग-कारडग-चक्कवाग-उक्कोस-गरुल-पिगुल-सुय-बरहिण-मयणसाल-णदीमुह-णदमाणग-कोरग-भिगारग-कोणालग-जीवजीवग-तित्तिर वट्टग-लावग-कपिजलग-कवोतग-पारेवग-चडग-ढिक-कुक्कुड-वेसर-मयूरग-चउरग-हयपोडरीय-करकरग-चीरल्ल-सेण-वायस-विहग-सेण-सिणचास-वग्गुलि-चम्मट्ठिल-वियय पक्खी-समुग्गपक्खी खहयर-विहाणाकए य एवमाई।

९—कादम्बक—विशेष प्रकार का हस, बक—बगुला, बलाका—विषकण्ठिका—वकजातीय पक्षिविशेष, सारस, आडासेतीय—आड, कुलल, वजुल, परिप्लव, कीर—तोता, शकुन—तीतुर, दीपिका—एक प्रकार की काली चिडिया, हस—श्वेत हस, धार्तराष्ट्र—काले मुख एव पैरो वाला हस-विशेष, भास—भासक, कुटीक्रोश, क्रौच, दकतु डक—जलकूकडी, ढेलियाणक—जलचर पक्षी, शूचीमुख—सुघरी, कपिल, पिंगलाक्ष, कारडक, चक्रवाक—चकवा, उक्कोस, गरुड, पिगुल—लाल रग का तोता, शुक—तोता, मयूर, मदनशालिका—मैना, नन्दीमुख, नन्दमानक—दो अगुल प्रमाण शरीर वाला और भूमि पर फुदकने वाला विशिष्ट[1] पक्षी, कोरग, भृ गारक—भिंगोडी, कुणालक, जीवजीवक—चातक, तित्तिर—तीतुर, वर्त्तक (वतख), लावक, कपिजल, कपोत—कबूतर, पारावत—विशिष्ट प्रकार का कपोत—परेवा, चटक—चिडिया, ढिंक, कुक्कुट—कुकडा—मुर्गा, वेसर, मयूरक—मयूर, चकोर, हृद-पुण्डरीक—जलीय पक्षी, करक, चीरल्ल—चील, श्येन—बाज, वायस—काक, विहग—एक विशिष्ट जाति का पक्षी, श्वेत चास, वल्गुली, चमगादड, विततपक्षी—अढाई द्वीप से बाहर का एक विशेष पक्षी, समुद्गपक्षी, इत्यादि पक्षियो की अनेकानेक जातियाँ है, हिंसक जीव इनकी हिंसा करते है।

अन्य विविध प्राणी—

१०—जल-थल-खग-चारिणो उ पचिदियपसुगणे बिय तिय-चउरिंदिए विविहे जीवे पियजीविए मरणदुक्खपडिकूले वराए हणति बहुसकिलिट्ठकम्मा।

---

१ प्रश्न-याकरणसूत्र—सैलाना-सस्करण।

१०—जल, स्थल और आकाश मे विचरण करने वाले पचेन्द्रिय प्राणी तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय अथवा चतुरिन्द्रिय प्राणी अनेकानेक प्रकार के है। इन सभी प्राणियो को जीवन—प्राणधारण किये रहना—जीवित रहना प्रिय है। मरण का दु ख प्रतिकूल—अनिष्ट—अप्रिय है। फिर भी अत्यन्त सक्लिष्टकर्मा—अतीव क्लेश उत्पन्न करने वाले कर्मों से युक्त—पापी पुरुष इन वेचारे दीन-हीन प्राणियो का बध करते है।

विवेचन—जगत् मे अगणित प्राणी है। उन सब की गणना सर्वज्ञ के सिवाय कोई छद्मस्थ नही जान सकता, किन्तु उनका नामनिर्देश करना तो सर्वज्ञ के लिए भी सभव नही। अतएव ऐसे स्थलो पर वर्गीकरण का सिद्धान्त अपनाना अनिवार्य हो जाता है। यहाँ यही सिद्धान्त अपनाया गया है। तिर्यंच समस्त त्रस जीवो को जलचर, स्थलचर खेचर (आकाशगामी) और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रियो मे वर्गीकृत किया गया है। द्वीन्द्रियादि जीव विकलेन्द्रिय—अधूरी-अपूर्ण इन्द्रियो वाले कहलाते हैं, क्योकि इन्द्रियाँ कुल पाच हैं—स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय। इनमे से किन्ही जीवो को परिपूर्ण पाचो प्राप्त होती है, किन्ही को चार, तीन, दो और एक ही प्राप्त होती है। प्रस्तुत मे एकेन्द्रिय जीवो की विवक्षा नही की गई है। केवल त्रस जीवो का ही उल्लेख किया गया है और उनमे भी तिर्यंचो का।

यद्यपि पहले जलचर, स्थलचर, उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प, नभश्चर जीवो का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है, तथापि यहाँ तिर्यंच पचेन्द्रियो को जलचर, स्थलचर और नभश्चर—इन तीन भेदो मे ही समाविष्ट कर दिया गया है। यह केवल विवक्षाभेद है।

ये सभी प्राणी जीवित रहने की उत्कट अभिलाषा वाले होते है। जैसे हमे अपने प्राण प्रिय है, इसी प्रकार इन्हे भी अपने-अपने प्राण प्रिय है। प्राणो पर सकट आया जान कर सभी अपनी रक्षा के लिए अपने सामर्थ्य के अनुसार बचाव का प्रयत्न करते है। मृत्यु उन्हे भी अप्रिय है—अनिष्ट है। किन्तु कलुषितात्मा विवेकविहीन जन इस तथ्य की ओर ध्यान न देकर उनके वध मे प्रवृत्त होते है। ये प्राणी दीन है, मानव जैसा बचाव का सामर्थ्य भी उनमे नही होता। एक प्रकार से ये प्राणी मनुष्य के छोटे बन्धु है, मगर निर्दय एव क्रूर मनुष्य ऐसा विचार नही करते।

हिंसा करने के प्रयोजन—

११—इमेहिं विविहेहिं कारणेहिं, किं ते ? चम्म-वसा-मस-मेय-सोणिय-जग-फिप्फिस-मत्थुलुंग-हिययत-पित्त-फोफस-वतट्ठा अट्ठिमिज-णह-णयण-कण्ण-ण्हारुणि-णक्क-धमणि-सिंग-दाढि-पिच्छ-विस-विसाण-वालहेउं।

हिंसति य भमर-महुकरिगणे रसेसु गिद्धा तहेव तेइंदिए सरीरोवगरणट्ठयाए किवणे बेइंदिए बहवे वत्थोहर-परिमडणट्ठा।

११—चमडा, चर्बी, मास, मेद, रक्त, यकृत, फेफडा, भेजा, हृदय, आत, पित्ताशय, फोफस (शरीर का एक विशिष्ट अवयव), दात, अस्थि—हड्डी, मज्जा, नाखून, नेत्र, कान, स्नायु, नाक, धमनी, सीग, दाढ, पिच्छ, विष, विषाण—हाथी-दात तथा शूकरदत और बालो के लिए (हिंसक प्राणी जीवो की हिंसा करते है)।

रसासक्त मनुष्य मधु के लिए भ्रमर—मधुमक्खियो का हनन करते है, शारीरिक सुख या

दु खनिवारण करने के लिए खटमन्न आदि त्रीन्द्रियो का वध करते हैं, (रेशमी) वस्त्रो के लिए अनेक द्वीन्द्रिय कीडो आदि का घात करते है।

विवेचन—अनेक प्रकार के वाद्यो, जूतो, वटुवा, घडी के पट्टे, कमरपट्टे, सदूक, वेग, थैला आदि-आदि चर्मनिर्मित काम मे लिये जाते है। इनके लिए पचेन्द्रिय जीवो का वध किया जाता है, क्योकि इन वस्तुओ के लिए मुलायम चमडा चाहिए और वह स्वाभाविक रूप से मृत पशुओ मे प्राप्त नही होता। स्वाभाविक रूप से मृत पशुओ की चमडी अपेक्षाकृत कडी होती है। अत्यन्त मुलायम चमडे के लिए तो विशेषत छोटे बच्चो या गर्भस्थ बच्चो का वध करना पडता है। प्रथम गाय, भैस आदि का घात करना, फिर उनके उदर को चीर कर गर्भ मे स्थित बच्चे को निकाल कर उनकी चमडी उतारना कितना निर्दयतापूर्ण कार्य है। इस निर्दयता के सामने पैशाचिकता भी लज्जित होती है। इन वस्तुओ का उपयोग करने वाले भी इस अमानवीय घोर पाप के लिए उत्तरदायी है। यदि वे इन वस्तुओ का उपयोग न करे तो ऐसी हिंसा होने का प्रसग ही क्यो उपस्थित हो!

चर्बी खाने, चमडी को चिकनी रखने, यत्रो मे चिकनाई देने तथा दवा आदि मे काम आती है।

मास, रक्त, यकृत, फेफडा आदि खाने तथा दवाई आदि के काम मे लिया जाता है। आधुनिक काल मे मासभोजन निरन्तर बढ रहा है। अनेक लोगो की यह धारणा है कि पृथ्वी पर बढती हुई मनुष्यसख्या को देखते मास-भोजन अनिवार्य है। केवल निरामिष भोजन—अन्न-शाक आदि की उपज इतनी कम है कि मनुष्यो के आहार की सामग्री पर्याप्त नही है। यह धारणा पूर्ण रूप से भ्रमपूर्ण है। डाक्टर ताराचद गगवाल का कथन है—'परीक्षण व प्रयोग के आधार पर सिद्ध हो चुका है कि एक पौंड मास प्राप्त करने के लिए लगभग सोलह पौंड अन्न पशुओ को खिलाया जाता है। उदाहरण के लिए एक बछडे को, जन्म के समय जिसका वजन १०० पौंड हो, १४ महीने तक, जब तक वह ११०० पौंड का होकर बूचडखाने मे भेजने योग्य होता है, पालने के लिए १४०० पौंड दाना, २५०० पौंड सूखा घास, २५०० पौंड दाना मिला साइलेज और करीब ६००० पौंड हरा चारा खिलाना पडता है। इस ११०० पौंड के बछडे से केवल ४६० पौंड खाने योग्य मांस प्राप्त हो सकता है। शेष हड्डी आदि पदार्थ अनुपयोगी निकल जाता है। यदि इतनी आहार-सामग्री खाद्यान्न के रूप मे सीधे भोजन के लिए उपयोग की जाये तो बछडे के मास से प्राप्त होने वाली प्रोटीन की मात्रा से पाच गुनी अधिक मात्रा मे प्रोटीन व अन्य पोषक पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं। इसलिए यह कहना उपयुक्त नही होगा कि मासाहार से सस्ती प्रोटीन व पोषक पदार्थ प्राप्त होते हैं।'

डाक्टर गगवाल आगे लिखते हैं—'कुछ लोगो की धारणा है, यद्यपि यह धारणा भ्रान्ति पर ही आधारित है, कि शरीर को सबल और सशक्त बनाने के लिए मासाहार जरूरी है। कुछ लोगो का यह विश्वास भी है कि शरीर मे जिस चीज की कमी हो उसका सेवन करने से उसकी पूर्ति हो जाती है। शरीरपुष्टि के लिए मास जरूरी है, इस तर्क के आधार पर ही कई लोग मासाहार की उपयोगिता सिद्ध करते है।

किन्तु इसकी वास्तविकता जानने के लिए यह आवश्यक है कि शरीर मे भोजन से तत्त्व प्राप्त करने की प्रक्रिया को समझ लिया जाए। भोजन हम इसलिए करते है कि इससे हमे शरीर की गतिविधियो के सचालन के लिए आवश्यक ऊर्जा या शक्ति प्राप्त हो सके। इस ऊर्जा के मुख्य स्रोत हैं वायु और सूर्य। प्राणवायु या आक्सीजन से ही हमारे भोजन की पाचनक्रिया—

ऑक्साइडेशन—सम्पन्न होकर ऊर्जा प्राप्त होती है। यह प्राणवायु (आक्सीजन) प्रकृति द्वारा प्रभूत मात्रा मे हमे दी गई है । वायु मे लगभग पाचवाँ भाग प्राणवायु का ही होता है ।

शक्ति का दूसरा स्रोत है सूर्य । सूर्य की वेदो मे अनेक मन्त्रो द्वारा स्तुति की गई है, क्योकि यही जीवनदाता है । सूर्य से ही सारा वनस्पति जगत् पैदा होता है और जीवित रहता है । इन्ही वनस्पतियो या खाद्यान्नो से हम जीवन के लिए सत्त्व प्राप्त करते है । मासाहार करने वाले भी अन्ततोगत्वा सूर्य की शक्ति पर ही निर्भर रहते है, क्योकि पशु-पक्षी भी वनस्पतिया खाकर ही बढते व जिन्दा रहते है । इसी प्रकार गर्मी, प्रकाश, विद्युत्, रासायनिक व यान्त्रिक ऊर्जा भी वास्तव मे आरंभिक रूप से सूर्य से ही प्राप्त होती है, यह बात अलग है कि बाद मे एक प्रकार की ऊर्जा दूसरे प्रकार की ऊर्जा मे परिणत होती रहती है ।

इस प्रकार हमे अस्तित्व के लिए अनिवार्य पदार्थो—वायु, ऊर्जा, खनिज, विटामिन, जल आदि मे से वायु और जल प्रकृति-प्रदत्त हैं । ऊर्जा, शरीर मे जिसकी माप के लिए 'कैलोरी' शब्द का प्रयोग किया जाता है, तीन पदार्थो—कार्बोहाइड्रेट, वसा और प्रोटीन—से प्राप्त होती है। (एक लीटर पानी को १५ डिग्री सेटीग्रेड से १६ सेटीग्रेड तक गर्म करने के लिए जितनी ऊष्मा या ऊर्जा की जरूरत होती है, उसे एक कैलोरी कहा जाता है ।) एक ग्राम कार्बोहाइड्रेट से ४ कैलोरी, एक ग्राम वसा से ९ कैलोरी और एक ग्राम प्रोटीन से ४ कैलोरी प्राप्त होती है । इस प्रकार शरीर मे ऊर्जा या शक्ति के लिए वसा और कार्बोहाइड्रेट अत्यावश्यक है ।

हमारा भोजन मुख्य रूप से इन्ही तीन तत्त्वो का सयोग होता है । भोजन खाने के बाद शरीर के भीतर होने वाली रासायनिक क्रियाओ से ही ये तत्त्व प्राप्त होते है । एक कुत्ते को कुत्ते का मास खिला कर मोटा नही बनाया जा सकता, क्योकि इस मास को भी उसी प्रकार की शारीरिक रासायनिक क्रिया से गुजरना होता है । ***अत यह धारणा तो भ्रान्तिमात्र ही है कि मांसाहार से शरीर मे सीधी मांसवृद्धि होती है ।***

जब शरीर मे मास और वनस्पति—दोनो प्रकार के आहार पर समान रासायनिक प्रक्रिया होती है तो फिर हमे यह देखना चाहिए कि किस पदार्थ से शरीर को शीघ्र और सरलता से आवश्यक पोषक तत्त्व प्राप्त हो सकते हैं ?

साधारणतया एक व्यक्ति को बिल्कुल आराम की स्थिति मे ७० कैलोरी प्रतिघटा जरूरी होती है, अर्थात् पूरे दिन मे लगभग १७०० कैलोरी पर्याप्त होती है । यदि व्यक्ति काम करता है तो उसकी कैलोरी की आवश्यकता बढ जाती है और उठने, बैठने, अन्य क्रिया करने मे भी ऊर्जा की खपत होती है, अत सामान्य पुरुषो के लिए २४००, महिला के लिए २२०० और बच्चे को १२०० से २२०० कैलोरी प्रतिदिन की जरूरत होती है ।

कैलोरी का सब से सस्ता और सरल स्रोत कार्बोहाइड्रेट है । यह अनाज, दाल, शक्कर, फल व वनस्पतियो से प्राप्त किया जाता है ।

इस प्रकार कहने की आवश्यकता नही कि स्वास्थ्यप्रद और सतुलित भोजन के लिए मास का प्रयोग अनिवार्य नही है । जो तत्त्व सामिप आहार से प्राप्त किए जाते हैं, उतने ही और कही तो उससे भी अधिक तत्त्व, उतनी ही मात्रा मे अनाज, दालो और दूध इत्यादि से प्राप्त किए जा सकते हैं । अत शरीर की आवश्यकता के लिए मास का भोजन कतई अनिवार्य नही है ।

शाकाहारी निर्जीव अडा—आजकल शाकाहारी अडे का चलन भी बढता जा रहा है। कहा जाता है कि अडा पूर्ण भोजन है, अर्थात् उसमे वे सभी एमीनो एसिड मौजूद है जो शरीर के लिए आवश्यक होते हैं। पर दूध भी एक प्रकार से भोजन के उन सभी तत्त्वो से भरपूर है जो शारीरिक क्रियाओ के लिए अनिवार्य है। अत जब दूसरे पदार्थों से आवश्यक एमीनो एसिड प्राप्त किया जा सकता है और उससे भी अपेक्षाकृत सस्ती कीमत मे तव अडा खाना क्यो जरूरी है ?

फिर अडे की जर्दी मे कोलेस्ट्रोल की काफी मात्रा होती है। यह सभी जानते है कि कोलेस्ट्रोल की मात्रा शरीर मे बढ जाने पर ही हृदयरोग, हृदयाघात आदि रोग होते है। आज की वैज्ञानिक व्यवस्था के अनुसार शरीर को नीरोग और स्वस्थ रखने के लिए ऐसे पदार्थों के सेवन से बचना चाहिए, जिनमे कोलेस्ट्रोल की मात्रा विद्यमान हो।

अडे मे विटामिन 'सी' नही होता और इसकी पूर्ति के लिए अडे के साथ अन्य ऐसे पदार्थों का सेवन जरूरी है जिनमे विटामिन 'सी' पाया जाता है। दूध मे यह बात नही है। वह सब आवश्यक तत्त्वो से भरपूर है। मेरे विचार से अडा अडा ही है, शाकाहारी क्या ? ...बच्चे देने वाले अडे मे जो तत्त्व होते है वे सभी तथाकथित शाकाहारी अडे मे भी मिलते है। **वैज्ञानिको द्वारा जो प्रयोग किए गए हैं, उनसे यह सिद्ध हो गया है कि यदि शाकाहारी अडे को भी विभिन्न प्रकार से उत्तेजित किया जाए तो उसमे जीवित प्राणी की भांति ही क्रियाएँ होने लगती है। इसलिए यह कहना तो गलत होगा कि बच्चे न देने वाले अडो मे जीव नहीं होता।** अत. अहिंसा मे विश्वास करने वाले लोगो को शाकाहारी अडे से भी परहेज करना ही चाहिए।

अन्त मे डाक्टर महोदय कहते हैं—यह कितना विचित्र लगता है कि मानव आदिकाल मे, जब सभ्यता का प्रादुर्भाव नही हुआ था, जगली पशुओ को मार कर अपना पेट भरता था और ज्यो-ज्यो सभ्यता का विकास होता गया, वह मासाहार से दूर होता गया। किन्तु अब लगता है कि नियति अपना चक्र पूरा कर रही है। मानव अपने भोजन के लिए पशुओ की हत्या करना अब बुरा नही मान रहा। क्या हम फिर उसी शिकारी सस्कृति की ओर आगे नही बढ रहे है, जिसे असभ्य और जगली कह कर हजारो वर्ष पीछे छोड आए थे ?[1]

इसी प्रकार मेद, रक्त, यकृत, फेफडा, आत, हड्डी, दन्त, विषाण आदि विभिन्न अगो के लिए भी भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणियो का पापी लोग घात करते है। इन सब का पृथक्-पृथक् उल्लेख करना अनावश्यक है। मात्र विलासिता के लिए अपने ही समान सुख-दुःख का अनुभव करने वाले, दीन-हीन, असहाय, मूक और अपना बचाव करने मे असमर्थ निरपराध प्राणियो का हनन करना मानवीय विवेक का दिवाला निकालना है, हृदयहीनता और अन्तरतर मे पैठी पैशाचिक वृत्ति का प्रकटीकरण है। विवेकशील मानव को इस प्रकार की वस्तुओ का उपयोग करना किसी भी प्रकार योग्य नही कहा जा सकता।

१२—अण्णेहि य एवमाइएहि बहूहि कारणसएहि अबुहा इह हिंसति तसे पाणे। इमे य—एगिदिए बहवे वराए तसे य अण्णे तयस्सिए चेव तणुसरीरे समारभति। अत्ताणे, असरणे, अणाहे, अबधवे, कम्मणिगड-बद्धे, अकुसलपरिणाम मदबुद्धिजणदुव्विजाणए, पुढविमए, पुढविसस्सिए, जलमए, जलगए,

---

१—राजस्थानपत्रिका, १७ अक्टूबर, १९८२

अणलाणिल-तण-वणस्सइगणणिस्सिए य तम्मयतज्जिए चेव तयाहारे तप्परिणय-वण्ण-गंध-रस-फास-बोदिरूवे अचक्खुसे चक्खुसे य तसकाइए असखे । थावरकाए य सुहुम-बायर-पत्तेय-सरीरणामसाहारणे अणते हणति अविजाणओ य परिजाणओ य जीवे इमेहिं विविहेहिं कारणेहिं ।

१२—बुद्धिहीन अज्ञान पापी लोग पूर्वोक्त तथा अन्य अनेकानेक प्रयोजनो से त्रस—चलते-फिरते, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय—जीवो का घात करते है तथा बहुत-से एकेन्द्रिय जीवो का उनके आश्रय से रहे हुए अन्य सूक्ष्म शरीर वाले त्रस जीवो का समारभ करते है । ये प्राणी त्राणरहित है—उनके पास अपनी रक्षा के साधन नही है, अशरण है—उन्हे कोई शरण—आश्रय देने वाला नही है, वे अनाथ है बन्धु-बान्धवो से रहित हैं—सहायकविहीन है और बेचारे अपने कृत कर्मो की बेडियो से जकडे हुए है । जिनके परिणाम—अन्त करण की वृत्तियाँ अकुशल—अशुभ है, जो मन्दबुद्धि है, वे इन प्राणियो को नही जानते । वे अज्ञानी जन न पृथ्वीकाय को जानते है, न पृथ्वीकाय के आश्रित रहे अन्य स्थावरो एव त्रस जीवो को जानते हैं । उन्हे जलकायिक तथा जल मे रहने वाले अन्य त्रस-स्थावर जीवो का ज्ञान नही है । उन्हे अग्निकाय, वायुकाय, तृण तथा (अन्य) वनस्पतिकाय के एव इनके आधार पर रहे हुए अन्य जीवो का परिज्ञान नही है । ये प्राणी उन्ही (पृथ्वीकाय आदि) के स्वरूप वाले, उन्ही के आधार से जीवित रहने वाले अथवा उन्ही का आहार करने वाले है । उन जीवो का वर्ण, गध, रस, स्पर्श और शरीर अपने आश्रयभूत पृथ्वी, जल आदि सदृश होता है । उनमे से कई जीव नेत्रो से दिखाई नही देते है और कोई-कोई दिखाई देते हैं । ऐसे असख्य त्रसकायिक जीवो की तथा अनन्त सूक्ष्म, बादर, प्रत्येकशरीर और साधारणशरीर वाले स्थावरकाय के जीवो की जानबूझ कर या अनजाने इन (आगे कहे जाने वाले) कारणो से हिंसा करते है ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे एकेन्द्रिय आदि प्राणियो की दीनता, अनाथता, अशरणता आदि प्रदर्शित करके सूत्रकार ने उनके प्रति करुणाभाव जागृत किया है । तत्पश्चात् प्राणियो की विविधता प्रदर्शित की है ।

जो जीव पृथ्वी को अपना शरीर बना कर रहते है, अर्थात् पृथ्वी ही जिनका शरीर है वे पृथ्वीकाय या पृथ्वीकायिक कहलाते है । इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ही जिनका शरीर है, वे क्रमश जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक कहलाते है । पृथ्वी-कायिक आदि के जीवत्व की सयुक्तिक एव सप्रमाण सिद्धि आचाराग आदि शास्त्रो मे की गई है । अतएव पाठक वही से समझ ले । विस्तार भय से यहाँ उसका उल्लेख नही किया जाता है ।

जब कोई मनुष्य पृथ्वीकाय आदि की हिंसा करता है तब वह केवल पृथ्वीकाय की ही हिंसा नही करता, अपितु उसके आश्रित रहे हुए अनेकानेक अन्यकायिक एव त्रसकायिक जीवो की भी हिंसा करता है ।

जल के एक बिन्दु मे वैज्ञानिको ने ३६००० जो जीव देखे हैं, वस्तुत वे जलकायिक नही, जलाश्रित त्रस जीव हैं । जलकायिक जीव तो असख्य होते है, जिन्हे वैज्ञानिक अभी नही जान सके है ।

पृथिवीकाय की हिंसा के कारण—

१३—कि ते ?

करिसण-पोक्खरिणी-वावि-वप्पिणि-कूव-सर-तलाग-चिइ-वेइय[1] खाइय-आराम-विहार-थूम-पागार-दार-गोउर-अट्टालग-चरिया-सेउ सकम-पासाय-विकप्प-भवण-घर - सरण-लयण-आवण - चेइय-देवकुल-चित्तसभा-पवा-आयतणा-वसह-भूमिघर-मडवाण कए भायणभडोवगरणस्स य विविहस्स य अट्ठाए पुढविं हिंसति मदबुद्धिया ।

१३ वे कारण कौन-से है, जिनसे (पृथ्वीकायिक) जीवो का वध किया जाता है ?

कृषि, पुष्करिणी (चौकोर वावडी जो कमलो से युक्त हो), वावडी, क्यारी, कूप, सर, तालाव, भित्ति, वेदिका, खाई, आराम, विहार (बौद्धभिक्षुओ के ठहरने का स्थान), स्तूप, प्राकार, द्वार, गोपुर (नगरद्वार—फाटक), अटारी, चरिका (नगर और प्राकार के बीच का आठ हाथ प्रमाण मार्ग), सेतु—पुल, सक्रम (ऊबड-खाबड भूमि को पार करने का मार्ग), प्रासाद—महल, विकल्प—विकप्प—एक विशेष प्रकार का प्रासाद, भवन, गृह, सरण—झौपडी, लयन—पर्वत खोद कर बनाया हुआ स्थानविशेष, दूकान, चैत्य—चिता पर बनाया हुआ चबूतरा, छतरी और स्मारक, देवकुल—शिखर-युक्त देवालय, चित्रसभा, प्याऊ, आयतन, देवस्थान, आवसथ—तापसो का स्थान, भूमिगृह—भोयरा-तलघर और मडप आदि के लिए तथा नाना प्रकार के भाजन—पात्र, भाण्ड—वर्त्तन आदि एव उपकरणो के लिए मन्दबुद्धि जन पृथ्वीकाय की हिंसा करते है ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे उन वस्तुओ के नामो का उल्लेख किया गया है, जिनके लिए पृथ्वी-काय के जीवो की हिंसा की जाती है । किन्तु इन उल्लिखित वस्तुओ के लिए ही पृथ्वीकाय की हिंसा होती है, ऐसा नही समझना चाहिए । यह पदार्थ तो उपलक्षण मात्र हैं, अत पृथ्वीकाय का घात जिन-जिन वस्तुओ के लिए किया जाता है, उन सभी का ग्रहण कर लेना चाहिए । 'भायण-भडोवगरणस्स विविहस्स' इन पदो द्वारा यह तथ्य सूत्रकार ने स्वय भी प्रकट कर दिया है ।

अप्काय की हिंसा के कारण—

१४—जल च मज्जण-पाण-भोयण-वत्थधोवण-सोयमाइएहिं ।

१४ मज्जन—स्नान, पान—पीने, भोजन, वस्त्र धोना एव शौच—शरीर, गृह आदि की शुद्धि, इत्यादि कारणो से जलकायिक जीवो की हिंसा की जाती है ।

विवेचन—यहाँ भी उपलक्षण से अन्य कारण जान लेना चाहिए । पृथ्वीकाय की हिंसा के कारणो मे भवनादि बनाने का जो उल्लेख किया गया है, उनके लिए भी जलकाय की हिंसा होती है । सूत्रकार ने 'आइ (आदि)' पद का प्रयोग करके इस तात्पर्य को स्पष्ट कर दिया है ।

तेजस्काय की हिंसा के कारण—

१५—पयण-पयावण-जलावण-विदसणेहिं अगणिं ।

---

१ श्री ज्ञानविमलसूरि रचित वृत्ति मे 'वेइय' के स्थान पर "चेतिय" शब्द है, जिसका अर्थ किया है—"चेति मृतदहनार्थं काष्ठस्थापन ।"

१५ भोजनादि पकाने, पकवाने, दीपक आदि जलाने तथा प्रकाश करने के लिए अग्निकाय के जीवो की हिसा की जाती है।

विवेचन—यहाँ भी वे सब निमित्त समझ लेने चाहिए, जिन-जिन से अग्निकाय के जीवो की विराधना होती है।

वायुकाय की हिसा के कारण—

१६—सुप्प-वियण-तालयट-पेहुण-मुह-करयल-सागपत्त-वत्थमाईएहिं अणिलं हिंसति ।

१६—सूर्प—सूप—धान्यादि फटक कर साफ करने का उपकरण, व्यजन—पखा, तालवृन्त—ताड का पखा, मयूरपख आदि से, मुख से, हथेलियो से, सागवान आदि के पत्ते से तथा वस्त्र-खण्ड आदि से वायुकाय के जीवो की हिंसा की जाती है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे जिन-जिन कारणो से वायुकाय की विराधना होती है, उन कारणो मे से कतिपय कारणो का कथन किया गया है। शेष कारण स्वय ही समझे जा सकते है।

वनस्पतिकाय की हिंसा के कारण—

१७—अगार-परियार-भक्ख-भोयण-सयणासण-फलक-मूसल-उक्खल-तत-विततातोज्ज-वहण-वाहण-मडव-विविह-भवण-तोरण-विडग- देवकुल-जालय-द्धचंद-णिज्जूहग- चदसालिय-वेतिय-णिस्सेणि-दोणि-चगेरी-खील-मंडक - सभा-पवावसह-गध-मल्लाणुलेवण-अबर-जुयणगल-मइय-कुलिय-सदण-सीया-रह-सगड-जाण-जोग्ग-अट्टालग-चरिय-दार-गोउर-फलिहा-जत-सूलिय-लउड-मुसंढि-सयग्घी-बहुपहरणा-वरणुवक्खराणकए, अण्णेहि य एवमाइएहिं बहूहिं कारणसएहिं हिंसति ते तरुगणे भणियाभणिए य एवमाई।

१७—अगार—गृह, परिचार—तलवार की म्यान आदि, भक्ष्य—मोदक आदि, भोजन—रोटी वगैरह, शयन—शय्या आदि, आसन—विस्तर-बैठका आदि, फलक—पाट-पाटिया, मूसल, ओखली, तत—वीणा आदि, वितत—ढोल आदि, आतोद्य—अनेक प्रकार के वाद्य, वहन—नौका आदि, वाहन—रथ-गाडी आदि, मण्डप, अनेक प्रकार के भवन, तोरण, विडग—विटक, कपोतपाली—कबूतरो के बैठने के स्थान, देवकुल—देवालय, जालक—झरोखा, अर्द्धचन्द्र—अर्धचन्द्र के आकार की खिडकी या सोपान, निर्यूहक—द्वारशाखा, चन्द्रशाला—अटारी, वेदी, नि सरणी—नसैनी, द्रोणी—छोटी नौका, चगेरी—बडी नौका या फूलो को डलिया, खूटा—खूटी, स्तभ—खम्भा, सभागार, प्याऊ, आवसथ—आश्रम, मठ, गध, माला, विलेपन, वस्त्र, युग—जूवा, लागल—हल, मतिक—जमीन जोतने के पश्चात् ढेला फोडने के लिए लम्बा काष्ठ-निर्मित उपकरणविशेष, जिससे भूमि समतल की जाती है, कुलिक—विशेष प्रकार का हल-बखर, स्यन्दन—युद्ध-रथ, शिविका—पालकी, रथ, शकट—छकडा गाडी, यान, युग्य—दो हाथ का वेदिकायुक्त यानविशेष, अट्टालिका, चरिका—नगर और प्राकार के मध्य का आठ हाथ का चौडा मार्ग, परिघ—द्वार, फाटक, आगल, अरहट आदि, शूली, लकुट—लकडी-लाठी, मुसु ढी, शतघ्नी—तोप या महासिला जिससे सैकडो का हनन हो सके तथा अनेकानेक प्रकार के शस्त्र, ढक्कन एव अन्य उपकरण बनाने के लिए और इसी प्रकार

के ऊपर कहे गए तथा नही कहे गए ऐसे बहुत-से सैकडो कारणो से अज्ञानी जन वनस्पतिकाय की हिंसा करते हैं।

विवेचन—वनस्पतिकाय की सजीवता अब केवल आगमप्रमाण से ही सिद्ध नही, अपितु विज्ञान से भी सिद्ध हो चुकी है। वनस्पति का आहार करना, आहार से वृद्धिगत होना, छेदन-भेदन करने से मुरझाना आदि जीव के लक्षण प्रत्यक्ष देखे जा सकते है। इनके अतिरिक्त उनमे चैतन्य के सभी धर्म विद्यमान है। वनस्पति मे क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय है, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह रूप सज्ञाएँ है, लेश्या विद्यमान है, योग और उपयोग है। वे मानव की तरह सुख-दु ख का अनुवेदन करते है। अतएव वनस्पति की सजीवता मे किंचित् भी सन्देह के लिए अवकाश नही है।

वनस्पति का हमारे जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसका आरभ-समारभ किए विना गृहस्थ का काम नही चल सकता। तथापि निरर्थक आरभ का विवेकी जन सदैव त्याग करते है। प्रयोजन विना वृक्ष या लता का एक पत्ता भी नही तोडते—नही तोडना चाहिए।

वृक्षो के अनाप-सनाप काटने से आज विशेषत भारत का वायुमडल बदलता जा रहा है। वर्षा की कमी हो रही है। लगातार अनेक प्रातो मे सूखा पड रहा है। हजारो मनुष्य और लाखो पशु मरण-शरण हो रहे है। अतएव शासन का वृक्षसरक्षण की ओर ध्यान आकर्षित हुआ है। जैनशास्त्र सदा से ही मानव-जीवन के लिए वनस्पति की उपयोगिता और महत्ता का प्रतिपादन करते चले आ रहे है। इससे ज्ञानी पुरुषो की सूक्ष्म और दूरगामिनी प्रज्ञा का परिचय प्राप्त होता है।

हिंसक जीवों का दृष्टिकोण—

१८—सत्ते सत्तपरिवज्जिया उवहणंति दढमूढा दारुणमई कोहा माणा माया लोहा हस्स रई अरई सोय वेयत्थी जीय-धम्मत्थकामहेउं सवसा अवसा अट्ठा अणट्ठाए य तसपाणे थावरे य हिंसंति मंदबुद्धी।

सवसा हणंति, अवसा हणंति, सवसा अवसा दुहओ हणंति, अट्ठा हणंति, अणट्ठा हणंति, अट्ठा अणट्ठा दुहओ हणंति, हस्सा हणंति, वेरा हणंति, रईय हणंति, हस्सा-वेरा-रईय हणंति, कुद्धा हणंति, लुद्धा हणंति, मुद्धा हणंति, कुद्धा लुद्धा मुद्धा हणंति, अत्था हणंति, धम्मा हणंति, कामा हणंति, अत्था धम्मा कामा हणंति ॥३॥

१८—दृढमूढ—हिताहित के विवेक से सर्वथा शून्य अज्ञानी, दारुण मति वाले पुरुष क्रोध से प्रेरित होकर, मान, माया और लोभ के वशीभूत होकर तथा हँसी-विनोद—दिलबहलाव के लिए, रति, अरति एव शोक के अधीन होकर, वेदानुष्ठान के अर्थी होकर, जीवन, धर्म, अर्थ एव काम के लिए, (कभी) स्ववश—अपनी इच्छा से और (कभी) परवश—पराधीन होकर, (कभी) प्रयोजन से और (कभी) विना प्रयोजन त्रस तथा स्थावर जीवो का, जो अशक्त—शक्तिहीन है, घात करते हैं। (ऐसे हिंसक प्राणी वस्तुत) मन्दबुद्धि है।

वे बुद्धिहीन क्रूर प्राणी स्ववश (स्वतंत्र) होकर घात करते है, विवश होकर घात करते हैं, स्ववश—विवश दोनो प्रकार से घात करते है। सप्रयोजन घात करते है, निष्प्रयोजन घात करते है, सप्रयोजन और निष्प्रयोजन दोनो प्रकार से घात करते है। (अनेक पापी जीव) हास्य-विनोद से, वैर से और अनुराग से प्रेरित होकर हिंसा करते है। क्रुद्ध होकर हनन करते है, लुब्ध होकर हनन

१५ भोजनादि पकाने, पकवाने, दीपक आदि जलाने तथा प्रकाश करने के लिए अग्निकाय के जीवो की हिसा की जाती है।

विवेचन—यहाँ भी वे सब निमित्त समझ लेने चाहिए, जिन-जिन से अग्निकाय के जीवो की विराधना होती है।

वायुकाय की हिसा के कारण—

१६—सुप्प-वियण-तालयट-पेहुण-मुह-करयल-सागपत्त-वत्थमाईएहिं अणिलं हिंसति।

१६—सूर्प—सूप—धान्यादि फटक कर साफ करने का उपकरण, व्यजन—पखा, तालवृन्त—ताड का पखा, मयूरपख आदि से, मुख से, हथेलियो से, सागवान आदि के पत्ते से तथा वस्त्र-खण्ड आदि से वायुकाय के जीवो की हिंसा की जाती है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे जिन-जिन कारणो से वायुकाय की विराधना होती है, उन कारणो मे से कतिपय कारणो का कथन किया गया है। शेष कारण स्वय ही समझे जा सकते है।

वनस्पतिकाय की हिंसा के कारण—

१७—अगार-परियार-भक्ख-भोयण-सयणासण-फलक-मूसल-उक्खल-तत-विततातोज्ज-वहण-वाहण-मडव-विविह-भवण-तोरण-विडग-देवकुल-जालय-द्धचद-णिज्जूहग-चंदसालिय-वेतिय-णिस्सेणि-दोणि-चगेरी-खील-मंडक-सभा-पवावसह-गध-मल्लाणुलेवण-अबर-जुयणगल-मइय-कुलिय-सदण-सीया-रह-सगड-जाण-जोग्ग-अट्टालग-चरिय-दार-गोउर-फलिहा-जत-सूलिय-लउड-मुसढि-सयग्घी-बहुपहरणा-वरणुवक्खराणकए, अण्णेहि य एवमाइएहिं बहूहिं कारणसएहिं हिंसंति ते तरुगणे भणियाभणिए य एवमाई।

१७—अगार—गृह, परिचार—तलवार की म्यान आदि, भक्ष्य—मोदक आदि, भोजन—रोटी वगैरह, शयन—शय्या आदि, आसन—विस्तर-बैठका आदि, फलक—पाट-पाटिया, मूसल, ओखली, तत—वीणा आदि, वितत—ढोल आदि, आतोद्य—अनेक प्रकार के वाद्य, वहन—नौका आदि, वाहन—रथ-गाडी आदि, मण्डप, अनेक प्रकार के भवन, तोरण, विडग—विटक, कपोतपाली—कबूतरो के बैठने के स्थान, देवकुल—देवालय, जालक—झरोखा, अर्द्धचन्द्र—अर्धचन्द्र के आकार की खिडकी या सोपान, निर्यूहक—द्वारशाखा, चन्द्रशाला—अटारी, वेदी, नि सरणी—नसैनी, द्रोणी—छोटी नौका, चगेरी—बडी नौका या फूलो को डलिया, खूटा—खूटी, स्तभ—खम्भा, सभागार, प्याऊ, आवसथ—आश्रम, मठ, गध, माला, विलेपन, वस्त्र, युग—जूवा, लागल—हल, मतिक—जमीन जोतने के पश्चात् ढेला फोडने के लिए लम्बा काष्ठ-निर्मित उपकरणविशेष, जिससे भूमि समतल की जाती है, कुलिक—विशेष प्रकार का हल-बखर, स्यन्दन—युद्ध-रथ, शिविका—पालकी, रथ, शकट—छकडा गाडी, यान, युग्य—दो हाथ का वेदिकायुक्त यानविशेष, अट्टालिका, चरिका—नगर और प्राकार के मध्य का आठ हाथ का चौडा मार्ग, परिघ—द्वार, फाटक, आगल, अरहट आदि, शूली, लकुट—लकडी-लाठी, मुसुढी, शतघ्नी—तोप या महासिला जिससे सैकडो का हनन हो सके तथा अनेकानेक प्रकार के शस्त्र, ढक्कन एव अन्य उपकरण बनाने के लिए और इसी प्रकार

के ऊपर कहे गए तथा नही कहे गए ऐसे बहुत-से सैकडो कारणो से अज्ञानी जन वनस्पतिकाय की हिंसा करते हैं।

विवेचन—वनस्पतिकाय की सजीवता अब केवल आगमप्रमाण से ही सिद्ध नही, अपितु विज्ञान से भी सिद्ध हो चुकी है। वनस्पति का आहार करना, आहार से वृद्धिगत होना, छेदन-भेदन करने से मुरझाना आदि जीव के लक्षण प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त उनमे चैतन्य के सभी धर्म विद्यमान हैं। वनस्पति मे क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय है, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह रूप सज्ञाएँ है, लेश्या विद्यमान है, योग और उपयोग है। वे मानव की तरह सुख-दुःख का अनुवेदन करते है। अतएव वनस्पति की सजीवता मे किंचित् भी सन्देह के लिए अवकाश नही है।

वनस्पति का हमारे जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसका आरभ-समारभ किए विना गृहस्थ का काम नही चल सकता। तथापि निरर्थक आरभ का विवेकी जन सदैव त्याग करते हैं। प्रयोजन विना वृक्ष या लता का एक पत्ता भी नही तोडते—नही तोडना चाहिए।

वृक्षो के अनाप-सनाप काटने से आज विशेषत भारत का वायुमडल वदलता जा रहा है। वर्षा की कमी हो रही है। लगातार अनेक प्रातो मे सूखा पड रहा है। हजारो मनुष्य और लाखो पशु मरण-शरण हो रहे है। अतएव शासन का वृक्षसरक्षण की ओर ध्यान आकर्षित हुआ है। जैनशास्त्र सदा से ही मानव-जीवन के लिए वनस्पति की उपयोगिता और महत्ता का प्रतिपादन करते चले आ रहे है। इसमे ज्ञानी पुरुषो की सूक्ष्म और दूरगामिनी प्रज्ञा का परिचय प्राप्त होता है।

हिंसक जीवों का दृष्टिकोण—

१८—सत्ते सत्तपरिवज्जिया उवहणंति दढमूढा दारुणमई कोहा माणा माया लोहा हस्स रई अरई सोय वेयत्थी जीय-धम्मत्थकामहेउं सवसा अवसा अट्ठा अणट्ठाए य तसपाणे थावरे य हिंसति मंदबुद्धी।

सवसा हणंति, अवसा हणंति, सवसा अवसा दुहओ हणंति, अट्ठा हणंति, अणट्ठा हणंति, अट्ठा अणट्ठा दुहओ हणंति, हस्सा हणंति, वेरा हणंति, रईय हणंति, हस्सा-वेरा-रईय हणंति, कुद्धा हणंति, लुद्धा हणंति, मुद्धा हणंति, कुद्धा लुद्धा मुद्धा हणंति, अत्था हणंति, धम्मा हणंति, कामा हणंति, अत्था धम्मा कामा हणंति ॥३॥

१८—दृढमूढ—हिताहित के विवेक से सर्वथा शून्य अज्ञानी, दारुण मति वाले पुरुष क्रोध से प्रेरित होकर, मान, माया और लोभ के वशीभूत होकर तथा हँसी-विनोद—दिलबहलाव के लिए, रति, अरति एव शोक के अधीन होकर, वेदानुष्ठान के अर्थी होकर, जीवन, धर्म, अर्थ एव काम के लिए, (कभी) स्ववश—अपनी इच्छा से और (कभी) परवश—पराधीन होकर, (कभी) प्रयोजन से और (कभी) विना प्रयोजन त्रस तथा स्थावर जीवो का, जो अशक्त—शक्तिहीन है, घात करते है। (ऐसे हिंसक प्राणी वस्तुत) मन्दबुद्धि है।

वे बुद्धिहीन क्रूर प्राणी स्ववश (स्वतत्र) होकर घात करते है, विवश होकर घात करते हैं, स्ववश—विवश दोनो प्रकार से घात करते है। सप्रयोजन घात करते है, निष्प्रयोजन घात करते है, सप्रयोजन और निष्प्रयोजन दोनो प्रकार से घात करते है। (अनेक पापी जीव) हास्य-विनोद से, वैर से और अनुराग से प्रेरित होकर हिंसा करते हैं। क्रुद्ध होकर हनन करते हैं, लुब्ध होकर हनन

करते है, मुग्ध होकर हनन करते है, क्रुद्ध-लुब्ध-मुग्ध होकर हनन करते हैं, अर्थ के लिए घात करते है, धर्म के लिए—धर्म मान कर घात करते है, काम-भोग के लिए घात करते है तथा अर्थ-धर्म-कामभोग तीनो के लिए घात करते हैं।

विवेचन—पृथक्-पृथक् जातीय प्राणियो की हिंसा के विविध प्रयोजन प्रदर्शित करके शास्त्रकार ने यहाँ सब का उपसहार करते हुए त्रस एव स्थावर प्राणियो की हिसा के सामूहिक कारणो का दिग्दर्शन कराया है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि पूर्व सूत्रो मे बाह्य निमित्तो की मुख्यता से चर्चा की गई है और प्रस्तुत सूत्र मे क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति आदि अन्तरग वृत्तियो की प्रेरणा को हिसा के कारण रूप मे चित्रित किया गया है। बाह्य और आभ्यन्तर कारणो के सयोग से ही कार्य की निष्पत्ति होती है। अन्तर मे कपायादि दूषित वृत्तिया न हो तो केवल बाह्य प्रयोजनो के लिए हिंसा नही की जाती अथवा कम से कम अनिवार्य हिसा ही की जाती है। साधु-सन्त हिसा के बिना ही जीवन-निर्वाह करते है। इसके विपरीत अनेक सुसस्कारहीन, कलमपवृत्ति वाले, निर्दय मनुष्य मात्र मनोविनोद के लिए—मरते हुए प्राणियो को छटपटाते—तडफते देख कर आनन्द अनुभव करने के लिए अत्यन्त क्रूरतापूर्वक हिरण, खरगोश आदि निरपराध भद्र प्राणियो का घात करने मे भी नही हिचकते। ऐसे लोग दानवता, पैशाचिकता को भी मात करते है।

मूल मे धर्म एव वेदानुष्ठान के निमित्त भी हिसा करने का उल्लेख किया गया है। इसमे मूढता—मिथ्यात्व ही प्रधान कारण है। बकरा, भैसा, गाय, अश्व आदि प्राणियो की अग्नि मे आहुति देकर अथवा अन्य प्रकार से उनका वध करके मनुष्य स्वर्गप्राप्ति का मनोरथ—मसूबा करता है। यह विषपान करके अमर बनने के मनोरथ के समान है। निरपराध पचेन्द्रिय जीवो का जान-बूझकर क्रूरतापूर्वक वध करने से भी यदि स्वर्ग की प्राप्ति हो तो नरक के द्वार ही बद हो जाएँ।

तात्पर्य यह है कि बाह्य कारणो से अथवा कलुषित मनोवृत्ति से प्रेरित होकर या धर्म मान कर—किसी भी कारण से हिंसा की जाए, यह एकान्त पाप ही है और उससे आत्मा का अहित ही होता है।

हिंसक जन—

१८—कयरे ते ?

जे ते सोयरिया मच्छबधा साउणिया वाहा कूरकम्मा वाउरिया दीवित-बधणप्पओग-तप्पगल-जाल-वीरल्लगायसीदब्भ-वग्गुरा-कूडछेलियाहत्था हरिएसा साउणिया य वीदसगपासहत्था वणचरगा लुद्धगा महुघाया पोयघाया एणीयारा पएणीयारा सर-दह-दीहिय-तलाग-पल्लल-परिगालण-मलण-सोत्तबधण-सलिलासयसोसगा विसगरलस्स य दायगा उत्तणवल्लर-दवग्गि-णिद्दया पलीवगा कूर-कम्मकारी।

१९—वे हिंसक प्राणी कौन है ?

शौकरिक—जो शूकरो का शिकार करते है, मत्स्यबन्धक—मछलियो को जाल मे बाधकर मारते है, जाल मे फँसाकर पक्षियो का घात करते हैं, व्याध—मृगो, हिरणो को फँसाकर मारने

वाले, क्रूरकर्मा वागुरिक—जाल मे मृग आदि को फँसाने के लिए घूमने वाले, जो मृगादि को मारने के लिए चीता, बन्धनप्रयोग—फँसाने—बाधने के लिए उपाय, मछलिया पकडने के लिए तप्र—छोटी नौका, गल—मछलिया पकडने के लिए काटे पर आटा या मास, जाल, वीरल्लक—बाज पक्षी, लोहे का जाल, दर्भ—डाभ या दर्भनिर्मित रस्सी, कूटपाश, बकरी—चीता आदि को पकडने के लिए पिंजरे आदि मे रक्खी हुई अथवा किसी स्थान पर बाँधी हुई बकरी अथवा बकरा, इन सब साधनो को हाथ मे लेकर फिरने वाले—इन साधनो का प्रयोग करने वाले, हरिकेश—चाण्डाल, चिडीमार, बाज पक्षी तथा जाल को रखने वाले, वनचर—भील आदि वनवासी, मधु-मक्खियो का घात करने वाले, पोतघातक—पक्षियो के बच्चो का घात करने वाले, मृगो को आकर्षित करने के लिए मृगियो का पालन करने वाले, सरोवर, ह्रद, वापी, तालाब, पल्लव—क्षुद्र जलाशय को मत्स्य, शख आदि प्राप्त करने के लिये खाली करने वाले—पानी निकाल कर, जलागम का मार्ग रोक कर तथा जलाशय को किसी उपाय से सुखाने वाले, विष अथवा गरल—अन्य वस्तु मे मिले विष को खिलाने वाले, उगे हुए त्रण—घास एव खेत को निर्दयतापूर्वक जलाने वाले, ये सब क्रूरकर्मकारी है, (जो अनेक प्रकार के प्राणियो का घात करते है)।

विवेचन—प्रारभ मे, तृतीय गाथा मे हिंसा आदि पापो का विवेचन करने के लिए जो क्रम निर्धारित किया गया था, उसके अनुसार पहले हिसा के फल का कथन किया जाना चाहिए। किन्तु प्रस्तुत मे इस क्रम मे परिवर्त्तन कर दिया गया है। इसका कारण अल्पवक्तव्यता है। हिंसको का कथन करने के पश्चात् विस्तार से हिंसा के फल का निरूपण किया जाएगा।

सूत्र का अर्थ सुगम है, अतएव उसके पृथक् विवेचन की आवश्यकता नही है।

हिंसक जातियाँ—

२०—इमे य बहवे मिलक्खुजाई, के ते ? सक-जवण-सबर-बब्बर-गाय-मुरु डोद-भडग-तित्तिय-पक्कणिय-कुलक्ख-गोड-सीहल-पारस-कोंचध-दविल-बिल्लल-पुलिंद-अरोस-डोब-पोक्कण-गध-हारग-बहलीय-जल्ल-रोम-मास-बउस-मलया-चु चुया य चूलिया कोंकणगा-मेत्त[1] पण्हव-मालव-महुर-आभासिय-अणक्ख-चीण-लासिय-खस-खासिया-नेहुर-मरहट्ठ-मुट्ठिय- आरब-डोबिलग- कुहण-केकय-हूण-रोमग-रुरु-मरुया-चिलायविसयवासी य पावमइणो।

२०—(पूर्वोक्त हिंसाकारियो के अतिरिक्त) ये बहुत-सी म्लेच्छ जातियाँ भी है, जो हिंसक है। वे (जातियाँ) कौन-सी है ?

शक, यवन, शबर, बब्बर, काय (गाय), मुरु ड, उद, भडक, तित्तिक, पक्कणिक, कुलाक्ष, गौड, सिंहल, पारस, क्रौंच, आन्ध्र, द्रविड, बिल्वल, पुलिंद, आरोष, डौब, पोकण, गान्धार, बहलीक, जल्ल, रोम, मास, बकुश, मलय, चु चुक, चूलिक, कोंकण, मेद, पण्हव, मालव, महुर, आभाषिक, अणक्क, चीन, ल्हासिक, खस, खासिक, नेहुर, महाराष्ट्र, मौष्टिक, आरब, डोबलिक, कुहण, कैकय, हूण,

---

१ पूज्य श्री हस्तीमलजी म सम्पादित तथा बीकानेर वाली प्रति मे 'कोकणगामेत्त' पाठ है और पूज्य श्री घासीलालजी म तथा श्रीमद्ज्ञानबिमल सूरि की टीकावली प्रति मे—'कोकणग-कणय-सेय-मेता'—पाठ है। यह पाठभेद है।

रोमक, रुरु, मरुक, चिलात, इन देशो के निवासी, जो पाप बुद्धि वाले है, वे (हिंसा मे प्रवृत्त रहते हैं।)

विवेचन —मूल पाठ मे जिन जातियो का नाम-निर्देश किया गया है, वे अधिकाश देश-सापेक्ष हैं। इनमे कुछ नाम ऐसे हैं जो आज भी भारत के अन्तर्गत है और कुछ ऐसे जो भारत से बाहर है। कुछ नाम परिचित हैं, बहुत-से अपरिचित है। टीकाकार के समय मे भी उनमे से बहुत-से अपरिचित ही थे। कुछ के विषय मे आधुनिक विद्वानो ने जो अन्वेषण किया है, वह इस प्रकार है—

शक—ये सोवियाना अथवा कैस्पियन सागर के पूर्व मे स्थित प्रदेश के निवासी थे। ईसा की प्रथम शताब्दी मे उन्होने तक्षशिला, मथुरा तथा उज्जैन पर अपना प्रभाव जमा लिया था। चौथी शताब्दी तक पश्चिमी भारत पर ये राज्य करते रहे।

बर्बर—इन लोगो का प्रदेश उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश से लगाकर अरब सागर तक फैला हुआ था।

शबर—डॉ डी सी सरकार ने इनको गजम और विशाखापत्तन के सावर लोगो के सदृश माना है। डॉ बी सी लॉ इन्हे दक्षिण के जगल-प्रदेश की जाति मानते है। 'पउमचरिउ'[1] मे इन्हे हिमालय के पार्वत्य प्रदेश का निवासी बतलाया गया है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' मे इन्हे दस्युओ के रूप मे आध्र, पुलिन्द और पुड्रो के साथ वर्गीकृत किया गया है।

यवन—अशोककालिक इनका निवासस्थान काबुल नदी की घाटी एव कधार देश था। पश्चात् ये उत्तर-पश्चिमी भाग मे रहे। कालीदास के अनुसार यवनराज्य सिन्धु नदी के दक्षिणी तट पर था।

साधनाभाव से पाठनिर्दिष्ट सभी प्रदेशो और उनमे बसने वाली जातियो का परिचय देना शक्य नहीं है। विशेष जिज्ञासु पाठक अन्यत्र देखकर उनका परिचय प्राप्त कर सकते है।

२१—जलयर-थलयर-सणप्फ-योरग-खहयर-सडासतु ड-जीवोवघायजीवी सण्णी य असण्णिणो पज्जत्ते अपज्जत्ते य असुभलेस्स-परिणामे एए अण्णे य एवमाई करेंति पाणाइवायकरण।

पावा पावाभिगमा[2] पावरुई पाणवहकयरई पाणवहरूवाणुट्ठाणा पाणवहकहासु अभिरमता तुट्ठा पावं करेत्तु होंति य बहुप्पगारं।

२१—ये—पूर्वोक्त विविध देशो और जातियो के लोग तथा इनके अतिरिक्त अन्य जातीय और अन्य देशीय लोग भी, जो अशुभ लेश्या-परिणाम वाले हैं, वे जलचर, स्थलचर, सनखपद, उरग, नभश्चर, सडासी जैसी चोच वाले आदि जीवो का घात करके अपनी आजीविका चलाते हैं। वे सज्ञी, असज्ञी, पर्याप्त और अपर्याप्त जीवो का हनन करते हैं।

वे पापी जन पाप को ही उपादेय मानते है। पाप मे ही उनकी रुचि-प्रीति होती है। वे प्राणियो का घात करके प्रसन्नता अनुभव करते है। उनका अनुष्ठान—कर्त्तव्य प्राणवध करना ही

---

१ पउमचरिउ—२७-५-७

२ किसी किसी प्रति मे यहाँ "पावमई" शब्द भी है।

होता है। प्राणियो की हिंसा की कथा-वार्ता मे ही वे आनन्द मानते है। वे अनेक प्रकार के पापो का आचरण करके सतोष अनुभव करते है।

विवेचन—जलचर और स्थलचर प्राणियो का उल्लेख पूर्व मे किया जा चुका है। जिनके पैरो के अग्रभाग मे नख होते है वे सिह, चीता आदि पशु सनखपद कहलाते हे। सडासी जैसी चोच वाले प्राणी ढक, कक आदि पक्षी होते हैं।

प्रस्तुत पाठ मे कुछ पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए है, जैसे सज्ञी, असज्ञी, पर्याप्त और अपर्याप्त। उनका आशय इस प्रकार है—

सज्ञी—सज्ञा अर्थात् विशिष्ट चेतना—आगे-पीछे के हिताहित का विचार करने की शक्ति जिन प्राणियो को प्राप्त है, वे सज्ञी अथवा समनस्क—मन वाले—कहे जाते है। ऐसे प्राणी पचेन्द्रियो मे ही होते है।

असज्ञी—एक इन्द्रिय वाले जीवो से लेकर चार इन्द्रिय वाले सभी जीव असज्ञी है, अर्थात् उनमे मनन-चिन्तन करने की विशिष्ट शक्ति नही होती। पाँचो इन्द्रियो वाले जीवो मे कोई-कोई सज्ञी और कोई-कोई असज्ञी होते है।

पर्याप्त—पर्याप्ति शब्द का अर्थ पूर्णता है। जिन जीवो को पूर्णता प्राप्त हो चुकी है, वे पर्याप्त और जिन्हे पूर्णता प्राप्त नही हुई है, वे अपर्याप्त कहलाते है।

अभिप्राय यह है कि कोई भी जीव वर्त्तमान भव को त्याग कर जब आगामी भव मे जाता है तब तैजस और कार्मण शरीर के सिवाय उसके साथ कुछ नही होता। उसे नवीन भव मे नवीन सृष्टि रचनी पडती है। सर्वप्रथम वह उस भव के योग्य शरीरनिर्माण करने के लिए पुद्गलो का आहरण—ग्रहण करता है। इन पुद्गलो को ग्रहण करने की शक्ति उसे प्राप्त होती है। इस शक्ति की पूर्णता आहारपर्याप्ति कहलाती है। तत्पश्चात् उन गृहीत पुद्गलो को शरीररूप मे परिणत करने की शक्ति की पूर्णता शरीरपर्याप्ति है। गृहीत पुद्गलो को इन्द्रिय रूप मे परिणत करने की शक्ति की पूर्णता इन्द्रियपर्याप्ति है। श्वासोच्छ्वास के योग्य, भाषा के योग्य और मनोनिर्माण के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करके उन्हे श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन के रूप मे परिणत करने की शक्ति की पूर्णता क्रमश श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मन पर्याप्ति कही जाती है।

शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन का निर्माण यथाकाल होता है। उनके लिए दीर्घ काल अपेक्षित है। किन्तु निर्माण करने की शक्ति—क्षमता अन्तर्मुहूर्त्त मे ही उत्पन्न हो जाती है। जिन जीवो को इस प्रकार की क्षमता प्राप्त हो चुकी है, वे पर्याप्त और जिन्हे वह क्षमता प्राप्त नही हुई—होने वाली है अथवा होगी ही नही—जो शीघ्र ही पुन मृत्यु को प्राप्त हो जाएँगे, वे अपर्याप्त कहलाते है।

पर्याप्तियाँ छह प्रकार की है—१ आहारपर्याप्ति, १ शरीरपर्याप्ति, ३ इन्द्रियपर्याप्ति, ४ श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, ५ भाषापर्याप्ति और ६ मन पर्याप्ति। इनमे से एकेन्द्रिय जीवो मे आदि की चार, द्वीन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रियो मे पाँच और सज्ञी पचेन्द्रियो मे छहो पर्याप्तियाँ होती हैं। सभी पर्याप्तियो का प्रारभ तो एक साथ हो जाता है किन्तु पूर्णता क्रमश होती है।

हिंसको की उत्पत्ति—

२२—तस्स य पावस्स फलविवाग अयाणमाणा वड्ढति महब्भय अविस्सामवेयण दीहकाल-बहुदुक्खसकड णरयतिरिक्खजोणि ।

२२—(पूर्वोक्त मूढ हिंसक लोग) हिंसा के फल-विपाक को नही जानते हुए, अत्यन्त भयानक एव दीर्घकाल पर्यन्त बहुत-से दु खो से व्याप्त—परिपूर्ण एव अविश्रान्त—लगातार निरन्तर होने वाली दु ख रूप वेदना वाली नरकयोनि और तिर्यञ्चयोनि को वढाते है ।

विवेचन—पूर्व मे तृतीय गाथा मे कथित फलद्वार का वर्णन यहाँ किया गया है । हिंसा का फल तिर्यंचयोनि और नरकयोनि बतलाया गया है और वह भी अतीव भयोत्पादक एव निरन्तर दु खो से परिपूर्ण । तिर्यंचयोनि की परिधि बहुत विशाल है । एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के सभी जीव तिर्यंचयोनिक ही होते हैं । पचेन्द्रियो मे चारो गति के जीव होते है । इनमे पचेन्द्रिय तिर्यचयोनिक जीवो के दु ख तो किसी अश मे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु अन्य एकेन्द्रियादि तिर्यंचो के कष्टो को मनुष्य नही-जैसा ही जानता है । एकेन्द्रियो के दु खो का हमे प्रत्यक्षीकरण नही होता । इनमे भी जिनको निरन्तर एक श्वासोच्छ्वास जितने काल मे साधिक १७ वार जन्म-मरण करना पडता है, उनके दु ख तो हमारी कल्पना से भी अतीत है । नरकयोनि तो एकान्तत दु खमय ही है । इस योनि मे उत्पन्न होने वाले प्राणी जन्मकाल से लेकर मरणकाल तक निरन्तर—एक क्षण के व्यवधान या विश्राम विना सतत भयानक से भयानक पीडा भोगते ही रहते है । उसका दिग्दर्शन मात्र ही कराया जा सकता है । शास्त्रकार ने स्वय उन दु खो का वर्णन आगे किया है ।

कई लोग नरकयोनि का अस्तित्व स्वीकार नही करते । किन्तु किसी की स्वीकृति या अस्वीकृति पर किसी वस्तु का अस्तित्व और नास्तित्व निर्भर नही है । तथ्य स्वत है । जो है उसे अस्वीकार कर देने से उसका अभाव नही हो जाता ।

कुछ लोग नरकयोनि के अस्तित्व मे शकाशील रहते है । उन्हे विचार करना चाहिए कि नरक का अस्तित्व मानकर दुष्कर्मो से बचे रहना तो प्रत्येक परिस्थिति मे हितकर ही है । नरक न हो तो भी पापो का परित्याग लाभ का ही कारण है, किन्तु नरक का नास्तित्व मान कर यदि पापाचरण किया और नरक का अस्तित्व हुआ तो कैसी दुर्गति होगी ! कितनी भीषणतम वेदनाएँ भुगतनी पडेगी !

प्रत्येक शुभ और अशुभ कर्म का फल अवश्य होता है । तो फिर घोरतम पापकर्म का फल घोरतम दु ख भी होना चाहिए और उसे भोगने के लिए कोई योनि और स्थान भी अवश्य होना चाहिए । इस प्रकार घोरतम दु खमय वेदना भोगने का जो स्थान है, वही नरकस्थान है ।

नरक-वर्णन—

२३—इओ आउक्खए चुया असुभकम्मबहुला उववज्जति णरएसु हुलियं महालएसु वयरामय-कुड्ड-रुद्द-णिस्सधि-दार-विरहिय-णिम्मद्दव-भूमितल-खरामरिसविसम-णिरय-घरचारएसु महोसिण-सया-पतत्त दुग्गध-विस्स-उव्वेयजणगेसु बीभच्छदरिसणिज्जेसु णिच्च हिमपडलसीयलेसु कालोभासेसु य भीम-गभीर-लोमहरिसणेसु णिरभिरामेसु णिप्पडियार-वाहिरोगजरापीलिएसु अईव णिच्चधयार-

तिमिस्सेसु पइभएसु ववगय-गह-चंद-सूर-णक्खत्तजोइसेसु मेय-वसा-मसपडल-पोच्चड-पूय-रुहि-रुक्किण्ण-विलीण-चिक्कण-रसिया वावण्णकुहियचिक्खल्लकद्दमेसु कुकु-लाणल-पलित्तजालमुम्मुर-असिक्खुर-करवत्तधारासु णिसिय-विच्छुयडक-णिवायोवम्म-फरिसअइदुस्सहेसु य, अत्ताणा असरणा कडुयदुक्ख-परितावणेसु अणुबद्ध-णिरतर-वेयणेसु जमपुरिस-सकुलेसु ।

२३—पूर्ववर्णित हिसाकारी पापीजन यहाँ—मनुष्यभव से आयु की समाप्ति होने पर, मृत्यु को प्राप्त होकर अशुभ कर्मों की बहुलता के कारण शीघ्र ही—सीधे ही—नरको मे उत्पन्न होते है ।

नरक बहुत विशाल—विस्तृत है । उनकी भित्तियाँ वज्रमय है । उन भित्तियो मे कोई सन्धि-छिद्र नही है, बाहर निकलने के लिए कोई द्वार नही है । वहाँ की भूमि मृदुतारहित—कठोर है, अत्यन्त कठोर है । वह नरक रूपी कारागार विषम है । वहाँ नारकावास अत्यन्त उष्ण एव तप्त रहते है । वे जीव वहाँ दुर्गन्ध—सडाध के कारण सदैव उद्विग्न—घबराए रहते हे । वहाँ का दृश्य ही अत्यन्त बीभत्स है—वे देखते ही भयकर प्रतीत होते है । वहाँ (किन्ही स्थानो मे जहाँ शीत की प्रधानता है) हिम-पटल के सदृश शीतलता (बनी रहती) है । वे नरक भयकर ह, गभीर एव रोमाच खडे कर देने वाले है । अरमणीय—घृणास्पद हैं । वे जिसका प्रतीकार न हो सके अर्थात् असाध्य कुष्ठ आदि व्याधियो, रोगो एव जरा से पीडा पहुचाने वाले है । वहाँ सदैव अन्धकार रहने के कारण प्रत्येक वस्तु अतीव भयानक लगती है । ग्रह, चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र आदि की ज्योति—प्रकाश का अभाव है, मेद, वसा—चर्बी, मास के ढेर होने से वह स्थान अत्यन्त घृणास्पद है । पीव और रुधिर के बहने से वहाँ की भूमि गीली और चिकनी रहती है और कीचड-सी बनी रहती है । (जहाँ उष्णता की प्रधानता है) वहाँ का स्पर्श दहकती हुई करीष की अग्नि या खदिर (खैर) की अग्नि के समान उष्ण तथा तलवार, उस्तरा अथवा करवत की धार के सदृश तीक्ष्ण है । वह स्पर्श बिच्छू के डक से भी अधिक वेदना उत्पन्न करने वाला अतिशय दुस्सह है । वहाँ के नारक जीव त्राण और शरण से विहीन है—न कोई उनकी रक्षा करता है, न उन्हे आश्रय देता है । वे नरक कटुक दु खो के कारण घोर परिणाम उत्पन्न करने वाले हैं । वहाँ लगातार दु खरूप वेदना चालू ही रहती है— पल भर के लिए भी चैन नही मिलती । वहाँ यमपुरुष अर्थात् पन्द्रह प्रकार के परमाधामी देव भरे पडे है । (जो नारको को भयकर-भयकर-यातनाएँ देते है—जिनका वर्णन आगे किया जाएगा ।)

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे नरकभूमियो का प्रमुख रूप से वर्णन किया गया है । इस वर्णन से नारक जीवो को होने वाली वेदना—पीडा का उल्लेख भी कर दिया गया है । नरकभूमियाँ विस्तृत है सो केवल लम्बाई-चौडाई की दृष्टि से ही नही, किन्तु नारको के आयुष्य की दृष्टि से भी समझना चाहिए । मनुष्यो की आयु की अपेक्षा नारको की आयु बहुत लम्बी है । वहाँ कम से कम आयु भी दस हजार वर्ष से कम नही और अधिक से अधिक तेतीस सागरोपम जितनी है । सागरोपम एक बहुत बडी सख्या है, जो प्रचलित गणित की परिधि से बाहर है ।

नरकभूमि अत्यन्त कर्कश, कठोर और ऊबड-खाबड है । उस भूमि का स्पर्श ही इतना कष्टकर होता है, मानो हजार बिच्छुओ के डको का एक साथ स्पर्श हुआ हो । कहा है—

तहाँ भूमि परसत दुख इसो,
बीछू सहस डसें तन तिसो ।

नरक मे घोर अधकार सदैव व्याप्त रहता है। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि का लेशमात्र भी प्रकाश नही है।

मास, रुधिर, पीव, चर्बी आदि घृणास्पद वस्तुएँ ढेर की ढेर वहाँ बिखरी पडी है, जो अतीव उद्वेग उत्पन्न करती है। यद्यपि मास, रुधिर आदि औदारिक शरीर मे ही होते है और वहाँ औदारिक शरीरधारी मनुष्य एव पचेन्द्रिय तिर्यंच नही है, तथापि वहाँ के पुद्गल अपनी विचित्र परिणमनशक्ति से इन घृणित वस्तुओ के रूप मे परिणत होते रहते है। इनके कारण वहाँ सदैव दुर्गन्ध—सडाध फैली रहती है जो दुस्सह त्रास उत्पन्न करती है।

नरको के कोई स्थान अत्यन्त शीतमय है तो कोई अतीव उष्णतापूर्ण है। जो स्थान शीतल है वे हिमपटल से भी असख्यगुणित शीतल है और जो उष्ण है वे खदिर की धधकती अग्नि से भी अत्यधिक उष्ण है।

नारक जीव ऐसी नरकभूमियो मे सुदीर्घ काल तक भयानक से भयानक यातनाएँ निरन्तर, प्रतिक्षण भोगते रहते है। वहाँ उनके प्रति न कोई सहानुभूति प्रकट करने वाला, न सान्त्वना देने वाला और न यातनाओ से रक्षण करने वाला है। इतना ही नही, वरन् भयकर से भयकर कष्ट पहुँचाने वाले परमाधामी देव वहाँ है, जिनका उल्लेख यहाँ 'जमपुरिस' (यमपुरुष) के नाम से किया गया है। ये यमपुरुष पन्द्रह प्रकार के है और विभिन्न रूपो मे नारको को घोर पीडा पहुँचाना इनका मनोरजन है। वे इस प्रकार हैं—

१ **अम्ब**—ये नारको को ऊपर आकाश मे ले जाकर एकदम नीचे पटक देते है।

२ **अम्बरीष**—छुरी आदि शस्त्रो से नारको के शरीर के टुकडे-टुकडे करके भाड मे पकाने योग्य बनाते है।

३ **श्याम**—रस्सी से या लातो-घू सो से नारको को मारते है और यातनाजनक स्थानो मे पटक देते है।

४ **शबल**—ये नारक जीवो के शरीर की आते, नसे और कलेजे आदि को बाहर निकाल लेते है।

५ **रुद्र**—भाला-बर्छी आदि नुकीले शस्त्रो मे नारको को पिरो देते हैं। इन्हे रौद्र भी कहते हैं। अतीव भयकर होते हैं।

६ **उपरुद्र**—नारको के अगोपागो को फाडने वाले, अत्यन्त ही भयकर असुर।

७ **काल**—ये नारको को कडाही मे पकाते हैं।

८ **महाकाल**— नारको के मास के खण्ड-खण्ड करके उन्हे जबर्दस्ती खिलाने वाले अतीव काले असुर।

९ **असिपत्र**—अपनी वैक्रिय शक्ति द्वारा तलवार जैसे तीक्ष्ण पत्तो वाले वृक्षो का वन बनाकर उनके पत्ते नारको पर गिराते है और नारको के शरीर के तिल जितने छोटे-छोटे टुकडे कर डालते हैं।

१० **धनुष**— ये धनुष से तीखे बाण फेंककर नारको के कान, नाक आदि अवयवो का छेदन करते हैं और अन्य प्रकार मे भी उन्हे पीडा पहुँचा कर आनन्द मानते है।

११ कुम्भ—ये असुर नारको को कुम्भियो मे पकाते है।

१२ बालु—ये वैक्रियलब्धि द्वारा बनाई हुई कदम्ब—वालुका अथवा वज्र-वालुका—रेत मे नारको को चना आदि की तरह भूनते है।

१३. वैतरणी—ये यम पुरुष मास, रुधिर, पीव, पिघले तांबे—सीसे आदि अत्युष्ण पदार्थो से उबलती-उफनती वैतरणी नदी मे नारको को फेक देते है और उसमे तैरने को विवश करते है।

१४ खरस्वर—ये वज्रमय तीक्ष्ण कटको से व्याप्त शालमली वृक्ष पर चढा कर करुण आक्रन्दन करते नारको को इधर-उधर खीचते है।

१५ महाघोष—ये भयभीत होकर अथवा दुस्सह यातना से बचने के अभिप्राय से भागते हुए नारक जीवो को बाडे मे बन्द कर देते हैं और भयानक ध्वनि करते हुए उन्हे रोक देते हैं।

इस प्रकार हिंसा करने वाले और हिंसा करके आनन्द का अनुभव करने वाले जीवो को नरक मे उत्पन्न होकर जो वचनागोचर घोरतर यातनाएँ भुगतनी पडती है, यहाँ उनका साधारण शब्द-चित्र ही खीचा गया है। वस्तुत वे वेदनाएँ तो अनुभव द्वारा ही जानी जा सकती हैं।

नारको का बीभत्स शरीर—

२४—तत्थ य अंतोमुहुत्तलद्धिभवपच्चएण णिवत्तंति उ ते सरीरं हुडं बीभच्छदरिसणिज्जं बीहणगं अट्ठि-ण्हारु-णह-रोम-वज्जियं असुभगं दुक्खविसहं।

तओ य पज्जत्तिमुवगया इंदिएहिं पंचहिं वेएंति असुहाए वेयणाए उज्जल-बल-विउल-कक्खड-खर-फरुस-पयंड-घोर-बीहणगदारुणाए।

२४—वे पूर्वोक्त पापी जीव नरकभूमि मे उत्पन्न होते ही अन्तर्मुहूर्त्त मे नरकभवकारणक (वैक्रिय) लब्धि से अपने शरीर का निर्माण कर लेते हैं। वह शरीर हुड—हुडक सस्थान वाला—बेडौल, भद्दी आकृति वाला, देखने मे बीभत्स, घृणित, भयानक, अस्थियो, नसो, नाखूनो और रोमो से रहित, अशुभ और दुखो को सहन करने मे सक्षम होता है।

शरीर का निर्माण हो जाने के पश्चात् वे पर्याप्तियो से—इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और भाषा-मन रूप पर्याप्तियो से पूर्ण—पर्याप्त हो जाते है और पाचो इन्द्रियो से अशुभ वेदना का वेदन करते है। उनकी वेदना उज्ज्वल, बलवती, विपुल, उत्कट, प्रखर, परुष, प्रचण्ड, घोर, बीहनक—डरावनी और दारुण होती है।

विवेचन—वेदना का सामान्य अर्थ है—अनुभव करना। वह प्राय दो प्रकार की होती है—सातावेदना और असातावेदना। अनुकूल, इष्ट या सुखरूप वेदना सातावेदना कहलाती है और प्रतिकूल, अनिष्ट या दु खरूप वेदना को असातावेदना कहते है। नारक जीवो की वेदना असातावेदना ही होती है। उस असातावेदना का प्रकर्ष प्रकट करने के लिए शास्त्रकार ने अनेक विशेषणो का प्रयोग किया है। इन विशेषणो मे आपातत एकार्थकता का आभास होता है किन्तु 'शब्दभेदादर्थभेद' अर्थात् शब्द के भेद से अर्थ मे भेद हो जाता है, इस नियम के अनुसार प्रत्येक शब्द के अर्थ मे विशेषता—भिन्नता है, जो इस प्रकार है—

उज्जल (उज्ज्वल)—उजली अर्थात् सुखरूप विपक्ष के लेश से भी रहित—जिसमे सुख का तनिक भी सम्मिश्रण नही।

बल-विउल (बल-विपुल)—प्रतीकार न हो सकने के कारण अतिशय बलवती एव समग्र शरीर मे व्याप्त रहने के कारण विपुल।

उक्कड (उत्कट)—चरम सीमा को प्राप्त।

खर-फरुस (खर-परुष)—शिला आदि के गिरने पर होने वाली वेदना के सदृश होने से खर तथा कूष्माण्डी के पत्ते के समान कर्कश स्पर्श वाले पदार्थों से होने वाली वेदना के समान होने से परुष—कठोर।

पयड (प्रचण्ड)—शीघ्र ही समग्र शरीर मे व्याप्त हो जाने वाली।

घोर (घोर)—शीघ्र ही औदारिक शरीर से युक्त जीवन को विनष्ट कर देने वाली अथवा दूसरे के जीवन की अपेक्षा न रखने वाली (किन्तु नारक वैक्रिय शरीर वाले होते है, अत इस वेदना को निरन्तर सहन करते हुए भी उनके जीवन का अन्त नही होता।)

बीहणग (भीषणक)—भयानक—भयजनक।

दारुण (दारुण)—अत्यन्त विकट, घोर।

यहाँ यह ध्यान मे रहना चाहिए कि देवो की भाति नारको का शरीर वैक्रिय शरीर होता है और उसका कारण नरकभव है। आयुष्य पूर्ण हुए विना—अकाल मे—इस शरीर का अन्त नही होता। परमाधामी उस शरीर के टुकडे-टुकडे कर देते है तथापि वह पारे की तरह फिर जुड जाता है।

देवो और नारको की भाषा और मन पर्याप्ति एक साथ पूर्ण होती है, अत दोनो मे एकता की विवक्षा कर ली जाती है। वस्तुत ये दोनो पर्याप्तियाँ भिन्न-भिन्न है।

नारको को दिया जाने वाला लोमहर्षक दुःख—

२५—किं ते ?

कदुमहाकुंभिए पयण-पउलण-तवग-तलण-भट्ठभज्जणाणि य लोहकडाहुकड्ढणाणि य कोट्टबलि-करण-कोट्टणाणि य सामलितिक्खग्ग-लोहकटग-अभिसरणपसारणाणि फालणविदारणाणि य अवकोडक-बधणाणि लट्ठिसयतालणाणि य गलगबलुल्लबणाणि सूलग्गभेयणाणि य आएसपवचणाणि खिसणविमाण-णाणि विघुट्ठपणिज्जणाणि वज्झसयमाइकाणि य।

२५—नारको को जो वेदनाएँ भोगनी पडती है, वे क्या—कैसी हैं ?

नारक जीवो को कदु—कढाव जैसे चौडे मुख के पात्र मे और महाकुंभी—सँकडे मुखवाले घडा सरीखे महापात्र मे पकाया और उबाला जाता है। तवे पर रोटी की तरह सेका जाता है। चनो की भाति भाड मे भूंजा जाता है। लोहे की कढाई मे ईख के रस के समान औटाया जाता है। जैसे देवी के सामने बकरे की बलि चढाई जाती है, उसी प्रकार उनकी बलि चढाई जाती है—उनकी काया के खड-खड कर दिए जाते है। लोहे के तीखे शूल के समान तीक्ष्ण काटो वाले शाल्मलिवृक्ष

(सेमल) के काटो पर उन्हे इधर-उधर घसीटा जाता है। काष्ठ के समान उनकी चीर-फाड की जाती है। उनके पैर और हाथ जकड दिए जाते है। सैकडो लाठियो से उन पर प्रहार किए जाते है। गले मे फदा डाल कर लटका दिया जाता है। उनके शरीर को शूली के अग्रभाग से भेदा जाता है। झूठे आदेश देकर उन्हे ठगा जाता—धोखा दिया जाता है। उनकी भर्त्सना की जाती है, अपमानित किया जाता है। (उनके पूर्वभव मे किए गए घोर पापो की) घोषणा करके उन्हे वधभूमि मे घसीट कर ले जाया जाता है। वध्य जीवो को दिए जाने वाले सैकडो प्रकार के दु ख उन्हे दिए जाते है।

विवेचन—मूल पाठ का आशय स्पष्ट है। इसका विवरण करने की आवश्यकता नही। नरकभूमि के कारण होने वाली वेदनाओ (क्षेत्र-वेदनाओ) का पहले प्रधानता से वर्णन किया गया था। प्रस्तुत पाठ मे परमाधामी देवो द्वारा दी जाने वाली भयानक यातनाओ का दिग्दर्शन कराया गया है।

पाठ से स्पष्ट है कि परमाधामी जीव जब नारको को व्यथा प्रदान करते है तब वे उनके पूर्वकृत पापो की उद्घोषणा भी करते है, अर्थात् उन्हे अपने कृत पापो का स्मरण भी कराते है। नारको के पाप जिस कोटि के होते है, उन्हे प्राय उसी कोटि की यातना दी जाती है। जैसे—जो लोग जीवित मुर्गा-मुर्गी को उबलते पानी मे डाल कर उबालते है, उन्हे कदु और महाकु भी मे उबाला जाता है। जो पापी जीववध करके मास को काटते-भूनते है, उन्हे उसी प्रकार काटा-भूना जाता है। जो देवी-देवता के आगे बकरा आदि प्राणियो का घात करके उनके खण्ड-खण्ड करते है, उनके शरीर के भी नरक मे परमाधामियो द्वारा तिल-तिल जितने खण्ड-खण्ड किए जाते है। यही बात प्राय अन्य वेदनाओ के विषय मे भी जान लेना चाहिए।

२६—एव ते पुव्वकम्मकयसचयोवतत्ता णिरयग्गिमहग्गिसपलित्ता गाढदुक्ख महब्भय कक्कस असायं सारीर माणस य तिव्व दुविहं वेएति वेयण पावकम्मकारी बहूणि पलिओवम-सागरोवमाणि कलुण पालेंति ते अहाउयं जमकाइयतासिया य सद्द करेंति भीया।

२६—इस प्रकार वे नारक जीव पूर्व जन्म मे किए हुए कर्मो के सचय से सन्तप्त रहते है। महा-अग्नि के समान नरक की अग्नि से तीव्रता के साथ जलते रहते है। वे पापकृत्य करने वाले जीव प्रगाढ दु ख-मय, घोर भय उत्पन्न करने वाली, अतिशय कर्कश एव उग्र शारीरिक तथा मानसिक दोनो प्रकार की असातारूप वेदना का अनुभव करते रहते है। उनकी यह वेदना बहुत पल्योपम और सागरोपम काल तक रहती है। वे अपनी आयु के अनुसार करुण अवस्था मे रहते है। वे यमकायिक देवो द्वारा त्रास को प्राप्त होते है और (दुस्सह वेदना के वशीभूत हो कर) भयभीत होकर शब्द करते है—रोते-चिल्लाते है।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे नारको के सम्बन्ध मे 'अहाउय' पद का प्रयोग किया गया है। यह पद सूचित करता है कि जैसे सामान्य मनुष्य और तिर्यंच उपघात के निमित्त प्राप्त होने पर अकाल-मरण से मर जाते है, अर्थात् दीर्घकाल तक भोगने योग्य आयु को अल्पकाल मे, यहाँ तक कि अन्त-र्मुहूर्त्त मे भोग कर समाप्त कर देते है, वैसा नारको मे नही होता। उनकी आयु निरुपक्रम होती है। जितने काल की आयु बँधी है, नियम से उतने ही काल मे वह भोगी जाती है।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, नारको का आयुष्य बहुत लम्बा होता है। वर्षो

या युगो मे उस की गणना नही की जा सकती। अतएव उसे उपमा द्वारा ही बतलाया जाता है। इसे जैन आगमो मे उपमा-काल कहा गया है। वह दो प्रकार का है—पल्योपम और सागरोपम।

पल्य का अर्थ गडहा—गड्ढा है। एक योजन (चार कोस) लम्बा-चौडा और एक योजन गहरा एक गडहा हो। उसमे देवकुरु या उत्तरकुरु क्षेत्र के युगलिक मनुष्य के, अधिक से अधिक सात दिन के जन्मे बालक के बालो के छोटे-छोटे टुकडो से—जिनके फिर टुकडे न हो सके, भरा जाए। बालो के टुकडे इस प्रकार ठूस-ठूस कर भरे जाएँ कि उनमे न वायु का प्रवेश हो, न जल प्रविष्ट हो सके और न अग्नि उन्हे जला सके। इस प्रकार भरे पल्य मे से सौ-सौ वर्ष के पश्चात् एक-एक बालाग्र निकाला जाए। जितने काल मे वह पल्य पूर्ण रूप से खाली हो जाए, उतना काल एक पल्योपम कहलाता है। दस कोटाकोटी पल्योपम का एक सागरोपम काल होता है। एक करोड से एक करोड का गुणाकार करने पर जो सख्या निष्पन्न होती है उसे कोटाकाटी कहते है।

नारक जीव अनेकानेक पल्योपमो और सागरोपमो तक निरन्तर ये वेदनाएँ भुगतते रहते है। कितना भयावह है हिंसाजनित पाप का परिणाम!

नारक जीवो की करुण पुकार—

२७—किं ते ?

अविभाव सामि भाय बप्प ताय जियव मुय मे मरामि दुब्बलो वाहिपीलिओऽहं किं दाणिऽसि एव दारुणो णिद्दय ? मा देहि मे पहारे, उस्सासेय मुहुत्त मे देहि, पसाय करेह, मा रुस वीसमामि, गेविज्ज मुयह मे मरामि गाढ तण्हाइओ अहं देहि पाणीय।

२७—(नारक जीव) किस प्रकार रोते-चिल्लाते हैं ?

हे अज्ञातबन्धु! हे स्वामिन्! हे भ्राता! अरे बाप! हे तात! हे विजेता! मुझे छोड दो। मैं मर रहा हूँ। मैं दुर्बल हूँ! मैं व्याधि से पीडित हूँ। आप इस समय क्यो ऐसे दारुण एव निर्दय हो रहे है? मेरे ऊपर प्रहार मत करो। मुहूर्त्त भर—थोडे समय तक सास तो लेने दीजिए! दया कीजिए। रोष न कीजिए। मैं जरा विश्राम ले लूँ। मेरा गला छोड दीजिए। मैं मरा जा रहा हूँ। मैं प्यास से पीडित हूँ। (तनिक) पानी दे दीजिए।

विवेचन—नारको को परमाधामी असुर जब लगातार पीडा पहुँचाते हैं, पल भर भी चैन नही लेने देते, तब वे किस प्रकार चिल्लाते हैं, किस प्रकार दीनता दिखलाते है और अपनी असहाय अवस्था को व्यक्त करते है, यह इस पाठ मे वर्णित है। पाठ से स्पष्ट है कि नारको को क्षण भर भी शान्ति-चैन नही मिलती है। जब प्यास से उनका गला सूख जाता है और वे पानी की याचना करते हैं तो उन्हे पानी के बदले क्या मिलता है, इसका वर्णन आगे प्रस्तुत है।

नरकपालो द्वारा दिये जाने वाले घोर दुःख—

२८—हता पिय[1] इमं जल विमल सीयल त्ति घेत्तूण य णरयपाला तविय तउय से दिंति कलसेण अजलीसु दट्ठूण य तं पवेवियगोवगा अंसुपगलंतपप्पुयच्छा छिण्णा तण्हाइयम्ह कलुणाणि

---

१ 'ताहे त पिय'—पाठभेद।

जपमाणा विप्पेक्खता दिसोदिसिं अत्ताणा असरणा अणाहा अबधवा बंधुविप्पहूणा विपलायंति य मिया इव वेगेण भयुव्विग्गा।

२८—'अच्छा, हाँ, (तुम्हे प्यास सता रही है ? तो लो) यह निर्मल और शीतल जल पीओ।' इस प्रकार कह कर नरकपाल अर्थात् परमाधामी असुर नारको को पकड कर खौला हुआ सीसा कलश से उनकी अजुली मे उडेल देते है। उसे देखते ही उनके अगोपाग कॉपने लगते है। उनके नेत्रो से आसू टपकने लगते है। फिर वे कहते है—'(रहने दीजिए), हमारी प्यास शान्त हो गई!' इस प्रकार करुणापूर्ण वचन बोलते हुए भागने-बचने के लिए दिशाएँ—इधर-उधर देखने लगते है। अन्तत वे त्राणहीन, शरणहीन, अनाथ—हित को प्राप्त कराने वाले और अहित से बचाने वाले से रहित, बन्धु-विहीन—जिनका कोई सहायक नहो, बन्धुओ से वचित एव भय के मारे घबडा करके मृग की तरह बडे वेग से भागते है।

विवेचन—जिन लोगो ने समर्थ होकर, प्रभुता प्राप्त करके, सत्तारूढ होकर असहाय, दुर्बल एव असमर्थ प्राणियो पर अत्याचार किए है, उन्हे यदि इस प्रकार की यातनाएँ भोगनी पडे तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ?

यहाँ आसुओ के टपकने का या इसी प्रकार के जो अन्य कथन है, वे भाव के द्योतक है, जैसे अश्रुपात केवल आन्तरिक पीडा को प्रकट करने के लिए कहा गया है। प्रस्तुत कथन मुख्य रूप से औदारिक शरीरधारियो (मनुष्यो) के लिए है, अतएव उन्हे उनकी भाषा मे—भावना मे समझाना शास्त्रकार ने योग्य समझा होगा।

२९—घेत्तूणबला पलायमाणाण णिरणुकपा मुह विहाडेत्तु लोहदंडेहिं कलकल ण्हं वयणंसि छुभंति केइ जमकाइया हसता। तेण दड्ढा सतो रसंति य भीमाइ विस्सराइ रुवंति य कलुणगाइं पारेयवगा व एव पलविय-विलाव-कलुण-कंदिय-बहुरुण्णरुइयसद्दो परिदेवियरुद्धबद्धय णारयारवसकुलो णीसिट्ठो। रसिय-भणिय कुविय-उक्कूइय-णिरयपाल तज्जिय गिण्हक्कम पहर छिंद भिंद उप्पाडेह उक्खणाहि कत्ताहि विकत्ताहि य भुज्जो हण विहण विच्छुब्भोच्छुब्भ-आकड्ढ-विकड्ढ।

किं ण जपसि ? सराहि पावकम्माइं[1] दुक्कयाइ एव वयणमहप्पगब्भो पडिसुयासद्दसकुलो तासओ सया णिरयगोयराण महाणगरडज्झमाण-सरिसो णिग्घोसो, सुच्चइ अणिट्ठो तहियं णेरइयाण जाइज्जताण जायणाहिं।

२९—कोई-कोई अनुकम्पा-विहीन यमकायिक उपहास करते हुए इधर-उधर भागते हुए उन नारक जीवो को जबर्दस्ती पकड कर और लोहे के डडे से उनका मुख फाड कर उसमे उबलता हुआ शीशा डाल देते है। उबलते शीशे से दग्ध होकर वे नारक भयानक आर्त्तनाद करते है—बुरी तरह चिल्लाते है। वे कबूतर की तरह करुणाजनक आक्रन्दन करते है, खूब रुदन करते है—चीत्कार करते हुए अश्रु बहाते हैं। विलाप करते है। नरकपाल उन्हे रोक लेते हैं, बाध देते हैं। तब नारक आर्त्तनाद करते है, हाहाकार करते है, बडबडाते हैं—शब्द करते हैं, तब नरकपाल कुपित होकर और उच्च ध्वनि से उन्हे धमकाते हैं। कहते है—इसे पकडो, मारो, प्रहार करो, छेद डालो, भेद डालो, इसकी

१ 'पावकम्माण' के आगे "कियाइ" पाठ भी कुछ प्रतियो मे है, जिसका अर्थ—'किये हुए' होता है।

चमडी उधेड दो, नेत्र बाहर निकाल लो, इसे काट डालो, खण्ड-खण्ड कर डालो, हनन करो, फिर से और अधिक हनन करो, इसके मुख मे (गर्मागर्म) शीशा उडेल दो, इसे उठा कर पटक दो या मुख मे और शीशा डाल दो, घसीटो उलटा, घसीटो।

नरकपाल फिर फटकारते हुए कहते है—बोलता क्यो नही ! अपने पापकर्मो को, अपने कुकर्मों को स्मरण कर ! इस प्रकार अत्यन्त कर्कश नरकपालो की ध्वनि की वहाँ प्रतिध्वनि होती है। नारक जीवो के लिए वह ऐसी सदैव त्रासजनक होती है कि जैसे किसी महानगर मे आग लगने पर घोर शब्द—कोलाहल होता है, उसी प्रकार निरन्तर यातनाएँ भोगने वाले नारको का अनिष्ट निर्घोष वहाँ सुना जाता है।

विवेचन—मूल पाठ स्वय विवेचन है। यहाँ भी नारकीय जीवो की घोरातिघोर यातनाओ का शब्द-चित्र अकित किया गया है। कितना भीषण चित्र है ! जब किसी का गला तीव्र प्यास से सूख रहा हो तब उसे उबला हुआ गर्मागर्म शीशा अजलि मे देना और जब वह आर्त्तनाद कर भागे तो जबर्दस्ती लोहमय दड से उसका मुँह फाड कर उसे पिलाना कितना करुण है ! इस व्यथा का क्या पार है ? मगर पूर्वभव मे घोरातिघोर पाप करने वालो—नारको को ऐसी यातना सुदीर्घ काल तक भोगनी पडती है। वस्तुत उनके पूर्वकृत दुष्कर्म ही उनकी इन असाधारण व्यथाओ के प्रधान कारण है।

नारकों की विविध पीड़ाएँ—

३०—किं ते ?

असिवण-दब्भवण-जतपत्थर-सूइतल-क्खार-वावि-कलकलत-वेयरणि-कलब-वालुया-जलियगुह-णिरु भण-उसिणोसिण-कटइल्ल-दुग्गम-रहजोयण-तत्तलोहमग्गगमण-वाहणाणि।

३०—(नारक जीवो की यातनाएँ इतनी ही नही है।) प्रश्न किया गया है—वे यातनाएँ कैसी हैं ?

उत्तर है—नारको को असि-वन मे अर्थात् तलवार की तीक्ष्णधार के समान पत्तो वाले वृक्षो के वन मे चलने को बाध्य किया जाता है, तीखी नोक वाले दर्भ (डाभ) के वन मे चलाया जाता है, उन्हे यन्त्रप्रस्तर—कोल्हू मे डाल कर (तिलो की तरह) पेरा जाता है, सूई की नोक समान अतीव तीक्ष्ण कण्टको के सदृश स्पर्श वाली भूमि पर चलाया जाता है, क्षारवापी—क्षारयुक्त पानी वाली वापिका मे पटक दिया जाता है, उकलते हुए सीसे आदि से भरी वैतरणी नदी मे बहाया जाता है, कदम्बपुष्प के समान—अत्यन्त तप्त—लाल हुई रेत पर चलाया जाता है, जलती हुई गुफा मे बद कर दिया जाता है, उष्णोष्ण अर्थात् अत्यन्त ही उष्ण एव कण्टकाकीर्ण दुर्गम—विषम-ऊबडखाबड मार्ग मे रथ मे (बैलो की तरह) जोत कर चलाया जाता है, लोहमय उष्ण मार्ग मे चलाया जाता है और भारी भार वहन कराया जाता है।

नारको के शस्त्र—

३१—इमेहिं विविहेहिं आउहेहिं—

किं ते ?

मुग्गर-मुसु ढि-करकय-सत्ति-हल-गय-मूसल-चक्क-कोंत-तोमर-सूल-लउड- भिंडिपालसद्धल-पट्टिस- चम्मेट्ठ-दुहण- मुट्ठिय-असि-खेडग- खग्ग-चाव- णाराय- कणग-कप्पिणि- वासि- परसु- टक-तिक्ख-णिम्मल-अण्णेहि य एवमाइएहिं असुभेहिं वेउव्विएहिं पहरणसएहिं अणुबद्धतिव्ववेरा परोप्परवेयण उदीरेंति अभिहणंता ।

तत्थ य मोग्गर-पहारचुण्णिय-मुसु ढि-सभग्ग-महियदेहा जंतोवपीलणफुरतकप्पिया केइत्थ सचम्मका विगत्ता णिम्मूलुल्लूणकण्णोट्ठणासिका छिण्णहत्थपाया. असि-करकय-तिक्ख-कोंत-परसुप्प-हारफालिय-वासीसतच्छितगमगा कलकलमाण-खार-परिसित्त-गाढडज्झतगत्ता कु तग्ग-भिण्ण-जज्जरिय-सव्वदेहा विलोलति महीतले विसूणियगमगा ।

३१—(नारको मे परस्पर मे तीव्र वैरभाव बँधा रहता है, अर्थात् नरकभव के स्वभाव से ही नारक आपस मे एक-दूसरे के प्रति उग्र वैरभाव वाले होते है । अतएव) वे अशुभ विक्रियालब्धि से निर्मित सैकडो शस्त्रो से परस्पर—एक-दूसरे को वेदना उत्पन्न—उदीरित करते है ।

शिष्य ने प्रश्न किया—वे विविध प्रकार के आयुध—शस्त्र कौन-से हैं ?

गुरु ने उत्तर दिया—वे शस्त्र ये हैं—मुद्‌गर, मुसु ढि, करवत, शक्ति, हल, गदा, मूसल, चक्र, कुन्त (भाला), तोमर (बाण का एक प्रकार), शूल,' लकुट (लाठी), भिंडिमाल (पाल), सद्धल (एक विशेष प्रकार का भाला), पट्टिस—पट्टिश—शस्त्रविशेप, चम्मेट्ठ (चमडे से मढा पाषाणविशेष—गोफण) द्रु घण—वृक्षो को भी गिरा देने वाला शस्त्रविशेष, मौष्टिक—मुष्टिप्रमाण पापाण, असि—तलवार अथवा असिखेटक—तलवार सहित फलक, खड्ग, चाप—धनुष, नाराच—बाण, कनक—एक प्रकार का बाण, कप्पिणी—कर्त्तिका—कैंची, वसूला—लकडी छीलने का औजार, परशु—फरसा और टक—छेनी । ये सभी अस्त्र-शस्त्र तीक्ष्ण और निर्मल—शाण पर चढे जैसे चमकदार होते है । इनसे तथा इसी प्रकार के अन्य शस्त्रो से भी (नारक परस्पर एक-दूसरे को) वेदना की उदीरणा करते है ।

नरको मे मुद्‌गर के प्रहारो से नारको का शरीर चूर-चूर कर दिया जाता है, मुसु ढी से सभिन्न कर दिया जाता है, मथ दिया जाता है, कोल्हू आदि यत्रो से पेरने के कारण फडफडाते हुए उनके शरीर के टुकडे-टुकडे कर दिए जाते है । कइयो को चमडी सहित विकृत कर दिया जाता है, कान ओठ नाक और हाथ-पैर समूल काट लिए जाते हैं, तलवार, करवत, तीखे भाले एव फरसे से फाड दिये जाते हैं, वसूला से छीला जाता है, उनके शरीर पर उबलता खारा जल सीचा जाता है, जिससे शरीर जल जाता है, फिर भालो की नोक से उसके टुकडे-टुकडे कर दिए जाते है, इस इस प्रकार उनके समग्र शरीर को जर्जरित कर दिया जाता है । उनका शरीर सूज जाता है और वे पृथ्वी पर लोटने लगते हैं ।

विवेचन—नरकभूमियो मे मुख्यत तीन प्रकार से घोर वेदना होती है—१ क्षेत्रजनित वेदना, २ नरकपालो द्वारा पहुँचाई जाने वाली वेदना और ३ परस्पर नारको द्वारा उत्पन्न की हुई वेदना । क्षेत्रजनित वेदना नरकभूमियो के निमित्त से होती है, जैसे अतिशय उष्णता और अतिशय शीतलता आदि । इस प्रकार की वेदना का उल्लेख पहले किया जा चुका है । (देखिए सूत्र २३) । वास्तव मे नरकभूमियो मे होने वाला शीत और उष्णता का भयानकतम दु ख कहा नही जा सकता । ऊपर की भूमियो मे उष्णता का दु ख है तो नीचे की भूमियो मे शीत का वचनातीत दु ख है । उष्णता वाली नरकभूमियो को धधकते लाल-लाल अंगारो की उपमा या अतिशय प्रदीप्त—जाज्वल्यमान पृथ्वी

की उपमा दी गई है। यह उपमा मात्र समझाने के लिए है। वहाँ की उष्णता तो इनसे अनेकानेक-गुणित है। वहाँ की गर्मी इतनी तीव्रतम होती है कि मेरु के बराबर का लोहपिण्ड भी उसमे गल सकता है।

जिन नरकभूमियो मे शीत है, वहाँ की शीतलता भी असाधारण है। शीतप्रधान नरकभूमि मे से यदि किसी नारक को लाकर यहाँ बर्फ पर लिटा दिया जाए, ऊपर से बर्फ ढक दिया जाए और पार्श्वभागो मे भी बर्फ रख दिया जाए तो उसे बहुत राहत का अनुभव होगा। वह ऐसी विश्रान्ति का अनुभव करेगा कि उसे निद्रा आ जाएगी। इससे वहाँ की शीतलता की थोडी-बहुत कल्पना की जा सकती है।

इसी प्रकार की क्षेत्रजनित अन्य वेदनाएँ भी वहाँ असामान्य है, जिनका उल्लेख पूर्व मे किया गया है।

परमाधार्मिक देवो द्वारा दिये जाने वाले घोर कष्टो का कथन भी किया जा चुका है। ज्यो ही कोई पापी जीव नरक मे उत्पन्न होता है, ये असुर उसे नाना प्रकार की यातनाएँ देने के लिए सन्नद्ध हो जाते है और जब तक नारक जीव अपनी लम्बी आयु पूरी नही कर लेता तब तक वे निरन्तर उसे सताते ही रहते है। किन्तु परमाधामियो द्वारा दी जाने वाली वेदना तीसरे नरक तक ही होती है, क्योकि ये तीसरे नरक से आगे नही जाते। चौथे, पाँचवें, छठे और सातवे नरक मे दो निमित्तो से ही वेदना होती है—भूमिजनित और परस्परजनित। प्रस्तुत सूत्र मे परस्परजनित वेदना का उल्लेख किया गया है।

नारको को भव के निमित्त से वैक्रियलब्धि प्राप्त होती है। किन्तु वह लब्धि स्वय उनके लिए और साथ ही अन्य नारको के लिए यातना का कारण बनती है। वैक्रियलब्धि से दु खो से बचने के लिए वे जो शरीर निर्मित करते हैं, उससे उन्हे अधिक दु ख की ही प्राप्ति होती है। भला सोचते है, पर बुरा होता है। इसके अतिरिक्त जैसे यहाँ श्वान एक-दूसरे को सहन नही करता एक दूसरे को देखते ही घुर्राता है, झपटता है, आक्रमण करता है, काटता-नोचता है, उसी प्रकार नारक एक दूसरे को देखते ही उस पर आक्रमण करते है, विविध प्रकार के शस्त्रो से—जो वैक्रियशक्ति से बने होते हैं—हमला करते है। शरीर का छेदन-भेदन करते है। अगोपागो को काट डालते है। इतना त्रास देते हैं जो हमारी कल्पना से भी बाहर है। यह वेदना सभी नरकभूमियो मे भोगनी पडती है।

नरको का वर्णन जानने के लिए जिज्ञासु जनो को सूत्रकृतागसूत्र[1] के प्रथमश्रुत का 'नरक-विभक्ति' नामक पचम अध्ययन भी देखना चाहिए।

३२—तत्थ य विग-सुणग-सियाल-काक-मज्जार-सरभ-दीविय-वियग्घग-सद्दूल-सीह-दप्पिय-खुहाभिभूएहिं णिच्चकालमणसिएहिं घोरा रसमाण-भीमरूवेहिं अक्कमित्ता दढदाढागाढ-डक्क-कड्ढिय-सुतिक्ख-णह-फालिय-उद्धदेहा विच्छिप्पते समतओ विमुक्कसधिबधणा वियगियगमगा कक-कुरर-गिद्ध-घोर-कट्ठवायसगणेहि य पुणो खरथिरदढणक्ख-लोहतु डेहिं उवइत्ता पक्खाहय-तिक्ख-णक्ख-विक्किण्ण-जिब्भछिय-णयणणिद्दओलुग्गविगय-वयणा उक्कोसता य उप्पयता णिपयता भमता।

३२—नरक मे दर्पयुक्त—मदोन्मन्त, मानो सदा काल से भूख से पीडित, जिन्हें कभी भोजन न मिला हो, भयावह, घोर गर्जना करते हुए, भयकर रूप वाले भेडिया, शिकारी कुत्ते, गीदड, कौवे,

१—आगम प्रकाशन समिति ब्यावर द्वारा प्रकाशित सूत्रकृताग प्रथम भाग, पृ २८६ से ३१४

बिलाव, अष्टापद, चीते, व्याघ्र, केसरी सिंह और सिंह नारको पर आक्रमण कर देते है, अपनी मजबूत दाढो से नारको के शरीर को काटते है, खीचते है, अत्यन्त पैने नोकदार नाखूनो से फाडते है और फिर इधर-उधर चारो ओर फेंक देते है। उनके शरीर के बन्धन ढीले पड जाते हैं। उनके अगोपाग विकृत और पृथक् हो जाते है। तत्पश्चात् दृढ एव तीक्ष्ण दाढो, नखो और लोहे के समान नुकीली चोच वाले कक, कुरर और गिद्ध आदि पक्षी तथा घोर कष्ट देने वाले काक पक्षियो के झुड कठोर, दृढ तथा स्थिर लोहमय चोचो से (उन नारको के ऊपर) झपट पडते है। उन्हे अपने पखो से आघात पहुँचाते है। तीखे नाखूनो से उनकी जीभ बाहर खीच लेते है और आँखे बाहर निकाल लेते है। निर्दयतापूर्वक उनके मुख को विकृत कर देते है। इस प्रकार की यातना से पीडित वे नारक जीव रुदन करते हैं, कभी ऊपर उछलते हैं और फिर नीचे आ गिरते है, चक्कर काटते है।

विवेचन—वस्तुत नरक मे भेडिया, बिलाव, सिंह, व्याघ्र आदि तिर्यँच चतुष्पद नही होते, किन्तु नरकपाल ही नारको को त्रास देने के लिए अपनी विक्रियाशक्ति से भेडिया आदि का रूप बना लेते है। नारको की इस करुणाजनक पीडा पर अधिक विवेचन की आवश्यकता नही है। इन भयानक से भयानक यातनाओ का शास्त्रकार ने स्वय वर्णन किया है। इसका एक मात्र प्रयोजन यही है कि मनुष्य-हिंसा रूप दुष्कर्म से बचे और उसके फलस्वरूप होने वाली यातनाओ का भाजन न बने। ज्ञानी महापुरुषो की यह अपार करुणा ही समझना चाहिए कि उन्होने जगत् के जीवो को सावधान किया है। शास्त्रकारो का हिंसको के प्रति जैसा करुणाभाव है, उसी प्रकार हिंस्य जीवो के प्रति भी है। फिर भी जिनका विवेक सर्वथा लुप्त है, जो मिथ्याज्ञान अथवा अज्ञान के घोरतर अन्धकार मे विचरण कर रहे हैं, वे अपनी रसलोलुपता की क्षणिक पूर्ति के लिए अथवा देवी-देवताओ को प्रसन्न करने की कल्पना से प्रेरित होकर या पशुबलि से स्वर्ग—सुगति की प्राप्ति का मिथ्या मनोरथ पूर्ण करने के लिए हिंसा मे प्रवृत्त होते हैं।

नारको की मरने के बाद की गति—

३३—पुव्वकम्मोदयोवगया, पच्छाणुसएण डज्झमाणा णिदंता पुरेकडाइ कम्माइ पावगाइ तहिं तहिं तारिसाणि ओसण्णचिक्कणाइ दुक्खाइ अणुभवित्ता तओ य आउक्खएण उव्वट्टिया समाणा बहवे गच्छंति तिरियवसहिं दुक्खुत्तर सुदारुण जम्मणमरण-जरावाहिपरियट्टणारहट्ट जल-थल-खहयर-परोप्पर-विहिंसण-पवच इमं च जगपागड वरागा दुक्खं पावेंति दीहकाल।

३३—पूर्वोपार्जित पाप कर्मों के अधीन हुए, पश्चात्ताप (की आग) से जलते हुए, अमुक-अमुक स्थानो मे, उस-उस प्रकार के पूर्वकृत कर्मों की निन्दा करके, अत्यन्त चिकने—बहुत कठिनाई से छूट सकने वाले—निकाचित दु खो को भुगत कर, तत्पश्चात् आयु (नारकीय आयु) का क्षय होने पर नरकभूमियो मे से निकल कर बहुत-से जीव तिर्यँचयोनि मे उत्पन्न होते हैं। (किन्तु उनकी वह तिर्यंच योनि भी) अतिशय दु खो से परिपूर्ण होती है अथवा अत्यन्त कठिनाई से पूरी की जाने वाली होती है, दारुण कष्टो वाली होती है, जन्म-मरण-जरा-व्याधि का अरहट उसमे घूमता रहता है। उसमे जलचर, स्थलचर और नभश्चर के पारस्परिक घात-प्रत्याघात का प्रपच या दुष्चक्र चलता रहता है। तिर्यँचगति के दु ख जगत् मे प्रकट—प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। नरक से किसी भी भाँति निकले और तिर्यँचयोनि मे जन्मे वे पापी जीव बेचारे दीर्घ काल तक दु खो को प्राप्त करते है।

विवेचन—जैनसिद्धान्त के अनुसार नारक जीव नरकायु के पूर्ण होने पर ही नरक से

निकलते है। उनका मरण 'उद्वर्त्तन' कहलाता है। पूर्व मे वतलाया जा चुका है कि नारको का आयुष्य निरुपक्रम होता है। विष, शस्त्र आदि के प्रयोग से भी वह बीच मे समाप्त नही होता, अर्थात् उनकी अकालमृत्यु नही होती। अतएव मूल पाठ मे 'आउक्खएण' पद का प्रयोग किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि जब नरक का आयुष्य पूर्ण रूप से भोग कर क्षीण कर दिया जाता है, तभी नारक नरकयोनि से छुटकारा पाता है।

मानव किसी कषाय आदि के आवेश से जब आविष्ट होता है तब उसमे एक प्रकार का उन्माद जागृत होता है। उन्माद के कारण उसका हिताहितसम्वन्धी विवेक लुप्त हो जाता है। वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के भान को भूल जाता है। उसे यह विचार नही आता कि मेरी इस प्रवृत्ति का भविष्य मे क्या परिणाम होगा ? वह आविष्ट अवस्था मे अकरणीय कार्य कर वैठता है और जब तक उसका आवेश कायम रहता है तब तक वह अपने उस दुष्कर्म के लिए गौरव अनुभव करता है, अपनी सराहना भी करता है। किन्तु उसके दुष्कर्म के कारण और उसके प्रेरक आन्तरिक दुर्भाव के कारण प्रगाढ—चिकने—निकाचित कर्मों का बन्ध होता है। बन्धे हुए कर्म जब अपना फल प्रदान करने के उन्मुख होते है—अबाधा काल पूर्ण होने पर फल देना प्रारम्भ करते हैं तो भयकर से भयकर यातनाएँ उसे भोगनी पडती है। उन यातनाओ का शब्दो द्वारा वर्णन होना असभव है, तथापि जितना सभव है उतना वर्णन शास्त्रकार ने किया है। वास्तव मे तो उस वर्णन को 'नारकीय यातनाओ का दिग्दर्शन' मात्र ही समझना चाहिए।

स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक नारक जीव को भव-प्रत्यय अर्थात् नारक भव के निमित्त से उत्पन्न होने वाला अवधिज्ञान होता है। उस अवधिज्ञान से नारक अपने पूर्वभव मे किए घोर पापो के लिए पश्चात्ताप करते हैं। किन्तु उस पश्चात्ताप से भी उनका छुटकारा नही होता। हाँ, नारको मे यदि कोई सम्यग्दृष्टि जीव हो तो वह वस्तुस्वरूप का विचार करके—कर्मफल की अनिवार्यता समझ कर नारकीय यातनाएँ समभाव से सहन करता है और अपने समभाव के कारण दु खानुभूति को किंचित् हल्का बना सकता है। मगर मिथ्यादृष्टि तो दु खो की आग के साथ-साथ पश्चात्ताप की आग मे भी जलते रहते है। अतएव मूलपाठ मे 'पच्छाणुसएण डज्झमाणा' पदो का प्रयोग किया गया है।

नारक जीव पुन तदनन्तर भव मे नरक मे उत्पन्न नही होता। (देवगति मे भी उत्पन्न नही होता,) वह तिर्यंच अथवा मनुष्य गति मे ही जन्म लेता है। अतएव कहा गया है—'बहवे गच्छंति तिरियवसहिं' अर्थात् बहुत-से जीव नरक से निकल कर तिर्यंचवसति मे जन्म लेते है।

तिर्यंचयोनि, नरकयोनि के समान एकान्त दु खमय नही है। उसमे दु खो की बहुलता के साथ किंचित् सुख भी होता है। कोई-कोई तिर्यंच तो पर्याप्त सुख की मात्रा का अनुभव करते हैं, जैसे राजा-महाराजाओ के हस्ती, अश्व अथवा समृद्ध जनो द्वारा पाले हुए कुत्ता आदि।

नरक से निकले हुए और तिर्यंचगति मे जन्मे हुए घोर पापियो को सुख-सुविधापूर्ण तिर्यंच-गति की प्राप्ति नही होती। पूर्वकृत कर्म वहाँ भी उन्हे चैन नही लेने देते। तिर्यंच होकर भी वे अतिशय दु खो के भाजन बनते है। उन्हे जन्म, जरा, मरण, आधि-व्याधि के चक्कर मे पडना पडता है।

तिर्यंच प्राणी भी परस्पर मे आघात—प्रत्याघात किया करते है। चूहे को देखते ही विल्ली उस पर झपटती है, बिल्ली को देख कर कुत्ता हमला करता है, कुत्ते पर उससे अधिक बलवान् सिंह आदि

आक्रमण करते है। मयूर सर्प को मार डालता है। इस प्रकार अनेक तिर्यंचो मे जन्मजात वैरभाव होता है। नारक जीव नरक से निकल कर दुःखमय तिर्यंचयोनि मे जन्म लेते है। वहाँ उन्हे विविध प्रकार के दुःख भोगने पडते है।

तिर्यंचयोनि के दुःख—

३४—किं ते ?

सीउण्ह-तण्हा- खुह-वेयण-अप्पईकार- अडवि- जम्मणणिच्च- भउव्विग्गवास- जग्गण-वह-बंधण-ताडण-अंकण - णिवायण- अट्ठिभंजण-णासाभेय- प्पहारदूमण- छविच्छेयण-अभिओग- पावण-कसकुसार-णिवाय-दमणाणि-वाहणाणि य।

३४—प्रश्न—वे तिर्यंचयोनि के दुःख कौन-से है ?

उत्तर—शीत—सर्दी, उष्ण—गर्मी, तृषा—प्यास, क्षुधा—भूख, वेदना का अप्रतीकार, अटवी—जगल मे जन्म लेना, निरन्तर भय से घबडाते रहना, जागरण, वध—मारपीट सहना, बन्धन—बाधा जाना, ताडन, दागना—लोहे की शलाका, चीमटा आदि को गर्म करके निशान बनाना—डामना, गड्हे आदि मे गिराना, हड्डियाँ तोड देना, नाक छेदना, चाबुक, लकडी आदि के प्रहार सहन करना, सताप सहना, छविच्छेदन—अगोपागो को काट देना, जबर्दस्ती भारवहन आदि कामो मे लगना, कोडा—चाबुक, अकुश एव आर—डडे के अग्र भाग मे लगी हुई नोकदार कील आदि से दमन किया जाना, भार वहन करना आदि-आदि।

विवेचन—शास्त्रकार पूर्व ही उल्लेख कर चुके है कि तिर्यंचगति के कष्ट जगत् मे प्रकट है, प्रत्यक्ष देखे-जाने जा सकते है। प्रस्तुत सूत्र मे उल्लिखित दुःख प्राय इसी कोटि के है। ये दुःख पचेन्द्रिय तिर्यंचो सम्बन्धी है। तिर्यंचो मे कोई पचेन्द्रिय होते है, कोई चार, तीन, दो या एक इन्द्रिय वाले होते है। चतुरिन्द्रिय आदि के दुःखो का वर्णन आगे किया जाएगा।

मनुष्य सर्दी-गर्मी से अपना बचाव करने के लिए अनेकानेक उपायो का आश्रय लेते है। सर्दी से बचने के लिए अग्नि का, बिजली के चूल्हे आदि का, गर्म—ऊनी या मोटे वस्त्रो का, रुईदार रजाई आदि का, मकान आदि का उपयोग करते है। गर्मी से बचाव के लिए भी उनके पास अनेक साधन हैं और वातानुकूलित भवन आदि भी बनने लगे हैं। किन्तु पशु-पक्षियो के पास इनमे से कौन-से साधन है ? बेचारे विवश होकर सर्दी-गर्मी सहन करते हैं।

भूख-प्यास की पीडा होने पर वे उसे असहाय होकर सहते है। अन्न-पानी माग नही सकते। जब बैल बेकाम हो जाता है, गाय-भैस दूध नही देती, तब अनेक मनुष्य उन्हे घर से छुट्टी दे देते है। वे गलियो मे भूखे-प्यासे आवारा फिरते है। कभी-कभी पापी हिंसक उन्हे पकड कर कत्ल करके उनके मास एव अस्थियो को बेच देते हैं।

कतिपय पालतू पशुओ को छोड कर तिर्यंचो की वेदना का प्रतीकार करने वाला कौन है ? कौन जगल मे जाकर पशु-पक्षियो के रोगो की चिकित्सा करता है ?

तिर्यंचो मे जो जन्म-जात वैर वाले है, उन्हे परस्पर एक-दूसरे से निरन्तर भय रहता है, शशक, हिरण आदि शिकारियो के भय से ग्रस्त रहते है और पक्षी व्याधो—बहेलियो के डर से घबराते हैं। इसी प्रकार अत्राण—अशरण एव साधनहीन होने के कारण सभी पशु-पक्षी निरन्तर भय-त्रस्त बने रहते हैं।

निकलते है । उनका मरण 'उद्वर्त्तन' कहलाता है । पूर्व मे बतलाया जा चुका है कि नारको का आयुष्य निरुपक्रम होता है । विष, शस्त्र आदि के प्रयोग से भी वह बीच मे समाप्त नही होता, अर्थात् उनकी अकालमृत्यु नही होती । अतएव मूल पाठ मे 'आउक्खएण' पद का प्रयोग किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि जब नरक का आयुष्य पूर्ण रूप से भोग कर क्षीण कर दिया जाता है, तभी नारक नरकयोनि से छुटकारा पाता है ।

मानव किसी कषाय आदि के आवेश से जब आविष्ट होता है तब उसमे एक प्रकार का उन्माद जागृत होता है । उन्माद के कारण उसका हिताहितसम्बन्धी विवेक लुप्त हो जाता है । वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के भान को भूल जाता है । उसे यह विचार नही आता कि मेरी इस प्रवृत्ति का भविष्य मे क्या परिणाम होगा ? वह आविष्ट अवस्था मे अकरणीय कार्य कर बैठता है और जब तक उसका आवेश कायम रहता है तब तक वह अपने उस दुष्कर्म के लिए गौरव अनुभव करता है, अपनी सराहना भी करता है । किन्तु उसके दुष्कर्म के कारण और उसके प्रेरक आन्तरिक दुर्भाव के कारण प्रगाढ—चिकने—निकाचित कर्मों का बन्ध होता है । बन्धे हुए कर्म जब अपना फल प्रदान करने के उन्मुख होते है—अबाधा काल पूर्ण होने पर फल देना प्रारम्भ करते है तो भयकर से भयकर यातनाएँ उसे भोगनी पडती है । उन यातनाओ का शब्दो द्वारा वर्णन होना असभव है, तथापि जितना सभव है उतना वर्णन शास्त्रकार ने किया है । वास्तव मे तो उस वर्णन को 'नारकीय यातनाओ का दिग्दर्शन' मात्र ही समझना चाहिए ।

स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक नारक जीव को भव-प्रत्यय अर्थात् नारक भव के निमित्त से उत्पन्न होने वाला अवधिज्ञान होता है । उस अवधिज्ञान से नारक अपने पूर्वभव मे किए घोर पापो के लिए पश्चात्ताप करते हैं । किन्तु उस पश्चात्ताप से भी उनका छुटकारा नही होता । हाँ, नारको मे यदि कोई सम्यग्दृष्टि जीव हो तो वह वस्तुस्वरूप का विचार करके—कर्मफल की अनिवार्यता समझ कर नारकीय यातनाएँ समभाव से सहन करता है और अपने समभाव के कारण दु.खानुभूति को किंचित् हल्का बना सकता है । मगर मिथ्यादृष्टि तो दु खो की आग के साथ-साथ पश्चात्ताप की आग मे भी जलते रहते है । अतएव मूलपाठ मे 'पच्छाणुसएण डज्झमाणा' पदो का प्रयोग किया गया है ।

नारक जीव पुन तदनन्तर भव मे नरक मे उत्पन्न नही होता । (देवगति मे भी उत्पन्न नही होता,) वह तिर्यंच अथवा मनुष्य गति मे ही जन्म लेता है । अतएव कहा गया है—'बहवे गच्छंति तिरियवसहिं' अर्थात् बहुत-से जीव नरक से निकल कर तिर्यंचवसति मे जन्म लेते हैं ।

तिर्यंचयोनि, नरकयोनि के समान एकान्त दु खमय नही है । उसमे दु खो की बहुलता के साथ किंचित् सुख भी होता है । कोई-कोई तिर्यंच तो पर्याप्त सुख की मात्रा का अनुभव करते हैं, जैसे राजा-महाराजाओ के हस्ती, अश्व अथवा समृद्ध जनो द्वारा पाले हुए कुत्ता आदि ।

नरक से निकले हुए और तिर्यंचगति मे जन्मे हुए घोर पापियो को सुख-सुविधापूर्ण तिर्यंचगति की प्राप्ति नही होती । पूर्वकृत कर्म वहाँ भी उन्हे चैन नही लेने देते । तिर्यंच होकर भी वे अतिशय दु खो के भाजन बनते है । उन्हे जन्म, जरा, मरण, आधि-व्याधि के चक्कर मे पडना पडता है ।

तिर्यंच प्राणी भी परस्पर मे आघात—प्रत्याघात किया करते है । चूहे को देखते ही बिल्ली उस पर झपटती है, बिल्ली को देख कर कुत्ता हमला करता है, कुत्ते पर उससे अधिक बलवान् सिंह आदि

आक्रमण करते है। मयूर सर्प को मार डालता है। इस प्रकार अनेक तिर्यंचो मे जन्मजात वैरभाव होता है। नारक जीव नरक से निकल कर दु खमय तिर्यंचयोनि मे जन्म लेते है। वहाँ उन्हे विविध प्रकार के दु ख भोगने पडते है।

तिर्यंचयोनि के दुःख—

३४—किं ते ?

सीउण्ह-तण्हा- खुह-वेयण-अप्पईकार- अडवि- जम्मणणिच्च- भउव्विग्गवास- जग्गण-वह-बधण-ताडण-अकण - णिवायण- अट्ठिभजण-णासाभेय- प्पहारदूमण- छविच्छेयण-अभिओग- पावण-कसकुसार-णिवाय-दमणाणि-वाहणाणि य।

३४—प्रश्न—वे तिर्यंचयोनि के दु ख कौन-से हैं ?

उत्तर—शीत—सर्दी, उष्ण—गर्मी, तृषा—प्यास, क्षुधा—भूख, वेदना का अप्रतीकार, अटवी—जगल मे जन्म लेना, निरन्तर भय से घबडाते रहना, जागरण, वध—मारपीट सहना, बन्धन—बाधा जाना, ताडन, दागना—लोहे की शलाका, चीमटा आदि को गर्म करके निशान बनाना—डामना, गड्हे आदि मे गिराना, हड्डियाँ तोड देना, नाक छेदना, चावुक, लकडी आदि के प्रहार सहन करना, सताप सहना, छविच्छेदन—अगोपागो को काट देना, जबर्दस्ती भारवहन आदि कामो मे लगना, कोडा—चावुक, अकुश एव आर—डडे के अग्र भाग मे लगी हुई नोकदार कील आदि से दमन किया जाना, भार वहन करना आदि-आदि।

विवेचन—शास्त्रकार पूर्व ही उल्लेख कर चुके है कि तिर्यंचगति के कष्ट जगत् मे प्रकट है, प्रत्यक्ष देखे-जाने जा सकते है। प्रस्तुत सूत्र मे उल्लिखित दु ख प्राय इसी कोटि के है। ये दु ख पचेन्द्रिय तिर्यंचो सम्बन्धी हैं। तिर्यंचो मे कोई पचेन्द्रिय होते हैं, कोई चार, तीन, दो या एक इन्द्रिय वाले होते है। चतुरिन्द्रिय आदि के दु खो का वर्णन आगे किया जाएगा।

मनुष्य सर्दी-गर्मी से अपना बचाव करने के लिए अनेकानेक उपायो का आश्रय लेते हैं। सर्दी से बचने के लिए अग्नि का, बिजली के चूल्हे आदि का, गर्म—ऊनी या मोटे वस्त्रो का, रुईदार रजाई आदि का, मकान आदि का उपयोग करते हैं। गर्मी से बचाव के लिए भी उनके पास अनेक साधन है और वातानुकूलित भवन आदि भी बनने लगे हैं। किन्तु पशु-पक्षियो के पास इनमे से कौन-से साधन है ? बेचारे विवश होकर सर्दी-गर्मी सहन करते हैं।

भूख-प्यास की पीडा होने पर वे उसे असहाय होकर सहते है। अन्न-पानी माग नही सकते। जब वैल बेकाम हो जाता है, गाय-भैस दूध नही देती, तब अनेक मनुष्य उन्हे घर से छुट्टी दे देते हैं। वे गलियो मे भूखे-प्यासे आवारा फिरते है। कभी-कभी पापी हिंसक उन्हे पकड कर कत्ल करके उनके मास एव अस्थियो को वेच देते हैं।

कतिपय पालतू पशुओ को छोड कर तिर्यंचो की वेदना का प्रतीकार करने वाला कौन है ! कौन जगल मे जाकर पशु-पक्षियो के रोगो की चिकित्सा करता है !

तिर्यंचो मे जो जन्म-जात वैर वाले हैं, उन्हे परस्पर एक-दूसरे से निरन्तर भय रहता है, शशक, हिरण आदि शिकारियो के भय से ग्रस्त रहते है और पक्षी व्याधो—बहेलियो के डर से घबराते है। इसी प्रकार अत्राण—अशरण एव साधनहीन होने के कारण सभी पशु-पक्षी निरन्तर भय-ग्रस्त बने रहते है।

इसी प्रकार अन्य पीडाएँ भी उन्हे चुपचाप सहनी पडती है। मारना, पीटना, दागना, भार वहन करना, वध—बन्धन किया जाना आदि-आदि अपार यातनाएँ है जो नरक से निकले और तिर्यंच पचेन्द्रिय पर्याय मे जन्मे पापी प्राणियो को निरन्तर भोगनी पडती है।

कुछ मासभक्षी और नरकगति के अतिथि बनने की सामग्री जुटाने वाले मिथ्यादृष्टि पापी जीव पशु-पक्षियो का अत्यन्त निर्दयतापूर्वक वध करते हैं। बेचारे पशु तडपते हुए प्राणो का परित्याग करते है। कुछ अधम मनुष्य तो मास-विक्रय का धधा ही चलाते है। इस प्रकार तिर्यंचो की वेदना भी अत्यन्त दुस्सह होती है।

३४—मायापिइ-विप्पओग-सोय-परिपीलणाणि य सत्थग्गि-विसाभिघाय-गल-गवलावलण-मारणाणि य गलजालुच्छिप्पणाणि य पउलण-विकप्पणाणि य जावज्जीविगबंधणाणि य, पंजरणिरोहणाणि य सयूहणिग्घाडणाणि य धमणाणि य दोहणाणि य कुदंडगलबंधणाणि य वाडगपरिवारणाणि य पंकजलणिमज्जणाणि य वारिप्पवेसणाणि य ओवायणिभंग-विसमणिवडणदवग्गिजालदहणाइं य।

३५—(पूर्वोक्त दु खो के अतिरिक्त तिर्यंचगति मे) इन दु खो को भी सहन करना पडता है—

माता-पिता का वियोग, शोक से अत्यन्त पीडित होना या श्रोत—नासिका आदि श्रोतो—नथुनो आदि के छेदन से पीडित होना, शस्त्रो से, अग्नि से और विष से आघात पहुँचना, गर्दन—गले एव सीगो का मोडा जाना, मारा जाना, मछली आदि को गल-काँटे मे या जाल मे फँसा कर जल से बाहर निकालना, पकाना, काटा जाना, जीवन पर्यन्त बन्धन मे रहना, पीजरे मे बन्द रहना, अपने समूह—टोले से पृथक् किया जाना, भैस आदि को फूका लगाना अर्थात् ऊपर मे वायु भर देना और फिर उसे दुहना—जिससे दूध अधिक निकले, गले मे डडा बाँध देना, जिससे वह भाग न सके, वाडे मे घेर कर रखना, कीचड-भरे पानी मे डुबोना, जल मे घुसेडना, गडहे मे गिरने से अग-भग हो जाना, पहाड के विषम—ऊँचे-नीचे-ऊबडखाबड मार्ग मे गिर पडना, दावानल की ज्वालाओ मे जलना या जल मरना, आदि-आदि कष्टो से परिपूर्ण तिर्यंचगति मे हिंसाकारी पापी नरक से निकल कर उत्पन्न होते है।

३६—एय ते दुक्ख-सय-संपलित्ता णरगाओ आगया इहं सावसेसकम्मा तिरिक्ख-पचिंदिएसु पाविंति पावकारी कम्माणि पमाय-राग-दोस-बहुसचियाइ अईव अस्साय-कक्कसाइ।

३६—इस प्रकार वे हिंसा का पाप करने वाले पापी जीव सैकडो पीडाओ से पीडित होकर, नरकगति से आए हुए, प्रमाद, राग और द्वेष के कारण बहुत सचित किए और भोगने से शेष रहे कर्मो के उदयवाले अत्यन्त कर्कश असाता को उत्पन्न करने वाले कर्मों से उत्पन्न दु खो के भाजन बनते हैं।

विवेचन—पचेन्द्रिय तिर्यंचो को होने वाली यातनाओ का उल्लेख करने के पश्चात् प्रस्तुत सूत्र मे नारकीय जीवो की तिर्यंचगति मे उत्पत्ति के कारण का निर्देश किया गया है।

नारको की आयु यद्यपि मनुष्यो और तिर्यंचो से बहुत अधिक लम्बी होती है, तथापि वह अधिक से अधिक तेतीस सागरोपम प्रमाण है। आयुकर्म के सिवाय शेष सातो कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति कोटाकोटी सागरोपमो की बतलाई गई है, अर्थात् आयुकर्म की स्थिति से करोडो-करोडो गुणा अधिक है। तेतीस सागरोपम की आयु भी सभी नारको की नही होती। सातवी नरकभूमि मे उत्पन्न हुए

नारको की ही होती है और उनमे भी सब की नही—किन्ही-किन्ही की । ऐसी स्थिति मे जिन घोर पाप करने वालो का नरक मे उत्पाद होता है, वे वहाँ की तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम यातनाएँ निरन्तर भोग कर बहुतेरे पाप-कर्मों की निर्जरा तो कर लेते है, फिर भी समस्त पापकर्मों की निर्जरा हो ही जाए, यह सभव नही है । पापकर्मों का दुष्फल भोगते-भोगते भी कुछ कर्मो का फल भोगना शेप रह जाता है । यही तथ्य प्रकट करने के लिए शास्त्रकार ने 'सावसेसकम्मा' पद का प्रयोग किया है । जिन कर्मो का भोग शेष रह जाता है, उन्हे भोगने के लिए जीव नरक से निकल कर तिर्यचगति मे जन्म लेता है ।

इतनी घोरातिघोर यातनाएँ सहन करने के पश्चात् भी कर्म अवशिष्ट क्यो रह जाते हैं ? इस प्रश्न का एक प्रकार से समाधान ऊपर किया गया है । दूसरा समाधान मूलपाठ मे ही विद्यमान है । वह है—**'पमाय-राग-दोस बहुसचियाइ'** अर्थात् घोर प्रमाद, राग और द्वेष के कारण पापकर्मो का बहुत सचय किया गया था । इस प्रकार सचित कर्म जब अधिक होते है और उनकी स्थिति भी आयुकर्म की स्थिति से अत्यधिक होती है तब उसे भोगने के लिए पापी जीवो को तिर्यंचयोनि मे उत्पन्न होना पडता है । जो नारक जीव नरक से निकल कर तिर्यंचो मे उत्पन्न होते है, वे पचेन्द्रियो मे उत्पन्न होते हैं । अतएव यहाँ पचेन्द्रिय जीवो—तिर्यंचो के दु ख का वर्णन किया गया है । किन्तु पचेन्द्रिय तिर्यंच मरकर फिर चतुरिन्द्रिय आदि तिर्यंचो मे भी उत्पन्न हो सकता है और बहुत-से हिंसक जीव उत्पन्न होते भी है, अतएव आगे चतुरिन्द्रिय आदि तिर्यंचो के दु खो का भी वर्णन किया जाएगा ।

चतुरिन्द्रिय जीवो के दुःख—

३७—भमर-मसग-मच्छिमाइएसु य जाइकुलकोडि-सयसहस्सेहिं णवहिं चउरिंदियाण तहिं तहिं चेव जम्मणमरणाणि अणुहवता काल सखिज्ज भमति णेरइयसमाणतिव्वदुक्खा फरिसरसण-घाण-चक्खु-सहिया ।

३७—चार इन्द्रियो वाले भ्रमर, मशक—मच्छर, मक्खी आदि पर्यायो मे, उनकी नौ लाख जाति-कुलकोटियो मे वारवार जन्म-मरण (के दु खो) का अनुभव करते हुए, नारको के समान तीव्र दु ख भोगते हुए स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु से युक्त होकर वे पापी जीव सख्यात काल तक भ्रमण करते रहते हैं ।

विवेचन—इन्द्रियो के आधार पर तिर्यंच जीव पाँच भागो मे विभक्त है—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय । प्रस्तुत सूत्र मे चतुरिन्द्रिय जीवो के दु खो के विषय मे कथन किया गया है ।

चतुरिन्द्रिय जीवो को चार पूर्वोक्त इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं । इन चारो इन्द्रियो के माध्यम से उन्हे विविध प्रकार की पीडाएँ भोगनी पडती हैं । भ्रमर, मच्छर, मक्खी आदि जीव चार इन्द्रियो वाले हैं ।

उच्च अथवा नीच गोत्र कर्म के उदय से प्राप्त वश कुल कहलाते है । उन कुलो की विभिन्न कोटियाँ (श्रेणियाँ) कुलकोटि कही जाती है । एक जाति मे विभिन्न अनेक कुल होते है । समस्त ससारी जीवो के मिल कर एक करोड साढे सत्तानवे लाख कुल शास्त्रो मे कहे गए है । वे इस प्रकार है —

इसी प्रकार अन्य पीडाएँ भी उन्हे चुपचाप सहनी पडती है। मारना, पीटना, दागना, भार वहन करना, वध—बन्धन किया जाना आदि-आदि अपार यातनाएँ है जो नरक से निकले और तिर्यंच पचेन्द्रिय पर्याय मे जन्मे पापी प्राणियो को निरन्तर भोगनी पडती है।

कुछ मासभक्षी और नरकगति के अतिथि बनने की सामग्री जुटाने वाले मिथ्यादृष्टि पापी जीव पशु-पक्षियो का अत्यन्त निर्दयतापूर्वक वध करते हैं। वेचारे पशु तडपते हुए प्राणो का परित्याग करते है। कुछ अधम मनुष्य तो मास-विक्रय का धधा ही चलाते है। इस प्रकार तिर्यंचो की वेदना भी अत्यन्त दुस्सह होती है।

३४—मायापिइ-विप्पओग-सोय-परिपीलणाणि य सत्थग्गि-विसाभिघाय-गल-गवलावलण-मारणाणि य गलजालुच्छिप्पणाणि य पउलण-विकप्पणाणि य जावज्जीविगबधणाणि य, पजरणिरोहणाणि य सयूहणिग्घाडणाणि य धमणाणि य दोहिणाणि य कुदडगलबधणाणि य वाडगपरिवारणाणि य पकजलणिमज्जणाणि य वारिप्पवेसणाणि य ओवायणिभग-विसमणिवडणदवग्गिजालदहणाई य।

३५—(पूर्वोक्त दु खो के अतिरिक्त तिर्यंचगति मे) इन दु खो को भी सहन करना पडता है—

माता-पिता का वियोग, शोक से अत्यन्त पीडित होना या श्रोत—नासिका आदि श्रोतो—नथुनो आदि के छेदन से पीडित होना, शस्त्रो से, अग्नि से और विष से आघात पहुँचना, गर्दन—गले एव सीगो का मोडा जाना, मारा जाना, मछली आदि को गल-काँटे मे या जाल मे फँसा कर जल से बाहर निकालना, पकाना, काटा जाना, जीवन पर्यन्त बन्धन मे रहना, पीजरे मे बन्द रहना, अपने समूह—टोले से पृथक् किया जाना, भैस आदि को फूका लगाना अर्थात् ऊपर मे वायु भर देना और फिर उसे दुहना—जिससे दूध अधिक निकले, गले मे डडा बाँध देना, जिससे वह भाग न सके, वाडे मे घेर कर रखना, कीचड-भरे पानी मे डुबोना, जल मे घुसेडना, गड्हे मे गिरने से अग-भग हो जाना, पहाड के विषम—ऊँचे-नीचे-ऊबडखाबड मार्ग मे गिर पडना, दावानल की ज्वालाओ मे जलना या जल मरना, आदि-आदि कष्टो से परिपूर्ण तिर्यंचगति मे हिसाकारी पापी नरक से निकल कर उत्पन्न होते हैं।

३६—एय ते दुक्ख-सय-सपलित्ता णरगाओ आगया इह सावसेसकम्मा तिरिक्ख-पचिदिएसु पाविति पावकारी कम्माणि पमाय-राग-दोस-बहुसंचियाइं अईव अस्साय-कक्कसाइं।

३६—इस प्रकार वे हिंसा का पाप करने वाले पापी जीव सैकडो पीडाओ से पीडित होकर, नरकगति से आए हुए, प्रमाद, राग और द्वेष के कारण बहुत सचित किए और भोगने से शेष रहे कर्मों के उदयवाले अत्यन्त कर्कश असाता को उत्पन्न करने वाले कर्मों से उत्पन्न दु खो के भाजन बनने हैं।

विवेचन—पचेन्द्रिय तिर्यंचो को होने वाली यातनाओ का उल्लेख करने के पश्चात् प्रस्तुत सूत्र मे नारकीय जीवो की तिर्यंचगति मे उत्पत्ति के कारण का निर्देश किया गया है।

नारको की आयु यद्यपि मनुष्यो और तिर्यंचो से बहुत अधिक लम्बी होती है, तथापि वह अधिक से अधिक तेतीस सागरोपम प्रमाण है। आयुकर्म के सिवाय शेष सातो कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति कोटाकोटी सागरोपमो की बतलाई गई है, अर्थात् आयुकर्म की स्थिति से करोडो-करोडो गुणा अधिक है। तेतीस सागरोपम की आयु भी सभी नारको की नही होती। सातवी नरकभूमि मे उत्पन्न हुए

नारको की ही होती है और उनमे भी सब की नही—किन्ही-किन्ही की। ऐसी स्थिति मे जिन घोर पाप करने वालो का नरक मे उत्पाद होता है, वे वहाँ की तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम यातनाएँ निरन्तर भोग कर बहुतेरे पाप-कर्मों की निर्जरा तो कर लेते है, फिर भी समस्त पापकर्मों की निर्जरा हो ही जाए, यह सभव नही है। पापकर्मों का दुष्फल भोगते-भोगते भी कुछ कर्मों का फल भोगना शेप रह जाता है। यही तथ्य प्रकट करने के लिए शास्त्रकार ने 'सावसेसकम्मा' पद का प्रयोग किया है। जिन कर्मों का भोग शेष रह जाता है, उन्हे भोगने के लिए जीव नरक से निकल कर तिर्यंचगति मे जन्म लेता है।

इतनी घोरातिघोर यातनाएँ सहन करने के पश्चात् भी कर्म अवशिष्ट क्यो रह जाते है ? इस प्रश्न का एक प्रकार से समाधान ऊपर किया गया है। दूसरा समाधान मूलपाठ मे ही विद्यमान है। वह है—'**पमाय-राग-दोस बहुसचियाइ**' अर्थात् घोर प्रमाद, राग और द्वेप के कारण पापकर्मों का बहुत सचय किया गया था। इस प्रकार सचित कर्म जब अधिक होते है और उनकी स्थिति भी आयुकर्म की स्थिति से अत्यधिक होती है तब उसे भोगने के लिए पापी जीवो को तिर्यंचयोनि मे उत्पन्न होना पडता है। जो नारक जीव नरक से निकल कर तिर्यंचो मे उत्पन्न होते हे, वे पचेन्द्रियो मे उत्पन्न होते हैं। अतएव यहाँ पचेन्द्रिय जीवो—तिर्यचो के दु ख का वर्णन किया गया है। किन्तु पचेन्द्रिय तिर्यंच मरकर फिर चतुरिन्द्रिय आदि तिर्यचो मे भी उत्पन्न हो सकता है और बहुत-से हिंसक जीव उत्पन्न होते भी है, अतएव आगे चतुरिन्द्रिय आदि तिर्यंचो के दु खो का भी वर्णन किया जाएगा।

चतुरिन्द्रिय जीवो के दुःख—

३७—भमर-मसग-मच्छिमाइएसु य जाइकुलकोडि-सयसहस्सेहिं णवहिं चउरिंदियाण तहिं तहिं चेव जम्मणमरणाणि अणुहवता काल सखिज्ज भमति णेरइयसमाणतिव्वदुक्खा फरिसरसण-घाण-चक्खु-सहिया।

३७—चार इन्द्रियो वाले भ्रमर, मशक—मच्छर, मक्खी आदि पर्यायो मे, उनकी नौ लाख जाति-कुलकोटियो मे वारवार जन्म-मरण (के दु खो) का अनुभव करते हुए, नारको के समान तीव्र दु ख भोगते हुए स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु से युक्त होकर वे पापी जीव सख्यात काल तक भ्रमण करते रहते हैं।

विवेचन—इन्द्रियो के आधार पर तिर्यंच जीव पाँच भागो मे विभक्त हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय। प्रस्तुत सूत्र मे चतुरिन्द्रिय जीवो के दु खो के विषय मे कथन किया गया है।

चतुरिन्द्रिय जीवो को चार पूर्वोक्त इन्द्रियाँ प्राप्त होती है। इन चारो इन्द्रियो के माध्यम से उन्हे विविध प्रकार की पीडाएँ भोगनी पडती हैं। भ्रमर, मच्छर, मक्खी आदि जीव चार इन्द्रियो वाले हैं।

उच्च अथवा नीच गोत्र कर्म के उदय से प्राप्त वश कुल कहलाते है। उन कुलो की विभिन्न कोटियाँ (श्रेणियाँ) कुलकोटि कही जाती है। एक जाति मे विभिन्न अनेक कुल होते है। समस्त ससारी जीवो के मिल कर एक करोड साढे सत्तानवे लाख कुल शास्त्रो मे कहे गए है। वे इस प्रकार है —

मनुष्य	१२	लाख	कुलकोटियाँ
देव	२६	"	"
नारक	२५	"	"
जलचर पचेन्द्रिय तिर्यंच	१२½	"	"
स्थलचर चतुष्पद पचेन्द्रिय	१०	"	"
स्थलचर उरपरिसर्प पचेन्द्रिया	१०	"	"
स्थलचर भुजपरिसर्प पचेन्द्रिय	९	"	"
खेचर पचेन्द्रिय तिर्यंच	१२	"	"
चतुरिन्द्रिय तिर्यंच	६	"	"
त्रीन्द्रिय तिर्यंच	८	"	"
द्वीन्द्रिय तिर्यंच	७	"	"
पृथ्वीकायिक स्थावर	१२	"	"
अप्कायिक स्थावर	७	"	"
तेज कायिक स्थावर	३	"	"
वायुकायिक स्थावर	७	"	"
वनस्पतिकायिक स्थावर	२८	"	"

योग—१,९७५,००००

इनमे से चतुरिन्द्रिय जीवो की यहाँ नव लाख कुलकोटियाँ प्रतिपादित की गई है। जैसे नारक जीव नारक पर्याय का अन्त हो जाने पर पुन. तदनन्तर भव मे नरक मे जन्म नही लेते, वैसा नियम चतुरिन्द्रियो के लिए नही है। ये जीव मर कर बार-बार चतुरिन्द्रियो मे जन्म लेते रहते है। सख्यात काल तक अर्थात् सख्यात हजार वर्षो जितने सुदीर्घ काल तक वे चतुरिन्द्रिय पर्याय मे ही जन्म-मरण करते रहते है। उन्हे वहाँ नारको जैसे तीव्र दु खो को भुगतना पडता है।

त्रीन्द्रिय जीवो के दुःख—

३८—तहेव तेइदिएसु कु थु-पिप्पीलिया-अवधिकादिएसु य जाइकुलकोडिसयसहस्सेहिं अट्ठहिं अणूणएहिं तेइदियाण तहिं तहिं चेव जम्मणमरणाणि अणुहवता काल सखेज्जग भमति णेरइयसमाण-तिव्वदुक्खा फरिस-रसण-घाण-सपउत्ता।

३८—इसी प्रकार कु थु, पिपीलिका—चीटी, अधिका—दीमक आदि त्रीन्द्रिय जीवो की पूरी आठ लाख कुलकोटियो मे से विभिन्न योनियो एव कुलकोटियो मे जन्म-मरण का अनुभव करते हुए (वे पापी हिंसक प्राणी) सख्यात काल अर्थात् सख्यात हजार वर्षों तक नारको के सदृश तीव्र दु ख भोगते है। ये त्रीन्द्रिय जीव स्पर्शन, रसना और घ्राण—इन तीन इन्द्रियो से युक्त होते है।

विवेचन—पूर्व सूत्र मे जो स्पष्टीकरण किया गया है, उसी प्रकार का यहाँ भी समझ लेना चाहिए। त्रीन्द्रिय-पर्याय मे उत्पन्न हुआ जीव भी उत्कर्षत सख्यात हजार वर्षो तक[1] बार-बार जन्म मरण करता हुआ त्रीन्द्रिय पर्याय मे ही बना रहता है।

---

१ अभयदेवटीका

द्वीन्द्रिय जीवो के दुःख—

३९—गंडूलय-जलूय-किमिय-चंदणगमाइएसु य जाइकुलकोडिसयसहस्सेहिं सत्तहिं अणूणएहिं बेइंदियाण तहिं तहिं चेव जम्मणमरणाणि अणुहवंता कालं संखेज्जगं भमंति णेरइयसमाण-तिव्वदुक्खा फरिस-रसण-संपउत्ता।

३९—गडूलक—गिडोला, जलौक—जोंक, कृमि, चन्दनक आदि द्वीन्द्रिय जीव पूरी सात लाख कुलकोटियो मे से वही-वही अर्थात् विभिन्न कुलकोटियो मे जन्म-मरण की वेदना का अनुभव करते हुए सख्यात हजार वर्षो तक भ्रमण करते रहते है। वहाँ भी उन्हे नारको के समान तीव्र दु ख भुगतने पडते है। ये द्वीन्द्रिय जीव स्पर्शन और रसना—जिह्वा, इन दो इन्द्रियो वाले होते हैं।

विवेचन—सूत्र का अर्थ स्पष्ट है। विशेषता इतनी ही है कि इनकी कुलकोटियां सात लाख है और ये जीव दो इन्द्रियो के माध्यम से तीव्र असाता वेदना का अनुभव करते है।

एकेन्द्रिय जीवो के दुःख—

४०—पत्ता एगिंदियत्तणं वि य पुढवि-जल-जलण-मारुय-वणप्फइ-सुहुम-बायरं च पज्जत्तम-पज्जत्तं पत्तेयसरीरणाम-साहारणं च पत्तेयसरीरजीविएसु य तत्थवि कालमसंखेज्जगं भमंति अणंतकालं च अणंतकाए फासिंदियभावसंपउत्ता दुक्खसमुदयं इमं अणिट्ठं पावंति पुणो पुणो तहिं तहिं चेव परभव-तरुगणगहणे।

४०—एकेन्द्रिय अवस्था को प्राप्त हुए पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के दो-दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर, अर्थात् सूक्ष्मपृथ्वीकाय और बादरपृथ्वीकाय, सूक्ष्मजलकाय और बादरजलकाय आदि। इनके अन्य प्रकार से भी दो-दो प्रकार होते है, यथा—पर्याप्तक और अपर्याप्तक। वनस्पतिकाय मे इन भेदो के अतिरिक्त दो भेद और भी है—प्रत्येकशरीरी और साधारणशरीरी। इन भेदो मे से प्रत्येकशरीर पर्याय में उत्पन्न होने वाले पापी—हिंसक जीव असख्यात काल तक उन्ही-उन्ही पर्यायो मे परिभ्रमण करते रहते हैं और अनन्तकाय अर्थात् साधारण-शरीरी जीवो मे अनन्त काल तक पुन पुन जन्म-मरण करते हुए भ्रमण किया करते है। ये सभी जीव एक स्पर्शनेन्द्रिय वाले होते हैं। इनके दु ख अतीव अनिष्ट होते है। वनस्पतिकाय रूप एकेन्द्रिय पर्याय मे कायस्थिति सबसे अधिक—अनन्तकाल की है।[1]

विवेचन—प्रकृत सूत्र मे एकेन्द्रिय जीवो के दु खो का वर्णन करने के साथ उनके भेदो और प्रभेदो का उल्लेख किया गया है। एकेन्द्रिय जीव मूलत पांच प्रकार के है—पृथ्वीकाय आदि। इनमे से प्रत्येक सूक्ष्म और बादर के भेद से दो-दो प्रकार के होते है। वनस्पतिकाय के इन दो भेदो के अतिरिक्त साधारणशरीरी और प्रत्येकशरीरी, ये दो भेद अधिक होते है। इन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

---

१ अस्सखोसप्पिणिउस्सप्पिणी एगिंदियाण चउण्ह।
ता चेव ऊ अणता, वणस्सईए य बोद्धव्वा॥

—अभयदेव टीका पृ २४—आगमोदयसमिति

सूक्ष्म - सूक्ष्मनामकर्म के उदय से जिन स्थावर जीवो का शरीर अतीव सूक्ष्म हो, चर्मचक्षु से दिखाई न दे, सिर्फ अतिशयज्ञानी ही जिसे देख सकें, ऐसे लोकव्यापी जीव ।

बादर—बादरनामकर्म के उदय से जिनका शरीर अपेक्षाकृत बादर हो । यद्यपि सूक्ष्म और बादर शब्द आपेक्षिक हैं, एक की अपेक्षा जो सूक्ष्म है वह दूसरे की अपेक्षा बादर (स्थूल) हो सकता है और जो किसी को अपेक्षा बादर है वह अन्य की अपेक्षा सूक्ष्म भी हो सकता है । किन्तु सूक्ष्म और बादर यहाँ आपेक्षिक नही समझना चाहिए । नामकर्म के उदय पर ही यहाँ सूक्ष्मता और बादरता निर्भर है । अर्थात् सूक्ष्मनामकर्म के उदय वाले जीव सूक्ष्म और बादर नामकर्म के उदय वाले जीव बादर कहे गए है । कोई-कोई त्रसजीव भी अत्यन्त सूक्ष्म शरीर वाले होते है । उनका शरीर भी चक्षुगोचर नही होता । सम्मूर्छिम मनुष्यो का शरीर भी इतना सूक्ष्म होता है कि दृष्टिगोचर नही हो सकता । फिर भी वे यहाँ गृहीत नही है, क्योकि उनके सूक्ष्मनामकर्म का उदय नही होता ।

पर्याप्तक-अपर्याप्तक—इन दोनो शब्दो की व्याख्या पूर्व मे की जा चुकी है ।

प्रत्येकशरीर—यह वनस्पतिकाय का भेद है । जिस जीव के एक शरीर का स्वामी एक ही हो, वह प्रत्येकशरीर या प्रत्येकशरीरी जीव कहलाता है ।

साधारणशरीर—ऐसे जीव जो एक ही शरीर मे, उसके स्वामी के रूप मे अनन्त हो । ऐसे जीव निगोदकाय के जीव भी कहे जाते हैं । सूक्ष्म निगोद के जीव सम्पूर्ण आकाश मे व्याप्त हैं । बादर निगोद के जीव कन्दमूल आदि मे होते हैं ।

लोकाकाश मे असख्यात गोल हैं । एक-एक गोल मे असख्यात-असख्यात निगोद है और एक-एक निगोद मे अनन्त-अनन्त जीव है ।

साधारणशरीर वाले जीवो के विषय मे कहा गया है कि वे एक शरीर मे अर्थात् एक ही शरीर के स्वामी के रूप मे अनन्त होते है । यह कथन औदारिकशरीर की अपेक्षा से ही समझना चाहिए, अर्थात् वे जीव तो अनन्त होते हैं किन्तु उन सब का शरीर एक ही होता है । जब शरीर एक ही होता है तो उनका आहार और श्वासोच्छ्वास आदि भी साधारण ही होता है ।[1] किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि उनके तैजस और कार्मण शरीर भिन्न-भिन्न ही होते हैं ।

ये साधारणशरीरी अथवा निगोदिया जीव अनन्त काल तक अर्थात् अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल पर्यन्त उसी पर्याय मे लगातार जन्म-मरण की वेदना का अनुभव करते रहते है ।

४१—कुद्दाल-कुलिय-दालण-सलिल-मलण-खु भण-रु भण-अणलाणिल-विविहसत्थघट्टण-परोप्पराभिहणणमारणविराहणाणि य अकामकाइ परप्पओगोदीरणाहि य कज्जप्पओयणेहि य पेस्सपसुणिमित्त ओसहाहारमाइएहिं उक्खणण उक्कत्थण-पयण-कुट्टण-पीसण-पिट्टण-भज्जण-गालण-आमोडण-सडण-फुडण-भजण-छेयण-तच्छण-विलु चण-पत्तज्झोडण-अग्गिदहणाइयाइ, एव ते भवपरपरादुक्खसमणुबद्धा अडति संसारबीहणकरे जीवा पाणाइवायणिरया अणतकाल ।

---

१ साहारणमाहारो, माहारणमाणपाणगहण च ।
साहारणजीवाण, साहारणलक्खण भणिय ॥ —गोमट्टसार, जीवकाण्ड १९२

४१—कुदाल और हल से पृथ्वी का विदारण किया जाना, जल का मथा जाना और निरोध किया जाना, अग्नि तथा वायु का विविध प्रकार के शस्त्रो से घट्टन होना, पारस्परिक आघातो से आहत होना—एक दूसरे को पीडा पहुँचाना, मारना, दूसरो के निष्प्रयोजन अथवा प्रयोजन वाले व्यापार से उत्पन्न होने वाली विराधना की व्यथा सहन करना, नौकर-चाकरो तथा गाय-भैस-बैल आदि पशुओ की दवा और आहार आदि के लिए खोदना, छानना, मोडना, सड जाना, स्वय टूट जाना, मसलना-कुचलना, छेदन करना, छीलना, रोमो का उखाडना, पत्ते आदि तोडना, अग्नि से जलाना, इस प्रकार भवपरम्परा मे अनुबद्ध हिंसाकारी पापी जीव भयकर ससार मे अनन्त काल तक परिभ्रमण करते रहते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे उन हिंसक जीवो के दुःख का वर्णन किया गया है जो पहले नरक के अतिथि बने, तत्पश्चात् पापकर्मों का फल भोगना शेष रह जाने के कारण तिर्यंच पचेन्द्रिय पर्याय मे, फिर विकलेन्द्रिय अवस्था मे और फिर एकेन्द्रिय अवस्था मे उत्पन्न होते है। जब वे पृथ्वीकाय मे जन्म लेते हैं तो उन्हे कुदाल, फावडा, हल आदि द्वारा विदारण किए जाने का कष्ट भोगना पडता है। जलकाय मे जन्म लेते है तो उनका मथन, विलोडन आदि किया जाता है। तेजस्काय और वायुकाय मे स्वकाय शस्त्रो और परकाय शस्त्रो से विविध प्रकार से घात किया जाता है। वनस्पतिकाय के जीवो की यातनाएँ भी क्या कम हैं! उन्हे उखाड कर फेक दिया जाता है, पकाया जाता है, कूटा-पीसा जाता है, आग मे जलाया और जल मे गलाया जाता है—सडाया जाता है। उनका छेदन-भेदन आदि किया जाता है। फल-फूल-पत्र आदि तोडे जाते है, नोच लिये जाते है। इस प्रकार अनेकानेक प्रकार की यातनाएँ वनस्पतिकाय के जीवो को सहन करनी पडती है। वनस्पतिकाय के जीवो को वनस्पतिकाय मे ही वारवार जन्म-मरण करते-करते अनन्त काल तक इस प्रकार की वेदनाएँ भोगनी पडती है। ये समस्त दुःख हिंसा मे रति रखने वाले—हिंसा करके प्रसन्न होने वाले प्राणियो को भोगने पडते है।

मनुष्यभव के दुःख—

४२—जे वि य इह माणुसत्तण आगया कहिं वि णरगा उव्वट्टिया अधण्णा ते वि य दीसंति पायसो विकयविगलरूवा खुज्जा वडभा य वामणा य बहिरा काणा कुंटा पगुला विगला य मूका य मम्मणा य अधयगा एगचक्खू विणिहयसचिल्लया[1] वाहिरोगपीलिय-अप्पाउय-सत्थवज्झबाला कुलक्खण-उक्किण्णदेहा दुब्बल-कुसघयण-कुप्पमाण-कुसठिया कुरूवा किविणा य हीणा हीणसत्ता णिच्च सोक्खपरि-वज्जिया असुहदुक्खभागी णरगाओ इह सावसेसकम्मा उव्वट्टिया समाणा।

४२—जो अधन्य (हिंसा का घोर पापकर्म करने वाले) जीव नरक से निकल कर किसी भाँति मनुष्य-पर्याय मे उत्पन्न होते हैं, किन्तु जिनके पापकर्म भोगने से शेष रह जाते हैं, वे भी प्राय विकृत एव विकल—अपरिपूर्ण रूप-स्वरूप वाले, कुबडे, टेढे-मेढे शरीर वाले, वामन—बौने, बधिर—बहरे, काने, टोटे—टूटे हाथ वाले, पगुल—लँगडे, अगहीन, गूगे, मम्मण—अस्पष्ट उच्चारण करने वाले, अधे, खराब एक नेत्र वाले, दोनो खराब आखो वाले या पिशाचग्रस्त, कुष्ठ आदि व्याधियो और ज्वर आदि रोगो से अथवा मानसिक एव शारीरिक रोगो से पीडित, अल्पायुष्क,

---

१ पाठान्तर—सपिसल्लया।

शस्त्र से वध किए जाने योग्य, अज्ञान—मूढ, अशुभ लक्षणो से भरपूर शरीर वाले, दुर्बल, अप्रशस्त सहनन वाले, बेडौल अगोपागो वाले, खराब सस्थान—आकृति वाले, कुरूप, दीन, हीन, सत्त्वविहीन, सुख से सदा वचित रहने वाले और अशुभ दु खो के भाजन होते है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे ऐसे प्राणियो की दुर्दशा का चित्रण किया गया है जो हिंसा के फलस्वरूप नरक मे उत्पन्न हुए थे और फिर नरक से किसी तरह कठिनाई से निकल कर सीधे मनुष्य-भव को प्राप्त हुए है अथवा पहले तिर्यंच गति की यातनाएँ भुगत कर फिर मानवभव को प्राप्त हुए है, किन्तु जिनके घोरतर पापकर्मों का अन्त नही हो पाया है। जिनको पापो का फल भोगना बाकी रह गया है। उस बाकी रहे पापकर्म का फल उन्हे मनुष्य योनि मे भोगना पडता है। उसी फल का यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है।

ऐसे पापी प्राणी अधन्य होते है। उन्हे सर्वत्र निन्दा, अपमान, तिरस्कार और धिक्कार ही मिलता है। वे कही और कभी आदर-सम्मान नही पाते। इसके अतिरिक्त उनका शरीर विकृत होता है, बेडौल होता है, अधे, काने, बहिरे, गू गे, चपडी आखो वाले, अस्पष्ट उच्चारण करने वाले होते हैं। उनका संहनन—अस्थिनिचय—कुत्सित होता है। सस्थान अर्थात् शरीर की आकृति भी निन्दित होती है। कुष्ठादि भीषण व्याधियो से और ज्वरादि रोगो से तथा मानसिक रोगो से पीडित रहते है। उनका जीवन ऐसा होता है मानो वे भूत-पिशाच से ग्रस्त हो। वे ज्ञानहीन, मूर्ख होते है। सत्त्वविहीन होते है और किसी न किसी शस्त्र से वध होने पर वे मरण-शरण होते है। जीवन मे उन्हे कभी और कही भी आदर-सन्मान नही मिलता, तिरस्कार, फटकार, धुत्कार और धिक्कार ही मिलता है। वे सुखो के नही, दु खो के ही पात्र बनते है।

क्या नरक से निकले हुए सभी जीव मनुष्य-पर्याय पाकर पूर्वोक्त दुर्दशा के पात्र बनते है? इस प्रश्न का उत्तर मूल पाठ से ही मिल जाता है। मूल पाठ मे 'पायसो' और 'सावसेसकम्मा' ये दो पद ध्यान देने योग्य है। इनका तात्पर्य यह है कि सभी जीवो की ऐसी दुर्दशा नही होती, वरन् प्राय अर्थात् अधिकाश जीव मनुष्यगति पाकर पूर्वोक्त दु खो के भागी होते है। अधिकाश जीव वे है जिनके पाप-कर्मो का फल-भोग पूरा नही हुआ है, अपितु कुछ शेष है।

जिन प्राणियो का फल-भोग परिपूर्ण हो जाता है, वे कुछ जीव नरक से सीधे निकल कर लोकपूज्य, आदरणीय, सन्माननीय एव यशस्वी भी होते है, यहाँ तक कि कोई-कोई अत्यन्त विशुद्धिप्राप्त जीव तीर्थंकर पद भी प्राप्त करता है।

उपसंहार—

४३—एव णरग तिरिक्ख जोणि कुमाणुसत्त च हिंडमाणा पावति अणताइ दुक्खाइ पावकारी। एसो सो पाणवहस्स फलविवागो। इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भयो बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मु चई ण य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो त्ति एवमाहसु णाय-कुलणदणो महप्पा जिणो उ वीरवरणामधेज्जो कहेसी य पाणवहस्स फलविवाग। एसो सो पाणवहो चडो रुद्दो खुद्दो अणारिओ णिग्घिणो णिससो महब्भओ बीहणओ तासणओ अणज्जाओ उव्वेयणओ य णिरवयक्खो णिद्धम्मो णिप्पिवासो णिक्कलुणो णिरयवासगमणणिधणो मोहमहब्भयपवड्ढओ मरण-वेमणसो। पढम अहम्मदार सम्मत्त त्ति बेमि ॥१॥

४३—इस प्रकार (हिंसारूप) पापकर्म करने वाले प्राणी नरक और तिर्यंच योनि मे तथा कुमानुष-अवस्था मे भटकते हुए अनन्त दु ख प्राप्त करते है।

यह (पूर्वोक्त) प्राणवध (हिंसा) का फलविपाक है, जो इहलोक (मनुष्यभव) और परलोक (नारकादि भव) मे भोगना पडता है। यह फलविपाक अल्प सुख किन्तु (भव-भवान्तर मे) अत्यधिक दु ख वाला है। महान् भय का जनक है और अतीव गाढ कर्मरूपी रज से युक्त है। अत्यन्त दारुण है, अत्यन्त कठोर है और अत्यन्त असाता को उत्पन्न करने वाला है। हजारो वर्षों (सुदीर्घ काल) मे इससे छुटकारा मिलता है। किन्तु इसे भोगे विना छुटकारा नही मिलता। हिंसा का यह फलविपाक ज्ञातकुल-नन्दन महात्मा महावीर नामक जिनेन्द्रदेव ने कहा है। यह प्राणवध चण्ड, रौद्र, क्षुद्र और अनार्य जनो द्वारा आचरणीय है। यह घृणारहित, नृशस, महाभयो का कारण, भयानक, त्रासजनक और अन्यायरूप है। यह उद्वेगजनक, दूसरे के प्राणो की परवाह न करने वाला, धर्महीन, स्नेह-पिपासा से शून्य, करुणाहीन है। इसका अन्तिम परिणाम नरक मे गमन करना है अर्थात् यह नरक-गति मे जाने का कारण है। मोहरूपी महाभय को बढाने वाला और मरण के कारण उत्पन्न होने वाली दीनता का जनक है।

विवेचन—नरक से निकले तिर्यंचयोनियो मे उत्पन्न होकर पश्चात् मनुष्यभव मे जन्मे अथवा सीधे मनुष्यभव मे आए घोर हिंसाकारी जीवो को विभिन्न पर्यायो मे दु ख भोगना पडता है, उसका वर्णन शास्त्रकार ने विस्तारपूर्वक किया है। उस फलविपाक का उपसहार प्रस्तुत पाठ मे किया गया है।

यह फलविपाक शास्त्रकार ने अपनी बुद्धि या कल्पना से प्ररूपित नही किया है किन्तु ज्ञातपुत्र सर्वज्ञ देव श्रीमहावीर ने कहा है, यह उल्लेख करके प्रस्तुत प्ररूपणा की पूर्ण प्रामाणिकता भी प्रकट कर दी है।

मूल मे हिंसा के फलविपाक को अल्प सुख और बहुत दु ख का कारण कहा गया है, इसका तात्पर्य यह है कि हिंसक को हिंसा करते समय प्रसन्नता होती हैं। शिकारी शिकार करके, उसमे सफलता प्राप्त करके अर्थात् शशक, हिरण, व्याघ्र, सिंह आदि के प्राण हरण करके प्रमोद का अनुभव करता है, यह हिंसाजन्य सुख है जो वास्तव मे घोर दु ख का कारण होने से सुखाभास ही है। सुख की यह क्षणिक अनुभूति जितनी तीव्र होती है, भविष्य मे उतना ही अधिक और तीव्र दु ख का अनुभव करना पडता है।

प्राणवध के फलविपाक को चण्ड, रुद्र आदि शब्दो द्वारा व्यक्त किया गया है। इन शब्दो का स्पष्टीकरण पूर्व मे किया जा चुका है। (देखिए सूत्र सख्या २)

प्रथम अधर्मद्वार समाप्त हुआ।

श्री सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा—जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर से सुना है, वैसा ही तुम्हारे समक्ष प्रतिपादन किया है, स्वमनीषिका से नही।

□□

शस्त्र से वध किए जाने योग्य, अज्ञान—मूढ, अशुभ लक्षणो से भरपूर शरीर वाले, दुर्बल, अप्रशस्त सहनन वाले, बेडौल अगोपागो वाले, खराब सस्थान—आकृति वाले, कुरूप, दीन, हीन, सत्त्वविहीन, सुख से सदा वचित रहने वाले और अशुभ दु खो के भाजन होते है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे ऐसे प्राणियो की दुर्दशा का चित्रण किया गया है जो हिंसा के फलस्वरूप नरक मे उत्पन्न हुए थे और फिर नरक से किसी तरह कठिनाई से निकल कर सीधे मनुष्य-भव को प्राप्त हुए हैं अथवा पहले तिर्यंच गति की यातनाएँ भुगत कर फिर मानवभव को प्राप्त हुए है, किन्तु जिनके घोरतर पापकर्मो का अन्त नही हो पाया है। जिनको पापो का फल भोगना बाकी रह गया है। उस बाकी रहे पापकर्म का फल उन्हे मनुष्य योनि मे भोगना पडता है। उसी फल का यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है।

ऐसे पापी प्राणी अधन्य होते है। उन्हे सर्वत्र निन्दा, अपमान, तिरस्कार और धिक्कार ही मिलता है। वे कही और कभी आदर-सम्मान नही पाते। इसके अतिरिक्त उनका शरीर विकृत होता है, बेडौल होता है, अधे, काने, बहिरे, गु गे, चपडी आखो वाले, अस्पष्ट उच्चारण करने वाले होते है। उनका संहनन—अस्थिनिचय—कुत्सित होता है। सस्थान अर्थात् शरीर की आकृति भी निन्दित होती है। कुष्ठादि भीषण व्याधियो से और ज्वरादि रोगो से तथा मानसिक रोगो से पीडित रहते है। उनका जीवन ऐसा होता है मानो वे भूत-पिशाच से ग्रस्त हो। वे ज्ञानहीन, मूर्ख होते है। सत्त्वविहीन होते है और किसी न किसी शस्त्र से वध होने पर वे मरण-शरण होते हैं। जीवन मे उन्हे कभी और कही भी आदर-सन्मान नही मिलता, तिरस्कार, फटकार, धुत्कार और धिक्कार ही मिलता है। वे सुखो के नही, दु खो के ही पात्र बनते है।

क्या नरक से निकले हुए सभी जीव मनुष्य-पर्याय पाकर पूर्वोक्त दुर्दशा के पात्र बनते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर मूल पाठ से ही मिल जाता है। मूल पाठ मे 'पायसो' और 'सावसेसकम्मा' ये दो पद ध्यान देने योग्य हैं। इनका तात्पर्य यह है कि सभी जीवो की ऐसी दुर्दशा नही होती, वरन् प्राय अर्थात् अधिकाश जीव मनुष्यगति पाकर पूर्वोक्त दु खो के भागी होते हैं। अधिकाश जीव वे है जिनके पाप-कर्मो का फल-भोग पूरा नही हुआ है, अपितु कुछ शेष है।

जिन प्राणियो का फल-भोग परिपूर्ण हो जाता है, वे कुछ जीव नरक से सीधे निकल कर लोकपूज्य, आदरणीय, सन्माननीय एव यशस्वी भी होते हैं, यहाँ तक कि कोई-कोई अत्यन्त विशुद्धिप्राप्त जीव तीर्थंकर पद भी प्राप्त करता है।

उपसंहार—

४३—एव णरग तिरिक्ख जोणिं कुमाणुसत्त च हिंडमाणा पावति अणताइ दुक्खाइ पावकारी। एसो सो पाणवहस्स फलविवागो। इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भयो बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मु चई ण य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो त्ति एवमाहसु णाय-कुलणदणो महप्पा जिणो उ वीरवरणामधेज्जो कहेसी य पाणवहस्स फलविवाग। एसो सो पाणवहो चडो रुद्दो खुद्दो अणारिओ णिग्घिणो णिससो महब्भओ बीहणओ तासणओ अणज्जाओ उव्वेयणओ य णिरवयक्खो णिद्धम्मो णिप्पिवासो णिक्कलुणो णिरयवासगमणणिधणो मोहमहब्भयपवड्ढओ मरण-वेमणसो। पढम अहम्मदार सम्मत्त त्ति बेमि ॥१॥

४३—इस प्रकार (हिंसारूप) पापकर्म करने वाले प्राणी नरक और तिर्यंच योनि मे तथा कुमानुष-अवस्था मे भटकते हुए अनन्त दु ख प्राप्त करते है ।

यह (पूर्वोक्त) प्राणवध (हिंसा) का फलविपाक है, जो इहलोक (मनुष्यभव) और परलोक (नारकादि भव) मे भोगना पडता है । यह फलविपाक अल्प सुख किन्तु (भव-भवान्तर मे) अत्यधिक दु ख वाला है । महान् भय का जनक है और अतीव गाढ कर्मरूपी रज से युक्त है । अत्यन्त दारुण है, अत्यन्त कठोर है और अत्यन्त असाता को उत्पन्न करने वाला है । हजारो वर्षों (सुदीर्घ काल) मे इससे छुटकारा मिलता है । किन्तु इसे भोगे विना छुटकारा नही मिलता । हिंसा का यह फलविपाक ज्ञातकुल-नन्दन महात्मा महावीर नामक जिनेन्द्रदेव ने कहा है । यह प्राणवध चण्ड, रौद्र, क्षुद्र और अनार्य जनो द्वारा आचरणीय है । यह घृणारहित, नृशस, महाभयो का कारण, भयानक, त्रासजनक और अन्यायरूप है । यह उद्वेगजनक, दूसरे के प्राणो की परवाह न करने वाला, धर्महीन, स्नेह-पिपासा से शून्य, करुणाहीन है । इसका अन्तिम परिणाम नरक मे गमन करना है अर्थात् यह नरक-गति मे जाने का कारण है । मोहरूपी महाभय को बढाने वाला और मरण के कारण उत्पन्न होने वाली दीनता का जनक है ।

विवेचन—नरक से निकले तिर्यंचयोनियो मे उत्पन्न होकर पश्चात् मनुष्यभव मे जन्मे अथवा सीधे मनुष्यभव मे आए घोर हिंसाकारी जीवो को विभिन्न पर्यायो मे दु ख भोगना पडता है, उसका वर्णन शास्त्रकार ने विस्तारपूर्वक किया है । उस फलविपाक का उपसहार प्रस्तुत पाठ मे किया गया है ।

यह फलविपाक शास्त्रकार ने अपनी बुद्धि या कल्पना से प्ररूपित नही किया है किन्तु ज्ञातपुत्र सर्वज्ञ देव श्रीमहावीर ने कहा है, यह उल्लेख करके प्रस्तुत प्ररूपणा की पूर्ण प्रामाणिकता भी प्रकट कर दी है ।

मूल मे हिंसा के फलविपाक को अल्प सुख और बहुत दु ख का कारण कहा गया है, इसका तात्पर्य यह है कि हिंसक को हिंसा करते समय प्रसन्नता होती हैं । शिकारी शिकार करके, उसमे सफलता प्राप्त करके अर्थात् शशक, हिरण, व्याघ्र, सिंह आदि के प्राण हरण करके प्रमोद का अनुभव करता है, यह हिंसाजन्य सुख है जो वास्तव मे घोर दु ख का कारण होने से सुखाभास ही है । सुख की यह क्षणिक अनुभूति जितनी तीव्र होती है, भविष्य मे उतना ही अधिक और तीव्र दु ख का अनुभव करना पडता है ।

प्राणवध के फलविपाक को चण्ड, रुद्र आदि शब्दो द्वारा व्यक्त किया गया है । इन शब्दो का स्पष्टीकरण पूर्व मे किया जा चुका है । (देखिए सूत्र सख्या २)

प्रथम अधर्मद्वार समाप्त हुआ ।

श्री सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा—जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर से सुना है, वैसा ही तुम्हारे समक्ष प्रतिपादन किया है, स्वमनीषिका से नही ।

□□

द्वितीय अध्ययन : मृषावाद

मृषावाद का स्वरूप—

४४—जंबू[1] ! बिइयं अलियवयण लहुसग-लहुचवल-भणिय भयकर दुहकरं अयसकर वेरकरग अरइ-रइ-रागदोस-मणसकिलेस-वियरण अलियणियडिसाइजोयबहुल णीयजणणिसेविय णिस्सस अप्प-च्चयकारग परमसाहुगरहणिज्जं परपीलाकारगं परमकिण्हलेस्ससेविय दुग्गइविणिवायविवड्ढण भवपुण-ब्भवकर चिरपरिचिय-मणुगय दुरत कित्तिय बिइय अहम्मदार ।

४४—जम्बू ! दूसरा (आस्रवद्वार) अलीकवचन अर्थात् मिथ्याभाषण है। यह गुण-गौरव से रहित, हल्के, उतावले और चचल लोगो द्वारा बोला जाता है, (स्व एव पर के लिए) भय उत्पन्न करने वाला, दु खोत्पादक, अपयशकारी एव वैर उत्पन्न करने वाला है। यह अरति, रति, राग, द्वेष और मानसिक सक्लेश को देने वाला है। शुभ फल से रहित है। धूर्त्तता एव अविश्वसनीय वचनो की प्रचुरता वाला है। नीच जन इसका सेवन करते हैं। यह नृशस, क्रूर अथवा निन्दित है। अप्रतीतिकारक है—विश्वसनीयता का विघातक है। उत्तम साधुजनो—सत्पुरुषो द्वारा निन्दित है। दूसरो को—जिनसे असत्यभाषण किया जाता है, उनको पीडा उत्पन्न करने वाला है। उत्कृष्ट कृष्णलेश्या से सहित है अर्थात् कृष्णलेश्या वाले लोग इसका प्रयोग करते हैं। यह दुर्गतियो मे निपात को बढाने वाला—वारवार दुर्गतियो मे ले जाने वाला है। भव—पुनर्भव करने वाला अर्थात् जन्म-मरण की वृद्धि करने वाला है। यह चिरपरिचित है—अनादि काल से जीव इसके अभ्यासी हैं। निरन्तर साथ रहने वाला है और बड़ी कठिनाई से इसका अन्त होता है अथवा इसका परिणाम अतीव अनिष्ट होता है।

विवेचन—प्राणवध नामक प्रथम आस्रवद्वार के विवेचन के पश्चात् दूसरे आस्रवद्वार का विवेचन यहाँ से प्रारम्भ किया गया है। श्रीसुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी को लक्ष्य करके यह प्ररूपणा की है।

अलीक वचनो का स्वरूप समझाने के लिए उसे अनेकानेक विशेषणो से युक्त प्रकट किया गया है।

असत्य वचनो का प्रयोग ऐसे मनुष्य ही करते हैं जिनमे गुणो की गरिमा नही होती, जो क्षुद्र, हीन, तुच्छ या टुच्चे होते है। जो अपने वचनो का स्वय ही मूल्य नही जानते, जो उतावल मे सोचे-समझे विना ही बोलते है और जिनकी प्रकृति मे चचलता होती है। इस प्रकार विचार किए विना चचलतापूर्वक जो वचन बोले जाते है, वे स्व-पर के लिए भयकर सिद्ध होते है। उनके फलस्वरूप अनेक प्रकार के दु ख भोगने पडते हैं। अतएव साधुजन—सत्पुरुष असत्य का कदापि सेवन नही करते। वे सुविचारित सत्य तथ्य का ही प्रयोग करते हैं और वह भी ऐसा कि जिससे किसी को पीडा न हो, क्योकि पीडाजनक वचन तथ्य होकर भी सत्य नही कहलाता।

---

१ "इह खलु जबू"—पाठ भी कुछ प्रतियो मे है।

असत्यभाषी को इस भव मे निन्दा और तिरस्कार का पात्र बनना पडता है। असत्यभाषण करके जिन्हे धोखा दिया जाता अथवा हानि पहुँचाई जाती है, उनके साथ वैर बँध जाता है और कभी-कभी उस वैर की परम्परा अनेकानेक भवो तक चलती रहती है। असत्यभाषी के अन्तर मे यदि स्वल्प भी उज्ज्वलता का अश होता है तो उसके मन मे भी सक्लेश उत्पन्न होता है। जिसे ठगा जाता है उसके मन मे तो सक्लेश होता ही है।

असत्यभाषी को अपनी प्रामाणिकता प्रकट करने के लिए अनेक प्रकार के जाल रचने पडते हैं, धूर्त्तता कपट का आश्रय लेना पडता है। यह क्रूरता से परिपूर्ण है। नीच लोग ही असत्य का आचरण करते है। साधुजनो द्वारा निन्दनीय है। परपीडाकारी है। कृष्णलेश्या से समन्वित है।

असत्य दुर्गति मे ले जाता है और ससार-परिभ्रमण की वृद्धि करने वाला है।

असत्यभाषी अपने असत्य को छिपाने के लिए कितना ही प्रयत्न क्यो न करे, अन्त मे प्रकट हो जाता है। जब प्रकट हो जाता है तो असत्यभाषी की सच्ची बात पर भी कोई विश्वास नही करता। वह अप्रतीति का पात्र बन जाता है।

'परपीलाकारग' कह कर शास्त्रकार ने असत्य एक प्रकार की हिंसा का ही रूप है, यह प्रदर्शित किया है।

मृषावाद के नामान्तर—

४५—तस्स य णामाणि गोण्णाणि होंति तीस। तं जहा—

१ अलिय २ सढ ३ अणज्ज ४ मायामोसो ५ असतग ६ कूडकवडमवत्थुग च ७ णिरत्थयम-वत्थय च ८ विद्देसगरहणिज्ज ९ अणुज्जुग १० कक्कणा य ११ वचणा य १२ मिच्छापच्छाकड च १३ साई उ १४ उच्छण्ण ११ उक्कूल च १६ अट्ट १७ अब्भक्खाणं च १८ किब्बिसं १९ वलय २० गहण च २१ मम्मण च २२ णूम २३ णिययी २४ अपच्चओ २५ असमओ २६ असच्चसधत्तण २७ विवक्खो २८ अवहीय २९ उवहिअसुद्ध ३० अवलोवोत्ति।

अवि य तस्स एयाणि एवमाइयाणि णामधेज्जाणि होंति तीसं, सावज्जस्स अलियस्स वइजो-गस्स अणेगाइ।

४५—उस असत्य के गुणनिष्पन्न अर्थात् सार्थक तीस नाम हैं। वे इस प्रकार हैं—

१ अलीक २ शठ ३ अन्याय्य (अनार्य) ४ माया-मृषा ५ असत्क ६ कूटकपटअवस्तुक ७ निरर्थकअपार्थक ८ विद्वेष-गर्हणीय ९ अनृजुक १० कल्कना ११ वञ्चना १२ मिथ्यापश्चात्कृत १३ साति १४ उच्छन्न १५ उत्कूल १६ आर्त्त १७ अभ्याख्यान १८ किल्विष १९ वलय २० गहन २१ मन्मन २२ नूम २३ निकृति २४ अप्रत्यय २५ असमय २६ असत्यसधत्व २७ विपक्ष २८ अपधीक २९ उपधि-अशुद्ध ३० अपलोप।

सावद्य (पापयुक्त) अलीक वचनयोग के उल्लिखित तीस नामो के अतिरिक्त अन्य भी अनेक नाम हैं।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे असत्य के तीस सार्थक नामो का उल्लेख किया गया है। अन्त मे

यह निर्देश भी कर दिया गया है कि अलीक के इन तीस नामो के अतिरिक्त भी अन्य अनेक नाम हैं।

असत्य के तीस नामो का उल्लेख करके सूत्रकार ने असत्य के विविध प्रकारो को सूचित किया है, अर्थात् किस-किस प्रकार के वचन असत्य के अन्तर्गत है, यह प्रकट किया है। उल्लिखित नामो का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

(१) अलीक—झूठ, मिथ्यावचन।

(२) शठ—धूर्त्त, मायावी जनो द्वारा आचरित।

(३) अनार्य (अन्याय्य)—अनार्य पुरुषो का वचन होने से अनार्य है अथवा अन्याययुक्त है।

(४) माया-मृषा—माया रूप कषाय से युक्त और मृषा होने से इसे माया-मृषा कहा जाता है।

(५) असत्क—असत् पदार्थ को कहने वाला।

(६) कूट-कपट-अवस्तुक—दूसरो को ठगने से कूट, भाषा का विपर्यास होने से कपट, तथ्य-वस्तुशून्य होने से अवस्तुक है।

(७) निरर्थक-अपार्थक—प्रयोजनहीन होने के कारण निष्प्रयोजन और सत्यहीन होने से अपार्थक है।

(८) विद्वेषगर्हणीय—विद्वेष और निन्दा का कारण।

(९) अनृजुक—कुटिलता-सरलता का अभाव, वक्रता से युक्त।

(१०) कल्कना—मायाचारमय।

(११) वञ्चना—दूसरो को ठगने का कारण।

(१२) मिथ्यापश्चात्कृत—न्यायी पुरुष झूठा समझ कर पीछे कर देते है, अत मिथ्यापश्चात्कृत है।

(१३) साति—अविश्वास का कारण।

(१४) उच्छन्न—स्वकीय दोषो और परकीय गुणो का आच्छादक। इसे 'अपच्छन्न' भी कहते है।

(१५) उत्कूल—सन्मार्ग की मर्यादा से अथवा न्याय रूपी नदी के तट से गिराने वाला।

(१६) आर्त्त—पाप से पीडित जनो का वचन।

(१७) अभ्याख्यान—दूसरे मे अविद्यमान दोषो को कहने वाला।

(१८) किल्विष—पाप या पाप का जनक।

(१९) वलय—गोलमोल—टेढा-मेढा, चक्करदार वचन।

(२०) गहन—जिसे समझना कठिन हो, जिस वचन से असलियत का पता न चले।

(२१) मन्मन—स्पष्ट न होने के कारण, अस्पष्ट वचन।

(२२) नूम—सचाई को ढँकने वाला।

(२३) निकृति—किए हुए मायाचार को छिपाने वाला वचन।

(२४) अप्रत्यय—विश्वास का कारण न होने से या अविश्वासजनक होने से अप्रत्यय है।

(२५) असमय—सम्यक् आचार से रहित।

(२६) असत्यसन्धता—झूठी प्रतिज्ञाओ का कारण।

(२७) विपक्ष—सत्य और धर्म का विरोधी।

(२८) अपधीक—निन्दित मति से उत्पन्न।

(२९) उपधि-अशुद्ध—मायाचार से अशुद्ध।

(३०) अवलोप—वस्तु के वास्तविक स्वरूप का लोपक।

विवेचन—इन तीस नामो से असत्य के विविध रूपो का एव उसकी व्यापकता का पता चलता है।

मृषावादी—

४६—त च पुण वयति केई अलिय पावा असजया अविरया कवडकुडिलकडुयचडुलभावा कुद्धा लुद्धा भया य हस्सट्ठिया य सक्खी चोरा चारभडा खंडरक्खा जियजूयकरा य गहियगहणा कक्ककुरुग-कारगा, कुलिंगी उवहिया वाणियगा य कूडतुलकूडमाणी कूडकाहावणोवजीविया पडगारका, कलाया, कारुइज्जा वचणपरा चारियचाडुयार-णगरगुत्तिय-परिचारगा दुट्ठवाइसूयगअणवलभणिया य पुव्व-कालियवयणदच्छा साहसिया लहुस्सगा असच्चा गारविया असच्चट्ठावणाहिचित्ता उच्चच्छदा अणिग्गहा अणियत्ता छदेणमुक्कवाया भवति अलियाहि जे अविरया।

४६—यह असत्य कितनेक पापी, असयत—सयमहीन, अविरत—सर्वविरति और देशविरति से रहित, कपट के कारण कुटिल, कटुक और चचल चित्त वाले, क्रुद्ध—क्रोध से अभिभूत, लुब्ध—लोभ के वशीभूत, स्वय भयभीत और अन्य को भय उत्पन्न करने वाले, हँसी-मजाक करने वाले, झूठी गवाही देने वाले, चोर, गुप्तचर—जासूस, खण्डरक्ष—राजकर लेने वाले—चु गी वसूल करने वाले, जूआ मे हारे हुए—जुआरी, गिरवी रखने वाले—गिरवी के माल को हजम करने वाले, कपट से किसी बात को बढा-चढा कर कहने वाले, मिथ्या मत वाले कुलिंगी—वेषधारी, छल करने वाले, बनिया—वणिक्, खोटा नापने-तोलने वाले, नकली सिक्को से आजीविका चलाने वाले, जुलाहे, सुनार—स्वर्णकार, कारीगर, दूसरो को ठगने वाले, दलाल, चाटुकार—खुशामदी, नगररक्षक, मैथुन-सेवी—स्त्रियो को बहकाने वाले, खोटा पक्ष लेने वाले, चुगलखोर, उत्तमर्ण—साहूकार के ऋण सबधी तकाजे से दबे हुए अधमर्ण—कर्जदार, किसी के बोलने से पूर्व ही उसके अभिप्राय को ताड लेने वाले, साहसिक—सोच-विचार किए बिना ही प्रवृत्ति करने वाले, निस्सत्व—अधम, हीन, सत्पुरुषो का अहित करने वाले—दुष्ट जन, अहंकारी, असत्य की स्थापना मे चित्त को लगाए रखने वाले, अपने को उत्कृष्ट बताने वाले, निरकुश, नियमहीन और बिना विचारे यद्वा-तद्वा बोलने वाले लोग, जो असत्य से विरत नही है, वे (असत्य) बोलते है।

विवेचन—मूल पाठ अपने आप मे ही स्पष्ट है। इस पर अधिक विवेचन की आवश्यकता नही है।

असत्यभाषी जनो का यहाँ उल्लेख किया गया है। असत्यभाषण वही करते है जो सयत और विरत नही होते। जिनका जीवन सयमशील है और जो पापो से विरत है, असत्य उनके निकट भी नही फटकता।

असत्य के मूलत चार कारण हैं—क्रोध, लोभ, भय और हास्य। क्रोध से अभिभूत मानव विवेक-विचार से विहीन हो जाता है। उसमे एक प्रकार का उन्माद उत्पन्न हो जाता है। तब वह सत्य-असत्य के भान से रहित होकर कुछ भी बोल जाता है। लोभ से ग्रस्त मनुष्य असत्य का सेवन करने से परहेज नही करता। लोभ से अंधा आदमी असत्य सेवन को अपने साध्य की सिद्धि का अचूक साधन मानता है। भय से पीडित लोग भी असत्य का आश्रय लेकर अपने दुष्कर्म के दड से बचने का प्रयत्न करते है। उन्हे यह समझ नही होती कि कृत दुष्कर्म पर पर्दा डालने के लिए

असत्य का सहारा लेने से दुष्कर्म गुरुतर बन जाता है। हँसी-मजाक मे असत्य का प्रयोग साधारण समझा जाता है। कहना चाहिए कि असत्य हास्य-विनोद का मूलाधार है। किन्तु विवेकी पुरुष ऐसे हँसी-मजाक से बचते है, जिसके लिए असत्य का आश्रय लेना पडे।

झूठी साक्षी स्पष्ट असत्य है। किन्तु आज-कल के न्यायालयो मे यह बहुप्रचलित है। कतिपय लोगो ने इसे धधा बना लिया है। कुछ रुपये देकर उनसे न्यायालयो मे चाहे जो कहलवाया जा सकता है। ऐसे लोगो को भविष्य के दुष्परिणामो का ध्यान नही होता कि असत्य को सत्य और सत्य को असत्य कहने से आगे कैसी दुर्दशा भोगनी पडेगी।

चोरी करने वाले, जुआ खेलने वाले, व्यभिचारी, स्त्रियो को बहका कर उडा ले जाने वाले और चकला चलाने वाले लोग असत्य का सेवन किए विना रह ही नही सकते।

मिथ्या मतो को मानने वाले और त्यागियो के नाना प्रकार के वेष धारण करने वाले भी असत्यभाषी है। इनके विषय मे आगे विस्तार से प्रतिपादन किया जाएगा।

कर्जदार को भी असत्य भाषण करना पडता है। जब उत्तमर्ण या साहूकार ऋण वसूलने के लिए तकाजे करता है और कर्जदार चुकाने की स्थिति मे नही होता तो, एक सप्ताह मे दूँगा, एक मास मे चुका दूँगा, इत्यादि झूठे वायदे करता है। अतएव सद्गृहस्थ को इस असत्य से बचने के लिए ऋण न लेना ही सर्वोत्तम है। अपनी आवश्यकताओ को सीमित करके आय को देखते हुए ही व्यय करना चाहिए। कदाचित् किसी से कभी उधार लेना ही पडे तो उतनी ही मात्रा मे लेना चाहिए, जिसे सरलता पूर्वक चुकाना असभव न हो और जिस के कारण असत्य न बोलना पडे—अप्रतिष्ठा न हो।

जुलाहे, सुनार, कारीगर, वणिक् आदि धधा करने वाले सभी असत्यभाषी होते हैं, ऐसा नही है। शास्त्रकार ने मूल मे 'केई' शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है।

इसी प्रकार मूल पाठ मे उल्लिखित अन्य विशेषणो के सबध मे भी समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि असत्य के पाप से बचने के लिए सदा सावधान रहना चाहिए।

मृषावादी—नास्ति ादी का —

४७—अवरे णत्थिगवाइणो वामलोयवाई भणति— सुण्ण[1] ति, णत्थि जीवो, ण जाइ इह परे वा लोए, ण य किंचिवि फुसइ पुण्णपाव, णत्थि फल सुकयदुक्कयाण, पचमहाभूइय सरीर भासति, हे वायजोगजुत्त। पच य खधे भणति केइ, मण य मणजीविया वदति, वाउजीवोत्ति एवमाहसु, सरीर साइय सणिधण, इह भवे एगभवे तस्स विप्पणासम्मि सव्वणासोत्ति, एव जपति मुसावाई। तम्हा दाण-वय-पोसहाण तव-सजम-बभचेर-कल्लाणमाइयाण णत्थि फल, ण वि य पाणवहे अलियवयण ण चेव चोरिक्ककरण परदारसेवण वा सपरिग्गह-पावकम्मकरण वि णत्थि किंचि ण णेरइय-तिरिय-मणुयाण जोणी, ण देवलोगो वा अत्थि, ण य अत्थि सिद्धिगमण, अम्मापियरो णत्थि, ण वि अत्थि पुरिसकारो,

---

१ आगमोदयसमिति, आचार्य हस्तीमलजी म वाले और सैलाना वाले सस्करण मे 'सुण्ण ति' पाठ नही है, किन्तु अभयदेवीय टीका मे इसकी व्याख्या की गई है। अत यह पाठ सगत है। सन्मति ज्ञानपीठ आगरा वाले सस्करण मे इसे स्वीकार किया है। —सम्पादक

पच्चक्खाणमवि णत्थि, ण वि अत्थि कालमच्चू य, अरिहंता चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा णत्थि, णेवत्थि केइ रिसओ धम्माधम्मफलं च णवि अत्थि किंचि बहुयं च थोवगं वा, तम्हा एवं विजाणिऊण जहा सुबहु इंदियाणुकूलेसु सव्वविसएसु वट्टह, णत्थि काइ किरिया वा अकिरिया वा एवं भणंति णत्थिगवा-इणो वामलोयवाई ।

४७—दूसरे, नास्तिकवादी, जो लोक मे विद्यमान वस्तुओ को भी अवास्तविक कहने के कारण—लोकविरुद्ध मान्यता के कारण 'वामलोकवादी' है, उनका कथन इस प्रकार है—यह जगत् शून्य (सर्वथा असत्) है, क्योकि जीव का अस्तित्व नही है। वह मनुष्यभव मे या देवादि-परभव मे नही जाता। वह पुण्य-पाप का किंचित् भी स्पर्श नही करता। सुकृत-पुण्य या दुष्कृत-पाप का (सुख-दु ख रूप) फल भी नही है। यह शरीर पाँच भूतो (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) से बना हुआ है। वायु के निमित्त से वह सब क्रियाएँ करता है। कुछ लोग कहते है— श्वासोच्छ्वास की हवा ही जीव है।

कोई (बौद्ध) पॉच स्कन्धो (रूप, वेदना, विज्ञान, सज्ञा और सस्कार) का कथन करते है। कोई-कोई मन को ही जीव (आत्मा) मानते है। कोई वायु को ही जीव के रूप मे स्वीकार करते हैं। किन्ही-किन्ही का मन्तव्य है कि शरीर सादि और सान्त है—शरीर का उत्पाद और विनाश हो जाता है। यह भव ही'एक मात्र भव है। इस भव का समूल नाश होने पर सर्वनाश हो जाता है अर्थात् आत्मा जैसी कोई वस्तु शेष नही रहती। मृषावादी ऐसा कहते है। इस कारण दान देना, व्रतो का आचरण करना, पोषध की आराधना करना, तपस्या करना, सयम का आचरण करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना आदि कल्याणकारी अनुष्ठानो का (कुछ भी) फल नही होता। प्राणवध और असत्यभाषण भी (अशुभ फलदायक) नही है। चोरी और परस्त्रीसेवन भी कोई पाप नही हैं। परिग्रह और अन्य पापकर्म भी निष्फल हैं अर्थात् उनका भी कोई अशुभ फल नही होता। नारको, तिर्यंचो और मनुष्यो की योनियाँ नही हैं। देवलोक भी नही है। मोक्ष-गमन या मुक्ति भी नही है। माता-पिता भी नही है। पुरुषार्थ भी नही है अर्थात् पुरुषार्थ कार्य की सिद्धि मे कारण नही है। प्रत्याख्यानत्याग भी नही है। भूतकाल, वर्त्तमानकाल और भविष्यकाल नही हैं और न मृत्यु है। अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव भी कोई नही होते। न कोई ऋषि है, न कोई मुनि है। धर्म और अधर्म का थोडा या बहुत—किंचित् भी फल नही होता। इसलिए ऐसा जानकर इन्द्रियो के अनुकूल (रुचिकर) सभी विषयो मे प्रवृत्ति करो—किसी प्रकार के भोग-विलास से परहेज मत करो। न कोई शुभ क्रिया है और न कोई अशुभ क्रिया है। इस प्रकार लोक-विपरीत मान्यता वाले नास्तिक विचारधारा का अनुसरण करते हुए इस प्रकार का कथन करते है।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे नास्तिकवादियो की मान्यताओ का दिग्दर्शन कराया गया है। इससे पूर्व के सूत्र मे विविध प्रकार के लौकिक जनो का, जो व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए, आजीविका, व्यापार-धधा, परिवार-पालन आदि के लिए असत्यभाषण करते हैं, उनका कथन किया गया था। इस सूत्र मे नास्तिकदर्शन का मन्तव्य उल्लिखित किया गया है। एक व्यक्ति किसी कारण जब असत्यभाषण करता है तब वह प्रधानत अपना ही अहित करता है। किन्तु जब कोई दार्शनिक असत्य पक्ष की स्थापना करता है, असत्य को आगम मे स्थान देता है, तब वह असत्य विराट् रूप धारण कर लेता है। वह मृषावाद दीर्घकाल पर्यन्त प्रचलित रहता है और असख्य-असख्य लोगो को प्रभावित करता

है। वह न जाने कितने लोगो को, कितने काल तक मिथ्या धारणाओ का शिकार बनाता रहता है। ऐसी धारणाएँ व्यक्तिगत जीवन को कलुषित करती है और साथ ही सामाजिक जीवन को भी निरकुश, स्वेच्छाचारी बना कर विनष्ट कर देती है। अतएव वैयक्तिक असत्य की अपेक्षा दार्शनिक असत्य हजारो-लाखो गुणा अनर्थकारी है। यहाँ दार्शनिक असत्य के ही कतिपय रूपो का उल्लेख किया गया है।

शून्यवाद—सर्वप्रथम शून्यवादी के मत का उल्लेख किया गया है। बौद्धदर्शन अनेक सम्प्रदायो मे विभक्त है। उनमे से एक सम्प्रदाय माध्यमिक है। यह शून्यवादी है। इसके अभिमतानुसार किसी भी वस्तु की सत्ता नही है। जैसे स्वप्न मे अनेकानेक दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु जागृत होने पर या वास्तव मे उनकी कही भी सत्ता नही होती। इसी प्रकार प्राणी भ्रम के वशीभूत होकर नाना पदार्थो का अस्तित्व समझता है, किन्तु भ्रमभग होने पर वह सभी कुछ शून्य मानता है।

यहाँ विचारणीय यह है कि यदि समग्र विश्व शून्य रूप है तो शून्यवादी स्वय भी शून्य है या नही ? शून्यवादी यदि शून्य है तो इसका स्पष्ट अर्थ यह निकला कि शून्यवादी कोई है ही नही। इसी प्रकार उसके द्वारा प्ररूपित शून्यवाद यदि सत् है तो शून्यवाद समाप्त हो गया और शून्यवाद असत् है तो भी उसकी समाप्ति ही समझिए। इस प्रकार शून्यवाद युक्ति से विपरीत तो है ही, प्रत्यक्ष अनुभव से भी विपरीत है। पानी पीने वाले की प्यास बुझ जाती है, वह अनुभव सिद्ध है। किन्तु शून्यवादी कहता है—पानी नही, पीने वाला भी नही, पीने की क्रिया भी नही और प्यास की उपशान्ति भी नही ! सब कुछ शून्य है।

शून्यवाद के पश्चात् अनात्मवादी नास्तिको के मत का उल्लेख किया गया है। इनके कतिपय मन्तव्यो का भी मूलपाठ मे दिग्दर्शन कराया गया है। अनात्मवादियो की मान्यता है कि जीव अर्थात् आत्मा की स्वतन्त्र एव त्रैकालिक सत्ता नही है। जो कुछ भी है वह पाच भूत ही हैं। पृथ्वी, जल, तेजस् (अग्नि), वायु और आकाश, ये पाँच भूत हैं। इनके सयोग से शरीर का निर्माण होता है। इन्ही से चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है। प्राणवायु के कारण शरीर मे हलन-चलन-स्पन्दन आदि क्रियाएँ होती हैं। चैतन्य शरीराकार परिणत भूतो से उत्पन्न होकर उन्ही के साथ नष्ट हो जाता है। जैसे जल का बुलबुला जल से उत्पन्न होकर जल मे ही विलीन हो जाता है, उसका पृथक् अस्तित्व नही है, उसी प्रकार चैतन्य का भी पच भूतो से अलग अस्तित्व नही है। अथवा जैसे धातकी पुष्प, गुड, आटा आदि के सयोग से उनमे मादकशक्ति उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही पच भूतो के मिलने से चैतन्य-शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

जब आत्मा की ही पृथक् सत्ता नही है तो परलोक के होने की बात ही निराधार है। अतएव न जीव मर कर फिर जन्म लेता है, न पुण्य और पाप का अस्तित्व है। सुकृत और दुष्कृत का कोई फल किसी को नही भोगना पडता।

नास्तिको की यह मान्यता अनुभवप्रमाण से बाधित है, साथ ही अनुमान और आगम प्रमाणो से भी बाधित है।

यह निर्विवाद है कि कारण मे जो गुण विद्यमान होते है, वही गुण कार्य मे आते हैं। ऐसा कदापि नही होता कि जो गुण कारण मे नही है, वे अकस्मात् कार्य मे उत्पन्न हो जाएँ। यही कारण है कि मिष्ठान्न तैयार करने के लिए गुड, शक्कर आदि मिष्ट पदार्थो का उपयोग किया जाता है

और काला वस्त्र तैयार करने के लिए काले ततुओ को काम मे लाया जाता है। यदि कारण मे अविद्यमान गुण भी कार्य मे आने लगे तो बालू को पीलने से भी तेल निकलने लगे। किसी भी वस्तु से कोई भी वस्तु बन जाए! किन्तु ऐसा होता नही। बालू से तेल निकलता नही। गुड-शक्कर के बदले राख या धूल से मिठाई बनती नही।

इस निर्विवाद सिद्धान्त के आधार पर पाच भूतो से चैतन्य की उत्पत्ति की मान्यता पर विचार किया जाए तो यह मान्यता कपोल-कल्पित ही सिद्ध होती है। नास्तिको से पूछना चाहिए कि जिन पाच भूतो से चैतन्य की उत्पत्ति कही जाती है, उनमे पहले से चैतन्यशक्ति विद्यमान है अथवा नही? यदि विद्यमान नही है तो उनसे चैतन्यशक्ति उत्पन्न नही हो सकती, क्योकि जो धर्म कारण मे नही होता, वह कार्य मे भी नही हो सकता। यदि भूतो मे चेतना विद्यमान है तो फिर चेतना से ही चेतना की उत्पत्ति कहनी चाहिए, भूतो से नही।

मदिरा मे जो मादकशक्ति है, वह उसके कारणो मे पहले से ही विद्यमान रहती है, अपूर्व उत्पन्न नही होती।

इसके अतिरिक्त चेतनाशक्ति के कारण यदि भूत ही है तो मृतक शरीर मे ये सभी विद्यमान होने से उसमे चेतना क्यो नही उत्पन्न हो जाती? कहा जा सकता है कि मृतक शरीर मे रोग—दोष होने के कारण चेतना उत्पन्न नही होती, तो यह कथन भी प्रामाणिक नही है, क्योकि आयुर्वेद का विधान है—

मृतस्य समीभवन्ति रोगा:।

अर्थात् मृत्यु हो जाने पर सब—वात, पित्त, कफ—दोष सम हो जाते है—नीरोग अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

अनात्मवादी कहते हैं—आत्मा का स्वतत्र अस्तित्व सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नही है। इन्द्रियो से उसका परिज्ञान नही होता, अतएव मन से भी वह नही जाना जा सकता, क्योकि इन्द्रियो द्वारा जाने हुए पदार्थ को ही मन जान सकता है। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष जैसी कोई वस्तु है ही नही। इस प्रकार किसी भी रूप मे आत्मा का प्रत्यक्ष न होने से वह अनुमान के द्वारा भी नही जाना जा सकता। आगम परस्पर विरोधी प्ररूपणा करते हैं, अतएव वे स्वय अप्रमाण है तो आत्मा के अस्तित्व को कैसे प्रमाणित कर सकते हैं?

यह कथन तर्क और अनुभव से असगत है। सर्वप्रथम तो 'मैं हूँ, मै सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ' इस प्रकार जो अनुभूति होती है, उसी से आत्मा की सिद्धि हो जाती है। घट, पट आदि चेतनाहीन पदार्थो को ऐसी प्रतीति नही होती। अतएव 'मैं' की अनुभूति से उस का कोई विषय सिद्ध होता है और जो 'मैं' शब्द का विषय (वाच्य) है, वही आत्मा कहलाता है।

गुण का प्रत्यक्ष हो तो वही गुणी का प्रत्यक्ष माना जाता है। घट के रूप और आकृति को देखकर ही लोग घट को देखना मानते हैं। अनन्त गुणो का समुदाय रूप समग्र पदार्थ कभी किसी ससार के प्राणी के ज्ञान मे प्रतिभासित नही होता। इस नियम के अनुसार चेतना जीव का गुण होने से और उसका अनुभव-प्रत्यक्ष होने से जीव का भी प्रत्यक्ष मानना चाहिए।

अनुमान और आगम प्रमाण से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। एक ही माता-पिता

के एक समान वातावरण मे पलने वाले दो पुत्रो मे धरती-आकाश जैसी जो विषमता दृष्टिगोचर होती है, वह किसी अदृष्ट कारण से ही होती है। वह अदृष्ट कारण पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्म ही हो सकता है और पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्म का फल आत्मा का पूर्व जन्म मे अस्तित्व माने विना नही सिद्ध हो सकता।

बालक को जन्मते ही स्तनपान करने की अभिलाषा होती है और स्तन का अग्रभाग मुख मे जाते ही वह दूध को चूसने लगता है। उसे स्तन को चूसना किसने सिखलाया है ? माता बालक के मुख मे स्तन लगा देती है, परन्तु उसे चूसने की क्रिया तो बालक स्वय ही करता है। यह किस प्रकार होता है ? स्पष्ट है कि पूर्व जन्मो के सस्कारो की प्रेरणा से ही ऐसा होता है। क्या इससे आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि नही होती ?

'एगे आया' इत्यादि आगम वाक्यो से भी आत्मा की त्रैकालिक सत्ता प्रमाणित है।

विस्तार से आत्मसिद्धि के जिज्ञासु जनो को दर्शनशास्त्र के ग्रन्थो का अध्ययन करना चाहिए।

आत्मा की सिद्धि हो जाने पर परलोक-पुनर्जन्म, पाप-पुण्य, पाप-पुण्य का फल, विविध योनियो मे जन्म लेना आदि भी सिद्ध हो जाता है।

पूर्वजन्म की स्मृति की घटनाएँ आज भी अनेकानेक घटित होती रहती है। ये घटनाएँ आत्मा के स्वतत्र अस्तित्व को अभ्रान्त रूप से सिद्ध करती है।

पचस्कन्धवाद—बौद्धमत मे पाँच स्कन्ध माने गए है—(१) रूप (२) वेदना (३) विज्ञान (४) सज्ञा और (५) सस्कार।

१—**रूप**—पृथ्वी, जल आदि तथा इनके रूप, रस आदि।
२—**वेदना**—सुख, दु ख आदि का अनुभव।
३—**विज्ञान**—विशिष्ट ज्ञान अर्थात् रूप, रस, घट, पट आदि का ज्ञान।
४—**सज्ञा**—प्रतीत होने वाले पदार्थो का अभिधान—नाम।
५—**सस्कार**—पुण्य-पाप आदि धर्मसमुदाय।

बौद्धदर्शन के अनुसार समस्त जगत् इन पाँच स्कन्धो का ही प्रपच है। इनके अतिरिक्त आत्मा का पृथक् रूप से कोई अस्तित्व नही है। यह पाँचो स्कन्ध क्षणिक हैं।

बौद्धो मे चार परम्पराएँ है—(१) वैभाषिक (२) सौत्रान्तिक (३) योगाचार और (४) माध्यमिक। वैभाषिक सभी पदार्थो का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, किन्तु सभी को क्षणिक मानते है। क्षण-क्षण मे आत्मा का विनाश होता रहता है, परन्तु उसकी सन्तति—सन्तानपरम्परा निरन्तर चालू रहती है। उस सन्तानपरम्परा का सर्वथा उच्छेद हो जाना—बद हो जाना ही मोक्ष है। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के अनुसार जगत् के पदार्थो का प्रत्यक्ष नही होता। उन्हे अनुमान द्वारा ही जाना जाता है। योगाचार पदार्थो को असत् मानकर सिर्फ ज्ञान की ही सत्ता स्वीकार करते है और वह ज्ञान क्षणिक है। माध्यमिक सम्प्रदाय इन सभी से आगे बढ कर ज्ञान की भी सत्ता नही मानता। वह शून्यवादी है। न ज्ञान है और न ज्ञेय है। शून्यवाद के अनुसार वस्तु सत् नही, असत् भी नही, सत्-असत् भी नही और सत्-असत् नही ऐसा भी नही। तत्त्व इन चारो कोटियो से विनिर्मुक्त है।

इन सब भ्रान्त मान्यताओ का प्रतीकार विस्तारभय से यहाँ नही किया जा रहा है। दर्शन-शास्त्र मे विस्तार से इनका खण्डन किया गया है।

वायु-जीववाद—कुछ लोग वायु को—प्राणवायु को ही जीव स्वीकार करते है । उनका कथन है कि जब तक श्वासोच्छ्वास चालू रहता है तब तक जीवन है और श्वासोच्छ्वास का अन्त हो जाना ही जीवन का अन्त हो जाना है । उसके पश्चात् परलोक मे जाने वाला कोई जीव—आत्मा शेप नही रहता ।

किन्तु विचारणीय है कि वायु जड है और जीव चेतन है । वायु मे स्पर्श आदि जड के धर्म स्पष्ट प्रतीत होते हैं, जबकि जीव स्पर्श आदि से रहित है । ऐसी स्थिति मे वायु को ही जीव कैसे माना जा सकता है ?

आत्मा की सत्ता या नित्य सत्ता न मानने के फलस्वरूप स्वत ही इस प्रकार की धारणाएँ पनपती है कि परभव नही है । शरीर का विनाश होने पर सर्वनाश हो जाता है । अतएव दान, व्रत, पोषध, तप, सयम, ब्रह्मचर्य आदि का आचरण निष्फल है । इनके करने का कुछ भी शुभ फल नही होता । साथ ही हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि कुकृत्यो का भी कोई दुष्फल नही होता । इसी कारण यह विधान कर दिया गया है कि—

यावज्जीवेत् सुख जीवेत् ऋण कृत्वा घृत पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमन कुत ।।

अर्थात्—जब तक जीओ, सुख से—मस्त होकर जीओ । सुखपूर्वक जीवनयापन करने के लिए पैसा न हो तो ऋण लेकर घी पीओ—खाओ-पीओ । यह शरीर यही भस्मीभूत-राख हो जाता है । इसका फिर आगमन कहाँ है !

नरक है, स्वर्ग है, मोक्ष है, इत्यादि मान्यताएँ कल्पनामात्र है । अतएव इन्द्रियो के विषयो का सेवन करने मे सकोच मत करो—मौज करो, मस्त रहो । धर्म-अधर्म का विचार त्याग दो । वे कहते भी हैं—

पिब खाद च चारुलोचने ! यदतीत वरगात्रि ! तन्न ते ।
न हि भीरु ! गत निवर्त्तते, समुदयमात्रमिद कलेवरम् ।।

अर्थात्—अरी सुलोचने ! मजे से मन चाहा खाओ, (मदिरा आदि) सभी कुछ पीओ । हे सुन्दरी ! जो बीत गया सो सदा के लिए गया, वह अब हाथ आने वाला नही । हे भीरु ! (स्वर्ग-नरक की चिन्ता मत करो) यह कलेवर तो पाच भूतो का पिण्ड ही है । इन भूतो के बिखर जाने पर आत्मा या जीव जैसी कोई वस्तु शेष नही रहती ।

इस प्रकार आत्मा का सनातन अस्तित्व स्वीकार न करने से जो विचारधारा उत्पन्न होती है, वह कितनी भयावह है ! आत्मा को घोर पतन की ओर ले जाने वाली तो है ही, सामाजिक सदाचार, नैतिकता, प्रामाणिकता और शिष्टाचार के लिए भी चुनौती है ! यदि ससार के सभी मनुष्य इस नास्तिकवाद को मान्य कर लें तो क्षण भर भी ससार मे शान्ति न रहे । सर्वत्र हाहाकार मच जाए । बलवान् निर्बल को निगल जाए । सामाजिक मर्यादाएँ ध्वस्त हो जाएँ । यह भूतल ही नरक बन जाए ।

असद्भाववादी का मत

४८—इम वि बितिय कुदंसण असब्भाववाइणो पण्णवेंति मूढा—संभूओ अडगाओ लोगो । सयभुणा सयं य निम्मिओ ।
एव एयं अलियं पयपति ।

४८—(वामलोकवादी नास्तिको के अतिरिक्त) कोई-कोई असद्भाववादी—मिथ्यावादी मूढ जन दूसरा कुदर्शन—मिथ्यामत इस प्रकार कहते है—

यह लोक अडे से उद्भूत—प्रकट हुआ है।

इस लोक का निर्माण स्वय स्वयभू ने किया है।

इस प्रकार वे मिथ्या कथन करते है।

विवेचन—उल्लिखित मूल पाठ मे सृष्टि की उत्पत्ति मान कर उसकी उत्पत्ति की विधि किस प्रकार मान्य की गई है, इस सम्बन्ध मे अनेकानेक मतो मे से दो मतो का उल्लेख किया गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि यह वाद—कथन वास्तविक नही है। अज्ञानी जन इस प्रकार की प्ररूपणा करते हैं।

किसी-किसी का अभिमत है कि यह समग्र जगत् अडे से उत्पन्न या उद्भूत हुआ है और स्वयभू ने इसका निर्माण किया है।

अडसृष्टि के मुख्य दो प्रकार है—एक प्रकार छान्दोग्योपनिषद् मे बतलाया गया है और दूसरा प्रकार मनुस्मृति मे दिखलाया गया है।

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार सृष्टि से पहले प्रलयकाल मे यह जगत् असत् अर्थात् अव्यक्त था। फिर वह सत् अर्थात् नाम रूप कार्य की ओर अभिमुख हुआ। तत्पश्चात् यह अकुरित बीज के समान कुछ-कुछ स्थूल बना। आगे चलकर वह जगत् अडे के रूप मे बन गया। एक वर्ष तक वह अण्डे के रूप मे बना रहा। एक वर्ष बाद अडा फूटा। अडे के कपालो (टुकडो) मे से एक चादी का और दूसरा सोने का बना। जो टुकडा चादी का था उससे यह पृथ्वी बनी और सोने के टुकडे से ऊर्ध्वलोक—स्वर्ग बना। गर्भ का जो जरायु (वेष्टन) था उससे पर्वत बने और जो सूक्ष्म वेष्टन था वह मेघ और तुषार रूप मे परिणत हो गया। उसकी धमनियाँ नदियाँ बन गईं। जो मूत्राशय का जल था वह समुद्र बन गया। अडे के अन्दर से जो गर्भ रूप मे उत्पन्न हुआ वह आदित्य बना।[1]

यह स्वतन्त्र अडे से बनी सृष्टि है। दूसरे प्रकार की अडसृष्टि का वर्णन मनुस्मृति मे पाया जाता है वह इस प्रकार है—[2]

१ छान्दोग्योपनिषद् ३, १९

२ आसीदिद तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेय प्रसुप्तमिव सर्वत ॥
तत स्वयभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजा प्रादुरासीत्तमोनुद ॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्य, सूक्ष्मोऽव्यक्तमनातन।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्य, स एव स्वयमुद्बभौ ॥
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात्सिसृक्षुर्विविधा प्रजा।
अप एव ससर्जादौ, तासु बीजमपासृजत् ॥

पहले यह जगत् अन्धकार रूप था। यह न किसी से जाना जाता था, न इसका कोई लक्षण (पहचान) था। यह तर्क-विचार से अतीत और पूरी तरह से प्रसुप्त-सा अज्ञेय था।

तब अव्यक्त रहे हुए भगवान् स्वयभू पाच महाभूतो को प्रकट करते हुए स्वय प्रकट हुए।

यह जो अतीन्द्रिय, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन सर्वान्तर्यामी और अचिन्त्य परमात्मा है, वह स्वय (इस प्रकार) प्रकट हुआ।

उसने ध्यान करके अपने शरीर से अनेक प्रकार के जीवो को बनाने की इच्छा से सर्वप्रथम जल का निर्माण किया और उसमे बीज डाल दिया।

वह बीज सूर्य के समान प्रभा वाला स्वर्णमय अडा बन गया। उससे सर्वलोक के पितामह ब्रह्मा स्वय प्रकट हुए।

नर—परमात्मा से उत्पन्न होने के कारण जाल को नार कहते हैं। वह नार इसका पूर्व घर (आयन) है, इसलिए इसे नारायण कहते है।

जो सब का कारण है, अव्यक्त और नित्य है तथा सत् और असत् स्वरूप है, उससे उत्पन्न वह पुरुष लोक मे ब्रह्मा कहलाता है।

एक वर्ष तक उस अडे मे रहकर उस भगवान् ने स्वय ही अपने ध्यान से उस अडे के दो टुकडे कर दिए।

उन दो टुकडो से उसने स्वर्ग और पृथ्वी का निर्माण किया। मध्यभाग से आकाश, आठ दिशाओ और जल का शाश्वत स्थान निर्मित किया।

इस क्रम के अनुसार पहले भगवान् स्वयभू प्रकट हुए और जगत् को बनाने की इच्छा से अपने शरीर से जल उत्पन्न किया। फिर उसमे बीज डालने से वह अडाकार हो गया। ब्रह्मा या नारायण ने अडे मे प्रकट होकर उसे फोड दिया, जिससे समस्त ससार प्रकट हुआ।

इन सब मान्यताओ को यहाँ मृषावाद मे परिगणित किया गया है। जैसा कि आगे कहा जायगा, जीवाजीवात्मक अथवा षड्द्रव्यात्मक लोक अनादि और अनन्त है। न कभी उत्पन्न होता है और न कभी इसका विनाश होता है। द्रव्यरूप से नित्य और पर्याय रूप से अनित्य है।

तदण्डमभवद्धैम, सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वय ब्रह्मा, सर्वलोकपितामह ॥
आपो नारा इति प्रोक्ता, आपो वै नरसूनव ।
ता यदस्यायन पूर्व, तेन नारायण स्मृत ॥
यत्तत्कारणमव्यक्त, नित्य सदसत्कारणम्।
तद्विसृष्ट स पुरुषो, लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥
तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा ॥
ताभ्या स शकलाभ्या च, दिव भूमि च निर्ममे ।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपा स्थानञ्च शाश्वतम् ॥

प्रजापति का सृष्टि-सर्जन—

४९—पयावइणा इस्सरेण य कय ति केई।

एव विण्हुमय कसिणमेव य जग ति केइ।

एवमेगे वयति मोस एगे आया अकारओ वेदओ य सुकयस्स दुक्कयस्स य करणाणि कारणाणि सव्वहा सव्वहि च णिच्चो य णिक्किओ णिग्गुणो य अणुवलेवओ त्ति विय एवमाहसु असब्भाव।

४८—कोई-कोई कहते है कि यह जगत् प्रजापति या महेश्वर ने बनाया है।

किसी का कहना है कि यह समस्त जगत् विष्णुमय है।

किसी की मान्यता है कि आत्मा अकर्त्ता है किन्तु (उपचार से) पुण्य और पाप (के फल) का भोक्ता है। सर्व प्रकार से तथा सर्वत्र देश-काल मे इन्द्रिया ही कारण है। आत्मा (एकान्त) नित्य है, निष्क्रिय है, निर्गुण है और निर्लेप है। असद्भाववादी इस प्रकार प्ररूपणा करते है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे अनेक मिथ्या मान्यताओ का उल्लेख किया गया है। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

प्रजापतिसृष्टि—मनुस्मृति मे कहा है—ब्रह्मा ने अपने देह के दो टुकडे किए। एक टुकडे को पुरुष और दूसरे टुकडे को स्त्री बनाया। फिर स्त्री मे विराट् पुरुष का निर्माण किया।

उस विराट् पुरुष ने तप करके जिसका निर्माण किया, वही मैं (मनु) हूँ, अतएव हे श्रेष्ठ द्विजो! सृष्टि का निर्माणकर्त्ता मुझे समझो।[1]

मनु कहते है—दुष्कर तप करके प्रजा की सृष्टि करने की इच्छा से मैंने प्रारम्भ मे दश महर्षि प्रजापतियो को उत्पन्न किया।

उन प्रजापतियो के नाम ये हैं—(१) मरीचि (२) अत्रि (३) अगिरस् (४) पुलस्त्य (५) पुलह (६) क्रतु (७) प्रचेतस् (८) वशिष्ठ (९) भृगु और (१०) नारद।[2]

ईश्वरसृष्टि—ईश्वरवादी एक—अद्वितीय, सर्वव्यापी, नित्य, सर्वतत्रस्वतत्र ईश्वर के द्वारा सृष्टि का निर्माण मानते हैं। ये ईश्वर को जगत् का उपादानकारण नही, निमित्तकारण कहते है।

१ द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देह-मर्द्धम् पुरुषोऽभवत्।
अर्धम् नारी तस्या स, विराजमसृजत्प्रभु ॥
तपस्तप्त्वाऽसृजद् य तु स स्वय पुरुपो विराट्।
त मा वित्तास्य सर्वस्य, सृष्टार द्विजसत्तमा ॥
—मनुस्मृति अ १ ३२-३२

२ अह प्रजा सिसृक्षुस्तु, तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्।
पतीन् प्रजानामसृज, महर्षीनादितो दश ॥
मरीचिमत्र्यगिरसौ पुलस्त्य पुलह क्रतुम्।
प्रचेतस वशिष्ठञ्च, भृगु नारदमेव च ॥
—मनुस्मृति अ १–३४–३५

ईश्वर को ही कर्मफल का प्रदाता मानते हैं। ईश्वर द्वारा प्रेरित होकर ही ससारी जीव स्वर्ग या नरक मे जाता है।

इस प्रकार जगत् की सृष्टि के विषय मे, यो तो 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' इस लोकोक्ति के अनुसार अनेकानेक मत है, तथापि यहाँ मुख्य रूप से तीन मतो का उल्लेख किया गया है—अडे से सृष्टि, प्रजापति द्वारा सृष्टि और ईश्वर द्वारा सृष्टि।

किन्तु सृष्टि-रचना की मूल कल्पना ही भ्रमपूर्ण है। वास्तव मे यह जगत् सदा काल से है और सदा काल विद्यमान रहेगा।

इस विशाल एव विराट् जगत् के मूलभूत तत्त्व जीव और अजीव हे। ये दोनो तत्त्व न कभी सर्वथा उत्पन्न होते है और न कभी सर्वथा विनष्ट होते है। जगत् का एक भी परमाणु न सत् से असत् हो सकता है और न असत् से सत् ही हो सकता है। साधारणतया लोक मे जो उत्पाद और विनाश कहलाता है, वह विद्यमान पदार्थों की अवस्थाओ का परिवर्त्तन मात्र है। मनुष्य की तो बात ही क्या, इन्द्र मे भी यह सामर्थ्य नही कि वह शून्य मे से एक भी कण का निर्माण कर सके और न यह शक्ति है कि किसी सत् को असत्—शून्य बना सके। प्रत्येक कार्य का उपादानकारण पहले ही विद्यमान रहता है। यह तथ्य भारतीय दर्शनो मे और साथ ही विज्ञान द्वारा स्वीकृत है। ऐसी स्थिति मे जगत् की मूलत उत्पत्ति की कल्पना भ्रमपूर्ण है।

अडे से जगत् की उत्पत्ति कहने वालो को सोचना चाहिए कि जब पाच भूतो की सत्ता नही थी तो अकस्मात् अडा कैसे पैदा हो गया? अडे के पैदा होने के लिए पृथिवी चाहिए, जल चाहिए, तेज भी चाहिए और रहने के लिए आकाश भी चाहिये। फिर देव और मनुष्य आदि भी अचानक किस प्रकार उत्पन्न हो गए?

विष्णुमय जगत् की मान्यता भी कपोल-कल्पना के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है। जब जगत् नही था तो विष्णुजी रहते कहाँ थे? उन्हे जगत्-रचना की इच्छा और प्रेरणा क्यो हुई? अगर वे घोर अन्धकार मे रहते थे, उसके अतिरिक्त कुछ भी नही था तो विना उपादान-सामग्री के ही उन्होने इतने विराट् जगत् की सृष्टि किस प्रकार कर डाली?

सृष्टि के विषय मे अन्य मन्तव्य भी यहाँ बतलाए गए है। उन पर अन्यान्य दार्शनिक ग्रन्थो मे विस्तार से गभीर ऊहापोह किया गया है। अतएव जिज्ञासुओ को उन ग्रन्थो का अवलोकन करना चाहिए। विस्तृत चर्चा करना यहाँ अप्रासगिक होगा। प्रस्तुत मे इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि सृष्टि की रचना सबधी समस्त कल्पनाएँ मृषा हैं। जगत् अनादि एव अनन्त है। ईश्वर तो परम वीतराग, सर्वज्ञ और कृतकृत्य है। जो आत्मा आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा प्राप्त कर चुका है, जिसने शुद्ध आत्मस्वरूप को प्रकट कर लिया है, वही आत्मा परमात्मा है—ईश्वर है। उसे जगत् की रचना या सचालन की झझटो मे पडने की क्या अपेक्षा है? सृष्टि का रचयिता और नियन्त्रक मानने से ईश्वर मे अनेक दोषो की उपपत्ति होती है। यथा—यदि वह दयालु है तो दु खी जीवो की सृष्टि क्यो करता है? कहा जाए कि जीव अपने पापकर्मो से दु ख भोगते हैं तो वह पापकर्मों को करने क्यो देता है? सर्वशक्तिमान् होने से उन्हे रोक नही देता? पहले तो ईश्वर जीवो को सर्वज्ञ होने के कारण जान-बूझ कर पापकर्म करने देता है, रोकने मे समर्थ हो कर भी रोकता नही और फिर उन्हे पापकर्मो का दड देता है। किसी को नरक मे भेजता है, किसी को अन्य प्रकार से सजा देकर पीड़ा पहुँचाता है। ऐसी स्थिति मे उसे करुणावान् कैसे कहा जा सकता है?

यदि यह सब ईश्वर की क्रीडा है—लीला है तो फिर उसमे और बालक मे क्या अन्तर रहा ? फिर यह लीला कितनी क्रूरतापूर्ण है ?

इस प्रकार ये सारी कल्पनाएँ ईश्वर के स्वरूप को दूषित करने वाली है । सब मृषावाद है ।

एकात्मवाद—प्रस्तुत सूत्र मे एकात्मवाद की मान्यता का उल्लेख करके उसे मृषावाद बतलाया गया है । यह वेदान्तदर्शन की मान्यता है ।[1] यद्यपि जैनागमो मे भी सग्रहनय के दृष्टिकोण से आत्मा के एकत्व का कथन किया गया है किन्तु व्यवहार आदि अन्य नयो की अपेक्षा भिन्नता भी प्रतिपादित की गई है । द्रव्य की अपेक्षा से अनन्तानन्त आत्माएँ है । वे सब पृथक्-पृथक्, एक दूसरी से असबद्ध, स्वतत्र है । एकान्तरूप से आत्मा को एक मानना प्रत्यक्ष से और युक्तियो से भी बाधित है । मनुष्य, पशु, पक्षी, कीडा-मकोडा, वनस्पति आदि के रूप मे आत्मा का अनेकत्व प्रत्यक्षसिद्ध है । अगर आत्मा एकान्तत एक ही हो तो एक का मरण होने पर सब का मरण और एक का जन्म होने पर सब का जन्म होना चाहिए । एक के सुखी या दु खी होने पर सब को सुखी या दु खी होना चाहिए । किसी के पुण्य-पाप पृथक् नही होने चाहिए । इसके अतिरिक्त पिता-पुत्र मे, पत्नी-पुत्री-माता आदि मे भी भेद नही होना चाहिए । इस प्रकार सभी लौकिक एव लोकोत्तर व्यवस्थाएँ नष्ट हो जाएँगी । अतएव एकान्त एकात्मवाद भी मृषावाद है ।

अकर्तृवाद—साख्यमत के अनुसार आत्मा अमूर्त्त चेतन, भोक्ता, नित्य, सर्वव्यापक और अक्रिय है । वह अकर्त्ता है, निर्गु ण है और सूक्ष्म है ।[2]

वे कहते हैं—न तो आत्मा बद्ध होता है, न उसे मोक्ष होता है और न वह ससरण करता—एक भव से दूसरे भव मे जाता है । मात्र नाना पुरुषो के आश्रित प्रकृति को ही ससार, बन्ध और मोक्ष होता है ।[3]

साख्यमत मे मौलिक तत्त्व दो है—पुरुष अर्थात् आत्मा तथा प्रधान अर्थात् प्रकृति । सृष्टि के आविर्भाव के समय प्रकृति से बुद्धितत्त्व, बुद्धि से अहकार, अहकार से पाच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, और पाँच तन्मात्र अर्थात् रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द तथा इन पाँच तन्मात्रो से पृथ्वी आदि पाँच महाभूतो का उद्‌भव होता है । यह साख्यसृष्टि की प्रक्रिया है ।

साख्य पुरुष (आत्मा) को नित्य, व्यापक और निष्क्रिय कहते है । अतएव वह अकर्त्ता भी है ।

विचारणीय यह है कि यदि आत्मा कर्त्ता नही है तो भोक्ता कैसे हो सकता है ? जिसने शुभ या अशुभ कर्म नही किए हैं, वह उनका फल क्यो भोगता है ?

---

१ एक एव हि भूतात्मा, भूते-भूते व्यवस्थित ।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

२ अमूर्त्तश्चेतनो भोगी नित्य सर्वगतोऽक्रिय ।
अकर्त्ता निर्गु ण सूक्ष्म-आत्मा कापिलदर्शने ॥

३ तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते ससरति कश्चित् ।
ससरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति ॥

—साख्यकारिका

पुरुष चेतन और प्रकृति जड है और प्रकृति को ही ससार, बन्ध और मोक्ष होता है। जड प्रकृति मे बन्ध-मोक्ष-ससार मानना मृषावाद है। उससे बुद्धि की उत्पत्ति कहना भी विरुद्ध है।

साख्यमत मे इन्द्रियो को पाप-पुण्य का कारण माना है, किन्तु वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ नामक उनकी मानी हुई पाच कर्मेन्द्रियाँ जड है। वे पाप-पुण्य का उपार्जन नही कर सकती। स्पर्शन आदि पांच ज्ञानेन्द्रिया भी द्रव्य और भाव के भेद से दो-दो प्रकार की है। द्रव्येन्द्रिया जड है। वे भी पुण्य-पाप का कारण नही हो सकती। भावेन्द्रिया आत्मा से कथचित् अभिन्न है। उन्हे कारण मानना आत्मा को ही कारण मानना कहलाएगा।

आत्मा को एकान्त नित्य (कूटस्थ अपरिणामी), निष्क्रिय, निर्गुण और निर्लेप मानना भी अप्रामाणिक है। जब आत्मा सुख-दु ख का भोक्ता है तो अवश्य ही उसमे परिणाम-अवस्थापरिवर्त्तन मानना पडेगा। अन्यथा कभी सुख का भोक्ता और कभी दु ख का भोक्ता कैसे हो सकता है? एकान्त अपरिणामी होने पर जो सुखी है, वह सदैव सुखी ही रहना चाहिए और जो दु खी है, वह सदैव दु खी ही रहना चाहिए। इस अनिष्टापत्ति को टालने के लिए साख्य कह सकते हैं कि आत्मा परमार्थत भोक्ता नही है। बुद्धि सुख-दु ख का भोग करती है और उसके प्रतिविम्वमात्र से आत्मा (पुरुष) अपने आपको सुखी-दु खी अनुभव करने लगता है। मगर यह कथन सगत नही हो सकता, क्योकि बुद्धि जड प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण जड है और जड को सुख-दु ख का अनुभव हो नही सकता। जो स्वभावत जड है वह पुरुष के ससर्ग से भी चेतनावान् नही हो सकता।

आत्मा को क्रियारहित मानना प्रत्यक्ष से बाधित है। उसमे गमनागमन, जानना-देखना आदि क्रियाएँ तथा सुख-दु ख, हर्ष-विषाद आदि की अनुभूतिरूप क्रियाएँ प्रत्यक्ष देखी जाती है।

आत्मा को निर्गुण मानना किसी अपेक्षाविशेष से ही सत्य हो सकता है, सर्वथा नही। अर्थात् प्रकृति के गुण यदि उसमे नही है तो ठीक, मगर पुरुष के गुण ज्ञान-दर्शनादि से रहित मानना योग्य नही है। ज्ञानादि गुण यदि चैतन्यस्वरूप आत्मा मे नही होगे तो किसमे होगे? जड मे तो चैतन्य का होना असभव है।

वस्तुत आत्मा चेतन है, द्रव्य से नित्य-अपरिणामी होते हुए भी पर्याय से अनित्य-परिणामी है, अपने शुभ और अशुभ कर्मों का कर्त्ता है और उनके फल सुख-दु ख का भोक्ता है। अतएव वह सर्वथा निष्क्रिय और निर्गुण नही हो सकता।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र मे जगत् की उत्पत्ति और आत्मा सबधी मृषावाद का उल्लेख किया गया है।

मृषावाद—

५०—ज वि इह किंचि जीवलोए दीसइ सुकय वा दुकय वा एय जदिच्छाए वा सहावेण वावि दइवतप्पभावओ वावि भवइ। णत्थेत्थ किंचि कयग तत्त लक्खणविहाणणियत्तीए कारिय एव केइ जपति इड्ढि-रस-सायागारवपरा बहवे करणालसा परूवेंति धम्मवीमसएणं मोस।

५०—कोई-कोई ऋद्धि, रस और साता के गारव (अहकार) से लिप्त या इनमे अनुरक्त बने हुए और क्रिया करने मे आलसी बहुत से वादी धर्म की मीमासा (विचारणा) करते हुए इस प्रकार मिथ्या प्ररूपणा कहते है—

इस जीवलोक मे जो कुछ भी सुकृत या दुष्कृत दृष्टिगोचर होता है, वह सब यदृच्छा से, स्वभाव से अथवा दैवतप्रभाव—विधि के प्रभाव से ही होता है। इस लोक मे कुछ भी ऐसा नही है जो पुरुषार्थ से किया गया तत्त्व (सत्य) हो। लक्षण (वस्तुस्वरूप) और विद्या (भेद) की कर्त्री नियति ही है, ऐसा कोई करते है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे एकान्त यदृच्छावादी, स्वभाववादी, दैव या दैवतवादी एव नियतिवादी के मन्तव्यो का उल्लेख करके उन्हे मृषा (मिथ्या) बतलाया गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि ऐसे वादी वस्तुत ऋद्धि, रस और साता मे आसक्त रहते हैं। वे पुरुषार्थहीन, प्रमादमय जीवन यापन करने वाले हैं, अतएव पुरुषार्थ के विरोधी है। उल्लिखित वादो का आशय सक्षेप मे इस प्रकार है—

यदृच्छावाद—सोच-विचार किए विना ही—अनभिसन्धिपूर्वक, अर्थप्राप्ति यदृच्छा कहलाती है। यदृच्छावाद का मन्तव्य है—प्राणियो को जो भी सुख या दु ख होता है, वह सब अचानक-अतर्कित ही उपस्थित हो जाता है। यथा—काक आकाश मे उडता-उडता अचानक किसी ताड के नीचे पहुँचा और अकस्मात् ही ताड का फल टूट कर गिरा और काक उससे आहत-घायल हो गया। यहाँ न तो काक का इरादा था कि मुझे आघात लगे और न ताड-फल का अभिप्राय था कि मैं काक को चोट पहुँचाऊँ। सब कुछ अचानक हो गया। इसी प्रकार जगत् मे जो घटनाएँ घटित होती हैं, वे सब बिना अभिसन्धि—इरादे के घट जाती है। बुद्धिपूर्वक कुछ भी नही होता। अतएव अपने प्रयत्न एव पुरुषार्थ का अभिमान करना वृथा है।[1]

स्वभाववाद—पदार्थ का स्वत ही अमुक रूप मे परिणमन होना स्वभाववाद कहलाता है। स्वभाववादियो का कथन है—जगत् मे जो कुछ भी होता है, स्वत ही हो जाता है। मनुष्य के करने से कुछ भी नही होता। काटो मे तीक्ष्णता कौन उत्पन्न करता है—कौन उन्हे नोकदार बनाता है? पशुओ और पक्षियो के जो अनेकानेक विचित्र-विचित्र आकार—रूप आदि दृष्टिगोचर होते हैं, उनको बनाने वाला कौन है? वस्तुत यह सब स्वभाव से ही होता है। काटे स्वभाव से ही नोकदार होते हैं और पशु-पक्षियो की विविधरूपता भी स्वभाव से ही उत्पन्न होती है। इसमे न किसी की इच्छा काम आती है, न कोई इसके लिए प्रयत्न या पुरुषार्थ करता है। इसी प्रकार जगत् के समस्त कार्य-कलाप स्वभाव से ही हो रहे है। पुरुषार्थ को कोई स्थान नही है। लाख प्रयत्न करके भी कोई वस्तु के स्वभाव मे तनिक भी परिवर्त्तन नही कर सकता।[2]

विधिवाद—जगत् मे कुछ लोग एकान्त विधिवाद—भाग्यवाद का समर्थन करके मृषावाद करते है। उनका कथन है कि प्राणियो को जो भी सुख-दु ख होता है, जो हर्ष-विवाद के प्रसग उपस्थित होते है, न तो यह इच्छा से और न स्वभाव से होते है, किन्तु विधि या भाग्य—दैव से ही

---

१ अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्र जनाना सुखदु खजातम्।
काकस्य तालेन यथाभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाभिमान ॥
—अभयदेववृत्ति पृ ३६

२ क कण्टकाना प्रकरोति तैक्ष्ण्य, विचित्रभाव मृगपक्षिणाञ्च।
स्वभावत सर्वमिद प्रवृत्त, न कामचारोऽस्ति कुत प्रयत्न ? ॥
—अभयदेववृत्ति, पृ ३६

होते है। दैव की अनुकूलता हो तो विना पुरुषार्थ किये इष्ट वस्तु प्राप्त हो जाती है और जब भाग्य प्रतिकूल होता है तो हजार-हजार प्रयत्न करने पर भी नही प्राप्त होती। अतएव ससार मे सुख-दु ख का जनक भाग्य ही है। विधिवादी कहते है—

जिस अर्थ की प्राप्ति होती है वह हो ही जाती है, क्योकि दैव अलघनीय है—सर्वोपरि है, उसकी शक्ति अप्रतिहत है। अतएव दैववश जो कुछ होता है, उसके लिए मैं न तो शोक करता हूँ और न विस्मय मे पडता हूँ। जो हमारा है, वह हमारा ही होगा। वह किसी अन्य का नही हो सकता।[1]

तात्पर्य यह है कि एकमात्र भाग्य ही शुभाशुभ फल का प्रदाता है। विधि के विधान को कोई टाल नही सकता।

नियतिवाद—भवितव्यता अथवा होनहार नियति कहलाती है। कई प्रमादी मनुष्य भवितव्य के सहारे निश्चिन्त रहने को कहते हैं। उनका कथन होता है—आखिर हमारे सोचने और करने से क्या होना जाना है! जो होनहार है, वह होकर ही रहता है और अनहोनी कभी होती नही।[2]

पुरुषार्थवाद—यद्यपि मूल पाठ मे पुरुषार्थवाद का नामोल्लेख नही किया गया है, तथापि अनेक लोग एकान्त पुरुषार्थवादी देखे जाते है। उनका मत भी मृषावाद के अन्तर्गत है। कोई-कोई कालवादी भी हैं। उपलक्षण से यहाँ उनका भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

एकान्त पुरुषार्थवादी स्वभाव, दैव आदि का निषेध करके केवल पुरुषार्थ से ही सर्व प्रकार को कार्यसिद्धि स्वीकार करते है। उनका कथन है—लक्ष्मी उद्योगी पुरुष को ही प्राप्त होती हैं। लक्ष्मी को प्राप्ति भाग्य से होती है, ऐसा कहने वाले पुरुष कायर है। अतएव दैव को ठोकर मारकर अपनी शक्ति के अनुसार पुरुषार्थ करो। प्रयत्न किए जाओ। प्रयत्न करने पर भी यदि सिद्धि न हो तो इसमे क्या दोष—बुराई है।

कार्य तो उद्योग-पुरुषार्थ करने से ही सिद्ध होते हैं। निठल्ले बैठे-बैठे मसूबे करते रहने से सिद्धि नही मिलती। शेर सोया पडा रहे और मृग आकर उसके मुख मे प्रविष्ट हो जाएँ, ऐसा क्या कभी हो सकता है? नही! शेर को अपनी भूख मिटाने के लिए पुरुषार्थ के सिवाय अन्य कोई उपाय नही है।

कालवाद—एकान्त कालवादियो का कथन है कि स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ आदि नही, किन्तु काल से ही कार्य को सिद्धि होती है। सब कारण विद्यमान होने पर भी जब तक काल परिपक्व नही होता तब तक कार्य नही होता। अमुक काल मे ही गेहूँ, चना आदि धान्य की निष्पत्ति

---

१ प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्य, किम् कारण? दैवमलङ्घनीयम्।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयामि, यदस्मदीय न हि तत् परेषाम्॥

—अभयदेववृत्ति, पृ ३५

२ न हि भवति यन्न भाव्य, भवति च भाव्य विनापि यत्नेन।
करतलगतमपि नश्यति, यस्य नु भवितव्यता नास्ति॥

—अ वृत्ति पृ ३५

इस जीवलोक मे जो कुछ भी सुकृत या दुष्कृत दृष्टिगोचर होता है, वह सब यदृच्छा से, स्वभाव से अथवा दैवतप्रभाव—विधि के प्रभाव से ही होता है। इस लोक मे कुछ भी ऐसा नही है जो पुरुषार्थ से किया गया तत्त्व (सत्य) हो। लक्षण (वस्तुस्वरूप) और विद्या (भेद) की कर्त्री नियति ही है, ऐसा कोई करते है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे एकान्त यदृच्छावादी, स्वभाववादी, दैव या दैवतवादी एव नियतिवादी के मन्तव्यो का उल्लेख करके उन्हे मृषा (मिथ्या) बतलाया गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि ऐसे वादी वस्तुत ऋद्धि, रस और साता मे आसक्त रहते है। वे पुरुषार्थहीन, प्रमादमय जीवन यापन करने वाले है, अतएव पुरुषार्थ के विरोधी है। उल्लिखित वादो का आशय सक्षेप मे इस प्रकार है—

यदृच्छावाद—सोच-विचार किए विना ही—अनभिसन्धिपूर्वक, अर्थप्राप्ति यदृच्छा कहलाती है। यदृच्छावाद का मन्तव्य है—प्राणियो को जो भी सुख या दु ख होता है, वह सब अचानक-अतर्कित ही उपस्थित हो जाता है। यथा—काक आकाश मे उडता-उडता अचानक किसी ताड के नीचे पहुँचा और अकस्मात् ही ताड का फल टूट कर गिरा और काक उससे आहत-घायल हो गया। यहाँ न तो काक का इरादा था कि मुझे आघात लगे और न ताड-फल का अभिप्राय था कि मैं काक को चोट पहुँचाऊँ। सब कुछ अचानक हो गया। इसी प्रकार जगत् मे जो घटनाएँ घटित होती है, वे सब बिना अभिसन्धि—इरादे के घट जाती है। बुद्धिपूर्वक कुछ भी नही होता। अतएव अपने प्रयत्न एव पुरुषार्थ का अभिमान करना वृथा है।[1]

स्वभाववाद—पदार्थ का स्वत ही अमुक रूप मे परिणमन होना स्वभाववाद कहलाता है। स्वभाववादियो का कथन है—जगत् मे जो कुछ भी होता है, स्वत ही हो जाता है। मनुष्य के करने से कुछ भी नही होता। काटो मे तीक्ष्णता कौन उत्पन्न करता है—कौन उन्हे नोकदार बनाता है? पशुओ और पक्षियो के जो अनेकानेक विचित्र-विचित्र आकार—रूप आदि दृष्टिगोचर होते है, उनको बनाने वाला कौन है? वस्तुत· यह सब स्वभाव से ही होता है। काटे स्वभाव से ही नोकदार होते हैं और पशु-पक्षियो की विविधरूपता भी स्वभाव से ही उत्पन्न होती है। इसमे न किसी की इच्छा काम आती है, न कोई इसके लिए प्रयत्न या पुरुषार्थ करता है। इसी प्रकार जगत् के समस्त कार्य-कलाप स्वभाव से ही हो रहे है। पुरुषार्थ को कोई स्थान नही है। लाख प्रयत्न करके भी कोई वस्तु के स्वभाव मे तनिक भी परिवर्त्तन नही कर सकता।[2]

विधिवाद—जगत् में कुछ लोग एकान्त विधिवाद—भाग्यवाद का समर्थन करके मृषावाद करते है। उनका कथन है कि प्राणियो को जो भी सुख-दु ख होता है, जो हर्ष-विषाद के प्रसग उपस्थित होते है, न तो यह इच्छा से और न स्वभाव से होते हैं, किन्तु विधि या भाग्य—दैव से ही

---

१ अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्र जनाना सुखदु खजातम्।
काकस्य तालेन यथाभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाभिमान ॥

—अभयदेववृत्ति पृ ३६

२ क कण्टकाना प्रकरोति तैक्ष्ण्य, विचित्रभाव मृगपक्षिणाञ्च।
स्वभावत सर्वमिद प्रवृत्त, न कामचारोऽस्ति कुत प्रयत्न ? ॥

—अभयदेववृत्ति पृ ३६

होते है। दैव की अनुकूलता हो तो विना पुरुषार्थ किये इष्ट वस्तु प्राप्त हो जाती है और जब भाग्य प्रतिकूल होता है तो हजार-हजार प्रयत्न करने पर भी नही प्राप्त होती। अतएव ससार मे सुख-दु ख का जनक भाग्य ही है। विधिवादी कहते है—

जिस अर्थ की प्राप्ति होती है वह हो ही जाती है, क्योकि दैव अलघनीय है—सर्वोपरि है, उसकी शक्ति अप्रतिहत है। अतएव दैववश जो कुछ होता है, उसके लिए मै न तो शोक करता हूँ और न विस्मय मे पडता हूँ। जो हमारा है, वह हमारा ही होगा। वह किसी अन्य का नही हो सकता।[1]

तात्पर्य यह है कि एकमात्र भाग्य ही शुभाशुभ फल का प्रदाता है। विधि के विधान को कोई टाल नही सकता।

नियतिवाद—भवितव्यता अथवा होनहार नियति कहलाती है। कई प्रमादी मनुष्य भवितव्य के सहारे निश्चिन्त रहने को कहते हैं। उनका कथन होता है—आखिर हमारे सोचने और करने से क्या होना जाना है! जो होनहार है, वह होकर ही रहता है और अनहोनी कभी होती नही।[2]

पुरुषार्थवाद—यद्यपि मूल पाठ मे पुरुषार्थवाद का नामोल्लेख नही किया गया है, तथापि अनेक लोग एकान्त पुरुषार्थवादी देखे जाते है। उनका मत भी मृषावाद के अन्तर्गत है। कोई-कोई कालवादी भी है। उपलक्षण से यहाँ उनका भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

एकान्त पुरुषार्थवादी स्वभाव, दैव आदि का निषेध करके केवल पुरुषार्थ से ही सर्व प्रकार की कार्यसिद्धि स्वीकार करते है। उनका कथन है—लक्ष्मी उद्योगी पुरुष को ही प्राप्त होती हैं। लक्ष्मी की प्राप्ति भाग्य से होती है, ऐसा कहने वाले पुरुष कायर है। अतएव दैव को ठोकर मारकर अपनी शक्ति के अनुसार पुरुषार्थ करो। प्रयत्न किए जाओ। प्रयत्न करने पर भी यदि सिद्धि न हो तो इसमे क्या दोष—बुराई है।

कार्य तो उद्योग-पुरुषार्थ करने से ही सिद्ध होते है। निठल्ले बैठे-बैठे मसूबे करते रहने से सिद्धि नही मिलती। शेर सोया पडा रहे और मृग आकर उसके मुख मे प्रविष्ट हो जाएँ, ऐसा क्या कभी हो सकता है? नही! शेर को अपनी भूख मिटाने के लिए पुरुषार्थ के सिवाय अन्य कोई उपाय नही है।

कालवाद—एकान्त कालवादियो का कथन है कि स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ आदि नही, किन्तु काल से ही कार्य की सिद्धि होती है। सब कारण विद्यमान होने पर भी जब तक काल परिपक्व नही होता तब तक कार्य नही होता। अमुक काल मे ही गेहूँ, चना आदि धान्य की निष्पत्ति

---

१ प्राप्तव्यमर्थ लभते मनुष्य, किम् कारण? दैवमलड्घनीयम्।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयामि, यदस्मदीय न हि तत् परेषाम्॥

—अभयदेववृत्ति, पृ ३५

२ न हि भवति यन्न भाव्य, भवति च भाव्य विनापि यत्नेन।
करतलगतमपि नश्यति, यस्य नु भवितव्यता नास्ति॥

—अ वृत्ति पृ ३५

होती है। समय आने पर ही सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि होती है। अतएव एकमात्र कारण काल ही है।[1]

ये सब एकान्त मृषावाद हैं। वास्तव मे काल, स्वभाव, नियति, दैव और पुरुषार्थ, सभी यथायोग्य कार्यसिद्धि के सम्मिलित कारण है। स्मरण रखना चाहिए कि कार्यसिद्धि एक कारण से नही, अपितु सामग्री—समग्र कारणो के समूह—से होती है। काल आदि एक-एक कारण अपूर्ण कारक होने से सिद्धि के समर्थ कारण नही है। कहा गया है—

कालो सहाव नियई, पुव्वकय पुरिसकारणेगता।
मिच्छत्त, ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्तं॥

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (दैव—विधि) और पुरुषकार को एकान्त कारण मानना अर्थात् इन पाच मे से किसी भी एक को कारण स्वीकार करना और शेष को कारण न मानना मिथ्यात्व है। ये सब मिलकर ही यथायोग्य कारण होते हैं, ऐसी मान्यता ही सम्यक्त्व है।

झूठा दोषारोपण करने वाले निन्दक—

५१—अवरे अहम्मओ रायदुट्ठ अब्भक्खाण भणति अलिय चोरोत्ति अचोरय करेंत, डामरिउत्ति वि य एमेव उदासीण, दुस्सीलोत्ति य परदार गच्छइत्ति मइलिति सीलकलिय, अय वि गुरुतप्पओ त्ति। अण्णे एमेव भणंति उवाहणता मित्तकलत्ताइं सेवति अय वि लुत्तधम्मो, इमोवि विस्सभवाइओ पावकम्मकारी अगम्मगामी अय दुरप्पा बहुएसु य पावगेसु जुत्तोत्ति एव जपति मच्छरी। भद्दगे वा गुणकित्ति-णेह-परलोय-णिप्पिवासा। एव ते अलियवयणदच्छा परदोसुप्पायणप्पसत्ता वेढेंति अक्खाइयबीएण अप्पाण कम्मबधणेण मुहरी असमिक्खियप्पलावा।

५१—कोई-कोई—दूसरे लोग राज्यविरुद्ध मिथ्या दोषारोपण करते हैं। यथा—चोरी न करने वाले को चोर कहते हैं। जो उदासीन है—लडाई-झगडा नही करता, उसे लड़ाईखोर या झगडालू कहते है। जो सुशील है—शीलवान् है, उसे दु शील—व्यभिचारी कहते हैं, यह परस्त्रीगामी है, ऐसा कहकर उसे मलिन करते हैं—बदनाम करते हैं। उस पर ऐसा आरोप लगाते हैं कि यह तो गुरुपत्नी के साथ अनुचित सम्बन्ध रखता है। कोई-कोई किसी की कीर्त्ति अथवा आजीविका को नष्ट करने के लिए इस प्रकार मिथ्यादोषारोपण करते हैं कि—यह अपने मित्र की पत्नियो का सेवन करता है। यह धर्महीन—अधार्मिक है, यह विश्वासघाती है, पाप कर्म करता है, नही करने योग्य कृत्य करता है, यह अगम्यगामी है अर्थात् भगिनी, पुत्रवधू आदि अगम्य स्त्रियो के साथ सहवास करता है, यह दुष्टात्मा है, बहुत-से पाप कर्मों को करने वाला है। इस प्रकार ईर्ष्यालु लोग मिथ्या प्रलाप करते हैं। भद्र पुरुष के परोपकार, क्षमा आदि गुणो की तथा कीर्त्ति, स्नेह एव परभव की लेशमात्र परवाह न करने वाले वे असत्यवादी, असत्य भाषण करने मे कुशल, दूसरो के दोषो को (मन से घडकर) बताने मे निरत रहते है। वे विचार किए विना बोलने वाले, अक्षय दुःख के कारणभूत अत्यन्त दृढ कर्मबन्धनो से अपनी आत्मा को वेष्टित—बद्ध करते हैं।

१ काल सृजति भूतानि, काल सहरते प्रजा।
काल सुप्तेषु जागर्त्ति, कालो हि दुरतिक्रम॥
—प्र व्या. (सन्मति ज्ञानपीठ) पृ २१२

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे ऐसे लोगो का दिग्दर्शन कराया गया है जो ईर्ष्यालु हैं और इस कारण दूसरो की यशकीर्त्ति को सहन नही कर सकते। किसी की प्रतिष्ठावृद्धि देखकर उन्हे घोर कष्ट होता है। दूसरो के सुख को देखकर जिन्हे तीव्र दु ख का अनुभव होता है। ऐसे लोग भद्र पुरुषो को अभद्रता से लाछित करते है। तटस्थ रहने वाले को लडाई-झगडा करने वाला कहते हैं। जो सुशील—सदाचारी है, उन्हे वे कुशील कहने मे सकोच नही करते। उनकी धृष्टता इतनी बढ जाती है कि वे उन सदाचारी पुरुषो को मित्र-पत्नी का अथवा गुरुपत्नी का—जो माता की कोटि मे गिनी जाती है—सेवन करने वाला तक कहते नही हिचकते। पुण्यशील पुरुष को पापी कहने की धृष्टता करते है। ऐसे असत्यभाषण मे कुशल, डाह से प्रेरित होकर किसी को कुछ भी लाछन लगा देते है। उन्हे यह विचार नही आता कि इस घोर असत्य भाषण और मिथ्यादोषारोपण का क्या परिणाम होगा? वे यह भी नही सोचते कि मुझे परलोक मे जाना है और इस मृषावाद का दुष्परिणाम भुगतना पडेगा। ऐसे लोग दूसरो को लाछित करके, उन्हे अपमानित करके, उनकी प्रतिष्ठा को मलीन करके भले ही क्षणिक सन्तोष का अनुभव कर लें, किन्तु वे इस पापाचरण के द्वारा ऐसे घोरतर पापकर्मों का सचय करते हैं जो बडी कठिनाई से भोगे विना नष्ट नही हो सकते। असत्यवादी को भविष्य मे होने वाली यातनाओ से बचाने की सद्भावना से शास्त्रकार ने मृषावाद के अनेक प्रकारो का यहाँ उल्लेख किया है और आगे भी करेंगे।

लोभजन्य अनर्थकारी झूठ—

५२—णिक्खेवे अवहरति परस्स अत्थम्मि गढियगिद्धा अभिजु जति य पर असतएहिं। लुद्धा य करेंति कूडसक्खित्तण असच्चा अत्थालिय च कण्णालियं च भोमालिय च तह गवालिय च गरुय भणति अहरगइगमण। अण्ण पि य जाइरूवकुलसीलपच्चय मायाणिउण चवलपिसुण परमट्ठभेयगमसतग विद्देसमणत्थकारग पावकम्ममूल दुद्दिट्ठ दुस्सुय अमुणिय णिल्लज्ज लोयगरहणिज्ज वहबधपरिकिलेस-बहुल जरामरणदुक्खसोयणिम्म असुद्धपरिणामसकिलिट्ठ भणति।

५२—पराये धन मे अत्यन्त आसक्त वे (मृषावादी लोभी) निक्षेप (धरोहर) को हडप जाते हैं तथा दूसरे को ऐसे दोषो से दूषित करते है जो दोष उनमे विद्यमान नही होते। धन के लोभी झूठी साक्षी देते है। वे असत्यभाषी धन के लिए, कन्या के लिए, भूमि के लिए तथा गाय-बैल आदि पशुओ के निमित्त अधोगति मे ले जाने वाला असत्यभाषण करते है। इसके अतिरिक्त वे मृषावादी जाति, कुल, रूप एव शील के विषय मे असत्य भाषण करते हैं। मिथ्या षड्यन्त्र रचने मे कुशल, परकीय असद्गुणो के प्रकाशक, सद्गुणो के विनाशक, पुण्य-पाप के स्वरूप से अनभिज्ञ, असत्याचरण-परायण लोग अन्यान्य प्रकार से भी असत्य बोलते हैं। वह असत्य माया के कारण गुणहीन है, चपलता से युक्त है, चुगलखोरी (पैशुन्य) से परिपूर्ण है, परमार्थ को नष्ट करने वाला, असत्य अर्थवाला अथवा सत्त्व से हीन, द्वेषमय, अप्रिय, अनर्थकारी, पापकर्मों का मूल एव मिथ्यादर्शन से युक्त है। वह कर्णकटु, सम्यग्ज्ञानशून्य, लज्जाहीन, लोकगर्हित, वध-बन्धन आदि रूप क्लेशो से परिपूर्ण, जरा, मृत्यु, दु ख और शोक का कारण है, अशुद्ध परिणामो के कारण सक्लेश से युक्त है।

विवेचन—प्रकृत पाठ मे भी असत्यभाषण के अनेक निमित्तो का उल्लेख किया गया है और साथ ही असत्य की वास्तविकता अर्थात् असत्य किस प्रकार का होता है, यह दिखलाया गया है।

धन के लिए असत्य भाषण किया जाता है, यह तो लोक मे सर्वविदित है। किन्तु धन-लोभ के कारण अन्धा बना हुआ मनुष्य इतना पतित हो जाता है कि वह परकीय धरोहर को हडप कर मानो उसके प्राणो को ही हडप जाता है।

इस पाठ मे चार प्रकार के असत्यो का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है—(१) अर्थालीक (२) भूम्यलीक (३) कन्यालीक और (४) गवालीक। इनका अर्थ इस प्रकार है—

(१) **अर्थालीक**—अर्थ अर्थात् धन के लिए बोला जाने वाला अलीक (असत्य)। धन शब्द से यहाँ सोना, चादी, रुपया, पैसा, मणि, मोती आदि रत्न, आभूषण आदि भी समझ लेना चाहिए।

(२) **भूम्यलीक**—भूमि प्राप्त करने के लिए या बेचने के लिए असत्य बोलना। अच्छी उपजाऊ भूमि को बजर भूमि कह देना अथवा बजर भूमि को उपजाऊ भूमि कहना, आदि।

(३) **कन्यालीक**—कन्या के सम्बन्ध मे असत्य भाषण करना, सुन्दर सुशील कन्या को असुन्दर या दुश्शील कहना और दुश्शील को सुशील कहना, आदि।

(४) **गवालीक**—गाय, भैस, बैल, घोडा आदि पशुओ के सम्बन्ध मे असत्य बोलना।

चारो प्रकार के असत्यो मे उपलक्षण से समस्त अपद, द्विपद और चतुष्पदो का समावेश हो जाता है।

ससारी जीव एकेन्द्रियपर्याय मे अनन्तकाल तक लगातार जन्म-मरण करता रहता है। किसी प्रबल पुण्य का उदय होने पर वह एकेन्द्रिय पर्याय से बाहर निकलता है। तब उसे जिह्वा इन्द्रिय प्राप्त होती है और बोलने की शक्ति आती है। इस प्रकार बोलने की शक्ति प्राप्त हो जाने पर भी सोच-विचार कर सार्थक भावात्मक शब्दो का प्रयोग करने का सामर्थ्य तो तभी प्राप्त होता है जब प्रगाढतर पुण्य के उदय से जीव सज्ञी पचेन्द्रिय दशा प्राप्त करे। इनमे भी व्यक्त वाणी मनुष्य-पर्याय मे ही प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि अनन्त पुण्य की पूजी से व्यक्त वाणी बोलने का सामर्थ्य हम प्राप्त करते है। इतनी महर्घ्य शक्ति का सदुपयोग तभी हो सकता है, जब हम स्व-पर के हिताहित का विचार करके सत्य, तथ्य, प्रिय भाषण करे और आत्मा को मलीन—पाप की कालिमा से लिप्त करने वाले वचनो का प्रयोग न करे।

मूल पाठ मे **पावकम्ममूल दुद्दिट्ठं दुस्सुय अमुणिय** पद विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। इनका तात्पर्य यह है कि जिस बात को, जिस घटना को हमने अच्छी तरह देखा न हो, जिसके विषय मे प्रामाणिक पुरुष से सुना न हो और जिसे सम्यक् प्रकार से जाना न हो, उसके विषय ने अपना अभिमत प्रकट कर देना—अप्रमाणित को प्रमाणित कर देना भी असत्य है। यह असत्य पाप का मूल है।

स्मरण रखना चाहिए कि तथ्य और सत्य मे अन्तर है। सत्य की व्युत्पत्ति है—सद्भ्यो हितम् सत्यम्, अर्थात् सत्पुरुषो के लिए जो हितकारक हो, वह सत्य है। कभी-कभी कोई वचन तथ्य होने पर भी सत्य नही होता। जिस वचन से अनर्थ उत्पन्न हो, किसी के प्राण सकट मे पडते हो, जो वचन हिंसाकारक हो, ऐसे वचनो का प्रयोग सत्यभाषण नही है। सत्य की कसौटी अहिंसा है। जो वचन अहिंसा का विरोधी न हो, किसी के लिए अनर्थजनक न हो और हितकर हो, वही वास्तव मे सत्य मे परिगणित होता है।

जो वचन परमार्थ के भेदक हो—मुक्तिमार्ग के विरोधी है, कपटपूर्वक बोले जाते हैं, जो निर्लज्जतापूर्ण है और लोक मे गर्हित है—सामान्य जनो द्वारा भी निन्दित है, सत्यवादी ऐसे वचनो का भी प्रयोग नही करता ।

उभय-घातक—

५३—अलियाहिसधि-सण्णिविट्ठा असतगुणुदीरया य सतगुणणासगा य हिंसाभूओवघाइय अलिय सपउत्ता वयण सावज्जमकुसल साहुगरहणिज्ज अहम्मजणण भणति, अणभिगय-पुण्णपावा पुणो वि अहिगरण-किरिया-पवत्तगा बहुविह अणत्थ अवमद्द अप्पणो परस्स य करेंति ।

५३—जो लोग मिथ्या अभिप्राय—आशय मे सन्निविष्ट है—असत् आशय वाले है, जो असत्—अविद्यमान गुणो की उदीरणा करने वाले—जो गुण नही हे उनका होना कहने वाले, विद्यमान गुणो के नाशक—लोपक है—दूसरो मे मौजूद गुणो को आच्छादित करने वाले है, हिंसा करके प्राणियो का उपघात करते है, जो असत्य भाषण करने मे प्रवृत्त है, ऐसे लोग सावद्य—पापमय, अकुशल—अहितकर, सत्-पुरुषो द्वारा गर्हित और अधर्मजनक वचनो का प्रयोग करते ह । ऐसे मनुष्य पुण्य और पाप के स्वरूप से अनभिज्ञ होते है । वे पुन अधिकरणो अर्थात् पाप के साधनो—शस्त्रो आदि की क्रिया मे—शस्त्रनिर्माण आदि पापोत्पादक उपादानो को बनाने, जुटाने, जोडने आदि की क्रिया मे प्रवृत्ति करने वाले है, वे अपना और दूसरो का बहुविध—अनेक प्रकार से अनर्थ और विनाश करते है ।

विवेचन—जिनका आशय ही असत्य से परिपूर्ण होता है, वे अनेकानेक प्रकार से सत्य को ढँकने और असत्य को प्रकट करने के लिए प्रयत्नशील रहते है । वे अपने और अपना जिन पर रागभाव है ऐसे स्नेही जनो मे जो गुण नही है, उनका होना कहते है और द्वेष के वशीभूत होकर दूसरे मे जो गुण विद्यमान है, उनका अभाव प्रकट करने मे सकोच नही करते । ऐसे लोग हिंसाकारी वचनो का प्रयोग करते भी नही हिचकते ।

प्रस्तुत पाठ मे एक तथ्य यह भी स्पष्ट किया गया है कि मृषावादी असत्य भाषण करके पर का ही अहित, विनाश या अनर्थ नही करता किन्तु अपना भी अहित, विनाश और अनर्थ करता है । मृषावाद के पाप के सेवन करने का विचार मन मे जब उत्पन्न होता है तभी आत्मा मलीन हो जाता है और पापकर्म का बन्ध करने लगता है । मृषावाद करके, दूसरे को धोखा देकर कदाचित् दूसरे का अहित कर सके अथवा न कर सके, किन्तु पापमय विचार एव आचार से अपना अहित तो निश्चित रूप से कर ही लेता है । अतएव अपने हित की रक्षा के लिए भी मृषावाद का परित्याग आवश्यक है ।

पाप का परामर्श देने वाले—

५४—एमेव जंपमाणा महिससूकरे य साहिंति घायगाण, ससयपसयरोहिए य साहिंति वागुराण, तित्तिर-वट्टग-लावगे य कविजल-कवोयगे य साहिंति साउणीण, झस-मगर-कच्छभे य साहिंति मच्छियाणं, सखके खुल्लए य साहिंति मगराण, अयगर-गोणसमंडलिदव्वीकरे मउली य साहिंति वालवीण, गोहा-सेहंग-सल्लग-सरडगे य साहिंति लुद्धगाण, गयकुलवाणरकुले य साहिंति पासियाण.

सुग-बरहिण-मयणसाल-कोइल-हसकुले सारसे य साहिति पोसगाणं, वहबंधजायणं च साहिति गोम्मियाणं, धण-धण्ण-गवेलए य साहिति तक्कराण, गामागर-णगरपट्टणे य साहिति चारियाण, पारघाइय पथघाइयाओ य साहिति गंठिभेयाण, कय च चोरियं साहिति णगरगुत्तियाण। लंछण-णिलछण-धमण-दूहण-पोसण-वणण-दवण-वाहणाइयाइ साहिति बहूणि गोमियाण, धाउ-मणि-सिल-प्पवाल-रयणागरे य साहिति आगरीण, पुप्फविहि फलविहि च साहिति मालियाण, अग्घमहुकोसए य साहिति वणचराण।

५४—इसी प्रकार (स्व-पर का अहित करने वाले मृषावादी जन) घातको को भैसा और शूकर बतलाते है, वागुरिको—व्याधो को—शशक—खरगोश, पसय—मृगविशेष या मृगशिशु और रोहित बतलाते हैं, तीतुर, वतक और लावक तथा कपिजल और कपोत—कबूतर पक्षीघातको—चिडीमारो को बतलाते है, झष—मछलियाँ, मगर और कछुआ मच्छीमारो को बतलाते हैं, शख (द्वीन्द्रिय जीव), अक—जल-जन्तुविशेष और क्षुल्लक—कौडी के जीव धीवरो को बतला देते है, अजगर, गोणस, मडली एव दर्वीकर जाति के सर्पों को तथा मुकुली—बिना फन के सर्पों को सँपेरो को—साँप पकडने वालो को बतला देते हैं, गोधा, सेह, शल्लकी और सरट—गिरगिट लुब्धको को बतला देते हैं गजकुल और वानरकुल अर्थात् हाथियो और बन्दरो के झु ड पाशिको—पाश द्वारा पकडने वालो को बतलाते हैं, तोता, मयूर, मैना, कोकिला और हस के कुल तथा सारस पक्षी पोषको—इन्हे पकड कर, बदी बना कर रखने वालो को बतला देते है। आरक्षको—कारागार आदि के रक्षको को वध, बन्ध और यातना देने के उपाय बतलाते है। चोरो को धन, धान्य और गाय-बैल आदि पशु बतला कर चोरी करने की प्रेरणा करते हैं। गुप्तचरो को ग्राम, नगर, आकर और पत्तन आदि बस्तियाँ (एव उनके गुप्त रहस्य) बतलाते है। ग्रन्थिभेदको—गाठ काटने वालो को रास्ते के अन्त मे अथवा बीच मे मारने-लूटने-टाठ काटने आदि की सीख देते है। नगररक्षको—कोतवाल आदिपुलिसकर्मियो को की हुई चोरी का भेद बतलाते हैं। गाय आदि पशुओ का पालन करने वालो को लाछन—कान आदि काटना, या निशान बनाना, नपु सक—बधिया करना, धमण—भैंस आदि के शरीर मे हवा भरना (जिससे वह दूध अधिक दे), दुहना, पोषना—जौ आदि खिला कर पुष्ट करना, बछडे को दूसरी गाय के साथ लगाकर गाय को धोखा देना अर्थात् वह गाय दूसरे के बछडे को अपना समझकर स्तन-पान कराए, ऐसी भ्रान्ति मे डालना, पीडा पहुँचाना, वाहन गाडी आदि मे जोतना, इत्यादि अनेकानेक पाप-पूर्ण कार्य कहते या सिखलाते हैं। इसके अतिरिक्त (वे मृषावादी जन) खान वालो को गैरिक आदि धातुएँ बतलाते है, चन्द्रकान्त आदि मणियाँ बतलाते हैं, शिलाप्रबाल—मू गा और अन्य रत्न बतलाते हैं। मालियो को पुष्पो और फलो के प्रकार बतलाते हैं तथा वनचरो—भील आदि वनवाली जनो को मधु का मूल्य और मधु के छत्ते बतलाते हैं अर्थात् मधु का मूल्य बतला कर उसे प्राप्त करने की तरकीब सिखाते है।

विवेचन—पूर्व मे बतलाया गया था कि मृषावादी जन स्व और पर—दोनो के विघातक होते हैं। वे किस प्रकार उभय—विघातक हैं, यह तथ्य यहाँ अनेकानेक उदाहरणो द्वारा सुस्पष्ट किया गया है। जिनमे विवेक मूलत है ही नही या लुप्त हो गया है, जो हित-अहित या अर्थ-अनर्थ का समीचीन विचार नही कर सकते, ऐसे लोग कभी-कभी स्वार्थ अथवा क्षुद्र-से स्वार्थ के लिए प्रगाढ पाप-कर्मो का सचय कर लेते है। शिकारियो को हिरण, व्याघ्र, सिह आदि बतलाते हैं—अर्थात् अमुक स्थान पर भरपूर शिकार करने योग्य पशु मिलेंगे ऐसा सिखलाते हैं। शिकारी वहाँ जाकर उन पशुओ

का घात करते है। इसी प्रकार चिडीमारो को पक्षियो का पता बताते है, मच्छीमारो को मछलियो आदि जलचर जीवो के स्थान एव घात का उपाय बतला कर प्रसन्न होते है। चोरो, डाकुओ, जेबकतरो आदि को चोरी आदि के स्थान-उपाय आदि बतलाते है। आजकल जेब काटना सिखाने के लिए अनेक नगरो मे प्रशिक्षणशालाएँ चलती है, ऐसा सुना जाता है। कोई-कोई कैदियो को अधिक से अधिक यातनाएँ देने की शिक्षा देते है। कोई मधुमक्खियो को पीडा पहुँचा कर, उनका छत्ता तोड कर उसमे से मधु निकालना सिखलाते है। तात्पर्य यह है कि विवेकविकल लोग अनेक प्रकार से ऐसे वचनो का प्रयोग करते है, जो हिंसा आदि अनर्थो के कारण है और हिंसाकारी वचन मृषावाद मे ही गर्भित हैं, भले ही वे निस्वार्थ भाव से बोले जाएँ। अत सत्य के उपासको को अनर्थकर वचनो से बचना चहिए। ऐसी भाषा का प्रयोग नही करना चाहिए जिसमे आरम्भ-समारम्भ आदि को उत्तेजना मिले या हिंसा हो।

५५—जंताइ विसाइ मूलकम्म आहेवण-आविंघण-आभिओग-मतोसहिप्पओगे चोरिय-परदार-गमण-बहुपावकम्मकरण उक्खधे गामघाइयाओ वणदहण-तलागभेयणाणि बुद्धिविसविणासणाणि वसीकरणमाइयाइ भय-मरण-किलेसदोसजणणाणि भावबहुसकिलिट्ठमलिणाणि भूयघाओवघाइयाइ सच्चाइ वि ताइ हिंसगाइ वयणाइ उदाहरंति।

५५—मारण, मोहन, उच्चाटन आदि के लिए (लिखित) यन्त्रो या पशु-पक्षियो को पकडने वाले यन्त्रो, सखिया आदि विषो, गर्भपात आदि के लिए जडी-बूटियो के प्रयोग, मन्त्र आदि द्वारा नगर मे क्षोभ या विद्वेष उत्पन्न कर देने अथवा मन्त्रबल से धनादि खीचने, द्रव्य और भाव से वशीकरण मन्त्रो एव औषधियो के प्रयोग करने, चोरी, परस्त्रीगमन करने आदि के बहुत-से पापकर्मों के उपदेश तथा छल से शत्रुसेना की शक्ति को नष्ट करने अथवा उसे कुचल देने के, जगल मे आग लगा देने, तालाब आदि जलाशयो को सुखा देने के, ग्रामघात—गाव को नष्ट कर देने के, बुद्धि के विषय-विज्ञान आदि अथवा बुद्धि एव स्पर्श, रस आदि विषयो के विनाश के, वशीकरण आदि के, भय, मरण, क्लेश और दु ख उत्पन्न करने वाले, अतीव सक्लेश होने के कारण मलिन, जीवो का घात और उपघात करने वाले वचन तथ्य (यथार्थ) होने पर भी प्राणियो का घात करने वाले होने से असत्य वचन, मृषावादी बोलते हैं।

विवेचन—पूर्व मे प्रतिपादित किया जा चुका है कि वस्तुत सत्य वचन वही कहा जाता है जो हिंसा का पोषक, हिंसा का जनक अथवा किसी भी प्राणी को कष्टदायक न हो। जो वचन तथ्य तो हो किन्तु हिंसाकारक हो, वह सत्य की परिभाषा मे परिगणित नही होता। अतएव सत्य की शरण ग्रहण रखने वाले सत्पुरुषो को अतथ्य के साथ तथ्य असत्य वचनो का भी त्याग करना आवश्यक है। सत्यवादी की वाणी अमृतमयी होनी चाहिए, विष वमन करने वाली नही। उससे किसी का अकल्याण न हो। इसीलिए कहा गया है—

सत्य ब्रूयात् प्रिय ब्रूयात्,
न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।

अर्थात् सत्य के साथ प्रिय वचनो का प्रयोग करना चाहिए। अप्रिय सत्य का प्रयोग असत्य-प्रयोग के समान ही त्याज्य है।

इस तथ्य को सूत्रकार ने यहाँ स्पष्ट किया है। साथ ही प्राणियो का उपघात करने वाली भाषा का विवरण भी दिया है। यथा-मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र आदि के प्रयोग बतला कर किसी का अनिष्ट करना, चोरी एव परस्त्रीगमन सम्बन्धी उपाय बतलाना, ग्रामघात की विधि बतलाना, जगल को जलाने का उपदेश देना आदि। ऐसे समस्त वचन हिसोत्तेजक अथवा हिंसाजनक होने के कारण विवेकवान् पुरुषो के लिए त्याज्य है।

हिंसक उपदेश-आदेश—

५६—पुट्ठा वा अपुट्ठा वा परतत्तियवावडा य असमिक्खियभासिणो उवदिसंति, सहसा उट्टा गोणा गवया दमंतु, परिणयवया अस्सा हत्थी गवेलग-कुक्कुडा य किज्जंतु, किणावेह य विक्केह पयह य सयणस्स देह पियह दासी-दास-भयग-भाइल्लगा य सिस्सा य पेसगजणो कम्मकरा य किंकरा य एए सयणपरिजणो य कीस अच्छंति ! भारिया मे करित्तु कम्मं, गहणाइं वणाइं खेत्तखिलभूमिवल्लराइं उत्तण-घणसंकडाइं डज्झंतु-सूडिज्जंतु य रुक्खा, भिज्जंतु जंतभंडाइयस्स उवहिस्स कारणाए बहुविहस्स य अट्ठाए उच्छू दुज्जंतु, पीलिज्जंतु य तिला, पयावेह य इट्टकाउ मम घरट्टयाए, खेत्ताइं कसह कसावेह य, लहुं गाम-आगर-णगर-खेड-कब्बडे णिवेसेह, अडवीदेसेसु विउलसीमे पुप्फाणि य फलाणि य कंदमूलाइं काल-पत्ताइं गिण्हेह, करेह संचयं परिजणट्ठयाए साली वीही जवा य लुच्चंतु मलिज्जंतु उप्पणिज्जंतु य लहुं य पविसंतु य कोट्ठागारं।

५६—अन्य प्राणियो को सन्ताप—पीडा प्रदान करने मे प्रवृत्त, अविचारपूर्वक भाषण करने वाले लोग किसी के पूछने पर और (कभी-कभी) विना पूछे ही सहसा (अपनी पटुता प्रकट करने के लिए) दूसरो को इस प्रकार का उपदेश देते है कि—ऊटो को, बैलो को और गवयो-रोझो को दमो—इनका दमन करो। वय प्राप्त—परिणत आयु वाले इन अश्वो को, हाथियो को, भेड-बकरियो को या मुर्गो को खरीदो खरीदवाओ, इन्हे बेच दो, पकाने योग्य वस्तुओ को पकाओ स्वजन को दे दो, पेय—मदिरा आदि पीने योग्य पदार्थो का पान करो। दासी, दास—नौकर, भृतक—भोजन देकर रक्खे जाने वाले सेवक, भागीदार, शिष्य, कर्मकर—कर्म करनेवाले-नियत समय तक आज्ञा पालने वाले, किंकर—क्या करू ? इस प्रकार पूछ कर कार्य करने वाले, ये सब प्रकार के कर्मचारी तथा ये स्वजन और परिजन क्यो—कैसे (निकम्मे-निठल्ले) बैठे हुए है ! ये भरण-पोषण करने योग्य हैं अर्थात् इनका वेतन आदि चुका देना चाहिए। ये आपका काम करे। ये सघन वन, खेत, विना जोती हुई भूमि, वल्लर—विशिष्ट प्रकार के खेत, जो उगे हुए घास-फूस से भरे है, इन्हे जला डालो, घास कटवाओ या उखडवा डालो, यन्त्रो—घानी गाडी आदि भाड—कुन्डे आदि उपकरणो के लिए और नाना प्रकार के प्रयोजनो के लिए वृक्षो को कटवाओ, इक्षु-ईख—गन्नो को कटवाओ, तिलो को पेलो—इनका तेल निकालो, मेरा घर बनाने के लिए ईंटो को पकाओ, खेतो को जोतो अथवा जुतवाओ, जल्दी-से ग्राम, आकर (खानो वाली वस्ती) नगर, खेडा और कर्वट-कुनगर आदि को वसाओ। अटवी—प्रदेश मे विस्तृत सीमा वाले गाँव आदि वसाओ। पुष्पो और फलो को तथा प्राप्त-काल अर्थात् जिनको तोडने या ग्रहण करने का समय हो चुका है, ऐसे कन्दो और मूलो को ग्रहण करो। अपने परिजनो के लिए इनका सचय करो। शाली—धान, व्रीहि—अनाज आदि और जौ को काट लो। इन्हे मलो अर्थात् मसल कर दाने अलग कर लो। पवन से साफ करो—दानो को भूसे से पृथक् करो और शीघ्र कोठार मे भर लो—डाल लो।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे अनेकानेक सावद्य कार्यों के आदेश और उपदेश का उल्लेख किया गया है और यह प्रतिपादन किया गया है कि विवेकविहीन जन किसी के पूछने पर अथवा न पूछने पर भी, अपने स्वार्थ के लिए अथवा बिना स्वार्थ भी केवल अपनी चतुरता, व्यवहारकुशलता और प्रौढता प्रकट करने के लिए दूसरो को ऐसा आदेश-उपदेश दिया करते है, जिससे अनेक प्राणियो को पीडा उपजे, परिताप पहुँचे, उनकी हिंसा हो, विविध प्रकार का आरम्भ-समारम्भ हो।

अनेक लोग इस प्रकार के वचन-प्रयोग मे कोई दोष ही नही समझते। अतएव वे निश्शक होकर ऐसी भाषा का प्रयोग करते है। ऐसे अज्ञ प्राणियो को वास्तविकता समझाने के लिए सूत्रकार ने इतने विस्तार से इन अलीक वचनो का उल्लेख किया और आगे भी करेगे।

यहाँ ध्यान मे रखना चाहिए कि सूत्र मे निर्दिष्ट वचनो के अतिरिक्त भी इसी प्रकार के अन्य वचन, जो पापकार्य के आदेश, उपदेश के रूप मे हो अथवा परपीडाकारी हो, वे सभी मृषावाद मे गर्भित है। ऐसे कार्य इतने अधिक और विविध है कि सभी का मूल पाठ मे सग्रह नही किया जा सकता। इन निर्दिष्ट कार्यो को उपलक्षण—दिशादर्शकमात्र समझना चाहिए। इनको भलीभाति समझ कर अपने विवेक की कसौटी पर कसकर और सद्बुद्धि की तराजू पर तोल कर ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए जो स्व-पर के लिए हितकारक हो, जिससे किसी को आघात-सताप उत्पन्न न हो और जो हिंसा-कार्य मे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप मे सहायक न हो।

सर्वविरति के आराधक साधु-साध्वी तो ऐसे वचनो से पूर्ण रूप से बचते ही है, किन्तु देशविरति के आराधक श्रावको एव श्राविकाओ को भी ऐसे निरर्थक वाद से सदैव बचने की सावधानी रखनी चाहिए। आगे भी ऐसे ही त्याज्य वचनो का उल्लेख किया जा रहा है।

युद्धादि के उपदेश-आदेश—

५७—अप्पमहउक्कोसगा य हम्मतु पोयसत्था, सेण्णा णिज्जाउ, जाउ डमर, घोरा वट्टतु य सगामा पवहतु य सगडवाहणाइ, उवणयण चोलग विवाहो जण्णो अमुगम्मि य होउ दिवसेसु करणेसु मुहुत्तेसु णक्खत्तेसु तिहिसु य, अज्ज होउ ण्हवण मुइय बहुखज्जपिज्जकलिय कोउग विण्हावणग, सतिकम्माणि कुणह ससि-रवि-गहोवराग-विसमेसु सज्जणपरियणस्स य णियगस्स य जीवियस्स परिरक्खणट्ठयाए पडिसीसगाइ य देह, दह य सीसोवहारे विविहोसहिमज्जमस-भक्खण्ण-पाण-मल्लाणुलेवणपईव-जलि-उज्जलसुगधि-धूवावगार-पुप्फ-फल-समिद्धे पायच्छित्ते करेह, पाणाइवायकरणेण बहुविहेण विवरीउप्पायदुस्सुमिण-पावसउण-असोमग्गहचरिय-अमगल-णिमित्त-पडिघायहेउ, वित्तिच्छेय करेह, मा देह किचि दाण, सुट्ठु हओ सुट्ठु हओ सुट्ठु छिण्णो भिण्णोत्ति उवदिसता एवविह करेंति अलिय मणेण वायाए कम्मुणा य अकुसला अणज्जा अलियाणा अलियधम्म-णिरया अलियासु कहासु अभिरमता तुट्ठा अलिय करेत्तु होइ य बहुप्पयार।

५७—छोटे, मध्यम और बडे नौकादल या नौकाव्यापारियो या नौकायात्रियो के समूह को नष्ट कर दो, सेना (युद्धादि के लिए) प्रयाण करे, सग्रामभूमि मे जाए, घोर युद्ध प्रारभ हो, गाडी और नौका आदि वाहन चलें, उपनयन (यज्ञोपवीत) सस्कार, चोलक—शिशु का मुण्डनसस्कार, विवाहसस्कार, यज्ञ—ये सब कार्य अमुक दिनो मे, बालव आदि करणो मे, अमृतसिद्धि आदि मुहूर्त्तो मे, अश्विनी

पुष्य आदि नक्षत्रो मे और नन्दा आदि तिथियो मे होने चाहिए। आज स्नपन-सौभाग्य के लिए स्नान करना चाहिए अथवा सौभाग्य एव समृद्धि के लिए प्रमोद-स्नान कराना चाहिए—आज प्रमोदपूर्वक बहुत विपुल मात्रा मे खाद्य पदार्थों एव मदिरा आदि पेय पदार्थों के भोज के साथ सौभाग्यवृद्धि अथवा पुत्रादि की प्राप्ति के लिए वधू आदि को स्नान कराओ तथा (डोरा बाधना आदि) कौतुक करो। सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण और अशुभ स्वप्न के फल को निवारण करने के लिए विविध मन्त्रादि से सस्कारित जल से स्नान और शान्तिकर्म करो। अपने कुटुम्बीजनो की अथवा अपने जीवन की रक्षा के लिए कृत्रिम—आटे आदि से बनाये हुए प्रतिशीर्षक (सिर) चण्डी आदि देवियो की भेट चढाओ। अनेक प्रकार की ओषधियो, मद्य, मास, मिष्ठान्न, अन्न, पान, पुष्पमाला, चन्दन-लेपन, उवटन, दीपक, सुगन्धित धूप, पुष्पो तथा फलो से परिपूर्ण विधिपूर्वक बकरा आदि पशुओ के सिरो की बलि दो। विविध प्रकार की हिंसा करके अशुभ-सूचक उत्पात, प्रकृतिविकार, दु स्वप्न, अपशकुन, क्रूरग्रहो के प्रकोप, अमगल सूचक अगस्फुरण—भुजा आदि अवयवो का फडकना, आदि के फल को नष्ट करने के लिए प्रायश्चित्त करो। अमुक की आजीविका नष्ट—समाप्त कर दो। किसी को कुछ भी दान मत दो। वह मारा गया, यह अच्छा हुआ। उसे काट डाला गया, यह ठीक हुआ। उसके टुकडे-टुकडे कर डाले गये, यह अच्छा हुआ।

इस प्रकार किसी के न पूछने पर भी आदेश-उपदेश अथवा कथन करते हुए, मन-वचन-काय से मिथ्या आचरण करने वाले अनार्य, अकुशल, मिथ्यामतो का अनुसरण करने वाले मिथ्या भाषण करते हैं। ऐसे मिथ्याधर्म मे निरत लोग मिथ्या कथाओ मे रमण करते हुए, नाना प्रकार से असत्य का सेवन करके सन्तोष का अनुभव करते है।

विवेचन—कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य एव हित और अहित के विवेक से रहित होने के कारण अकुशल, पापमय क्रियाओ का आदेश-उपदेश करने के कारण अनार्य एव मिथ्याशास्त्रो के अनुसार चलने वाले, उन पर आस्था रखने वाले मृषावादी लोग असत्य भाषण करने मे आनन्द अनुभव करते है, असत्य को प्रोत्साहन देते है और ऐसा करके दूसरो को भ्रान्ति मे डालने के साथ-साथ अपनी आत्मा को अधोगति का पात्र बनाते है।

पूर्ववर्णित पापमय उपदेश के समान प्रस्तुत पाठ मे भी कई ऐसे कर्मो का उल्लेख किया गया है जो लोक मे प्रचलित है और जिनमे हिंसा होती है। उदाहरणार्थ—युद्ध सम्बन्धी आदेश-उपदेश स्पष्ट ही हिंसामय है। नौकादल को डुबा देना—नष्ट करना, सेना को सुसज्जित करना, उसे युद्ध के मैदान मे भेजना आदि। इसी प्रकार देवी-देवताओ के आगे बकरा आदि की बलि देना भी एकान्त हिंसामय कुकृत्य है। कई अज्ञान ऐसा मानते है कि जीवित बकरे या भैसे की बलि चढाने मे पाप है पर आटे के पिण्ड से उसीकी आकृति बनाकर बलि देने मे कोई बाधा नही है। किन्तु यह क्रिया भी घोर हिंसा का कारण होती है। कृत्रिम बकरे मे बकरे का सकल्प होता है, अतएव उसका वध बकरे के वध के समान ही पापोत्पादक है। जैनागमो मे प्रसिद्ध कालू कसाई का उदाहरण भी यही सिद्ध करता है, जो अपने शरीर के मैल से भैसे बनाकर—मैल के पिण्डो मे भैसो का सकल्प करके उनका उपमर्दन करता था। परिणाम स्वरूप उसे नरक का अतिथि बनना पडा था।

प्रस्तुत पाठ से यह भी प्रतीत होता है कि आजकल की भाति प्राचीन काल मे भी अनेक प्रकार की अन्धश्रद्धा—लोकमूढता प्रचलित थी। ऐसी अनेक अन्धश्रद्धाओ का उल्लेख यहाँ किया गया है।

शान्तिकर्म, होम, स्नान, यज्ञ आदि का उल्लेख यह प्रमाणित करना है कि आरम्भ-समारम्भ—हिंसा को उत्तेजन देने वाला प्रत्येक वचन, भले ही वह तथ्य हो या अतथ्य, मृषावाद में ही परिगणित है। अतएव सत्यवादी सत्पुरुष को अपने सत्य की प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए हिंसाजनक अथवा हिंसाविधायक वचनो का भी परित्याग करना चाहिए। ऐसा करने पर ही उसके सत्यभाषण का सकल्प टिक सकता है—उसका निरतिचाररूपेण परिपालन हो सकता है।

मृषावाद का भयानक फल—

५८—तस्स य अलियस्स फलविवागं अयाणमाणा वड्ढेंति महब्भयं अविस्सामवेयणं दीहकालं बहुदुक्खसंकडं णरयतिरियजोणिं, तेण य अलिएण समणुबद्धा आइद्धा पुणब्भवंधयारे भमंति भीमे दुग्गइवसहिमुवगया। ते य दीसंति इह दुग्गया दुरंता परवस्सा अत्थभोगपरिवज्जिया असुहिया फुडियच्छवि-बीभच्छ-विवण्णा, खरफरुसविरत्तज्झामज्झूसिरा, णिच्छाया, लल्लविफलवाया, असक्कय-मसक्कया अगंधा अचेयणा दुभगा अकंता काकस्सरा हीणभिण्णघोसा विहिंसा जडवहिरंधया[1] य मम्मणा अकंतविकयकरणा, णीया णीयजणणिसेविणो लोयगरहणिज्जा भिच्चा असरिसजणस्स पेस्सा दुम्मेहा लोय-वेय-अज्झप्पसमयसुइवज्जिया, णरा धम्मबुद्धिवियला।

अलिएण य तेण पडज्झमाणा असंतएण य अवमाणणपिट्ठिमंसाहिक्खेव-पिसुण-भेयण-गुरुबंधव-सयण-मित्तवक्खारणाइयाइं अब्भक्खाणाइं बहुविहाइं पावेंति अमणोरमाइं हिययमणदूमगाइं जावज्जीवं दुरुद्धराइं अणिट्ठ-खरफरुसवयण-तज्जण-णिब्भच्छणदीणवयणविमणा कुभोयणा कुवाससा कुवसहीसु किलिस्संता णेव सुहं णेव णिव्वुइं उवलभंति अच्चंत-विउलदुक्खसयसंपलित्ता[2]।

५८—पूर्वोक्त मिथ्याभाषण के फल-विपाक से अनजान वे मृषावादी जन नरक और तिर्यञ्च योनि की वृद्धि करते है, जो अत्यन्त भयकर है, जिनमे विश्रामरहित—निरन्तर—लगातार वेदना भुगतनी पडती है और जो दीर्घकाल तक बहुत दु खो से परिपूर्ण है। (नरक—तिर्यंच योनियो मे लम्बे समय तक घोर दु खो का अनुभव करके शेष रहे कर्मो को भोगने के लिए) वे मृषावाद मे निरत—लीन नर भयकर पुनर्भव के अन्धकार मे भटकते है। उस पुनर्भव मे भी दुर्गति प्राप्त करते हैं, जिसका अन्त बडी कठिनाई से होता है। वे मृषावादी मनुष्य पुनर्भव (इस भव) मे भी पराधीन होकर जीवन यापन करते है। वे अर्थ और भोगो से परिवर्जित होते है अर्थात् उन्हे न तो भोगोपभोग का साधन अर्थ (धन) प्राप्त होता है और न वे मनोज्ञ भोगो-पभोग ही प्राप्त कर सकते है। वे (सदा) दु खी रहते है। उनकी चमडी बिवाई, दाद, खुजली आदि से फटी रहती है, वे भयानक दिखाई देते है और विवर्ण—कुरूप होते है। कठोर स्पर्श वाले, रतिविहीन—बेचैन, मलीन एव सारहीन शरीर वाले होते है। शोभाकान्ति से रहित होते है। वे अस्पष्ट और विफल वाणी वाले होते है अर्थात् न तो स्पष्ट उच्चारण कर सकते है और न उनकी वाणी सफल होती है। वे सस्काररहित (गवार) और सत्कार से रहित होते है—उनका कही सन्मान नही होता। वे दुर्गन्ध से व्याप्त, विशिष्ट चेतना से विहीन, अभागे, अकान्त—

१ जडवहिरमूया—पाठ भी मिलता है।

२ सपत्ता—पाठ भी है।

अनिच्छनीय—अकमनीय, काक के समान अनिष्ट स्वर वाले, धीमी और फटी हुई आवाज वाले, विहिंस्य—दूसरो के द्वारा विशेष रूप से सताये जाने वाले, जड, वधिर, अधे, गू गे और अस्पष्ट उच्चारण करने वाले—तोतली बोली बोलने वाले, अमनोज्ञ तथा विकृत इन्द्रियो वाले, जाति, कुल, गोत्र तथा कार्यो से नीच होते है। उन्हे नीच लोगो का सेवक—दास बनना पडता है। वे लोक मे गर्हा के पात्र होते है—सर्वत्र निन्दा एव धिक्कार प्राप्त करते है। वे भृत्य—चाकर होते है और असदृश—असमान—विरुद्ध आचार-विचार वाले लोगो के आज्ञापालक या द्वेषपात्र होते है। वे दुर्बु द्धि होते है अत लौकिक शास्त्र—महाभारत रामायण आदि, वेद—ऋग्वेद आदि, आध्यात्मिक शास्त्र—कर्मग्रन्थ तथा समय—आगमो या सिद्धान्तो के श्रवण एव ज्ञान से रहित होते है। वे धर्मबुद्धि से रहित होते है।

उस अशुभ या अनुपशान्त असत्य की अग्नि से जलते हुए वे मृषावादी अपमान, पीठ पीछे होने वाली निन्दा, आक्षेप—दोषारोपण, चुगली, परस्पर की फूट अथवा प्रेमसम्बन्धो का भग आदि की स्थिति प्राप्त करते हैं। गुरुजनो, बन्धु-बान्धवो, स्वजनो तथा मित्रजनो के तीक्ष्ण वचनो से अनादर पाते है। अमनोरम, हृदय और मन को सन्ताप देने वाले तथा जीवनपर्यन्त कठिनाई से मिटने वाले—जिनका प्रतीकार सम्पूर्ण जीवन मे भी कठिनाई से हो सके या न हो सके ऐसे अनेक प्रकार के मिथ्या आरोपो को वे प्राप्त करते हैं। अनिष्ट-अप्रिय, तीक्ष्ण, कठोर और मर्मवेधी वचनो से तर्जना, झिडकियो और धिक्कार—तिरस्कार के कारण दीन मुख एव खिन्न चित्त वाले होते हैं। वे खराब भोजन वाले और मैले—कुचेले तथा फटे वस्त्रो वाले होते है, अर्थात् मृषावाद के परिणामस्वरूप उन्हे न अच्छा भोजन प्राप्त होता है, न पहनने—ओढने के लिए अच्छे वस्त्र ही नसीब होते हैं। उन्हे निकृष्ट वस्ती मे क्लेश पाते हुए अत्यन्त एव विपुल दु खो की अग्नि मे जलना पडता है। उन्हे न तो शारीरिक सुख प्राप्त होता है और न मानसिक शान्ति ही मिलती है।

विवेचन—यहाँ मृषावाद के दुष्फल का लोमहर्षक चित्र उपस्थित किया गया है। प्रारम्भ मे कहा गया है कि मृषावाद के फल को नही जानने वाले अज्ञान जन मिथ्या भाषण करते हैं। वास्तव मे जिनको असत्यभाषण के यहाँ प्ररूपित फल का वास्तविक ज्ञान नही है अथवा जो जान कर भी उस पर पूर्ण प्रतीति नही करते, वे भी अनजान की श्रेणी मे ही परिगणित होते हैं।

हिंसा का फल-विपाक बतलाते हुए शास्त्रकार ने नरक और तिर्यंच गति मे प्राप्त होने वाले दु खो का विस्तार से निरूपण किया है। मृषावाद का फल ही दीर्घकाल तक नरक और तिर्यंच गतियो मे रह कर अनेकानेक भयानक दु खो को भोगना बतलाया गया है। अत. यहाँ भी पूर्ववर्णित दु खो को समझ लेना चाहिए।

असत्यभाषण को साधारण जन सामान्य या हल्का दोष मानते हैं और साधारण-सी स्वार्थसिद्धि के लिए, दूसरो को धोखा देने के लिए, क्रोध से प्रेरित होकर, लोभ के वशीभूत होकर, भय के कारण अथवा हास्य-विनोद मे लीन होकर असत्य भाषण करते हैं। उन्हे इसके दुष्परिणाम की चिन्ता नही होती। शास्त्रकार ने यहाँ बतलाया है कि मृषावाद का फल इतना गुरुतर एव भयकर होता है कि नरकगति और तिर्यंचगति के भयानक कष्टो को दीर्घ काल पर्यन्त भोगने के पश्चात् भी उनसे पिण्ड नही छूटता। उसका फल जो शेष रह जाता है उसके प्रभाव से मृषावादी जब मनुष्यगति मे उत्पन्न होता है तब भी वह अत्यन्त दुरवस्था का भागी

होता है। दीनता, दरिद्रता उसका पीछा नही छोडती। सुख-साधन उसे प्राप्त नही होते। उनका शरीर कुरूप फटी चमडी वाला, दाद, खाज, फोडो-फुन्सियो से व्याप्त रहता है। उनके शरीर से दुर्गन्ध फूटती है। उन्हे देखते ही दूसरो को ग्लानि होती है।

मृषावादी की बोली अस्पष्ट होती है। वे सही उच्चारण नही कर पाते। उनमे से कई तो गू गे ही होते है। उनका भाषण अप्रिय, अनिष्ट और अरुचिकर होता है।

उनका न कही सत्कार-सन्मान होता है, न कोई आदर करता है। काक सरीखा अप्रीति-जनक उनका स्वर सुन कर लोग घृणा करते है। वे सर्वत्र ताडना-तर्जना के भागी होते है। मनुष्यभव पाकर भी वे अत्यन्त अधम अवस्था मे रहते है। जो उनसे भी अधम है, उन्हे उनकी दासता करनी पडती है। रहने के लिए खराब वस्ती, खाने के लिए खराब भोजन और पहनने के लिए गदे एव फटे-पुराने कपड़े मिलते है।

तात्पर्य यह कि मृषावाद का फल-विपाक अतीव कष्टप्रद होता है और अनेक भवो मे उसे भुगतना पडता है। मृषावादी नरक-तिर्यंच गतियो की दारुण वेदनाओ को भोगने के पश्चात् जब मानव योनि मे आता है, तब भी वह सर्व प्रकार से दु खी ही रहता है। शारीरिक और मानसिक क्लेश उसे निरन्तर अशान्त एव आकुल-व्याकुल बनाये रखते है। उस पर अनेक प्रकार के सच्चे-झूठे दोषारोपण किए जाते है, जिनके कारण वह घोर सन्ताप की ज्वालाओ मे निरन्तर जलता रहता है।

इस प्रकार का मृषावाद का कटुक फल-विपाक जान कर विवेकवान् पुरुषो को असत्य से विरत होना चाहिए।

फल-विपाक की भयंकरता—

५९ (क)—एसो सो अलियवयणस्स फलविवाओ इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वास-सहस्सेहिं मुच्चइ, ण अवेयइत्ता अत्थि हु मोक्खोत्ति।

एवमाहसु णायकुलणंदणो महप्पा जिणो उ वीरवरणामधेज्जो कहेसि य अलियवयणस्स फलविवागं।

५९ (क)—मृषावाद का यह (पूर्वोक्त) इस लोक और परलोक सम्बन्धी फल विपाक है। इस फल-विपाक मे सुख का अभाव है और दु खो की ही बहुलता है। यह अत्यन्त भयानक है और प्रगाढ कर्म-रज के बन्ध का कारण है। यह दारुण है, कर्कश है और असातारूप है। सहस्रो वर्षो मे इससे छुटकारा मिलता है। फल को भोगे विना इस पाप से मुक्ति नही मिलती—इसका फल भोगना ही पडता है।

ज्ञातकुलनन्दन, महान् आत्मा वीरवर महावीर नामक जिनेश्वर देव ने मृषावाद का यह फल प्रतिपादित किया है।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे मृषावाद के कटुक फलविपाक का उपसहार करते हुए तीन बातो का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है —

१ असत्य भाषण का जो पहले और यहाँ फल निरूपित किया गया है, वह सूत्रकार ने स्वकीय मनीषा से नही निरूपित किया है किन्तु ज्ञातकुलनन्दन भगवान् महावीर जिन के द्वारा प्ररूपित है। यह लिख कर शास्त्रकार ने इस समग्र कथन की प्रामाणिकता प्रकट की है। भगवान् के लिए 'जिन' विशेषण का प्रयोग किया गया है। जिन का अर्थ है—वीतराग—राग-द्वेष आदि विकारो के विजेता। जिसने पूर्ण वीतरागता—जिनत्व-प्राप्त कर लिया है, वे अवश्य ही सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होते हैं। इस प्रकार वीतराग और सर्वज्ञ की वाणी एकान्तत सत्य ही होती है, उसमे असत्य की आशका हो ही नही सकती। क्योकि कषाय और अज्ञान ही मिथ्याभाषण के कारण होते है—या तो वास्तविक ज्ञान न होने से असत्य भाषण होता है, अथवा किसी कषाय से प्रेरित होकर मनुष्य असत्य भाषण करता है। जिसमे सर्वज्ञता होने से अज्ञान नही है और वीतरागता होने से कषाय का लेश भी नही है, उनके वचनो मे असत्य की सभावना भी नही की जा सकती। आगम मे इसीलिए कहा है—

तमेव सच्च णीसक ज जिर्णेहि पवेइय।

अर्थात् जिनेन्द्रो ने जो कहा है वही सत्य है और उस कथन मे शका के लिए कुछ भी स्थान नही है।

इस प्रकार यहाँ प्रतिपादित मृषावाद के फलविपाक को पूर्णरूपेण वास्तविक समझना चाहिए।

२—सूत्रकार ने दूसरा तथ्य यह प्रकट किया है कि मृषावाद के फल को सहस्रो वर्षो तक भोगना पडता है। यहाँ मूल पाठ मे 'वाससहस्सेहिं' पद का प्रयोग किया गया है। यह पद यहाँ दीर्घ काल का वाचक समझना चाहिए। जैसे 'मुहुत्त' शब्द स्तोक काल का भी वाचक होता है, वैसे ही 'वासमहस्सेहिं' पद लम्बे समय का वाचक है। अथवा 'सहस्र' शब्द मे बहुवचन का प्रयोग करके सूत्रकार ने दीर्घकालिक फलभोग का अभिप्राय प्रकट किया है।

३—तीसरा तथ्य यहाँ फल की अवश्यमेव उपभोग्यता कही है। असत्य भाषण का दारुण दु खमय फल भोगे विना जीव को उससे छुटकारा नही मिलता। क्योकि वह विपाक 'बहुरयप्पगाढो' होता है, अर्थात् अलीक भाषण से जिन कर्मो का बध होता है, वे बहुत गाढे चिकने होते हैं, अतएव विपाकोदय से भोगने पडते हैं।

यो तो कोई भी बद्ध कर्म भोगे विना नही निर्जीर्ण होता—छूटता। विपाक द्वारा अथवा प्रदेशो द्वारा उसे भोगना ही पडता है। परन्तु कुछ कर्म ऐसे होते है जो केवल प्रदेशो से उदय मे आकर ही निर्जीर्ण हो जाते है, उनके विपाक-फल का अनुभव नही होता। किन्तु गाढ रूप मे बद्ध कर्म विपाक द्वारा ही भोगने पडते है। अमत्य भाषण एक घोर पाप है और जब वह तीव्रभाव से किया जाता है तो गाढ कर्मबध का कारण होता है। उसे भोगना ही पडता है।

उपसहार—

५९ (ख)—एय त बिईय पि अलियवयण लहुसग-लहु-चवल-भणिय भयंकर दुहकर अयसकर वेरकरग अरइ-रइ राग-दोस-मणसकिलेस-वियरण अलिय-णियडि-साइजोगबहुल णीयजणणिसेविय णिस्सस अप्पच्चयकारग परम-साहुगरहणिज्ज परपोलाकारग परमकण्हलेस्ससहिय दुग्गइ-विणिवाय-वड्ढण पुणब्भवकर चिरपरिचियमणुगय दुरत।

॥ बिईय अहम्मदार समत्त ॥

तृतीय अध्ययन : अदत्तादान

दूसरे मृषावाद—आस्रवद्वार के निरूपण के पश्चात् अब तीसरे अदत्तादान-आस्रव का निरूपण किया जाता है, क्योकि मृषावाद और अदत्तादान मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। अदत्तादान करने वाला प्राय असत्य भाषण करता है। सर्वप्रथम अदत्तादान के स्वरूप का निरूपण प्रस्तुत है —

अदत्त का परिचय—

६०—जबू ! तइय च अदिण्णादाण हर-दह-मरणभय-कलुस-तासण-परसतिग-अभेज्ज-लोभ-मूल कालविसमससिय अहोऽच्छिण्ण-तण्हपत्थाण-पत्थोइमइय अकित्तिकरण अणज्ज छिद्दमतर-विहुर-वसण-मग्गण-उस्सवमत्त-प्पमत्त पसुत्त-वचणक्खिवण-घायणपर अणिहुयपरिणाम तक्कर-जणबहुमय अकलुण रायपुरिस-रक्खिय सया साहु-गरहणिज्ज पियजण-मित्तजण-भेय-विप्पिइकारग रागदोसबहुल पुणो य उप्पूरसमरसगामडमर-कलिकलहवेहकरण दुग्गइविणिवायवड्ढण-भवपुणब्भवकर चिरपरिचिय-मणुगय दुरत। तइय अहम्मदार।

६०—श्रीसुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहा—हे जम्बू ! तीसरा अधर्मद्वार अदत्तादान—अदत्त—विना दी गई किसी दूसरे की वस्तु को आदान—ग्रहण करना, है। यह अदत्तादान (परकीय पदार्थ का) हरण रूप है। हृदय को जलाने वाला है। मरण और भय रूप अथवा मरण-भय रूप है। पापमय होने से कलुषित—मलीन है। परकीय धनादि मे रौद्रध्यानस्वरूप मूर्च्छा—लोभ ही इसका मूल है। विषमकाल—आधी रात्रि आदि और विषमस्थान—पर्वत, सघन वन आदि स्थानो पर आश्रित है अर्थात् चोरी करने वाले विषम काल और विषम देश की तलाश मे रहते हैं। यह अदत्तादान निरन्तर तृष्णाग्रस्त जीवो को अधोगति की ओर ले जाने वाली बुद्धि वाला है अर्थात् अदत्तादान करने वाले की बुद्धि ऐसी कलुषित हो जाती है कि वह अधोगति मे ले जाती है। अदत्तादान अपयश का कारण है, अनार्य पुरुषो द्वारा आचरित है, आर्य—श्रेष्ठ मनुष्य कभी अदत्तादान नही करते। यह छिद्र—प्रवेशद्वार, अन्तर—अवसर, विधुर—अपाय एव व्यसन—राजा आदि द्वारा उत्पन्न की जाने वाली विपत्ति का मार्गण करने वाला—उसका पात्र है। उत्सवो के अवसर पर मदिरा आदि के नशे मे बेभान, असावधान तथा सोये हुए मनुष्यो को ठगने वाला, चित्त मे व्याकुलता उत्पन्न करने और घात करने मे तत्पर है तथा अशान्त परिणाम वाले चोरो द्वारा बहुमत—अत्यन्त मान्य है। यह करुणाहीन कृत्य—निर्दयता से परिपूर्ण कार्य है, राजपुरुषो—चौकीदार, कोतवाल, पुलिस आदि द्वारा इसे रोका जाता है। सदैव साधुजनो—सत्पुरुषो द्वारा निन्दित है। प्रियजनो तथा मित्रजनो मे (परस्पर) फूट और अप्रीति उत्पन्न करने वाला है। राग और द्वेष की बहुलता वाला है। यह बहुतायत से मनुष्यो को मारने वाले सग्रामो, स्वचक्र—परचक्र सम्बन्धी डमरो—विप्लवो, लडाई—झगडो, तकरारो एव पश्चात्ताप का कारण है। दुर्गति—पतन मे वृद्धि करने वाला, भव-पुनर्भव—वारवार जन्म-मरण कराने वाला, चिरकाल—सदाकाल से परिचित, आत्मा के साथ लगा हुआ—जीवो का पीछा करने वाला और परिणाम मे—अन्त मे दु खदायी है। यह तीसरा अधर्मद्वार—अदत्तादान ऐसा है।

विवेचन—जो वस्तु वास्तव मे अपनी नही है—परायी है, उसे उसके स्वामी की स्वीकृति या अनुमति के विना ग्रहण कर लेना—अपने अधिकार मे ले लेना अदत्तादान कहलाता है। हिंसा और मृषावाद के पश्चात् यह तीसरा अधर्मद्वार—पाप है।

शास्त्र मे चार प्रकार के अदत्त कहे गए है—(१) स्वामी द्वारा अदत्त (२) जीव द्वारा अदत्त (३) गुरु द्वारा अदत्त और (४) तीर्थंकर द्वारा अदत्त। इन चारो मे से प्रत्येक के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार-चार भेद होते है। अतएव सब मिल कर अदत्त के १६ भेद हैं।

महाव्रती साधु और साध्वी सभी प्रकार के अदत्त का पूर्ण रूप से—तीन करण और तीन योग से त्याग किए हुए होते हैं। वे तृण जैसी तुच्छातितुच्छ, जिसका कुछ भी मूल्य या महत्त्व नही, ऐसी वस्तु भी अनुमति विना ग्रहण नही करते है। गृहस्थो मे श्रावक और श्राविकाएँ स्थूल अदत्तादान के त्यागी होते हैं। जिस वस्तु को ग्रहण करना लोक मे चोरी कहा जाता है और जिसके लिए शासन की ओर से दण्डविधान है, ऐसी वस्तु के अदत्त ग्रहण को स्थूल अदत्तादान कहा जाता है। प्रस्तुत सूत्र मे सामान्य अदत्तादान का स्वरूप प्रदर्शित किया है।

अदत्तादान करने वाले व्यक्ति प्राय विपम काल और विपम देश का सहारा लेते है। रात्रि मे जब लोग निद्राधीन हो जाते है तब अनुकूल अवसर समझ कर चोर अपने काम मे प्रवृत्त होते हैं और चोरी करने के पश्चात् गुफा, बीहड जगल, पहाड आदि विपम स्थानो मे छिप जाते हैं, जिससे उनका पता न लग सके।

धनादि की तीव्र तृष्णा, जो कभी शान्त नही होती, ऐसी कलुषित बुद्धि उत्पन्न कर देती है, जिससे मनुष्य चौर्य-कर्म मे प्रवृत्त होकर नरकादि अधम गति का पात्र बनता है।

अदत्तादान को अकीर्त्तिकर बतलाया गया है। यह सर्वानुभवसिद्ध है। चोर की ऐसी अपकीर्त्ति होती है कि उसे कही भी प्रतिष्ठा प्राप्त नही होती। उस पर कोई विश्वास नही करता।

चोरी अनार्य कर्म है। आर्य—श्रेष्ठ जन तीव्रतर अभाव से ग्रस्त होकर और अनेकविध कठिनाइयाँ झेलकर, घोर कष्टो को सहन कर, यहाँ तक कि प्राणत्याग का अवसर आ जाने पर भी चौर्य कर्म मे प्रवृत्त नही होते। किन्तु आधुनिक काल मे चोरी के कुछ नये रूप आविष्कृत हो गए है और कई लोग यहाँ तक कहते सुने जाते है कि 'सरकार की चोरी, चोरी नही है।' ऐसा कह या समझकर जो लोग कर-चोरी आदि करते है, वे जाति या कुल आदि की अपेक्षा से भले आर्य हो परन्तु कर्म से अनार्य है। प्रस्तुत पाठ मे चोरी को स्पष्ट रूप मे अनार्य कर्म कहा है। इसी कारण साधुजनो —सत्पुरुषो द्वारा यह गर्हित—निन्दित है।

अदत्तादान के कारण प्रियजनो एव मित्रो मे भी भेद—फूट उत्पन्न हो जाता है। मित्र, शत्रु बन जाते है। प्रेमी भी विरोधी हो जाते है। इसकी बदौलत भयकर नरसहारकारी सग्राम होते हैं, लडाई-झगडा होता है, रार-तकरार होती है, मार-पीट होती है।

स्तेयकर्म मे लिप्त मनुष्य वर्त्तमान जीवन को ही अनेक दु खो से परिपूर्ण नही बनाता, अपितु भावी जीवन को भी विविध वेदनाओ से परिपूर्ण बना लेता है एव जन्म-मरण रूप ससार की वृद्धि करता है।

अदत्तादान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए शास्त्रकार ने और भी अनेक विशेषणो का प्रयोग किया है, जिनको सरलता से समझा जा सकता है।

अदत्तादान के तीस नाम—

६१—तस्स य णामाणि गोण्णाणि होंति तीस, त जहा—१ चोरिक्क २ परहड ३ अदत्त ४ कूरिकड ५ परलाभो ६ असजमो ७ परधणम्मि गेही ८ लोलिक्क ९ तक्करत्तण त्ति य १० अवहारो ११ हत्थलहुत्तण १२ पावकम्मकरण १३ तेणिक्क १४ हरणविप्पणासो १५ आदियणा १६ लुपणा धणाणं १७ अप्पच्चओ १८ अवीलो १९ अक्खेवो २० खेवो २१ विक्खेवो २२ कूडया २३ कुलमसी य २४ कखा २५ लालप्पणपत्थणा य २६ आससणाय वसणं २७ इच्छामुच्छा य २८ तण्हागेही २९ णियडिकम्म ३० अप्परच्छति वि य। तस्स एयाणि एवमाईणि णामधेज्जाणि होंति तीस अदिण्णादाणस्स पावकलिकलुस-कम्मबहुलस्स अणेगाइ।

६१—पूर्वोक्त स्वरूप वाले अदत्तादान के गुणनिष्पन्न—यथार्थ तीस नाम है। वे इस प्रकार है—

१ चोरिक्क—चौरिक्य—परकीय वस्तु चुरा लेना।
२ परहड—परहृत—दूसरे से हरण कर लेना।
३ अदत्त—अदत्त—स्वामी के द्वारा दिए विना लेना।
४ कूरिकड—क्रूरिकृतम्—क्रूर लोगो द्वारा किया जाने वाला कर्म।
५ परलाभ—दूसरे के श्रम से उपार्जित वस्तु आदि लेना।
६ असजम—चोरी करने से असयम होता है—सयम का विनाश हो जाता है, अत यह असयम है।
७ परधणमि गेही—परधने गृद्धि—दूसरे के धन मे आसक्ति—लोभ-लालच होने पर चोरी की जाती है, अतएव इसे परधनगृद्धि कहा है।
८ लोलिक्क—लौल्य—परकीय वस्तु सबधी लोलुपता।
९ तक्करत्तण—तस्करत्व—तस्कर—चोर का काम।
१० अवहार—अपहार—स्वामी इच्छा विना लेना।
११ हत्थलहुत्तण—हस्तलघुत्व—चोरी करने के कारण जिसका हाथ कुत्सित है उसका कर्म अथवा हाथ की चालाकी।
१२ पावकम्मकरण—पापकर्मकरण—चोरी पाप कर्म है, उसे करना पापकर्म का आचरण करना है।
१३ तेणिक्क—स्तेनिका—चोर—स्तेन का कार्य।
१४ हरणविप्पणास—हरणविप्रणाश—परायी वस्तु को हरण करके उसे नष्ट करना।
१५ आदियणा—आदान—परधन को ले लेना।
१६ धणाण लुपना—धनलुम्पता—दूसरे के धन को लुप्त करना।
१७ अप्पच्चअ—अप्रत्यय—अविश्वास का कारण।
१८ ओवील—अवपीड—दूसरे को पीडा उपजाना, जिसकी चोरी की जाती है, उसे पीडा अवश्य होती है।

१९. अक्खेव—आक्षेप—परकीय द्रव्य को अलग रखना या उसके स्वामी पर अथवा द्रव्य पर झपटना ।[1]

२० खेव—क्षेप—किसी की वस्तु छीन लेना ।[2]

२१ विक्खेव—विक्षेप—परकीय वस्तु लेकर इधर-उधर कर देना, फेंक देना अथवा नष्ट कर देना ।[3]

२२ कूडया—कूटता—तराजू, तोल, माप आदि मे वेईमानी करना, लेने के लिए वडे और देने के लिए छोटे वाट आदि का प्रयोग करना ।

२३ कुलमसी—कुलमषि—कुल को मलीन—कलंकित करने वाली ।

२४ कखा—काक्षा—तीव्र इच्छा होने पर चोरी की जाती है अतएव चोरी का मूल कारण होने से यह काक्षा कहलाती है ।

२५ लालप्पणपत्थणा—लालपन-प्रार्थना—निन्दित लाभ की अभिलाषा करने से यह लालपन-प्रार्थना है ।

२६ वसण—व्यसन—विपत्तियो का कारण ।

२७ इच्छा-मुच्छा—इच्छामूर्च्छा—परकीय धन मे या वस्तु मे इच्छा एव आसक्ति होने के कारण इसे इच्छा-मूर्छा कहा गया है ।

२८ तण्हा-गेही—तृष्णा-गृद्धि—प्राप्त द्रव्य का मोह और अप्राप्त की आकाक्षा ।

२९ नियडिकम्म—निकृतिकर्म—कपटपूर्वक अदत्तादान किया जाता है, अत यह निकृतिकर्म है ।

३० अपरच्छति—अपराक्ष—दूसरो की नजर बचाकर यह कार्य किया जाता है, अतएव यह अपराक्ष है ।

इस प्रकार पापकर्म और कलह से मलीन कार्यो की वहुलता वाले इस अदत्तादान आस्रव के ये और इस प्रकार के अन्य अनेक नाम है ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे अदत्तादान नामक तीसरे आस्रव के तीस नामो का उल्लेख किया गया है ।

किसी की कोई वस्तु असावधानी से कही गिर गई हो, भूल से रह गई हो, जानबूझ कर रक्खी हो, उसे उसके स्वामी की आज्ञा, अनुमति या इच्छा के बिना ग्रहण कर लेना चोरी कहलाती है ।

पहले कहा जा चुका है कि तिनका, मिट्टी, रेत आदि वस्तुएँ, जो सभी जनो के उपयोग के लिए मुक्त हैं, जिनके ग्रहण करने का सरकार की ओर से निषेध नही है, जिसका कोई स्वामीविशेष नही है या जिसके स्वामी ने अपनी वस्तु सर्वसाधारण के उपयोग के लिए मुक्त कर रक्खी है, उसको ग्रहण करना व्यवहार की दृष्टि से चोरी नही है । स्थूल अदत्तादान का त्यागी गृहस्थ यदि उसे ग्रहण कर लेता है तो उसके व्रत मे बाधा नही आती । लोकव्यवहार मे वह चोरी कहलाती भी नही है । परन्तु तीन करण और तीन योग से अदत्तादान के त्यागी साधुजन ऐसी वस्तु को भी ग्रहण नही कर सकते । आवश्यकता होने पर वे शक्रेन्द्र की अनुमति लेकर ही ग्रहण करते हैं ।

---

१ प्रश्नव्याकरणसूत्र (सन्मतिज्ञान पीठ) पृ २४३
२. ,, ,, ,,
३ ,, ,, ,,

अदत्तादान के तीस नाम जो बतलाए गए हैं, उनमे पुनरुक्ति नही है। वास्तव मे वे उसके विविध प्रकारो—नाना रूपो को सूचित करते है। इन नामो से चौर्यकर्म की व्यापकता का परिबोध होता है। अतएव ये नाम महत्त्वपूर्ण है और जो अदत्तादान से बचना चाहते हैं, उन्हे इन नामो के अर्थ पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए और उससे अपने-आपको बचाना चाहिए।

शास्त्रकार ने सूत्र के अन्त मे यह स्पष्ट निर्देश किया है कि अदत्तादान के यह तीस ही नाम है, ऐसा नही समझना चाहिए। ये नाम उपलक्षण हैं। इनके अनुरूप अन्य अनेक नाम भी हो सकते है। अन्य आगमो मे अनेक प्रकार के स्तेनो-चोरो का उल्लेख मिलता है। यथा—

तवतेणे वयतेणे रूवतेणे य जे नरे।
आयारभावतेणे य, कुव्वइ देव किव्विस ॥ —दशवैकालिक, ५-४६

अर्थात् जो साधु तप-स्तेन, व्रतस्तेन, रूपस्तेन अथवा आचारभाव का स्तेन—चोर होता है, वह तप और व्रत के प्रभाव से यदि देवगति पाता है तो वहाँ भी वह किल्विष देव होता है—निम्न कोटि—हीन जाति—अछूत—सरीखा होता है।

इसी शास्त्र मे आगे कहा गया है कि उसे यह पता नही होता कि किस प्रकार का दुराचरण करने के कारण उसे किल्विष देव के रूप मे उत्पन्न होना पडा है। वह उस हीन देवपर्याय से जब विलग होता है तो उसे गू गे बकरा जैसे पर्याय मे जन्म लेना पडता है और फिर नरक तथा तिर्यंच योनि के दु खो का पात्र बनना पडता है।

चौर्यकर्म के विविध प्रकार—

६२—ते पुण करेंति चोरिय तक्करा परदव्वहरा छेया, कयकरणलद्ध-लक्खा साहसिया लहुस्सगा अइमहिच्छलोभगत्था दद्दरओवीलका य गेहिया अहिमरा अणभजगा भग्गसधिया रायदुट्ठकारी य विसयणिच्छूढ-लोकवज्झा उद्दोहग-गामघायग-पुरघायग पथघायग-आलीवग-तित्थभेया लहुहत्थ-सपउत्ता जूइकरा खडरक्ख-त्थीचोर-पुरिसचोर-सधिच्छेया य, गथीभेयग-परधण-हरण-लोमावहारा अक्खेवी हडकारगा णिम्मद्दगगूढचोरग-गोचोरग-अस्सचोरग-दासीचोरा य एकचोरा ओकड्ढग-संपदायग-उच्छिपग-सत्थघायग-बिलचोरीकारगा[1] य णिग्गाहविप्पलु पगा बहुविहतेणिक्कहरणबुद्धी एए अण्णे य एवमाई परस्स दव्वाहि जे अविरया।

६२—उस (पूर्वोक्त) चोरी को वे चोर—लोग करते हैं जो परकीय द्रव्य को हरण करने वाले है, हरण करने मे कुशल हैं, अनेको बार चोरी कर चुके है और अवसर को जानने वाले हैं साहसी हैं—परिणाम की अवगणना करके भी चोरी करने मे प्रवृत्त हो जाते हैं, जो तुच्छ हृदय वाले, अत्यन्त महती इच्छा—लालसा वाले एव लोभ से ग्रस्त है, जो वचनो के आडम्बर से अपनी असलियत को छिपाने वाले है या दूसरो को लज्जित करने वाले है, जो दूसरो के धनादि मे गृद्ध—आसक्त हैं, जो सामने से सीधा प्रहार करने वाले है—सामने आए हुए को मारने वाले हैं, जो लिए हुए ऋण को नही चुकाने वाले हैं, जो की हुई सन्धि अथवा प्रतिज्ञा या वायदे को भग करने वाले हैं, जो राजकोष आदि को लूट कर या अन्य प्रकार से राजा—राज्यशासन का अनिष्ट करने वाले हैं, देशनिर्वासित

---

१ 'बिल कोली कारगा'—पाठ भेद।

दिए जाने के कारण जो जनता द्वारा बहिष्कृत हैं, जो घातक हैं या उपद्रव (दगा आदि) करने वाले है, ग्रामघातक, नगरघातक, मार्ग मे पथिको को लूटने वाले या मार डालने वाले है, आग लगाने वाले और तीर्थ मे भेद करने वाले हे,[1] जो (जादूगरो की तरह) हाथ की चालाकी वाले हैं—जेब या गाठ काट लेने मे कुशल है, जो जुआरी है, खण्डरक्ष—चु गी लेने वाले या कोतवाल है, स्त्रीचोर है—जो स्त्री को या स्त्री की वस्तु को चुराते है अथवा स्त्री का वेष धारण करके चोरी करते है, जो पुरुष की वस्तु को अथवा (आधुनिक डकैतो की भाति फिरौती लेने आदि के उद्देश्य से) पुरुष का अपहरण करते है, जो खात खोदने वाले है, गाठ काटने वाले है, जो परकीय धन का हरण करने वाले हैं, (जो निर्दयता या भय के कारण अथवा आतक फैलाने के लिए) मारने वाले हे, जो वशीकरण आदि का प्रयोग करके धनादि का अपहरण करने वाले है, सदा दूसरो के उपमर्दक, गुप्तचोर, गो-चोर—गाय चुराने वाले, अश्व-चोर एव दासी को चुराने वाले हैं, अकेले चोरी करने वाले, घर मे से द्रव्य निकाल लेने वाले, चोरो को बुलाकर दूसरे के घर मे चोरी करवाने वाले, चोरो की सहायता करने वाले चोरो को भोजनादि देने वाले, उच्छिपक—छिप कर चोरी करने वाले, सार्थ—समूह को लूटने वाले, दूसरो को धोखा देने के लिए बनावटी आवाज मे बोलने वाले, राजा द्वारा निगृहीत—दडित एव छलपूर्वक राजाज्ञा का उल्लघन करने वाले, अनेकानेक प्रकार से चोरी करके परकीय द्रव्य हरण करने की बुद्धि वाले, ये लोग और इसी कोटि के अन्य-अन्य लोग, जो दूसरे के द्रव्य को ग्रहण करने की-इच्छा से निवृत्त (विरत) नही है अर्थात् अदत्तादान के त्यागी नही है—जिनमे परधन के प्रति लालसा विद्यमान है, वे चौर्य कर्म मे प्रवृत्त होते है ।

विवेचन—चोरी के नामो का उल्लेख करके सूत्रकार ने उसके व्यापक स्वरूप का प्रतिपादन किया था । तत्पश्चात् यहाँ यह निरूपण किया गया है कि चोरी करने वाले लोग किस श्रेणी के होते है ? किन-किन तरीको से वे चोरी करते है ? कोई छिप कर चोरी करते है तो कोई सामने से प्रहार करके, आक्रमण करके करते है, कोई वशीकरण मन्त्र आदि का प्रयोग करके दूसरो को लूटते हैं, कोई धनादि का, कोई गाय-भैस-बैल-ऊट-अश्व आदि पशुओ का हरण करते है, यहाँ तक कि नारियो और पुरुषो का भी अपहरण करते है । कोई राहगीरो को लूटते है तो कोई राज्य के खजाने को—आधुनिक काल मे बैक आदि को भी शस्त्रो के बल पर लूट लेते है ।

तात्पर्य यह है कि शास्त्रोक्त चोरी-लूट-अपहरण के प्राचीन काल मे प्रचलित प्रकार अद्यतन काल मे भी प्रचलित हैं । यह प्रकार लोकप्रसिद्ध है अतएव इनकी व्याख्या करने की आवश्यकता नही है । मूल पाठ और उसके अर्थ से ही पाठक सूत्र के अभिप्राय को भलीभाति समझ सकते है ।

धन के लिए राजाओ का आक्रमण—

६३—विउलबलपरिग्गहा य बहवे रायाणो परधणम्मि गिद्धा सए व दव्वे असतुट्ठा परविसए अहिहणति ते लुद्धा परधणस्स कज्जे चउरगविभत्त-बलसमग्गा णिच्छियवरजोहजुद्धसद्धिय-अहमहमिइ-दप्पिएहिं सेण्णेहिं सपरिवुडा पउम-सगड-सूइ-चक्क-सागर-गरुलवूहाइएहिं अणिएहिं उत्थरता अभिभूय हरति परधणाइ ।

---

[1] तित्थभेया' का मुनिश्री हेमचन्द्रजी म ने 'तीर्थयात्रियो को लूटने-मारने वाले' ऐसा भी अर्थ किया है ।

६३—इनके अतिरिक्त विपुल बल—सेना और परिग्रह—धनादि सम्पत्ति या परिवार वाले राजा लोग भी, जो पराये धन मे गृद्ध अर्थात् आसक्त हैं और अपने द्रव्य से जिन्हे सन्तोष नही है, दूसरे (राजाओ के) देश-प्रदेश पर आक्रमण करते हैं। वे लोभी राजा दूसरे के धनादि को हथियाने के उद्देश्य से रथसेना, गजसेना, अश्वसेना और पैदलसेना, इस प्रकार चतुरगिणी सेना के साथ (अभियान करते हैं।) वे दृढ निश्चय वाले, श्रेष्ठ योद्धाओ के साथ युद्ध करने मे विश्वास रखने वाले, 'मैं पहले जूझू गा, इस प्रकार के दर्प से परिपूर्ण सैनिको से सपरिवृत—घिरे हुए होते है। वे नाना प्रकार के व्यूहो (मोर्चो) की रचना करते है, जैसे कमलपत्र के आकार का पद्मपत्र व्यूह, बैलगाडी के आकार का शकटव्यूह, सूई के आकार का शूचीव्यूह, चक्र के आकार का चक्रव्यूह, समुद्र के आकार का सागर-व्यूह और गरुड के आकार का गरुडव्यूह। इस तरह नाना प्रकार की व्यूहरचना वाली सेना द्वारा दूसरे—विरोधी राजा की सेना को आक्रान्त करते हैं, अर्थात् अपनी विशाल सेना से विपक्ष की सेना को घेर लेते है—उस पर छा जाते है और उसे पराजित करके दूसरे की धन-सम्पत्ति को हरण कर लेते है—लूट लेते हैं।

विवेचन—प्राप्त धन-सम्पत्ति तथा भोगोपभोग के अन्य साधनो मे सन्तोष न होना और परकीय वस्तुओ मे आसक्ति होना अदत्तादान के आचरण का मूल कारण है। असन्तोष और तृष्णा की अग्नि जिस के हृदय मे प्रज्वलित है, वह विपुल सामग्री, ऐश्वर्य एव धनादि के विद्यमान होने पर भी शान्ति का अनुभव नही कर पाता। जैसे बाहर की आग ईंधन से शान्त नही होती, अपितु बढती ही जाती है, उसी प्रकार असन्तोष एव तृष्णा की आन्तरिक अग्नि भी प्राप्ति से शान्त नही होती, वह अधिकाधिक वृद्धिगत ही होती जाती है। शास्त्रकार का यह कथन अनुभवसिद्ध है कि—

> जहा लाहो तहा लोहो,
> लाहा लोहो विवड्ढइ।

ज्यो-ज्यो लाभ होता जाता है, त्यो-त्यो लोभ बढता जाता है। तथ्य यह है कि लाभ लोभ की वृद्धि का कारण है।

ईंधन जब अग्नि की वृद्धि का कारण है तो उसे आग मे झोकने से आग शान्त कैसे हो सकती है! इसी प्रकार जब लाभ लोभ की वृद्धि का कारण है तो लाभ से लोभ कैसे उपशान्त हो सकता है? भला राजाओ को किस वस्तु का अभाव हो सकता है! फिर भी वे परकीय धन मे गृद्धि के कारण अपनी सबल सेना को युद्ध मे झोक देते है। उन्हे यह विवेक नही होता कि मात्र अपनी प्रगाढ आसक्ति की पूर्ति के लिए वे कितने योद्धाओ का सहार कर रहे है और कितने उनके आश्रित जनो को भयानक सकट मे डाल रहे है। वे यह भी नही समझ पाते कि परकीय धन-सम्पदा को लूट लेने के पश्चात् भी आसक्ति की आग बुझने वाली नही है। उनके विवेक-नेत्र बन्द हो जाते हैं। लोभ उन्हे अन्धा बना देता है।

प्रस्तुत पाठ का आशय यही है कि अदत्तादान का मूल अपनी वस्तु मे सन्तुष्ट न होना और परकीय पदार्थो मे आसक्ति—गृद्धि होना है। अतएव जो अदत्तादान के पाप से बचना चाहते है और अपने जीवन मे सुख-शान्ति चाहते हैं, उन्हे प्राप्त सामग्री मे सन्तुष्ट रहना चाहिए और परायी वस्तु की आकाक्षा से दूर रहना चाहिए।

युद्ध के लिए शस्त्र-सज्जा—

६४—अवरे रणसीसलद्धलक्खा संगामंसि अइवयंति सण्णद्धबद्धपरियर-उप्पीलिय-चिंधपट्ट-गहियाउह-पहरणा माढिवर-वम्मगुंडिया, आविद्धजालिया कवयकंकडइया उरसिरमुह-बद्ध-कंठतोणमाइयवरफलगर चियपहकर-सरहसखरचावकरकरंछिय-सुणिसिय - सरवरिसचडकरगमुयंत - घणचंड वेगधाराणिवायमग्गे अणेगधणुमंडलग्गसंधित-उच्छलियसत्तिकणग-वामकरगहिय-खेडगणिम्मल-णिक्किट्ठ-खग्गपहरंत-कोंत-तोमर-चक्क-गया-परसु-मूसल-लंगल-सूल-लउल-भिंडमालसब्बल-पट्टिस-चम्मेट्ठ-दुघण - मोट्ठिय-मोग्गर- वरफलिह- जंत - पत्थर-दुहण- तोण- कुवेणी - पीढकलिएईलीपहरण मिलिमिलिमिलंत-खिप्पंत-विज्जुज्जल-विरचिय-समप्पहणभतले फुडपहरणे महारणसंखभेरिवरतूर-पउर-पडुपडहाहयणिणाय-गंभीरणंदिय पक्खुभिय-विउलघोसे हय-गय-रह-जोह-तुरिय-पसरिय-रउद्धततमंधकार-बहुले कायर-णर-णयण-हिययवाउलकरे।

६४—दूसरे—कोई-कोई नृपतिगण युद्धभूमि मे अग्रिम पंक्ति मे लडकर विजय प्राप्त करने वाले, कमर कसे हुए, कवच—बख्तर धारण किये हुए और विशेष प्रकार के चिह्नपट्ट—परिचयसूचक बिल्ले मस्तक पर बाँधे हुए, अस्त्र-शस्त्रो को धारण किए हुए, प्रतिपक्ष के प्रहार से बचने के लिए ढाल से और उत्तम कवच से शरीर को वेष्टित किए हुए, लोहे की जाली पहने हुए, कवच पर लोहे के काटे लगाए हुए, वक्षस्थल के साथ ऊर्ध्वमुखी बाणो की तूणीर—बाणो की थैली कंठ मे बाँधे हुए, हाथो मे पाश—शस्त्र और ढाल लिए हुए, सैन्यदल की रणोचित रचना किए हुए, कठोर धनुष को हाथो मे पकडे हुए, हर्षयुक्त, हाथो से (बाणो को) खीच कर की जाने वाली प्रचण्ड वेग से बरसती हुई मूसलधार वर्षा के गिरने से जहाँ मार्ग अवरुद्ध हो गया है, ऐसे युद्ध मे अनेक धनुषो, दुधारी तलवारो, फेंकने के लिए निकाले गए त्रिशूलो, बाणो, बाएँ हाथो मे पकडी हुई ढालो, म्यान से निकाली हुई चमकती तलवारो, प्रहार करते हुए भालो, तोमर नामक शस्त्रो, चक्रो, गदाओ, कुल्हाडियो, मूसलो, हलो, शूलो, लाठियो, भिंडमालो, शब्बलो—लोहे के बल्लमो, पट्टिस नामक शस्त्रो, पत्थरो—गिलोलो, द्रुघणो—विशेष प्रकार के भालो, मौष्टिको—मुट्ठी मे आ सकने वाले एक प्रकार के शस्त्रो, मुद्गरो, प्रबल आगलो, गोफणो, द्रुहणो (कर्करो) बाणो के तूणीरो, कुवेणियो—नालदार बाणो एव आसन नामक शस्त्रो से सज्जित तथा दुधारी तलवारो और चमचमाते शस्त्रो को आकाश मे फेंकने से आकाशतल बिजली के समान उज्ज्वल प्रभा वाला हो जाता है। उस संग्राम मे प्रकट—स्पष्ट शस्त्र-प्रहार होता है। महायुद्ध मे बजाये जाने वाले शंखो, भेरियो, उत्तम वाद्यो, अत्यन्त स्पष्ट ध्वनि वाले ढोलो के बजने के गंभीर आघोष से वीर पुरुष हर्षित होते है और कायर पुरुषो को क्षोभ—घबराहट होती है। वे (भय से पीडित होकर) कापने लगते है। इस कारण युद्धभूमि मे हो-हल्ला होता है। घोडे, हाथी, रथ और पैदल सेनाओ के शीघ्रतापूर्वक चलने से चारो ओर फैली—उडती धूल के कारण वहाँ सघन अंधकार व्याप्त रहता है। वह युद्ध कायर नरो के नेत्रो एव हृदयो को आकुल-व्याकुल बना देता है।

युद्ध-स्थल की बीभत्सता—

६५—विलुलियउक्कड-वर-मउड-तिरीड-कुंडलोडुदामाडोविया पागड-पडाग-उसियज्झय-वेजयंतिचामरचलंत-छत्तंधयारगंभीरे हयहेसिय-हत्थिगुलुगुलाइय-रहघणघणाइय-पाइक्कहरहराइय-अप्फो-

डिय-सीहणाया, छेलिय-विघुट्ठुक्कट्ठकठकयसद्दभीमगज्जिए, सयराह-हसत-रुसत-कलकलरवे आसूणिय-वयणरुद्दे भीमदसणाधरोट्ठगाढदट्ठे सप्पहारणुज्जयकरे अमरिसवसतिव्वरत्तणिद्दारितच्छे वेरदिट्ठि-कुद्ध-चिट्ठिय-तिवलि-कुडिलभिउडि-कयणिलाडे वहपरिणय-णरसहस्स-विक्कमवियभियबले । वग्गत-तुरगरह-पहाविय-समरभडा आवडियछेयलाघव-पहारसाहियासमूसविय बाहु-जुयलमुक्कट्टहासपुक्कतबोल-बहुले । फलफलगावरणगहिय-गयवरपत्थित-दरियभडखल- परोप्परपलग्ग- जुद्धगव्विय-विउसियवरासि-रोस-तुरियअभिमुह-पहरितछिण्णकरिकर-विभगियकरे अवइद्धणिसुद्धभिण्णफालियपगलियरुहिर-कय-भूमि-कद्दम-चिलिचिल्लपहे कुच्छिदालिय-गलतरुलितणिभेलितत-फुरुफुरत-अविगल-मम्माहय-विकय-गाढदिण्णपहारमुच्छित-रुलतविब्भलविलावकलुणे हयजोह-भमत-तुरग-उद्दाममत्तकुंजर-परिसकियजण-णिव्वुक्कच्छिण्णधय - भग्गरहवरणट्ठसिरकरिकलेवराकिण्ण - पतित - पहरण - विकिण्णाभरण - भूमिभागे णच्चतकबधपउरभयकर-वायस-परिलेंत-गिद्धमडल-भमतच्छायधकार-गभीरे । वसुवसुहविकपियव्व-पच्चक्खपिउवणं परमरुद्दबीहणग दुप्पवेसतरग अहिवयति सगामसकड परघण महता ।

६५—ढीला होने के कारण चचल एव उन्नत उत्तम मुकुटो, तिरीटो—तीन शिखरो वाले मुकुटो—ताजो, कुण्डलो तथा नक्षत्र नामक आभूषणो की उस युद्ध मे जगमगाहट होती है । स्पष्ट दिखाई देने वाली पताकाओ, ऊपर फहराती हुई ध्वजाओ, विजय को सूचित करने वाली वैजयन्ती पताकाओ तथा चचल—हिलते-डुलते चामरो और छत्रो के कारण होने वाले अन्धकार के कारण वह गभीर प्रतीत होता है । अश्वो की हिनहिनाहट से, हाथियो की चिघाड से, रथो की घनघनाहट से, पैदल सैनिको की हर-हराहट से, तालियो की गडगडाहट से, सिहनाद की ध्वनियो से, सीटी बजाने की सी आवाजो से, जोर-जोर की चिल्लाहट से, जोर की किलकारियो से और एक साथ उत्पन्न होने वाली हजारो कठो की ध्वनि से वहाँ भयकर गर्जनाएँ होती है । उसमे एक साथ हँसने, रोने और कराहने के कारण कलकल ध्वनि होती रहती है । मुँह फुलाकर आँसू बहाते हुए बोलने के कारण वह रौद्र होता है । उस युद्ध मे भयानक दातो से होठो को जोर से काटने वाले योद्धाओ के हाथ अचूक प्रहार करने के लिए उद्यत-तत्पर रहते है । क्रोध की (तीव्रता के कारण) योद्धाओ के नेत्र रक्तवर्ण और तरेरते हुए होते है । वैरमय दृष्टि के कारण क्रोधपरिपूर्ण चेष्टाओ से उनकी भौहे तनी रहती हैं और इस कारण उनके ललाट पर तीन सल पडे हुए होते हैं । उस युद्ध मे, मार-काट करते हुए हजारो योद्धाओ के पराक्रम को देख कर सैनिको के पौरुष-पराक्रम की वृद्धि हो जाती है । हिनहिनाते हुए अश्वो और रथो द्वारा इधर-उधर भागते हुए युद्धवीरो—समरभटो तथा शस्त्र चलाने मे कुशल और सधे हुए हाथो वाले सैनिक हर्ष-विभोर होकर, दोनो भुजाएँ ऊपर उठाकर, खिलखिलाकर—ठहाका मार कर हँस रहे होते हैं । किलकारियाँ मारते है । चमकती हुई ढाले एव कवच धारण किए हुए, मन्दोन्मत्त हाथियो पर आरूढ प्रस्थान करते हुए योद्धा, शत्रुयोद्धाओ के साथ परस्पर जूझते है तथा युद्धकला मे कुशलता के कारण अहकारी योद्धा अपनी-अपनी तलवारें म्यानो मे से निकाल कर, फुर्ती के साथ रोषपूर्वक परस्पर—एक दूसरे पर प्रहार करते हैं । हाथियो की सूंडे काट रहे होते है, जिससे उनके भी हाथ कट जाते हैं । ऐसे भयावह युद्ध मे मुद्गर आदि द्वारा मारे गए, काटे गए या फाडे गए हाथी आदि पशुओ और मनुष्यो के युद्धभूमि मे बहते हुए रुधिर के कीचड से मार्ग लथपथ हो रहे होते है । कूख के फट जाने से भूमि पर बिखरी हुई एव बाहर निकलती हुई आतो से रक्त प्रवाहित होता रहता है । तथा तडफडाते हुए, विकल, मर्माहत, बुरी तरह से कटे हुए, प्रगाढ प्रहार से बेहोश हुए,

इधर-उधर लुढकते हुए विह्वल मनुष्यो के विलाप के कारण वह युद्ध बडा ही करुणाजनक होता है। उस युद्ध मे मारे गए योद्धाओ के इधर-उधर भटकते घोडे, मदोन्मत्त हाथी और भयभीत मनुष्य, मूल से कटी हुई ध्वजाओ वाले टूटे-फूटे रथ, मस्तक कटे हुए हाथियो के धड—कलेवर, विनष्ट हुए शस्त्रास्त्र और बिखरे हुए आभूषण—अलकार इधर-उधर पडे होते हे। नाचते हुए बहुसख्यक कलेवरो—धडो पर काक और गीध मँडराते रहते हे। इन काको और गिद्धो के झु ड के झु ड घूमते है तब उनकी छाया के अन्धकार के कारण वह युद्ध गभीर बन जाता है। ऐसे (भयावह—घोराति-घोर) सग्राम मे (नृपतिगण) स्वय प्रवेश करते है—केवल सेना को ही युद्ध मे नही झोकते। देव (देव-लोक) और पृथ्वी को विकसित करते हुए, परकीय धन की कामना करने वाले वे राजा साक्षात् श्मशान समान, अतीव रौद्र होने के कारण भयानक और जिसमे प्रवेश करना अत्यन्त कठिन है, ऐसे सग्राम रूप सकट मे चल कर अथवा आगे होकर प्रवेश करते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे सग्राम की भयानकता का स्पष्ट चित्र उपस्थित किया गया है। पर-धन के इच्छुक राजा लोग किस प्रकार नर-सहार के लिए तत्पर हो जाते है! यह वर्णन अत्यन्त सजीव है। इसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता नही है।

वनवासी चोर—

६६—अवरे पाइक्कचोरसघा सेणावइ-चोरवद-पागड्ढिका य अडवी-देसदुग्गवासी कालहरित-रत्तपीतसुक्किल-अणेगसयचिंध-पट्टबद्धा परविसए अभिहणंति लुद्धा धणस्स कज्जे।

६६—इनके (पूर्वसूत्र मे उल्लिखित राजाओ के) अतिरिक्त पैदल चल कर चोरी करने वाले चोरो के समूह होते है। कई ऐसे (चोर) सेनापति भी होते है जो चोरो को प्रोत्साहित करते हे। चोरो के यह समूह दुर्गम अटवी-प्रदेश मे रहते है। उनके काले, हरे, लाल, पीले और श्वेत रग के सैकडो चिह्न होते है, जिन्हे वे अपने मस्तक पर लगाते है। पराये धन के लोभी वे चोर-समुदाय दूसरे प्रदेश मे जाकर धन का अपहरण करते है और मनुष्यो का घात करते है।

विवेचन—ज्ञातासूत्र आदि कथात्मक आगमो मे ऐसे अनेक चोरो और सेनापतियो का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है, जो विषम दुर्गम अटवी मे निवास करते और लूटपाट करते थे। पाँच-पाँच सौ सशस्त्र चोर उनके दल मे थे जो मरने-मारने को सदा उद्यत रहते थे। उनका सैन्यबल इतना सबल होता था कि राजकीय सेना को भी पछाड देता था। ऐसे ही चोरो एव चोर-सेनापतियो का यहाँ उल्लेख किया गया है।

समुद्री डाके—

६७—रयणागरसागर उम्मीसहस्समाला-उलाउल-वितोयपोत-कलकलेंत-कलिय पायालस-वायवसवेगसलिल-उद्धम्ममाणदगरयरयंधकार वरफेणपउर-धवल-पुलपुल-समुट्ठियट्टहास मारुय-ताणपाणिय जल-मालुप्पीलहुलिय अवि य समतओ खुभिय-लुलिय-खोखुब्भमाण-पक्खलिय-चलियविउलजलचक्कवाल-महाणईवेगतुरियआपूरमाणगभीर-विउल-आवत्त-चवल-भममाणगुप्पमाण-उच्छलंतपच्चोणियत्त-पाणिय-पधावियखर-फरुस-पयडवाउलियसलिल-फुट्टंत वीइकल्लोलसकुल महा-

१. 'सहस्स'—पाठ पूज्य श्री घासीलालजी म वाली प्रति मे है।

डिय-सीहणाया, छेलिय-विघुट्ठुक्कट्ठकठकयसद्दभीमगज्जिए, सयराह-हसत-रुसत-कलकलरवे आसूणिय-वयणरुद्दे भीमदसणाधरोट्ठगाढदट्ठे सप्पहारणुज्जयकरे अमरिसवसतिव्वरत्तणिद्दारितच्छे वेरदिट्ठि-कुद्ध-चिट्ठिय-तिवलि-कुडिलभिउडि-कयणिलाडे वहपरिणय-णरसहस्स-विक्कमवियभियबले । वग्गत-तुरगरह-पहाविय-समरभडा आवडियछेयलाघव-पहारसाहियासमूसविय बाहु-जुयलमुक्कट्टहासपुक्कतबोल-बहुले । फलफलगावरणगहिय-गयवरपत्थित-दरियभडखल- परोप्परपलग्ग- जुद्धगव्विय-विउसियवरासि-रोस-तुरियअभिमुह-पहरितछिण्णकरिकर-विभगियकरे अवइद्धणिसुद्धभिण्णफालियपगलियरुहिर-कय-भूमि-कद्दम-चिलिचिल्लपहे कुच्छिदालिय-गलतरुलितणिभेलितत-फुरुफुरत-अविगल-मम्माहय-विकय-गाढदिण्णपहारमुच्छित-रुलतविब्भलविलावकलुणे हयजोह-भमत-तुरग-उद्दाममत्तकु जर-परिसकियजण-णिव्वुक्कच्छिण्णधय - भग्गरहवरणट्ठसिरकरिकलेवराकिण्ण - पतित - पहरण - विकिण्णाभरण - भूमिभागे णच्चतकबधपउरभयकर-वायस-परिलेंत-गिद्धमडल-भमतच्छायधकार-गभीरे । वसुवसुहविकपियव्व-पच्चक्खपिउवण परमरुद्दबीहणगं दुप्पवेसतरग अहिवयति सगामसकड परघण महता ।

६५—ढीला होने के कारण चचल एव उन्नत उत्तम मुकुटो, तिरीटो—तीन शिखरो वाले मुकुटो—ताजो, कुण्डलो तथा नक्षत्र नामक आभूषणो की उस युद्ध मे जगमगाहट होती है । स्पष्ट दिखाई देने वाली पताकाओ, ऊपर फहराती हुई ध्वजाओ, विजय को सूचित करने वाली वैजयन्ती पताकाओ तथा चचल—हिलते-डुलते चामरो और छत्रो के कारण होने वाले अन्धकार के कारण वह गभीर प्रतीत होता है । अश्वो की हिनहिनाहट से, हाथियो की चिघाड से, रथो की घनघनाहट से, पैदल सैनिको की हर-हराहट से, तालियो की गडगडाहट से, सिहनाद की ध्वनियो से, सीटी बजाने की सी आवाजो से, जोर-जोर की चिल्लाहट से, जोर की किलकारियो से और एक साथ उत्पन्न होने वाली हजारो कठो की ध्वनि से वहाँ भयकर गर्जनाएँ होती हैं । उसमे एक साथ हँसने, रोने और कराहने के कारण कलकल ध्वनि होती रहती है । मुँह फुलाकर आँसू बहाते हुए बोलने के कारण वह रौद्र होता है । उस युद्ध मे भयानक दातो से होठो को जोर से काटने वाले योद्धाओ के हाथ अचूक प्रहार करने के लिए उद्यत-तत्पर रहते है । क्रोध की (तीव्रता के कारण) योद्धाओ के नेत्र रक्तवर्ण और तरेरते हुए होते हैं । वैरमय दृष्टि के कारण क्रोधपरिपूर्ण चेष्टाओ से उनकी भौहे तनी रहती हैं और इस कारण उनके ललाट पर तीन सल पडे हुए होते हैं । उस युद्ध मे, मार-काट करते हुए हजारो योद्धाओ के पराक्रम को देख कर सैनिको के पौरुष-पराक्रम की वृद्धि हो जाती है । हिनहिनाते हुए अश्वो और रथो द्वारा इधर-उधर भागते हुए युद्धवीरो—समरभटो तथा शस्त्र चलाने मे कुशल और सधे हुए हाथो वाले सैनिक हर्ष-विभोर होकर, दोनो भुजाएँ ऊपर उठाकर, खिलखिलाकर—ठहाका मार कर हँस रहे होते हैं । किलकारियाँ मारते है । चमकती हुई ढाले एव कवच धारण किए हुए, मन्दोन्मत्त हाथियो पर आरूढ प्रस्थान करते हुए योद्धा, शत्रुयोद्धाओ के साथ परस्पर जूझते है तथा युद्धकला मे कुशलता के कारण अहकारी योद्धा अपनी-अपनी तलवारें म्यानो मे से निकाल कर, फुर्ती के साथ रोषपूर्वक परस्पर—एक दूसरे पर प्रहार करते हैं । हाथियो की सू डे काट रहे होते हैं, जिससे उनके भी हाथ कट जाते हैं । ऐसे भयावह युद्ध मे मुद्गर आदि द्वारा मारे गए , काटे गए या फाडे गए हाथी आदि पशुओ और मनुष्यो के युद्धभूमि मे बहते हुए रुधिर के कीचड से मार्ग लथपथ हो रहे होते है । कू ख के फट जाने से भूमि पर बिखरी हुई एव बाहर निकलती हुई आतो से रक्त प्रवाहित होता रहता है । तथा तडफडाते हुए, विकल, मर्माहत, बुरी तरह से कटे हुए, प्रगाढ प्रहार से बेहोश हुए,

इधर-उधर लुढकते हुए विह्वल मनुष्यो के विलाप के कारण वह युद्ध बडा ही करुणाजनक होता है। उस युद्ध मे मारे गए योद्धाओ के इधर-उधर भटकते घोडे, मदोन्मत्त हाथी और भयभीत मनुष्य, मूल से कटी हुई ध्वजाओ वाले टूटे-फूटे रथ, मस्तक कटे हुए हाथियो के धड—कलेवर, विनष्ट हुए शस्त्रास्त्र और बिखरे हुए आभूषण—अलकार इधर-उधर पडे होते हैं। नाचते हुए बहुसख्यक कलेवरो—धडो पर काक और गीध मँडराते रहते है। इन काको और गिद्धो के झुड के झुड घूमते है तब उनकी छाया के अन्धकार के कारण वह युद्ध गभीर बन जाता है। ऐसे (भयावह—घोरातिघोर) सग्राम मे (नृपतिगण) स्वय प्रवेश करते है—केवल सेना को ही युद्ध मे नही झोकते। देव (देवलोक) और पृथ्वी को विकसित करते हुए, परकीय धन की कामना करने वाले वे राजा साक्षात् श्मशान समान, अतीव रौद्र होने के कारण भयानक और जिसमे प्रवेश करना अत्यन्त कठिन है, ऐसे सग्राम रूप सकट मे चल कर अथवा आगे होकर प्रवेश करते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे सग्राम की भयानकता का स्पष्ट चित्र उपस्थित किया गया है। पर-धन के इच्छुक राजा लोग किस प्रकार नर-सहार के लिए तत्पर हो जाते है। यह वर्णन अत्यन्त सजीव है। इसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता नही है।

वनवासी चोर—

६६—अवरे पाइक्कचोरसघा सेणावइ-चोरवद-पागड्डिका य अडवी-देसदुग्गवासी कालहरित-रत्तपीतसुक्किल-अणेगसयचिंध-पट्टबद्धा परविसए अभिहणंति लुद्धा धणस्स कज्जे।

६६—इनके (पूर्वसूत्र मे उल्लिखित राजाओ के) अतिरिक्त पैदल चल कर चोरी करने वाले चोरो के समूह होते है। कई ऐसे (चोर) सेनापति भी होते है जो चोरो को प्रोत्साहित करते है। चोरो के यह समूह दुर्गम अटवी-प्रदेश मे रहते है। उनके काले, हरे, लाल, पीले और श्वेत रग के सैकडो चिह्न होते है, जिन्हे वे अपने मस्तक पर लगाते है। पराये धन के लोभी वे चोर-समुदाय दूसरे प्रदेश मे जाकर धन का अपहरण करते है और मनुष्यो का घात करते है।

विवेचन—ज्ञातासूत्र आदि कथात्मक आगमो मे ऐसे अनेक चोरो और सेनापतियो का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है, जो विषम दुर्गम अटवी मे निवास करते और लूटपाट करते थे। पाँच-पाँच सौ सशस्त्र चोर उनके दल मे थे जो मरने-मारने को सदा उद्यत रहते थे। उनका सैन्यबल इतना सबल होता था कि राजकीय सेना को भी पछाड देता था। ऐसे ही चोरो एव चोर-सेनापतियो का यहाँ उल्लेख किया गया है।

समुद्री डाके—

६७—रयणागरसागर उम्मीसहस्समाला-उलाउल-वितोयपोल-कलकलेंत-कलिय पायालसहस्स[1]-वायवसवेगसलिल-उद्धम्ममाणदगरयरयधकार वरफेणपउर-धवल-पुलपुल-समुट्ठियट्टहास मारुय-विच्छुभमाणपाणिय जल-मालुप्पीलहुलिय अवि य समतओ खुभिय-लुलिय-खोखुब्भमाण-पक्खलिय-चलिय-विउलजलचक्कवाल-महाणईवेगतुरियआपूरमाणगभीर-विउल-आवत्त-चवल-भममाणगुप्पमाण-उच्छलत पच्चोणियत्त-पाणिय-पधावियखर-फरुस-पयडवाउलियसलिल-फुट्टंत ...

---

1 "पायालकलससहस्स"—पाठ पूज्य श्री घासीलालजी म वाली प्रति मे है।

मगर-मच्छ-कच्छभोहार-गाह-तिमि-सुंसुमार-सावय-समाहय-समुद्धायमाणक-पूरघोर-पउर कायरजण-हियय-कपण घोरमारसत महब्भय भयकर पइभय उत्तासणग प्रणोरपार प्रागास चेव णिरवलब। उप्पायणपवण-धणिय-णोल्लिय उवरुवरितरगदरिय-प्रइवेग-वेग-चक्खुपहमुच्छरत कत्थइ-गभीर-विउल-गज्जिय-गुंजिय-णिग्घायगरुयणिवडिय-सुदीहणीहारि-दूरसुच्चत-गभीर-धुगुधुगतसद्द पडिपहरु भत-जक्ख-रक्खस-कुहड-पिसायरुसिय-तज्जाय-उवसग्ग-सहस्ससकुल बहुप्पाइयभूय विरइयबलिहोम-धूव-उवयारदिण्ण-रुहिरच्चणाकरणपयत-जोगपययचरिय परियत-जुगत-कालकप्पोवम दुरत महाणई-णईवई-महाभीमदरिसणिज्ज दुरणुच्चर विसमप्पवेस दुक्खुत्तार दुरासय लवण-सलिलपुण्ण प्रसियसिय-समूसियगेहि हत्थतरकेहि वाहणेहि प्रइवइत्ता समुद्दमज्झे हणति, गतूण जणस्स पोए परदव्वहरा णरा।

६७—(इन चोरो के सिवाय कुछ अन्य प्रकार के लुटेरे भी होते है जो धन के लालच मे फँस कर समुद्र मे डाकेजनी या लूटमार करते हैं। उनका दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है।) वे लुटेरे रत्नो के आकर—खान समुद्र मे चढाई करते हैं। वह समुद्र कैसा होता है ? समुद्र सहस्रो तरग-मालाओ से व्याप्त होता है। पेय जल के अभाव मे जहाज के प्राकुल-व्याकुल मनुष्यो की कल-कल ध्वनि से युक्त होता है। सहस्रो पाताल-कलशो की वायु के क्षुब्ध होने से तेजी से ऊपर उछलते हुए जलकणो की रज से प्रन्धकारमय बना होता है। निरन्तर प्रचुर मात्रा मे उठने वाले श्वेतवर्ण के फेन ही मानो उस समुद्र का अट्टहास है। वहाँ पवन के प्रबल थपेडो से जल क्षुब्ध हो रहा होता है। जल की तरग-मालाएँ तीव्र वेग के साथ तरगित होती है। चारो ओर तूफानी हवाएँ उसे क्षोभित कर रही होती है। जो तट के साथ टकराते हुए जल-समूह से तथा मगर-मच्छ प्रादि जलीय जन्तुप्रो के कारण प्रत्यन्त चचल हो रहा होता है। बीच-बीच मे उभरे हुए—ऊपर उठे हुए पर्वतो के साथ टकराने वाले एव बहते हुए प्रथाह जल-समूह से युक्त है, गगा प्रादि महानदियो के वेग से जो शीघ्र ही लबालब भर जाने वाला है, जिसके गभीर एव अथाह भवरो मे जलजन्तु प्रथवा जलसमूह चपलतापूर्वक भ्रमण करते, व्याकुल होते, ऊपर-नीचे उछलते है, जो वेगवान् प्रत्यन्त प्रचण्ड, क्षुब्ध हुए जल मे से उठने वाली लहरो से व्याप्त है, महाकाय मगर-मच्छो, कच्छपो, प्रोहम् नामक जल-जन्तुप्रो, घडियालो, बडी मछलियो, सुसुमारो एव श्वापद नामक जलीय जीवो के परस्पर टकराने से तथा एक दूसरे को निगल जाने के लिए दौडने से वह समुद्र अत्यन्त घोर—भयावह होता है, जिसे देखते ही कायर जनो का हृदय काँप उठता है, जो प्रतीव भयानक और प्रतिक्षण भय उत्पन्न करने वाला है, अतिशय उद्वेग का जनक है, जिसका प्रोर-छोर—प्रार पार कही दिखाई नही देता, जो प्राकाश के सदृश निरा-लम्बन-प्रालवनहीन है प्रर्थात् जिस समुद्र मे कोई सहारा नही है, उत्पात से उत्पन्न होने वाले पवन से प्रेरित और ऊपराऊपरी—एक के वाद दूसरी गर्व से इठलाती हुई लहरो के वेग से जो नेत्रपथ—नजर को प्राच्छादित कर देता है।

उस समुद्र मे कही-कही गभीर मेघगर्जना के समान गूंजती हुई, व्यन्तर देवकृत घोर ध्वनि के सदृश तथा उस ध्वनि से उत्पन्न होकर दूर-दूर तक सुनाई देने वाली प्रतिध्वनि के समान गभीर और धुक्-धुक् करती ध्वनि सुनाई पडती है। जो प्रतिपथ-प्रत्येक राह मे रुकावट डालने वाले यक्ष, राक्षस, कूष्माण्ड एव पिशाच जाति के कुपित व्यन्तर देवो के द्वारा उत्पन्न किए जाने वाले हजारो उत्पातो-उपद्रवो से परिपूर्ण है। जो वलि, होम और धूप देकर की जाने वाली देवता की पूजा और रुधिर देकर की जाने वाली अर्चना मे प्रयत्नशील एव सामुद्रिक व्यापार मे निरत नौका-वणिको—

जहाजो व्यापारियो द्वारा सेवित है, जो कलिकाल—अन्तिम युग के अन्त अर्थात् प्रलयकाल के कल्प के समान है, जिसका पार पाना कठिन है, जो गगा आदि महानदियो का अधिपति—नदीपति होने के कारण अत्यन्त भयानक है, जिसके सेवन मे बहुत ही कठिनाइयाँ होती हैं या जिसमे यात्रा करना अनेक सकटो से परिपूर्ण है, जिसमे प्रवेश पाना भी कठिन है, जिमे पार करना—किनारे पहुँचना भी कठिन है, यहाँ तक कि जिसका आश्रय लेना भी दु खमय है और जो खारे पानी से परिपूर्ण होता है।

ऐसे समुद्र मे परकीय द्रव्य के अपहारक-डाकू ऊँचे किए हुए काले और श्वेत झडो वाले, अति-वेगपूर्वक चलने वाले, पतवारो से सज्जित जहाजो द्वारा आक्रमण करके समुद्र के मध्य मे जाकर सामुद्रिक व्यापारियो के जहाजो को नष्ट कर देते है।

विवेचन—इस पाठ मे समुद्र का वर्णन काव्यात्मक शैली मे प्रस्तुत किया गया है। कभी-कभी सागर शान्त-प्रशान्त दृष्टिगोचर होता है किन्तु किस क्षण वह भयकर रूप धारण कर लेगा, यह निश्चय करना कठिन है। आधुनिक काल मे जब मौसम, आँधी-तूफान आदि को पहले ही सूचित कर देने वाले अनेकविध यन्त्र आविष्कृत हो चुके है, और जलयान भी अत्यधिक क्षमता वाले निर्मित हो चुके हैं, तब भी अनेको यान डूबते रहते हैं। तब प्राचीन काल मे उत्पातसूचक यन्त्रो के अभाव मे और यानो की भी इतनी क्षमता के अभाव मे समुद्रयात्रा कितनी सकटपरिपूर्ण होती होगी, यह कल्पना करना कठिन नही है। यही कारण है कि समुद्रयात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व शुभ दिन, तिथि, नक्षत्र आदि देखने के साथ अनेकानेक देवी-देवताओ की पूजा-अर्चा की जाती थी, क्योकि यह माना जाता था कि यात्रा मे व्यन्तर देव भी विविध प्रकार के विघ्न उपस्थित करते है।

धन के लोभ से प्रेरित होकर वणिक्-जन फिर भी समुद्रयात्रा करते थे और एक देश का माल दूसरे देश मे ले जाकर बेचते थे।

प्रस्तुत पाठ से स्पष्ट है कि समुद्रयात्रा मे प्राकृतिक अथवा दैविक प्रकोप के अतिरिक्त भी एक भारी भय रहता था। वह भय मानवीय अर्थात् समुद्री लुटेरो का था। ये लुटेरे अपने प्राणो को सकट मे डालकर केवल लूटमार के लिए ही भयकर सागर मे प्रवेश करते थे। वे नौकावणिको को लूटते थे और कभी-कभी उनके प्राणो का भी अपहरण करते थे। इस पाठ मे यही तथ्य प्ररूपित है।

ग्रामादि लूटने वाले—

६८—णिरणुकपा णिरवयक्खा गामागर-णगर-खेड-कब्बड-मडब-दोणमुह-पट्टणासम-णिगम-जणवए य धणसमिद्धे हणति थिरहियय-छिण्ण-लज्जा-बदिग्गह-गोग्गहे य गिण्हति दारुणमई णिक्किवा[1] णिय हणति छिदति गेहसधि णिक्खित्ताणि य हरति धणधण्णदव्वजायाणि जणवय-कुलाणं णिग्घिणमई परस्स दव्वाहि जे अविरया।

६८—जिनका हृदय अनुकम्पा—दया से शून्य है, जो परलोक की परवाह नही करते, ऐसे लोग धन से समृद्ध ग्रामो, आकरो, नगरो, खेटो, कर्बटो, मडम्बो, पत्तनो, द्रोणमुखो, आश्रमो, निगमो एव देशो को नष्ट कर देते—उजाड देते हैं। और वे कठोर हृदय वाले या स्थिरहित—निहित स्वार्थ

---

1 पाठान्तर—णिक्किया।

वाले, निर्लज्ज लोग मानवो को बन्दी बनाकर अथवा गायो आदि को ग्रहण करके ले जाते हैं। दारुण मति वाले, कृपाहीन—निर्दय या निकम्मे अपने-आत्मीय जनो का भी घात करते है। वे गृहो की सन्धि को छेदते है अर्थात् सेंध लगाते है।

जो परकीय द्रव्यो से विरत—विमुख-निवृत्त नही है ऐसे निर्दय बुद्धि वाले (वे चोर) लोगो के घरो मे रक्खे हुए धन, धान्य एव अन्य प्रकार के द्रव्य के समूहो को हर लेते है।

विवेचन—प्रकृत पाठ मे यह प्रदर्शित किया गया है कि पराये धन को लूटने वाले अथवा सेंध आदि लगा कर चोरी करने वाले लोग वही होते हैं, जो निर्दय—अनुकम्पाहीन होते है और जिन्हे अदत्तादान के परिणामस्वरूप परलोक मे होने वाली दुर्दशाओ की परवाह नही है। दयावान् और परलोक से डरने वाले विवेकी जन इस इह-परलोक-दु.खप्रद कुकृत्य मे प्रवृत्त नही होते।

प्राचीन काल मे भी जन-वस्तियो की अनेक श्रेणिया उनकी हैसियत अथवा विशिष्टताओ के आधार पर निर्धारित की जाती थी। उनमे से कई नामो का प्रस्तुत पाठ मे उल्लेख हुआ है, जिनका आशय इस प्रकार है—

ग्राम—गाव-वह छोटी वस्ती जहाँ किसानो की बहुलता हो।
आकर—जहाँ सुवर्ण, रजत तावे आदि की खाने हो।
नगर—नकर-कर अर्थात् चुगी जहाँ न लगती हो, ऐसी वस्ती।
खेड—खेट-धूल के प्राकार से वेष्टित स्थान-वस्ती।
कब्बड—कर्बट-जहाँ थोडे मनुष्य रहते हो—कुनगर।
मडम्ब—जिसके आसपास कोई गाव-वस्ती न हो।
द्रोणमुख—जहाँ जलमार्ग से और स्थलमार्ग से जाया जा सके ऐसी बस्ती।
पत्तन—पाटन-जहाँ जलमार्ग से अथवा स्थलमार्ग से जाया जाए। किसी-किसी ने पत्तन का अर्थ रत्नभूमि भी किया है।
आश्रम—जहाँ तापसजनो का निवास हो।
निगम—जहाँ वणिक्जन-व्यापारी बहुतायत से निवास करते हो।
जनपद—देश-प्रदेश-अचल।

६९—तहेव केई अदिण्णादाण गवेसमाणा कालाकालेसु सचरता चियकापज्जलिय-सरस-दर-दड्ढ-कड्ढियकलेवरे रुहिरलित्तवयण-अक्खय-खाइयपीय-डाइणिभमत-भयकरं जबुयक्खिक्खियते घूयकयघोर-सद्दे वेयालुट्ठिय-णिसुद्ध-कहकहिय-पहसिय-बीहणग णिरभिरामे अइदुब्भिगध-बीभच्छदरिसणिज्जे सुसाण-वण-सुण्णघर-लेण-अतरावण-गिरिकदर-विसमसावय-समाकुलासु वसहीसु किलिस्सता सीयातव-सोसिय-सरीरा दड्ढच्छवी णिरयतिरिय-भवसकड-दुक्ख-समारवेयणिज्जाणि पावकम्माणि सचिणता, दुल्लह-भक्खण्ण-पाणभोयणा पिवासिया भुक्खिया किलता मस-कुणिमकदमूल-ज किचिकयाहारा उव्विग्गा उप्पुया असरणा अडवीवास उवेंति वालसय-सकणिज्ज।

६९—इसी प्रकार कितने ही (चोर) अदत्तादान की गवेषणा—खोज करते हुए काल और अकाल अर्थात् समय और कुसमय—अर्धरात्रि आदि विषम काल, मे इधर-उधर भटकते हुए ऐसे श्मशान

मे फिरते है जहाँ चिताओ मे जलती हुई, रुधिर आदि से युक्त, अधजली एव खीच ली गई लाशे पडी है, रक्त से लथपथ मृत शरीरो को पूरा खा लेने और रुधिर पी लेने के पश्चात् इधर-उधर फिरती हुई डाकिनो के कारण जो अत्यन्त भयावह जान पडता है, जहाँ जम्बुक—गीदड खी-खी ध्वनि कर रहे है, उल्लुओ की डरावनी आवाज आ रही है, भयोत्पादक एव विद्रूप पिशाचो द्वारा ठहाका मार कर हँसने—अट्टहास करने से जो अतिशय भयावना एव अरमणीय हो रहा है और जो तीव्र दुर्गन्ध से व्याप्त एव घिनौना होने के कारण देखने मे भीषण जान पडता है।

ऐसे श्मशान-स्थानो के अतिरिक्त वनो मे, सूने घरो मे, लयनो-शिलामय गृहो मे, मार्ग मे, बनी हुई दुकानो, पर्वतो की गुफाओ, विषम—ऊबड-खाबड स्थानो और सिंह वाघ आदि हिंस्र प्राणियो से व्याप्त स्थानो मे (राजदण्ड से बचने के उद्देश्य से) क्लेश भोगते हुए इधर-उधर मारे-मारे फिरते है। उनके शरीर की चमडी शीत और उष्ण से शुष्क हो जाती है, सर्दी-गर्मी की तीव्रता को सहन करने के कारण उनकी चमडी जल जाती है या चेहरे की कान्ति मंद पड जाती है। वे नरकभव मे और तिर्यंच भव रूपी गहन वन मे होने वाले निरन्तर दु खो की अधिकता द्वारा भोगने योग्य पापकर्मों का सचय करते है, अर्थात् अदत्तादान का पाप इतना तीव्र होता है कि नरक की एव तिर्यंत गति की तीव्र वेदनाओ को निरन्तर भोगे विना उससे छुटकारा नही मिलता। ऐसे घोर पापकर्मो का वे सचय करते है। (जगल मे कभी यहा और कभी कही भटकते-छिपते रहने के कारण) उन्हे खाने योग्य अन्न और जल भी दुर्लभ होता है। कभी प्यास से पीडित रहते है, कभी—भूखे रहते है, थके रहते हे और कभी-कभी मास, शव-मुर्दा, कभी कन्दमूल आदि जो कुछ भी मिल जाता है, उसी को खा लेते है—उसी को गनीमत समझते है। वे नितन्तर उद्विग्न—चिन्तित—घबराए हुए रहते है, सदैव उत्कठित रहते है। उनका कोई शरण—रक्षक नही होता। इस प्रकार वे अटवीवास करते है—जगल मे रहते है, जिसमे सैकडो सर्पो (अजगरो, भेडियो, सिंह, व्याघ्र) आदि का भय बना रहता है अर्थात् जो विषैले और हिंसक जन्तुओ के कारण सदा शकनीय बना रहता है।

७०—अयसकरा तक्करा भयंकरा कास हरामोत्ति अज्ज दव्व इह सामत्थ करेंति गुज्झ। बहुयस्स जणस्स कज्जकरणेसु विग्घकरा मत्तपमत्तपसुत्त-वीसत्थ-छिद्दघाई वसणब्भुदएसु हरणबुद्धी विगव्व रुहिरमहिया परेंति णरवइ-मज्जायमइक्कता सज्जणजणदुगछिया सकम्मेहि पावकम्मकारी असुभपरिणया य दुक्खभागी णिच्चाविलदुहमणिव्वुइमणा इहलोए चेव किलिस्सता परदव्वहरा णरा वसणसयसमावण्णा।

७०—वे अकीर्त्तिकर अर्थात् अपयशजनक काम करने वाले और भयकर—दूसरो के लिए भय उत्पन्न करने वाले तस्कर ऐसी गुप्त मत्रणा—विचारणा करते रहते हैं कि आज किसके द्रव्य का अपहरण करे, वे बहुत—से मनुष्यो के कार्य करने मे विघ्नकारी होते है। वे मत्त—नशा के कारण बेभान, प्रमत्त—बेसुध सोए हुए और विश्वास रखने वाले लोगो का अवसर देखकर घात कर देते है। व्यसन—सकट—विपत्ति और अभ्युदय—हर्ष आदि के प्रसगो मे चोरी करने की बुद्धि वाले होते है। वृक—भेडियो की तरह रुधिर-पिपासु होकर इधर-उधर भटकते रहते हैं। वे राजाओ—राज्यशासन की मर्यादाओ का अतिक्रमण करने वाले, सज्जन पुरुषो द्वारा निन्दित एव पापकर्म करने वाले (चोर) अपनी ही करतूतो के कारण अशुभ परिणाम वाले और दु ख के भागी होते है। सैदव मलिन, दु:खमय

वाले, निर्लज्ज लोग मानवो को वन्दी बनाकर अथवा गायो आदि को ग्रहण करके ले जाते हैं। दारुण मति वाले, कृपाहीन—निर्दय या निकम्मे अपने-आत्मीय जनो का भी घात करते है। वे गृहो की सन्धि को छेदते है अर्थात् सेंध लगाते है।

जो परकीय द्रव्यो से विरत—विमुख-निवृत्त नही है ऐसे निर्दय बुद्धि वाले (वे चोर) लोगो के घरो मे रक्खे हुए धन, धान्य एव अन्य प्रकार के द्रव्य के समूहो को हर लेते है।

विवेचन—प्रकृत पाठ मे यह प्रदर्शित किया गया है कि पराये धन को लूटने वाले अथवा सेंध आदि लगा कर चोरी करने वाले लोग वही होते है, जो निर्दय—अनुकम्पाहीन होते है और जिन्हे अदत्तादान के परिणामस्वरूप परलोक मे होने वाली दुर्दशाओ की परवाह नही है। दयावान् और परलोक से डरने वाले विवेकी जन इस इह-परलोक-दु खप्रद कुकृत्य मे प्रवृत्त नही होते।

प्राचीन काल मे भी जन-वस्तियो की अनेक श्रेणिया उनकी हैसियत अथवा विशिष्टताओ के आधार पर निर्धारित की जाती थी। उनमे से कई नामो का प्रस्तुत पाठ मे उल्लेख हुआ है, जिनका आशय इस प्रकार है—

ग्राम—गाव-वह छोटी वस्ती जहाँ किसानो की बहुलता हो।
आकर—जहाँ सुवर्ण, रजत तावे आदि की खाने हो।
नगर—नकर-कर अर्थात् चु गी जहाँ न लगती हो, ऐसी वस्ती।
खेड—खेट-धूल के प्राकार से वेष्टित स्थान-वस्ती।
कब्बड—कर्बट-जहाँ थोडे मनुष्य रहते हो—कुनगर।
मडम्ब—जिसके आसपास कोई गाव-वस्ती न हो।
द्रोणमुख—जहाँ जलमार्ग से और स्थलमार्ग से जाया जा सके ऐसी बस्ती।
पत्तन—पाटन-जहाँ जलमार्ग से अथवा स्थलमार्ग से जाया जाए। किसी-किसी ने पत्तन का अर्थ रत्नभूमि भी किया है।
आश्रम—जहाँ तापसजनो का निवास हो।
निगम—जहाँ वणिक्जन-व्यापारी बहुतायत से निवास करते हो।
जनपद—देश-प्रदेश-अचल।

६९—तहेव केई अदिण्णादाण गवेसमाणा कालाकालेसु सचरता चियकापज्जलिय-सरस-दर-दड्ढ-कड्ढियकलेवरे रुहिरलित्तवयण-अक्खय-खाइयपीय-डाइणिभमत-भयकर जबुयक्खिक्खियते घूयकयघोर-सद्दे वेयालुट्ठिय-णिसुद्ध-कहकहिय-पहसिय-बीहणग-णिरभिरामे अइदुब्भिगध-बीभच्छदरिसणिज्जे सुसाण-वण-सुण्णघर-लेण-अतरावण-गिरिकदर-विसमसावय-समाकुलासु वसहीसु किलिस्सता सीयातव-सोसिय-सरीरा दड्ढच्छवी णिरयतिरिय-भवसकड-दुक्ख-समारवेयणिज्जाणि पावकम्माणि सचिणता, दुल्लह-भक्खण्ण-पाणभोयणा पिवासिया झु झिया किलता मस-कुणिमकदमूल-ज किचिकयाहारा उव्विग्गा उप्पुया असरणा अडवीवास उवेंति वालसय-सकणिज्ज।

६९—इसी प्रकार कितने ही (चोर) अदत्तादान की गवेषणा—खोज करते हुए काल और अकाल अर्थात् समय और कुसमय—अर्धरात्रि आदि विपम काल, मे इधर-उधर भटकते हुए ऐसे श्मशान

मे फिरते है जहाँ चिताओ मे जलती हुई, रुधिर आदि से युक्त, अधजली एव खीच ली गई लाशें पडी है, रक्त से लथपथ मृत शरीरो को पूरा खा लेने और रुधिर पी लेने के पश्चात् इधर-उधर फिरती हुई डाकिनो के कारण जो अत्यन्त भयावह जान पडता है, जहाँ जम्बुक—गीदड खी-खी ध्वनि कर रहे है, उल्लुओ की डरावनी आवाज आ रही है, भयोत्पादक एव विद्रूप पिशाचो द्वारा ठहाका मार कर हँसने—अट्टहास करने से जो अतिशय भयावना एव अरमणीय हो रहा है और जो तीव्र दुर्गन्ध से व्याप्त एव घिनौना होने के कारण देखने मे भीषण जान पडता है।

ऐसे श्मशान-स्थानो के अतिरिक्त वनो मे, सूने घरो मे, लयनो-शिलामय गृहो मे, मार्ग मे, वनी हुई दुकानो, पर्वतो की गुफाओ, विषम—ऊबड-खाबड स्थानो और सिंह बाघ आदि हिंस्र प्राणियो से व्याप्त स्थानो मे (राजदण्ड से बचने के उद्देश्य से) क्लेश भोगते हुए इधर-उधर मारे-मारे फिरते है। उनके शरीर की चमडी शीत और उष्ण से शुष्क हो जाती है, सर्दी-गर्मी की तीव्रता को सहन करने के कारण उनकी चमडी जल जाती है या चेहरे की कान्ति मंद पड जाती है। वे नरकभव मे और तिर्यंच भव रूपी गहन वन मे होने वाले निरन्तर दु खो की अधिकता द्वारा भोगने योग्य पापकर्मो का सचय करते है, अर्थात् अदत्तादान का पाप इतना तीव्र होता है कि नरक की एव तिर्यंत गति की तीव्र वेदनाओ को निरन्तर भोगे विना उससे छुटकारा नही मिलता। ऐसे घोर पापकर्मो का वे सचय करते हैं। (जगल मे कभी यहा और कभी कही भटकते-छिपते रहने के कारण) उन्हे खाने योग्य अन्न और जल भी दुर्लभ होता हैं। कभी प्यास से पीडित रहते है, कभी—भूखे रहते है, थके रहते है और कभी-कभी मास, शव-मुर्दा, कभी कन्दमूल आदि जो कुछ भी मिल जाता है, उसी को खा लेते है—उसी को गनीमत समझते है। वे नितन्तर उद्विग्न—चिन्तित—घबराए हुए रहते है, सदैव उत्कठित रहते है। उनका कोई शरण—रक्षक नही होता। इस प्रकार वे अटवीवास करते है—जगल मे रहते हैं, जिसमे सैकडो सर्पो (अजगरो, भेडियो, सिंह, व्याघ्र) आदि का भय बना रहता है अर्थात् जो विषैले और हिंसक जन्तुओ के कारण सदा शकनीय बना रहता है।

७०—अयसकरा तक्करा भयकरा कास हरामोत्ति अज्ज दव्व इह सामत्थ करेंति गुज्झ। बहुयस्स जणस्स कज्जकरणेसु विग्घकरा मत्तपमत्तपसुत्त-वीसत्थ-छिद्दघाई वसणब्भुदएसु हरणबुद्धी विगव्व रुहिरमहिया परेंति णरवइ-मज्जायमइक्कता सज्जणजणदुगछिया सकम्मेहिं पावकम्मकारी असुभपरिणया य दुक्खभागी णिच्चाविलदुहमणिव्वुइमणा इहलोए चेव किलिस्संता परदव्वहरा णरा वसणसयसमावण्णा।

७०—वे अकीर्त्तिकर अर्थात् अपयशजनक काम करने वाले और भयकर—दूसरो के लिए भय उत्पन्न करने वाले तस्कर ऐसी गुप्त मत्रणा—विचारणा करते रहते है कि आज किसके द्रव्य का अपहरण करे, वे बहुत—से मनुष्यो के कार्य करने मे विघ्नकारी होते है। वे मत्त—नशा के कारण बेभान, प्रमत्त—बेसुध सोए हुए और विश्वास रखने वाले लोगो का अवसर देखकर घात कर देते है। व्यसन—सकट—विपत्ति और अभ्युदय—हर्ष आदि के प्रसगो मे चोरी करने की बुद्धि वाले होते हैं। वृक—भेडियो की तरह रुधिर-पिपासु होकर इधर-उधर भटकते रहते है। वे राजाओ—राज्यशासन की मर्यादाओ का अतिक्रमण करने वाले, सज्जन पुरुषो द्वारा निन्दित एवं पापकर्म करने वाले (चोर) अपनी ही करतूतो के कारण अशुभ परिणाम वाले और दु ख के भागी होते है। सैदव मलिन, दु खमय

अशान्तियुक्त चित्त वाले ये परकीय द्रव्य को हरण करने वाले इसी भव मे सैकडो कष्टो से घिर कर क्लेश पाते हैं।

चोर को बन्दीगृह में होने वाले दु ख—

७१—तहेव केइ परस्स दव्व गवेसमाणा गहिया य हया य बद्धरुद्धा य तुरिय अइधाडिया पुरवर समप्पिया चोरग्गह-चारभडचाडुकराण तेहि य कप्पडप्पहार-णिद्दयआरक्खिय-खरफरुसवयण-तज्जण-गलच्छल्लुच्छल्लणाहि विमणा चारगवसहि पवेसिया णिरयवसहिसरिस। तत्थवि गोम्मियप्पहार-दूमणणिब्भच्छण-कडुयवयणभेसणगभयाभिभूया अक्खित्तणियसणा मलिणदडिखंडणिवसणा उक्कोडाल-चपासमग्गणपरायणेहि दुक्खसमुदीरणेहि गोम्मियभडेहि विविहेहि बधणेहि।

७१—इसी प्रकार परकीय धन द्रव्य की खोज मे फिरते हुए कई चोर (आरक्षको—पुलिस के द्वारा) पकडे जाते है और उन्हे मारा-पीटा जाता है, बन्धनो से बाँधा जाता है और कारागार मे कैद किया जाता है। उन्हे वेग के साथ—जल्दी-जल्दी खूब घुमाया—चलाया जाता है। बडे नगरो मे पहुँचा कर उन्हे पुलिस आदि अधिकारियो को सौप दिया जाता है। तत्पश्चात् चोरो को पकडने वाले, चौकीदार, सिपाही—गुप्तचर चाटुकार—उन्हे कारागार मे ठूस देते हैं। कपडे के चाबुको के प्रहारो से, कठोर-हृदय सिपाहियो के तीक्ष्ण एव कठोर वचनो की डाट-डपट से तथा गर्दन पकड कर धक्के देने से उनका चित्त खेदखिन्न होता है। उन चोरो को नारकावास सरीखे कारागार मे जबर्दस्ती घुसेड दिया जाता है। (किन्तु कारागार मे भी उन्हे चैन कहाँ ?) वहाँ भी वे कारागार के अधिकारियो द्वारा विविध प्रकार के प्रहारो अनेक प्रकार की यातनाओ, तर्जनाओ, कटुवचनो एव भयोत्पादक वचनो से भयभीत होकर दुखी बने रहते है। उनके पहनने—ओढने के वस्त्र छीन लिये जाते है। वहाँ उनको मैले—कुचैले फटे वस्त्र पहनने को मिलते है। वार-वार उन कैदियो (चोरो) से लाच—रिश्वत माँगने मे तत्पर कारागार के रक्षको—भटो द्वारा अनेक प्रकार के बन्धनो मे वे बाध दिये जाते है।

विवेचन—चौर्यरूप पापकर्म करने वालो की कैसी दुरवस्था होती है इस विषय मे शास्त्रकार ने यहाँ भी प्रकाश डाला है। मूल पाठ अपने आप मे स्पष्ट है। उस पर विवेचन की आवश्यकता नही है। अदत्तादान करने वालो की इस प्रकार की दुर्दशा लोक मे प्रत्यक्ष देखी जाती है।

७२—किं ते ? हडि-णिगड-वालरज्जुय-कुदडग-वरत्त-लोहसकल-हत्थदुय-वज्झपट्ट-दामक-णिक्कोडणेहि अण्णेहि य एवमाइएहि गोम्मिगभडोवगरणेहि दुक्खसमुदीरणेहि[1] सकोडणमोडणाहि बज्झति मदपुण्णा। सपुड-कवाड-लोहपजर-भूमिघर-णिरोह-कूव-चारग-कीलग-जुय-चक्कविततबधण-खभालण-उद्धचलण-बधणविहम्मणाहि य विहेडयता अवकोडगगाढ-उर-सिरबद्ध-उद्धपूरिय[2] फुरत-उर-कडगमोडणा-मेडणाहि बद्धा य णीससता सीसावेढ-उरुयावल-चप्पडग-सधिबधण-तत्तसलाग-सूइया-कोडणाणि तच्छणविमाणणाणि य खारकडुय-तित्त-णावणजायणा-कारणसयाणि बहुयाणि पावियता

---

१ "दुक्खसमयमुदीरणेहि"—पाठ भी है।

२ यहाँ "असुभपरिणया य"—पाठ श्री ज्ञानविमल सूरि की वृत्ति वाली प्रति मे है।

उरखोडो-दिण्ण-गाढपेल्लण-अट्ठिगसभग्गसपसुलिगा गलकालकलोहदड-उर-उदर-वत्थि-परिपीलिया मत्थत-हिययसचुण्णियगमगा आणत्तीकिंकरेहिं ।

केई अविराहिय-वेरिएहिं जमपुरिस-सण्णिहेहिं पहया ते तत्थ मदपुण्णा चडवेला-वज्झपट्ट-पाराइ-छिव-कस-लत्तवरत्त-णेत्तप्पहारसयतालि-यगमगा किवणा लबतचम्मवणवेयणविमुहियमणा घणकोट्टिम-णियलजुयलसकोडियमोडिया य कीरति णिरुच्चारा असचरणा, एया अण्णा य एवमाईओ वेयणाओ पावा पावेंति ।

७२—प्रश्न किया गया है कि चोरो को जिन विविध वन्धनो से वाधा जाता है, वे वन्धन कौन-से है ?

उत्तर है—हडि-खोडा या काष्ठमय वेडी, जिसमे चोर का एक पांव फंसा दिया जाता है, लोहमय बेडी, बालो से बनी हुई रस्सी, जिसके किनारे पर रस्सी का फदा बाधा जाता है, ऐसा एक विशेष प्रकार का काष्ठ, चर्मनिर्मित मोटे रस्से, लोहे की साकल, हथकडी, चमडे का पट्टा, पैर वाधने की रस्सी तथा निष्कोडन—एक विशेष प्रकार का वन्धन, इन सब तथा इसी प्रकार के अन्य-अन्य दु खो को समुत्पन्न करने वाले कारागार—कर्मचारियो के साधनो द्वारा (पापी चोरो को बाध कर पीडा पहुँचाई जाती है ।) इतना ही नही, उन पापी चोर कैदियो के शरीर को सिकोड कर और मोड कर जकड दिया जाता है । कैद की कोठरी (काल-कोठडी) मे डाल कर किवाड बद कर देना, लोहे के पीजरे मे डाल देना, भूमिगृह—भोयरे—तलघर मे बद कर देना, कूप मे उतारना, बदीघर के सीखचो से बाध देना, अगो मे कीले ठोक देना, (बैलो के कधो पर रक्खा जाने वाला) जूवा उनके कधे पर रख देना अर्थात् बैलो के स्थान पर उन्हे गाडी मे जोत देना, गाडी के पहिये के साथ बाध देना, बाहो जांघो और सिर को कस कर बाध देना, खभे से चिपटा देना, पैरो को ऊपर और मस्तक को नीचे की ओर करके बाधना, इत्यादि वे बन्धन है जिन से बाधकर अधर्मी जेल–अधिकारियो द्वारा चोर बाँधे जाते हैं—पीडित किये जाते हैं ।

उन अदत्तादान करने वालो की गर्दन नीची करके, छाती और सिर कस कर बाध दिया जाता है तब वे निश्वास छोडते हैं अथवा कस कर बाधे जाने के कारण उनका श्वास रुक जाता है अथवा उनकी आँखें ऊपर को आ जाती हैं । उनकी छाती धक् धक् करती रहती है । उनके अग मोड़े जाते हैं, वे वारवार उल्टे किये जाते हैं । वे अशुभ विचारो मे डूबे रहते है और ठडी श्वासें छोडते है ।

कारागार के अधिकारियो की आज्ञा का पालन करने वाले कर्मचारी चमडे की रस्सी से उनके मस्तक (कस कर) बाध देते हैं, दोनो जघाओ को चीर देते हैं या मोड देते है । घुटने कोहनी, कलाई आदि जोडो को काष्ठमय यन्त्र से बाधा जाता है । तपाई हुई लोहे की सलाइयाँ एव सूइयाँ शरीर मे चुभोई जाती है । वसूले से लकडी की भाँति उनका शरीर छीला जाता है । मर्मस्थलो को पीडित किया जाता है । लवण आदि क्षार पदार्थ, नीम आदि कटुक पदार्थ और लाल मिर्च आदि तीखे पदार्थ उनके कोमल अगो पर छिडके जाते हैं । इस प्रकार पीडा पहुँचाने के सैकडो कारणो—उपायो द्वारा बहुत-सी यातनाएँ वे प्राप्त करते हैं ।

(इतने से ही गनीमत कहाँ ?) छाती पर काष्ठ रखकर जोर से दबाने अथवा मारने से उनकी हड्डियाँ भग्न हो जाती हैं—पसली-पसली ढीली पड जाती है । मछली पकडने के काटे के

समान घातक काले लोहे के नोकदार डडे छाती, पेट, गुदा और पीठ मे भोक देने से वे अत्यन्त पीडा अनुभव करते है। ऐसी-ऐसी यातनाएँ पहुँचाने के कारण अदत्तादान करने वालो का हृदय मथ दिया जाता है और उनके अग-प्रत्यग चूर-चूर हो जाते है।

कोई-कोई अपराध किये विना ही वैरी बने हुए पुलिस—सिपाही या कारागार के कर्मचारी यमदूतो के समान मार-पीट करते है। इस प्रकार वे अभागे—मन्दपुण्य चोर वहाँ—कारागार मे थप्पडो, मुक्को, चर्मपट्टो, लोहे के कुशो, लोहमय तीक्ष्ण शस्त्रो, चाबुको, लातो, मोटे रस्सो और वेतो के सैकडो प्रहारो से अग-अग को ताडना देकर पीडित किये जाते है। लटकती हुई चमडी पर हुए घावो की वेदना से उन वेचारे चोरो का मन उदास हो जाता है—मूढ बन जाता है। लोहे के घनो से कूट-कूट कर बनायी हुई दोनो वेडियो को पहनाये रखने के कारण उनके अग सिकुड जाते है, मुड जाते है और शिथिल पड जाते है। यहाँ तक कि उनका मल-मूत्रत्याग भी रोक दिया जाता है, अथवा उन्हे निरुच्चार कर दिया जाता है अर्थात् उनका बोलना वद कर दिया जाता है। वे इधर-उधर सचरण नही कर पाते—उनका चलना-फिरना रोक दिया जाता है। ये और इसी प्रकार की अन्यान्य वेदनाएँ वे अदत्तादान का पाप करने वाले पापी प्राप्त करते है।

विवेचन—सूत्र का भाव स्पष्ट है।

चोर को दिया जाने वाला दण्ड—

७३—अदंतिंदिया वसट्टा बहुमोहमोहिया परधणम्मि लुद्धा फासिंदिय-विसय-तिव्वगिद्धा इत्थि-गयरूवसद्दरसगंधइट्ठरइमहियभोगतण्हाइया य धणतोसगा गहिया य जे णरगणा, पुणरवि ते कम्म-दुव्वियद्धा उवणीया रायकिंकराण तेसिं वहसत्थगपाढयाण विलउलीकारगाण लचसयगेण्हगाण कूडक-वडमाया-णियडि-आयरणपणिहिवचणविसारयाण बहुविहअलियसयजपगाण परलोय-परम्मुहाण णिरय-गइगामियाण तेहिं आणत्त-जीयदडा तुरियं उग्घाडिया पुरवरे सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापहपहेसु वेत-दड-लउड-कट्ठलेट्ठु-पत्थर-पणालिपणोल्लिमुट्ठि-लया-पायपण्हि-जाणु-कोप्पर-पहार-सभग्ग-महियगत्ता।

७३—जिन्होने अपनी इन्द्रियो का दमन नही किया है—जो अपनी इन्द्रियो पर नियत्रण नही रख सके है बल्कि स्वय इन्द्रियो के दास बन गए है, वशीभूत हो रहे है, जो तीव्र आसक्ति के कारण मूढ—हिताहित के विवेक से रहित बन गए हैं, परकीय धन मे लुब्ध है, जो स्पर्शनेन्द्रिय के विषय मे तीव्र रूप से गृद्ध—आसक्त है, स्त्री सम्बन्धी रूप, शब्द, रस और गध मे इष्ट रति तथा इष्ट भोग की तृष्णा से व्याकुल बने हुए हैं, जो केवल धन की प्राप्ति मे ही सन्तोष मानते है ऐसे मनुष्यगण—चोर—राजकीय पुरुषो द्वारा पकड लिये जाते है, फिर भी (पहले कभी ऐसी यातनाएँ भोग लेने पर भी) वे पापकर्म के परिणाम को नही समझते। वे राजपुरुष अर्थात आरक्षक—पुलिस के सिपाही – वधशास्त्र के पाठक होते है अर्थात् वध की विधियो को गहराई से समझते है। अन्याययुक्त कर्म करने वाले या चोरो को गिरफ्तार करने मे चतुर होते हैं। वे तत्काल समझ जाते है कि यह चोर अथवा लम्पट है। वे सैकडो अथवा सैकडो वार लाच—रिश्वत लेते है। झूठ, कपट माया, निकृति करके वेषपरिवर्त्तन आदि करके चोर को पकडने तथा उससे अपराध स्वीकार कराने मे अत्यन्त कुशल होते है—गुप्तचरी के काम मे अति चतुर होते है। वे नरकगतिगामी, परलोक से विमुख एव अनेक प्रकार से सैकडो असत्य भाषण करने वाले, ऐसे राजकिंकरो—सरकारी कर्मचारियो के समक्ष उपस्थित कर दिये जाते

हैं ।

उन राजकीय पुरुषो द्वारा जिनको प्राणदण्ड की सजा दी गई है, उन चोरो को पुरवर—नगर मे शृ गाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, चतुर्मु ख, महापथ और पथ आदि स्थानो मे जनसाधारण के सामने—प्रकट रूप मे लाया जाता है । तत्पश्चात् वेंतो से, डडो मे, लाठियो मे, लकडियो मे, ढलो से, पत्थरो से, लम्बे लट्ठो से, पणोल्लि—एक विशेप प्रकार की लाठी से, मुक्को से, लताओ मे, लातो मे, घुटनो से, कोहनियो से उनके अग-अग भग कर दिए जाते है, उनके शरीर को मथ दिया जाता है ।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे भी चोरो की यातनाओ का प्रतिपादन किया गया है । साथ ही यह उल्लेख भी कर दिया गया है कि आखिर मनुष्य चौर्य जैसे पाप कर्म मे, जिसके फलस्वरूप ऐसी-ऐसी भयानक एव घोरतर यातनाएँ भोगनी पडती है, क्यो प्रवृत्त होता है ?

इस पाप-प्रवृत्ति का प्रथम मूल कारण अपनी इन्द्रियो को वश मे न रखना है । जो मनुष्य इन्द्रियो को अपनी दासी बना कर नही रखता और स्वय को उनका दास बना लेता है, वही ऐसे पाप-कर्म मे प्रवृत्त होता है । अतएव चोरी से बचने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपनी इन्द्रियो पर सयम रक्खे और उन्हे स्वच्छन्द न होने दे ।

दूसरा कारण है—परधन का लोभ, जिसे 'परधणम्मि लुद्धा' विशेषण द्वारा उल्लिखित किया गया है । इसका उल्लेख पूर्व मे भी किया जा चुका है ।

अदत्तादान के इस प्रकरण मे स्पर्शनेन्द्रिय मे आसक्ति—स्त्रियो के प्रति उत्पन्न हुए अनुराग का भी कथन किया गया है । इसका कारण यही जान पडता है कि परस्त्री का सेवन अब्रह्मचर्य के साथ अदत्तादान का भी पाप है, क्योकि परस्त्री अदत्त होती है । आचार्य अभयदेवसूरि ने इस विषय मे कोई उल्लेख नही किया है ।

मूल पाठ मे कतिपय स्थलो का नामोल्लेख हुआ है । उनका अर्थ इस प्रकार है—

शृ गाटक—सिंघाडे के आकार का तिकोना मार्ग ।

त्रिक—जहाँ तीन रास्ते मिलते हो ।

चतुष्क—चौक, जहाँ चार मार्ग मिलते है ।

चत्वर—जहाँ चार से अधिक मार्ग मिलते है ।

चतुर्मु ख—चारो दिशाओ मे चार द्वार वाली इमारत, जैसे बगला, देव मन्दिर या कोई अन्य स्थान ।

महापथ—चौडी सडक, राजमार्ग ।

पथ—साधारण रास्ता ।

७४—अट्ठारसकम्मकारणा जाइयगमगा कलुणा सुक्कोट्ठकठ-गलग-तालु-जीहा जायता पाणीयं विगय-जीवियासा तण्हाइया वरागा त वि य ण लभति वज्झपुरिसेहिं घाडियता । तत्थ य खर-फरुस-पडहघट्टिय-कूडग्गहगाढरुट्ठणिसट्ठपरामुट्ठा वज्झयरकुडिजुयणियत्था सुरत्तकणवीर-गहियविमुकुल-कठे-गुण-वज्झदूयआविद्धमल्लदामा, मरणभयुप्पण्णसेय-आयतणेहुत्तुपियकिलिण्णगत्ता चुण्णगुडियसरीर-रयरेणुभरियकेसा कुसु भगोकिण्णमुद्धया छिण्ण-जीवियासा घुण्णंता वज्झयाणभीया[१] तिल तिल चेव छिज्जमाणा सरीरविकिकत्तलोहिओलित्ता कागणिमसाणि-खावियता पावा खरफरुसएहिं तालिज्जमाण-

१ 'वज्झपाणिप्पया'—पाठ भी है ।

वेहा बालिग-णरणारीसपरिवुडा पेच्छिज्जंता य णगरजणेण वज्झणेवत्थिया पणेज्जंति णयरमज्झेण किवणकलुणा अत्ताणा असरणा अणाहा अबंधवा बंधुविप्पहीणा विपिक्खिता दिसोदिसिं मरणभयुव्विग्गा आघायणपडिदुवार-संपाविया अधण्णा सूलग्गविलग्गभिण्णदेहा।

७४—अठारह प्रकार के चोरो एव चोरी के प्रकारो के कारण उनके अग-अग पीडित कर दिये जाते है, उनकी दशा अत्यन्त करुणाजनक होती है । उनके ओष्ठ, कण्ठ, गला, तालु और जीभ सूख जाती है, जीवन की आशा उनकी नष्ट हो जाती है । वे बेचारे प्यास से पीडित होकर पानी मागते हैं पर वह भी उन्हे नसीब नही होता । वहाँ कारागार मे वध के लिए नियुक्त पुरुष उन्हे धकेल कर या घसीट कर ले जाते हैं । अत्यन्त कर्कश पटह—ढोल बजाते हुए, राजकर्मचारियो द्वारा धकियाए जाते हुए तथा तीव्र क्रोध से भरे हुए राजपुरुषो के द्वारा फासी या शूली पर चढाने के लिए दृढतापूर्वक पकडे हुए वे अत्यन्त ही अपमानित होते हैं । उन्हे प्राणदण्डप्राप्त मनुष्य के योग्य दो वस्त्र पहनाए जाते हैं । एकदम लाल कनेर को माला उनके गले मे पहनायी जाती है, जो वध्यदूत—सी प्रतीत होती है अर्थात् यह सूचित करती है कि इस पुरुष को शीघ्र ही मृत्युदण्ड दिया जाने वाला है । मरण की भीति के कारण उनके शरीर से पसीना छूटता है, उस पसीने की चिकनाई से उनके सारे अग भीग जाते हैं—समग्र शरीर चिकना-चिकना हो जाता है । कोयले आदि के दुर्वर्ण चूर्ण से उनका शरीर पोत दिया जाता है । हवा से उड कर चिपटी हुई धूलि से उनके केश रूखे एव धूल-भरे हो जाते हैं । उनके मस्तक के केशो को कुसु भी—लाल रग से रग दिया जाता है । उनकी जीवन—जिन्दा रहने—की आशा छिन्न—नष्ट हो जाती है । अतीव भयभीत होने के कारण वे डगमगाते हुए चलते है—दिमाग मे चक्कर आने लगते है और वे वधको—जल्लादो से भयभीत बने रहते है । उनके शरीर के तिल-तिल जितने—छोटे-छोटे टुकडे कर दिये जाते है । उन्ही के शरीर मे से काटे हुए और रुधिर से लिप्त मास के छोटे-छोटे टुकडे उन्हे खिलाए जाते हैं । कठोर एव कर्कश स्पर्श वाले पत्थर आदि से उन्हे पीटा जाता है । इस भयावह दृश्य को देखने के लिए उत्कठित, पागलो जैसी नर-नारियो की भीड से वे घिर जाते हैं । नागरिक जन उन्हे (इस अवस्था मे) देखते हैं । मृत्युदण्डप्राप्त कैदी की पोशाक उन्हे पहनाई जाती है और नगर के बीचो-बीच हो कर ले जाया जाता है । उस समय वे चोर दीन-हीन—अत्यन्त दयनीय दिखाई देते है । त्राणरहित, अशरण, अनाथ, बन्धु-बान्धवविहीन, भाई-बदो द्वारा परित्यक्त वे इधर-उधर—विभिन्न दिशाओ मे नजर डालते है (कि कोई सहायक—सरक्षक दीख जाए) और (सामने उपस्थित) मौत के भय से अत्यन्त घबराए हुए होते है । तत्पश्चात् उन्हे आघातन—वधस्थल पर पहुँचा दिया जाता है और उन अभागो को शूली पर चढा दिया जाता है, जिससे उनका शरीर चिर जाता है ।

विवेचन—प्राचीन काल मे चोरी करना कितना गुरुतर अपराध गिना जाता था और चोरी करने वालो को कैसा भीषण दण्ड दिया जाता था, यह तथ्य इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है । आधुनिक काल मे भी चोरो को भयकर से भयकर यातनाएँ भुगतनी पडती है ।

कल्पना कीजिए उस बीभत्स दृश्य की जब वध्य का वेष धारण किए चोर नगर के बीच फिराया जा रहा हो ! उसके शरीर पर प्रहार पर प्रहार हो रहे हो, अग काटे जा रहे हो और उसी का मास उसी को खिलाया जा रहा हो, नर-नारियो के झुण्ड के झुण्ड उस दृश्य को देखने के लिए उमडे हुए हो ! उस समय अभागे चोर की मनोभावनाएँ किस प्रकार की होती होगी ! मरण सामने

देख कर उसे कैसा अनुभव होता होगा ! काश, वह इस दुर्दशा की पहले ही कल्पना कर लेता और चोरी के पापकर्म मे प्रवृत्ति न करता। ऐसी अवस्था मे कोई उसे त्राण या शरण नही देता, यहां तक कि उसके भाई-वद भी उसका परित्याग कर देते है।

प्रस्तुत पाठ मे अठारह प्रकार के चोरो या चौर्यप्रकारो का उल्लेख किया गया है। वे अठारह प्रकार ये हैं—

भलन कुशल तर्जा, राजभागोऽवलोकनम्।
आमर्गदर्शन शय्या पदभगस्तथैव च ॥ १ ॥
विश्राम पादपतनमासन गोपन तथा।
खण्ड स्यखादन चैव, तथाऽन्यन्माहराजिकम् ॥ २ ॥
पद्याग्न्युदकरज्जूना प्रदान ज्ञानपूवकम्।
एता प्रसूतयो ज्ञेया अष्टादश मनोषिभि ॥ ३ ॥

१—डरते क्यो हो ? मैं सब सँभाल लूँगा, तुम्हारा वाल वाका नही होने दूँगा, इस प्रकार कह कर चोर को प्रोत्साहन देना 'भलन' कहलाता है।

२ चोर के मिलने पर उससे कुशल-क्षेम पूछना।

३ चोर को चोरी के लिए हाथ आदि से सकेत करना।

४ राजकीय कर—टैक्स को छिपाना—नही देना।

५ चोर के लिए सधि आदि देखना अथवा चोरी करते देख कर मौन रह जाना।

६ चोरो की खोज करने वालो को गलत—विपरीत मार्ग दिखाना।

७ चोरो को सोने के लिए शय्या देना।

८. चोरो के पद-चिह्नो को मिटाना।

९ चोर को घर मे छिपाना या विश्राम देना।

१० चोर को नमस्कारादि करना—उसे सन्मान देना।

११ चोर को बैठने के लिए आसन देना।

१२. चोर को छिपाना—छिपा कर रखना।

१३ चोर को पकवान आदि खिलाना।

१४ चोर को गुप्त रूप से आवश्यक वस्तुएँ भेजना।

१५ थकावट दूर करने के लिए चोर को गर्म पानी, तैल आदि देना।

१६ भोजन पकाने आदि के लिए चोर को अग्नि देना।

१७ चोर को पोने के लिए ठडा पानी देना।

१८ चोर को चोरी करने के लिए अथवा चोरी करके लाये पशु को बाधने के लिए रस्सी-रस्सा देना।

ये अठारह चोरी की प्रसूति—कारण हैं। चोर को चोर जान कर ही ऐसे कार्य चौर्यकारण होते है।

इससे स्पष्ट है कि केवल साक्षात् चोरी करने वाला ही चोर नही है, किन्तु चोरी मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहायता देना, सलाह देना, उत्तेजना देना, चोर का आदर-सत्कार करना आदि भी चोरी के ही अन्तर्गत है। कहा है—

चोरश्चौरार्पको मत्री, भेदज्ञ काणकक्रयी ।
अन्नद स्थानदश्चैव, चोर सप्तविध स्मृत. ।।

अर्थात्—(१) स्वय चोरी करने वाला (२) चोरी करवाने वाला (३) चोरी करने की सलाह देने वाला (४) भेद बतलाने वाला—कैसे, कब और किस विधि से चोरी करना, इत्यादि बताने वाला (५) चोरी का माल (कम कीमत मे) खरीदने वाला (६) चोर को खाने की सामग्री देने वाला—जगल आदि गुप्त स्थानो मे रसद पहुँचाने वाला (७) चोर को छिपने के लिए स्थान देने वाला, ये सात प्रकार के चोर कहे गए है ।

चोरो को दी जाती हुई भीषण यातनाएँ—

७५—ते य तत्थ कीरंति परिकप्पियंगमंगा उल्लंबिज्जंति रुक्खसालासु केइ कलुणाइं विलवमाणा, अवरे चउरंगधणियबद्धा पव्वयकडगा पमुच्चंते दूरपातबहुविसमपत्थरसहा अण्णे, य गय चलणमलणयणिम्मद्दिया कीरंति पावकारी अट्ठारसखंडिया य कीरंति मु डपरसूहिं, केइ उक्कत्तकण्णोट्ठणासा उप्पाडियणयण-दसण-वसणा जिब्भिंदियछिया छिण्ण-कण्णसिरा पणिज्जंते छिज्जंते य असिणा णिव्विसया छिण्णहत्थपाया पमुच्चंते य जावज्जीवबंधणा य कीरंति, केइ परदव्वहरणलुद्धा कारग्गलणियलजुयलरुद्धा चारगाएहतसारा सयणविप्पमुक्का मित्तजणणिरक्खिया णिरासा बहुजण-धिक्कार-सद्दलज्जाविया अलज्जा अणुबद्धखुहा पारद्धा सी-उण्ह-तण्ह-वेयण-दुग्घट्टघट्टिया विवण्णमुह-विच्छविया विहलमइल-दुब्बला किलंता कासंता वाहिया य आमाभिभूयगत्ता परूढ-णह-केस-मंसु-रोमा छगमुत्तम्मि णियगम्मि खुत्ता । तत्थेव मया अकामगा बंधिऊण पाएसु कड्ढिया खाइयाए छूढा, तत्थ य वग-सुणग-सियाल-कोल-मज्जार-वंडस-दसगतु ड-पक्खिगण-विविह-मुहसयल-विलुत्तगत्ता कय-विहंगा, केइ किमिणा य कुहियदेहा अणिट्ठवयणेहिं सप्पमाणा सुट्ठु कयं जं मउत्ति पावो तुट्ठेणं जणेण हम्ममाणा लज्जावणगा य होंति सयणस्स वि य दीहकालं ।

७५—वहाँ वध्यभूमि मे उनके(किन्ही-किन्ही चोरो के)अग-प्रत्यग काट डाले जाते है—टुकडे-टुकडे कर दिये जाते है । उनको वृक्ष की शाखाओ पर टाग दिया जाता है । उनके चार अगो—दोनो हाथो और दोनो पैरो को कस कर बाध दिया जाता है । किन्ही को पर्वत की चोटी से नीचे गिरा दिया जाता है—फेंक दिया जाता है । बहुत ऊँचाई से गिराये जाने के कारण उन्हे विषम—नुकीले पत्थरो की चोट सहन करनी पडती है । किसी-किसी का हाथी के पैर के नीचे कुचल कर कचूमर बना दिया जाता है । उन अदत्तादान का पाप करने वालो को कु ठित धार वाले—भोथरे कुल्हाडो आदि से अठारह स्थानो मे खडित किया जाता है । कइयो के कान, आख और नाक काट दिये जाते है तथा नेत्र, दात और वृषण—अडकोश उखाड लिये जाते है । जीभ खीच कर बाहर निकाल ली जाती है, कान काट लिये जाते हैं या शिराएँ काट दी जाती है । फिर उन्हे वधभूमि मे ले जाया जाता है और वहाँ तलवार से काट दिया जाता है । (किन्ही-किन्ही) चोरो को हाथ और पैर काट कर निर्वासित कर दिया जाता है—देशनिकाला दे दिया जाता है । कई चोरो को आजीवन-मृत्युपर्यन्त कारागार मे रक्खा जाता है । परकीय द्रव्य का अपहरण करने मे लुब्ध कई चोरो को कारागार मे साकल बाध कर एव दोनो पैरो मे बेडियाँ डाल कर बन्द कर दिया जाता है । कारागार मे बन्दी बना कर उनका धन छीन लिया जाता है ।

वे चोर स्वजनो द्वारा त्याग दिये जाते है—राजकोप के भय से कोई स्वजन उनमे ममत्व नही रखता, मित्रजन उनकी रक्षा नही करते। सभी के द्वारा वे तिरस्कृत होते हैं। अतएव वे सभी की ओर से निराश हो जाते है। बहुत-से लोग 'धिक्कार है तुम्हे' इस प्रकार कहते हैं तो वे लज्जित होते हैं अथवा अपनी काली करतूत के कारण अपने परिवार को लज्जित करते है। उन लज्जाहीन मनुष्यो को निरन्तर भूखा मरना पडना है। चोरी के वे अपराधी सर्दी, गर्मी और प्यास की पीडा मे कराहते-चिल्लाते रहते है। उनका मुख—चेहरा विवर्ण—सहमा हुआ और कान्तिहीन हो जाता है। वे सदा विह्वल या विफल, मलिन और दुर्बल बने रहते है। थके-हारे या मुर्झाए रहते हैं, कोई-कोई खासते रहते है और अनेक रोगो से ग्रस्त रहते है। अथवा भोजन भलीभाति न पचने के कारण उनका शरीर पीडित रहता है। उनके नख, केश और दाढी-मूछो के बाल तथा रोम बढ जाते हैं। वे कारागार मे अपने ही मल-मूत्र मे लिप्त रहते है (क्योकि मल-मूत्र त्यागने के लिए उन्हे अन्यत्र नही जाने दिया जाता।)

जब इस प्रकार की दुस्सह वेदनाएँ भोगते-भोगते वे, मरने की इच्छा न होने पर भी, मर जाते है (तब भी उनकी दुर्दशा का अन्त नही होता)। उनके शव के पैरो मे रस्सी बाध कर कारागार से बाहर निकाला जाता है और किसी खाई-गड्ढे मे फेंक दिया जाता है। तत्पश्चात् भेडिया, कुत्ते, सियार, शूकर तथा सडासी के समान मुख वाले अन्य पक्षी अपने मुखो से उनके शव को नोच-चीथ डालते है। कई शवो को पक्षी—गीध आदि खा जाते हैं। कई चोरो के मृत कलेवर मे कीडे पड जाते हैं, उनके शरीर सड-गल जाते है। (इस प्रकार मृत्यु के पश्चात् भी उनकी ऐसी दुर्गति होती है। फिर भी उसका अन्त नही आता)। उसके बाद भी अनिष्ट वचनो से उनकी निन्दा की जाती है—उन्हे धिक्कारा जाता है कि—अच्छा हुआ जो पापी मर गया अथवा मारा गया। उसकी मृत्यु से सन्तुष्ट हुए लोग उसकी निन्दा करते है। इस प्रकार वे पापी चोर अपनी मौत के पश्चात् भी दीर्घकाल तक अपने स्वजनो को लज्जित करते रहते है।

विवेचन—उल्लिखित पाठ मे भी चोरो को दी जाने वाली भीषण, दुस्सह या असह्य यातनाओ का विवरण दिया गया है। साथ ही बतलाया गया है कि अनेक प्रकार के चोर ऐसे भी होते है, जिन्हे प्राणदण्ड—वध के बदले आजीवन कारागार का दण्ड दिया जाता है। मगर यह दण्ड उन्हे प्राणदण्ड से भी अधिक भारी पडता है। कारागार मे उन्हे भूख, प्यास आदि, सर्दी-गर्मी आदि तथा वध-बन्ध आदि के घोर कष्ट तो सहन करने ही पडते है, परन्तु कभी-कभी तो उन्हे मल-मूत्र त्यागने के लिए भी अन्यत्र नही जाने दिया जाता और वे जिस स्थान मे रहते है, वही उन्हे मल-मूत्र त्यागने को विवश होना पडता है और उनका शरीर अपने ही त्यागे हुए मल-मूत्र से लिप्त हो जाता है, अदत्तादान-कर्त्ताओ की यह दशा कितनी दयनीय होती है।

ऐसी अवस्था मे आजीवन रहना कितनी बडी विडम्बना है, यह कल्पना करना भी कठिन है।

जब वे चोर ऊपर मूल पाठ मे बतलाई गई यातनाओ को अधिक सहन करने मे असमर्थ हो कर अकालमृत्यु या यथाकालमृत्यु के शिकार हो जाते है तो उनके शव की भी विडम्बना होती है। शव के हाथो-पैरो मे रस्सी बाध कर उसे घसीटा जाता है और किसी खड्डे या खाई मे फेंक दिया जाता है। गीध और सियार उसे नोच-नोच कर खाते है, वह सड़ता-गलता रहता है, उसमे असख्य कीडे बिलबिलाते है। इधर यह दुर्दशा होती है और उधर लोग उसकी मौत का समाचार पाकर उसे

चोरश्चौरार्पको मन्त्री, भेदज्ञ काणकक्रयी ।
अन्नद स्थानदश्चैव, चोर॰ सप्तविध स्मृत ।।

अर्थात्—(१) स्वय चोरी करने वाला (२) चोरी करवाने वाला (३) चोरी करने की सलाह देने वाला (४) भेद बतलाने वाला—कैसे, कब और किस विधि से चोरी करना, इत्यादि बताने वाला (५) चोरी का माल (कम कीमत मे) खरीदने वाला (६) चोर को खाने की सामग्री देने वाला—जगल आदि गुप्त स्थानो मे रसद पहुँचाने वाला (७) चोर को छिपने के लिए स्थान देने वाला, ये सात प्रकार के चोर कहे गए है ।

चोरो को दी जाती हुई भीषण यातनाएँ—

७५—ते य तत्थ कीरति परिकप्पियगमगा उल्लविज्जति रुक्खसालासु केइ कलुणाइ विलवमाणा, अवरे चउरगधणियबद्धा पव्वयकडगा पमुच्चते दूरपातबहुविसमपत्थरसहा अण्णे, य गय चलण-मलणयणिम्मद्दिया कीरति पावकारी अट्ठारसखडिया य कीरति मु डपरसूहिं, केइ उक्कत्तकण्णोट्ठणासा उप्पाडियणयण-दसण-वसणा जिब्भिदियछिया छिण्ण-कण्णसिरा पणिज्जते छिज्जते य असिणा णिव्विसया छिण्णहत्थपाया पमुच्चते य जावज्जीवबधणा य कीरति, केइ परदव्वहरणलुद्धा कारग्गलणियल-जुयलरुद्धा चारगाएहतसारा सयणविप्पमुक्का मित्तजणणिरक्खिया णिरासा बहुजण-धिक्कार-सद्द-लज्जाविया अलज्जा अणुबद्धखुहा पारद्धा सी-उण्ह-तण्ह-वेयण-दुग्घट्टघट्टिया विवण्णमुह-विच्छविया विहलमइल-दुब्बला किलता कासता वाहिया य आमाभिभूयगत्ता परूढ-णह-केस-मसु-रोमा छगमुत्तम्मि णियगम्मि खुत्ता । तत्थेव मया अकामगा बधिऊण पाएसु कड्डिया खाइयाए छूढा, तत्थ य वग-सुणग-सियाल-कोल-मज्जार-वडस-दसगतु ड-पक्खिगण-विविह-मुहसयल-विलुत्तगत्ता कय-विहगा, केइ किमिणा य कुहियदेहा अणिट्ठवयणेहिं सप्पमाणा सुट्ठु कय ज मउत्ति पावो तुट्ठेण जणेण हम्ममाणा लज्जावणगा य होति सयणस्स वि य दोहकाल ।

७५—वहाँ वध्यभूमि मे उनके (किन्ही-किन्ही चोरो के) अग-प्रत्यग काट डाले जाते हैं—टुकडे-टुकडे कर दिये जाते है । उनको वृक्ष की शाखाओ पर टाग दिया जाता है । उनके चार अगो—दोनो हाथो और दोनो पैरो को कस कर बाध दिया जाता है । किन्ही को पर्वत की चोटी से नीचे गिरा दिया जाता है—फैक दिया जाता है । बहुत ऊँचाई से गिराये जाने के कारण उन्हे विषम—नुकीले पत्थरो की चोट सहन करनी पडती है । किसी-किसी का हाथी के पैर के नीचे कुचल कर कचूमर बना दिया जाता है । उन अदत्तादान का पाप करने वालो को कु ठित धार वाले—भोथरे कुल्हाडो आदि से अठारह स्थानो मे खडित किया जाता है । कइयो के कान, आख और नाक काट दिये जाते हैं तथा नेत्र, दात और वृषण—अडकोश उखाड लिये जाते है । जीभ खीच कर बाहर निकाल ली जाती है, कान काट लिये जाते हैं या शिराएँ काट दी जाती है । फिर उन्हे वधभूमि मे ले जाया जाता है और वहाँ तलवार से काट दिया जाता है । (किन्ही-किन्ही) चोरो को हाथ और पैर काट कर निर्वासित कर दिया जाता है—देशनिकाला दे दिया जाता है । कई चोरो को आजीवन-मृत्युपर्यन्त कारागार मे रक्खा जाता है । परकीय द्रव्य का अपहरण करने मे लुब्ध कई चोरो को कारागार मे साकल बाध कर एव दोनो पैरो मे बेडियाँ डाल कर बन्द कर दिया जाता है । कारागार मे बन्दी बना कर उनका धन छीन लिया जाता है ।

वे चोर स्वजनो द्वारा त्याग दिये जाते है—राजकोप के भय से कोई स्वजन उनसे मवध नही रखता, मित्रजन उनकी रक्षा नही करते। सभी के द्वारा वे तिरस्कृत होते हैं। अतएव वे सभी की ओर से निराश हो जाते है। बहुत-से लोग 'धिक्कार है तुम्हे' इस प्रकार कहते है तो वे लज्जित होते है अथवा अपनी काली करतून के कारण अपने परिवार को लज्जित करते है। उन लज्जाहीन मनुष्यो को निरन्तर भूखा मरना पडता है। चोरी के वे अपराधी सर्दी, गर्मी और प्यास की पीडा से कराहते-चिल्लाते रहते हैं। उनका मुख—चेहरा विवर्ण—सहमा हुआ और कान्तिहीन हो जाता है। वे सदा विह्वल या विफल, मलिन और दुर्बल बने रहते है। थके-हारे या मुर्झाए रहते हैं, कोई-कोई खासते रहते हैं और अनेक रोगो से ग्रस्त रहते है। अथवा भोजन भलीभाति न पचने के कारण उनका शरीर पीडित रहता है। उनके नख, केश और दाढी-मूछो के बाल तथा रोम बढ जाते हैं। वे कारागार मे अपने ही मल-मूत्र मे लिप्त रहते है (क्योकि मल-मूल त्यागने के लिए उन्हे अन्यत्र नही जाने दिया जाता।)

जब इस प्रकार की दुस्सह वेदनाएँ भोगते-भोगते वे, मरने की इच्छा न होने पर भी, मर जाते है (तब भी उनकी दुर्दशा का अन्त नही होता)। उनके शव के पैरो मे रस्सी बाध कर कारागार से बाहर निकाला जाता है और किसी खाई-गड्ढे मे फैंक दिया जाता है। तत्पश्चात् भेडिया, कुत्ते, सियार, शूकर तथा सडासी के समान मुख वाले अन्य पक्षी अपने मुखो से उनके शव को नोच-चौथ डालते है। कई शवो को पक्षी—गीध आदि खा जाते है। कई चोरो के मृत कलेवर मे कीडे पड जाते हैं, उनके शरीर सड-गल जाते है। (इस प्रकार मृत्यु के पश्चात् भी उनकी ऐसी दुर्गति होती है। फिर भी उसका अन्त नही आता)। उसके बाद भी अनिष्ट वचनो से उनकी निन्दा की जाती है—उन्हे धिक्कारा जाता है कि—अच्छा हुआ जो पापी मर गया अथवा मारा गया। उसकी मृत्यु से सन्तुष्ट हुए लोग उसकी निन्दा करते है। इस प्रकार वे पापी चोर अपनी मौत के पश्चात् भी दीर्घकाल तक अपने स्वजनो को लज्जित करते रहते हैं।

विवेचन—उल्लिखित पाठ मे भी चोरो को दी जाने वाली भीषण, दुस्सह या असह्य यातनाओ का विवरण दिया गया है। साथ ही बतलाया गया है कि अनेक प्रकार के चोर ऐसे भी होते है, जिन्हे प्राणदण्ड—वध के बदले आजीवन कारागार का दण्ड दिया जाता है। मगर यह दण्ड उन्हे प्राणदण्ड से भी अधिक भारी पडता है। कारागार मे उन्हे भूख, प्यास आदि, सर्दी-गर्मी आदि तथा वध-बन्ध आदि के घोर कष्ट तो सहन करने ही पडते है, परन्तु कभी-कभी तो उन्हे मल-मूत्र त्यागने के लिए भी अन्यत्र नही जाने दिया जाता और वे जिस स्थान मे रहते है, वही उन्हे मल-मूत्र त्यागने को विवश होना पडता है और उनका शरीर अपने ही त्यागे हुए मल-मूल से लिप्त हो जाता है, अदत्तादान-कर्त्ताओ की यह दशा कितनी दयनीय होती है!

ऐसी अवस्था मे आजीवन रहना कितनी बडी विडम्बना है, यह कल्पना करना भी कठिन है।

जब वे चोर ऊपर मूल पाठ मे बतलाई गई यातनाओ को अधिक सहन करने मे असमर्थ हो कर अकालमृत्यु या यथाकालमृत्यु के शिकार हो जाते है तो उनके शव की भी विडम्बना होती है। शव के हाथो-पैरो मे रस्सी बाध कर उसे घसीटा जाता है और किसी खड्डे या खाई मे फेंक दिया जाता है। गीध और सियार उसे नोच-नोच कर खाते है, वह सडता-गलता रहता है, उसमे असख्य कीडे बिलबिलाते है। इधर यह दुर्दशा होती है और उधर लोग उसकी मौत का समाचार पाकर उसे

कोसते है। कहते है—भला हुआ जो पापी मर गया! इस प्रकार का जनवाद सुन कर उस चोर के आत्मीय जनो को लज्जित होना पडता है। वे दूसरो के सामने अपना शिर ऊँचा नही कर पाते। इस प्रकार चोर स्वय नो यातनाएँ भुगतता ही है, अपने पारिवारिक जनो को भी लज्जित करता है।

फिर भी क्या चोरी के पाप से होने वाली विडम्बनाओ का अन्त आ जाता है? नही। आगे पढिए।

पाप और दुर्गति की परम्परा—

७६—मया सता पुणो परलोग-समावण्णा णरए गच्छंति णिरभिरामे अगार-पलित्तककप्प-अच्चत्थ-सोयवेयण-अस्साउदिण्ण-सययदुक्ख-सय-समभिद्दुए, तओ वि उव्वट्टिया समाणा पुणो वि पवज्जंति तिरियजोणिं तहिं पि णिरयोवमं अणुहवंति वेयण, ते अणतकालेण जइ णाम कहिं वि मणुयभाव लभंति णेगेहिं णिरयगइ-गमण-तिरिय-भव-सयसहस्स-परियट्टेहिं।

तत्थ वि य भवतऽणारिया णीय-कुल-समुप्पण्णा आरियजणे वि लोगबज्झा तिरिक्खभूया य अकुसला कामभोगतिसिया जहिं णिबधति णिरयवत्तणिभवप्पवचकरण-पणोल्लि पुणो वि ससारावत्तणेम-मूले धम्मसुइ-विवज्जिया अणज्जा कूरा मिच्छत्तसुइपवण्णा य होंति एगत-दड-रुइणो वेढेंता कोसिकारकीडोव्व अप्पग अट्ठकम्मततु-घणबधणेण।

७६—(चोर अपने दु खमय जीवन का अन्त होने पर) परलोक को प्राप्त होकर नरक मे उत्पन्न होते है। नरक निरभिराम है—वहाँ कोई भी अच्छाई नही है और आग से जलते हुए घर के समान (अतीव उष्ण वेदना वाला या) अत्यन्त शीत वेदना वाला होता है। (तीव्र) असातावेदनीय कर्म की उदीरणा के कारण सैकडो दु खो से व्याप्त है। (लम्बी आयु पूरी करने के पश्चात्) नरक से उद्वर्त्तन करके—उबर कर—निकल कर फिर तिर्यंचयोनि मे जन्म लेते है। वहाँ भी वे नरक जैसी असातावेदना को अनुभव करते हैं। उस तिर्यंचयोनि मे अनन्त काल भटकते है। किसी प्रकार, अनेको वार नरकगति और लाखो वार तिर्यंचगति मे जन्म-मरण करते-करते यदि मनुष्यभव पा लेते है तो वहाँ भी नीच कुल मे उत्पन्न होते है और अनार्य होते है। कदाचित् आर्यकुल मे जन्म मिल गया तो वहाँ भी लोकबाह्य-वहिष्कृत होते हैं। पशुओ जैसा जीवन यापन करते है, कुशलता से रहित होते है अर्थात् विवेकविहीन होते है, अत्यधिक कामभोगो की तृष्णा वाले और अनेको वार नरक-भवो मे (पहले) उत्पन्न होने के कु-सस्कारो के कारण नरकगति मे उत्पन्न होने योग्य पापकर्म करने की प्रवृत्ति वाले होते हैं। अतएव ससार-चक्र मे परिभ्रमण कराने वाले अशुभ कर्मों का बन्ध करते हैं। वे धर्मशास्त्र के श्रवण से वचित रहते है—पापकर्मो मे प्रवृत्त रहने के कारण धर्मशास्त्र को श्रवण करने की रुचि ही उनके हृदय मे उत्पन्न नही होती। वे अनार्य—शिष्टजनोचित आचार-विचार से रहित, क्रूर-नृशस-निर्दय मिथ्यात्व के पोषक शास्त्रो को अगीकार करते है। एकान्तत हिंसा मे ही उनकी रुचि होती है। इस प्रकार रेशम के कीडे के समान वे अष्ट कर्म रूपी तन्तुओ से अपनी आत्मा को प्रगाढ वन्धनो से जकड लेते है।

विवेचन—अदत्तादान-पाप के फलस्वरूप जीव की उसी भव सबधी व्यथाओ का विस्तार-पूर्वक वर्णन करने के पश्चात् शास्त्रकार ने परभव सबधी दशाओ का दिग्दर्शन यहाँ कराया है। चोरी के फल भोगने के लिए चोर को नरक मे उत्पन्न होना पडता है। क्योकि नारक जीव नरक से

छुटकारा पाकर पुन अनन्तर भव मे नरक मे उत्पन्न नही होता, अत. चोर का जीव किसी तिर्यंच की पर्याय मे जन्म लेता है। वहाँ भी उसे नरक जैसे कष्ट भोगने पडते है। तिर्यंचगति से मर कर जीव पुन तिर्यंच हो सकता है, अतएव वह वार-वार तिर्यचो मे और बीच-बीच मे नरकगति मे जन्म लेता और मरता रहता है। यो जन्म-मरण करते-करते अनन्त काल तक व्यतीत हो जाता है।

तत्पश्चात् कभी किसी पुण्य-प्रभाव से मनुष्यगति प्राप्त करता है तो नीच कुल मे जन्म लेता है और पशुओ सरीखा जीवन व्यतीत करता है। उसकी रुचि पापकर्मो मे ही रहती है। वार-वार नरकभव मे उत्पन्न होने के कारण उसकी मति ही ऐसी हो जानी है कि अनायास ही वह पापो मे प्रवृत्त होता है।

नरकगति और तिर्यचगति मे होने वाले दु खो का प्रथम आस्रवद्वार मे विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है, अतएव वही से समझ लेना चाहिए।

पापी जीव अपनी आत्मा को किस प्रकार कर्मों से वेष्टित कर लेता है, इसके लिए मूल पाठ मे 'कोसिकारकीडोव्व' अर्थात् कोशिकारकीट—रेशमी कीडे की बहुत सुन्दर उपमा दी गई है। यह कीडा अपनी ही लार से अपने आपको वेष्टित करने वाले कोश का निर्माण करता है। उसके मुख से निकली लार तन्तुओ का रूप धारण कर लेती है और उसी के शरीर पर लिपट कर उसे घेर लेती है। इस प्रकार वह कीडा अपने लिए आप ही बन्धन तैयार करता है। इसी प्रकार पापी जीव स्वय अपने किये कर्मों द्वारा बद्ध होता है।

संसार-सागर—

७७—एव णरग-तिरिय-नर-अमर-गमण-पेरतचक्कवाल जम्मजरामरणकरणगभीरदुक्खपक्खुभियपउरसलिल सजोगवियोगवीची-चितापसग-पसरिय-वह-बध-महल्ल-विपुलकल्लोल कलुण-विलविय-लोभ-कलकलित-बोलबहुल अवमाणणफेण तिव्वखिसणपुलपुलप्पभूय-रोग-वेयण-पराभव-विणिवायफरुस-धरिसण-समावडिय-कठिणकम्मपत्थर-तरग-रगत-णिच्च-मच्चु-भयतोयपट्ठ कसायपायालसकुल भव-सयसहस्सजलसचय अणत उव्वेयणय अणोरपार महब्भय भयकर पइभय अपरिमिय-महिच्छ-कलुस-मइ-वाउवेगउद्धम्ममाण आसापिवासपायाल-काम-रइ-रागदोस-बधण-बहुविहसकप्प-विउलदगरयरयधकार मोहमहावत्त-भोगभममाणगुप्पमाणुच्छलत-बहुगब्भवासपच्चोणियत्तपाणिय पहाविय-वसणसमावण्ण रुण्ण-चडमारुयसमाहया मणुण्णवीची-वाकुलियभग्गफुट्टतणिट्ठकल्लोल-सकुलजल पमायबहुचडदुट्ठसावयसमाहयउद्धायमाणगपूरघोरविद्धंसणत्थबहुल अण्णाणभमत-मच्छपरिहत्थ अणिहुतिदिय-महामगरतुरिय-चरिय- खोखुब्भमाण-सतावणिचयचलत-चवल- चवल-अत्ताण-असरण-पुव्वकयकम्मसचयोदिण्ण-वज्जवेइज्जमाण-दुहसय-विवागघुण्णतजल-समूह।

इड्ढि-रस-साय गारवोहार-गहिय- कम्मपडिबद्ध-सत्तकड्ढिज्जमाण- णिरयतलहुत्त-सण्णविसण्ण-बहुल अरइ-रइ-भय-विसाय-सोगमिच्छत्तसेलसकड अणाइसताण-कम्मबधण-किलेसचिक्खिल्लसुदुत्तार अमर-णर-तिरिय-णिरयगइ-गमण-कुडिलपरियत्त-विपुलवेल हिंसा-लिय-अदत्तादाण मेहुणपरिग्गहारभ-करण-कारावणा-णुमोयण-अट्ठविह-अणिट्ठकम्मपिडिय-गुरुभारक्कतदुग्गजलोघ-दूरपणोलिज्जमाण-उम्मुग्ग-णिमग्ग-दुल्लभतल सारीरमणोमयाणि दुक्खाणि उप्पियता सायस्सायपरितावणमय उब्बुड्डुणिब्बुड्डुय

करेंता चउरतमहत-मणवयग्ग रुद्द ससारसागर अट्ठिय अणालबण-मपइठाण-मप्पमेय चुलसीइ-जोणि-सयसहस्सगुविल अणालोकमधयार अणतकाल णिच्च उत्तत्थसुण्णभयसण्णसपउत्ता वसति, उव्विग्ग-वासवसहिं ।

जहिं आउय णिबधति पावकम्मकारी, बधव-जण-सयण-मित्तपरिवज्जिया अणिट्ठा भवति अणाइज्जदुव्विणीया कुठाणा-सण-कुसेज्ज-कुभोयणा असुइणो कुसघयण-कुप्पमाण-कुसंठिया, कुरूवा बहु-कोह-माण-माया-लोहा बहुमोहा धम्मसण्ण-सम्मत्त-परिब्भट्ठा दारिद्दोवद्दवाभिभूया णिच्च परकम्म-कारिणो जीवणत्थरहिया किविणा परपिडतक्कगा दुक्खलद्धाहारा अरस-विरस-तुच्छ-कय-कुच्छिपूरा परस्स पेच्छता रिद्धि-सक्कार-भोयणविसेस-समुदयविहिं णिदता अप्पग कयत च परिवयता इह य पुरेकडाइ कम्माइ पावगाइ विमणसो सोएण डज्झमाणा परिभूया होति, सत्तपरिवज्जिया य छोभा सिप्प-कला-समय-सत्थ-परिवज्जिया जहाजायपसुभूया अवियत्ता णिच्च-णीय-कम्मोवजीविणो लोय-कुच्छ-णिज्जा मोघमणोरहा णिरासबहुला ।

७७—(बन्धनो से जकडा वह जीव अनन्त काल तक ससार-सागर मे ही परिभ्रमण करता रहता है । ससार-सागर का स्वरूप कैसा है, यह एक सागोपाग रूपक द्वारा शास्त्रकार निरूपित करते है—)

नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति मे गमनागमन करना ससार-सागर की बाह्य परिधि है । जन्म, जरा और मरण के कारण होने वाला गभीर दु ख ही ससार-सागर का अत्यन्त क्षुब्ध जल है । ससार-सागर मे सयोग और वियोग रूपी लहरे उठती रहती हैं । सतत—निरन्तर चिन्ता ही उसका प्रसार—फैलाव—विस्तार है । वध और बन्धन ही उसमे लम्बी-लम्बी, ऊची एव विस्तीर्ण तरगे है । उसमे करुणाजनक विलाप तथा लोभ की कलकलाहट की ध्वनि की प्रचुरता है । उसमे अपमान रूपी फेन होते है—अवमानना या तिरस्कार के फेन व्याप्त रहते है । तीव्र निन्दा, पुन: पुन उत्पन्न होने वाले रोग, वेदना, तिरस्कार, पराभव, अध पतन, कठोर झिडकियाँ जिनके कारण प्राप्त होती है, ऐसे कठोर ज्ञानावरणीय आदि कर्मों रूपी पाषाणो से उठी हुई तरगो के समान चचल है । सदैव बना रहने वाला मृत्यु का भय उस ससार-समुद्र के जल का तल है । वह ससार-सागर कषायरूपी पाताल-कलशो से व्याप्त है । लाखो भवो की परम्परा ही उसकी विशाल जलराशि है । वह अनन्त है—उसका कही ओर-छोर दृष्टिगोचर नही होता । वह उद्वेग उत्पन्न करने वाला और तटरहित होने से अपार है । दुस्तर होने के कारण महान् भय रूप है । भय उत्पन्न करने वाला है । उसमे प्रत्येक प्राणी को एक दूसरे के द्वारा उत्पन्न होने वाला भय बना रहता है । जिनकी कही कोई सीमा—अन्त नही, ऐसी विपुल कामनाओ और कलुषित बुद्धि रूपी पवन आधी के प्रचण्ड वेग के कारण उत्पन्न तथा आशा (अप्राप्त पदार्थ को प्राप्त करने की अभिलाषा) और पिपासा (प्राप्त भोगो-पभोगो को भोगने की लोलुपता) रूप पाताल, समुद्रतल से कामरति—शब्दादि विषयो सम्बन्धी अनुराग और द्वेष के बन्धन के कारण उत्पन्न विविध प्रकार के सकल्परूपी जल-कणो की प्रचुरता से वह अन्धकारमय हो रहा है । ससार-सागर के जल मे प्राणी मोहरूपी भवरो (आवर्तो) मे भोगरूपी गोलाकार चक्कर लगा रहे हैं, व्याकुल होकर उछल रहे है तथा बहुत-से बीच के हिस्से मे फैलने के

कारण ऊपर उछल कर नीचे गिर रहे है। इस संसार-सागर मे इधर-उधर दौडधाम करते हुए, व्यसनो से ग्रस्त प्राणियो के रुदनरूपी प्रचण्ड पवन से परस्पर टकराती हुई अमनोज्ञ लहरो से व्याकुल तथा तरगो से फूटता हुआ एव चचल कल्लोलो से व्याप्त जल है। वह प्रमाद रूपी अत्यन्त प्रचण्ड एव दुष्ट श्वापदो—हिंसक जन्तुओ द्वारा सताये गये एव इधर-उधर घूमते हुए प्राणियो के समूह का विध्वस करने वाले घोर अनर्थों से परिपूर्ण है। उसमे अज्ञान रूपी भयकर मच्छ घूमते रहते हे। अनुपशान्त इन्द्रियो वाले जीवरूप महामगरो की नयी-नयी उत्पन्न होने वाली चेष्टाओ से वह अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा है। उसमे सन्तापो का समूह—नाना प्रकार के सन्ताप विद्यमान है, ऐसा प्राणियो के द्वारा पूर्वसंचित एव पापकर्मो के उदय से प्राप्त होने वाला तथा भोगा जाने वाला फल रूपी घूमता हुआ—चक्कर खाता हुआ जल-समूह है जो बिजली के समान अत्यन्त चचल—चलायमान बना रहता है। वह त्राण एव शरण से रहित है—दु खी होते हुए प्रणियो को जैसे समुद्र मे कोई त्राण—शरण नही होता, इसी प्रकार ससार मे अपने पापकर्मो का फल भोगने से कोई बचा नही सकता।

ससार-सागर मे ऋद्धिगौरव, रसगौरव और सातागौरव रूपी अपहार—जलचर जन्तुविशेष—द्वारा पकडे हुए एव कर्मबन्ध से जकडे हुए प्राणी जब नरकरूप पाताल-तल के सम्मुख पहुँचते है तो सन्न—खेदखिन्न और विषण्ण—विषादयुक्त होते है, ऐसे प्राणियो की बहुलता वाला हे। वह अरति, रति, भय, दीनता, शोक तथा मिथ्यात्व रूपी पर्वतो से व्याप्त है। अनादि सन्तान—परम्परा वाले कर्मबन्धन एव राग-द्वेष आदि क्लेश रूप कीचड के कारण उस ससार-सागर को पार करना अत्यन्त कठिन है। जैसे समुद्र मे ज्वार आते है, उसी प्रकार ससार-समुद्र मे देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति और नरकगति मे गमनागमन रूप कुटिल परिवर्त्तनो से युक्त विस्तीर्ण वेला—ज्वार—आते रहते हैं। हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह रूप आरभ के करने, कराने और अनुमोदने से सचित ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के गुरुतर भार से दबे हुए तथा व्यसन रूपी जलप्रवाह द्वारा दूर फेंके गये प्राणियो के लिए इस ससार-सागर का तल पाना अत्यन्त कठिन है। इसमे प्राणी शारीरिक और मानसिक दु खो का अनुभव करते रहते है। ससार सबधी सुख-दु ख से उत्पन्न होने वाले परिताप के कारण वे कभी ऊपर उठने और कभी डूबने का प्रयत्न करते रहते है, अर्थात् आन्तरिक सन्ताप से प्रेरित होकर प्राणी ऊपर-नीचे आने-जाने की चेष्टाओ मे सलग्न रहते हैं। यह ससार-सागर चार दिशा रूप चार गतियो के कारण विशाल है। अर्थात् समुद्र चारो दिशाओ मे विस्तृत होता है और ससार चार गतियो के कारण विशाल है। यह अन्तहीन और विस्तृत है। जो जीव सयम मे स्थित नही—असयमी है, उनके लिए यहाँ कोई आलम्बन नही है, कोई आधार नही है—सुरक्षा के लिए कोई साधन नही है। यह अप्रमेय है—छद्मस्थ जीवो के ज्ञान से अगोचर है या इसकी कही अन्तिम सीमा नही है—उसे मापा नही जा सकता। चौरासी लाख जीवयोनियो से व्याप्त—भरपूर है। यहाँ अज्ञानान्धकार छाया रहता है और यह अनन्तकाल तक स्थायी है। ससार-सागर उद्वेगप्राप्त—घबराये हुए—दु खी प्राणियो का निवास-स्थान है। इस ससार मे पापकर्मकारी प्राणी जहाँ-जिस ग्राम, कुल आदि की आयु बाधते है वही पर वे बन्धु-बान्धवो, स्वजनो और मित्रजनो से परिवर्जित होते हैं, अर्थात् उनका कोई सहायक, आत्मीय या प्रेमी नही होता। वे सभी के लिए अनिष्ट होते है। उनके वचनो को कोई ग्राह्य—आदेय नही मानता और वे दुर्विनीत—कदाचारी होते हैं। उन्हे रहने को खराब स्थान, बैठने को खराब आसन, सोने को खराब शय्या और खाने को खराब भोजन मिलता है। वे अशुचि—अपवित्र या गदे रहते हैं अथवा अश्रुति—शास्त्रज्ञान से विहीन होते है। उनका सहनन (हाडो की बनावट) खराब होता है, शरीर प्रमाणोपेत नही होता—शरीर का कोई भाग उचित से

अधिक छोटा अथवा बडा होता है। उनके शरीर की आकृति बेडौल होती है। वे कुरूप होते हैं। उनमे क्रोध, मान, माया और लोभ तीव्र होता है—तीव्रकषायी होते है और मोह—आसक्ति की तीव्रता होती है—अत्यन्त आसक्ति वाले होते है अथवा घोर अज्ञानी होते है। उनमे धर्मसज्ञा—धार्मिक समझ-बूझ नही होती। वे सम्यग्दर्शन से रहित होते है। उन्हे दरिद्रता का कष्ट सदा सताता रहता है। वे सदा परकर्मकारी—दूसरो के अधीन रह कर काम करते है—नौकर-चाकर रह कर जिंदगी बिताते हैं। कृपण-रक-दीन-दरिद्र रहते है। दूसरो के द्वारा दिये जाने वाले पिण्ड—आहार की ताक मे रहते हैं। कठिनाई से दु खपूर्वक आहार पाते है, अर्थात् सरलता से अपना पेट भी नही भर पाते। किसी प्रकार रूखे-सूखे, नीरस एव निस्सार भोजन से पेट भरते हैं। दूसरो का वैभव, सत्कार-सम्मान, भोजन, वस्त्र आदि समुदय-अभ्युदय देखकर वे अपनी निन्दा करते हैं— अपने दुर्भाग्य को कोसते रहते हैं। अपनी तकदीर को रोते हैं। इस भव मे या पूर्वभव मे किये पाप-कर्मो की निन्दा करते है। उदास मन रह कर शोक की आग मे जलते हुए लज्जित-तिरस्कृत होते है। साथ ही वे सत्त्वहीन, क्षोभग्रस्त तथा चित्रकला आदि शिल्प के ज्ञान से रहित, विद्याओ से शून्य एव सिद्धान्त-शास्त्र के ज्ञान से शून्य होते है। यथाजात अज्ञान पशु के समान जड बुद्धि वाले, अविश्वसनीय या अप्रतीति उत्पन्न करने वाले होते हैं। सदा नीच कृत्य करके अपनी आजीविका चलाते है—पेट भरते है। लोकनिन्दित, असफल मनोरथ वाले, निराशा से ग्रस्त होते है।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे ससार-महासमुद्र का प्ररूपण किया गया है। ससार का अर्थ है—ससरण—गमनागमन करना। देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरकगति मे जन्म-मरण करना ही ससार कहलाता है। इन चार गतियो मे परिभ्रमण करने के कारण इसे चातुर्गतिक भी कहते है। इन चार गतियो मे नरकगति एकान्तत दु खो और भीषण यातनाओ से परिपूर्ण है। तिर्यंचगति मे भी दु खो की ही बहुलता है। मनुष्य और देवगति भी दु खो से अछूती नही है। इनके सम्बन्ध मे प्रथम आस्रवद्वार मे विस्तार से कहा जा चुका है।

यहाँ बतलाया गया है कि ससार सागर है। चार गतियाँ इसकी चारो ओर की बाह्य परिधि—घेरा हैं। समुद्र मे विशाल सलिल-राशि होती है तो इसमे जन्म—जरा—मरण एव भयकर दु ख रूपी जल है। सागर का जल जैसे क्षुब्ध हो जाता है, उसी प्रकार ससार मे यह जल भी क्षुब्ध रहता है। जैसे सागर मे आकाश को स्पर्श करती लहरें उठती रहती हैं, उसी प्रकार ससार मे इष्ट-वियोग, अनिष्ट-सयोग से उत्पन्न होने वाली बडी-बडी चिन्ताएँ एव वध-बधादि की यातनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। ये ही इस सागर की लहरे हैं। जैसे समुद्र मे जगह-जगह पहाड—चट्टाने होती है, उसी प्रकार यहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ कर्म रूपी पर्वत हैं। इनके टकराव से भीषण लहरे पैदा होती हैं। मृत्यु-भय इस समुद्र की सतह है। क्रोधादि चार कषाय ही ससार-सागर के पाताल-कलश हैं। निरन्तर चालू रहने वाले भव-भवान्तर ही इस समुद्र का असीम जल है। इस जल से यह सदा परिपूर्ण रहता है। अनन्त—असीम तृष्णा, विविध प्रकार के मसूबे, कामनाएँ, आशाएँ तथा मलीन मनोभावनाएँ ही यहाँ प्रचण्ड वायु-वेग है, जिसके कारण ससार सदा क्षोभमय बना रहता है। काम-राग, लालसा, राग, द्वेष एव अनेकविध सकल्प रूपी सलिल की प्रचुरता के कारण यहाँ अन्धकार छाया रहता है। जैसे समुद्र मे भयानक आवर्त्त होते है तो यहाँ तीव्र मोह के आवर्त्त विद्यमान है। समुद्र मे भयावह जन्तु निवास करते है तो यहाँ ससार मे प्रमाद रूपी जन्तु विद्यमान है। अज्ञान एव असयत इन्द्रियाँ यहाँ विशाल मगर-मच्छ हैं, जिनके कारण निरन्तर क्षोभ

उत्पन्न होता रहता है। समुद्र मे वडवानल होता है तो इस ससार मे शोक-सन्ताप का वडवानल है। समुद्र मे पडा हुआ जीव अशरण, अनाथ, निराधार एव त्राणहीन बन जाता है, इसी प्रकार ससार मे जब जीव अपने कृत कर्मों के दुर्विपाक का वेदन करता हुआ दु खी होता है तो कोई भी उसके लिए शरण नही होता, कोई उसे दु ख से बचा नही सकता, कोई उसके लिए आधार अथवा आलम्बन नही बन सकता।

ऋद्धिगौरव—ऋद्धि का अभिमान, रस गौरव—सरस भोजनादि के लाभ का अभिमान, सातागौरव—प्राप्त सुख-सुविधा का अहकार रूप अपहार नामक समुद्री जन्तु इस ससार-सागर मे रहते है जो जीवो को खीच कर पाताल-तल की ओर घसीट ले जाते है। हिंसा आदि पापो के आचरण से होने वाले कर्म-बन्धन के गुरुतर भार से ससारी प्राणी ससार-समुद्र मे डूबते और उतराते रहते है।

इस ससार को अनादि और अनन्त कहा गया है। यह कथन समग्र जीवो की अपेक्षा समझना चाहिए, एक जीव की अपेक्षा से नही। कोई-कोई जीव अपने कर्मों का अन्त करके ससार-सागर से पार उतर जाते है। तथापि अनन्तानन्त जीवो ने भूतकाल मे ससार मे परिभ्रमण किया है, वर्त्तमान मे कर रहे है और भविष्यत् काल मे सदा करते ही रहेगे। अतएव यह अनादि और अनन्त है।

कर्मबन्ध को अनादि कहने का आशय भी सन्तति की अपेक्षा से ही है। कोई भी एक कर्म ऐसा नही है जो जीव के साथ अनादि काल से बँधा हो। प्रत्येक कर्म की स्थिति मर्यादित है और अपनी स्थिति पूर्ण होने पर वह जीव से पृथक् हो ही जाता है। किन्तु प्रतिसमय नवीन-नवीन कर्मो का बन्ध होता रहता है और इस प्रकार कर्मों का प्रवाह अनादिकालिक है।

ससार-सागर के रूपक का यह सार अश है। शास्त्रकार ने स्वय ही विस्तृत रूप से इसका उल्लेख किया है। यद्यपि भाषा जटिल है तथापि आशय सुगम—सुबोध है। उसका आशय सरलता से समझा जा सकता है।

मूल पाठ मे चौरासी लाख जीवयोनियो का उल्लेख किया गया है। जीवो की उत्पत्ति का स्थान योनि कहलाता है। ये चौरासी लाख हैं—

पृथ्वीकाय की ७ लाख, अप्काय की ७ लाख, तेजस्काय की ७ लाख, वायुकाय की ७ लाख, प्रत्येक-वनस्पतिकाय की १० लाख, साधारण-वनस्पतिकाय की १४ लाख, द्वीन्द्रिय की दो लाख, त्रीन्द्रिय की दो लाख, चतुरिन्द्रिय की दो लाख, नारको की चार लाख, देवो की चार लाख, पचेन्द्रिय तिर्यंचो की चार लाख और मनुष्य की चौदह लाख। इनमे कुछ योनियाँ शुभ और कुछ अशुभ है।[1]

---

१ सीयादी जोणीओ, चउरासीई अ सयसहस्सेहिं।
असुहाओ य सुहाओ, तत्थ सुहाओ इमा जाण ॥ १ ॥
असखाऊ मणुस्सा, राईसरसखमादियाऊण।
तित्थयरणामगोय, सव्वसुह होइ णायव्व ॥ २ ॥
तत्थ वि य जाइसपणाइ, सेसाओ होति असुहाओ।
देवेसु किव्विसाई, सेसाओ हुति असुहाओ ॥ ३ ॥

[शेष अगले पृष्ठ पर]

योनियो का स्वरूप विस्तारपूर्वक जानने के लिए तथा उनके अन्य प्रकार से भेद समझने के लिए प्रज्ञापनासूत्र का नौवाँ पद देखना चाहिए।

भोगे विना छुटकारा नही—

७८—आसापास-पडिबद्धपाणा अत्थोपायाण-काम-सोक्खे य लोयसारे होंति अपच्चतगा य सुट्ठु वि य उज्जमता तद्दिवसुज्जुत्त-कम्मकय-दुक्खसठवियसित्थपिंडसचयपरा पक्खीणदव्वसारा णिच्च अधुव-धण-धण्णकोस-परिभोगविवज्जिया रहिय-कामभोग-परिभोग-सव्वसोक्खा परसिरिभोगोवभोग-णिस्साणमग्गणपरायणा वरागा अकामियाए विणेंति दुक्ख। णेव सुह णेव णिव्वुइ उवलभति अच्चत-विउल-दुक्खसय-सपलित्ता परस्स दव्वेहिं जे अविरया।

एसो सो अदिण्णादाणस्स फलविवागो, इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चइ, ण य अवेयइत्ता अत्थि उ मोक्खोत्ति।

७८—अदत्तादान का पाप करने वालो के प्राण भवान्तर मे भी अनेक प्रकार की आशाओ—कामनाओ—तृष्णाओ के पाश मे बँधे रहते हैं। लोक मे सारभूत अनुभव किये जाने वाले अथवा माने जाने वाले अर्थोपार्जन एव कामभोगो सम्बन्धी सुख के लिए अनुकूल या प्रबल प्रयत्न करने पर भी उन्हे सफलता प्राप्त नही होती—असफलता एव निराशा ही हाथ लगती है। उन्हे प्रतिदिन उद्यम करने पर भी—कडा श्रम करने पर भी बडी कठिनाई से सिक्थपिण्ड—इधर-उधर बिखरा—फेंका भोजन ही नसीब होता है—थोडे-से दाने ही मिलते हैं। वे प्रक्षीणद्रव्यसार होते है अर्थात् कदाचित् कोई उत्तम द्रव्य मिल जाए तो वह भी नष्ट हो जाता है या उनके इकट्ठे किए हुए दाने भी क्षीण हो जाते है। अस्थिर धन, धान्य और कोश के परिभोग से वे सदैव वचित रहते हैं। काम—शब्द और रूप तथा भोग—गन्ध, स्पर्श और रस के भोगोपभोग के सेवन से—उनसे प्राप्त होने वाले समस्त सुख से भी वचित रहते है। परायी लक्ष्मी के भोगोपभोग को अपने अधीन बनाने के प्रयास मे तत्पर रहते हुए भी वे बेचारे—दरिद्र न चाहते हुए भी केवल दु ख के ही भागी होते हैं। उन्हे न तो सुख नसीब होता है, न शान्ति—मानसिक स्वस्थता या सन्तुष्टि। इस प्रकार जो पराये

पचिदियतिरिएसु, हय—गय रयणा हवति उ सुहाओ।
सेसाओ असुहाओ, सुहवण्णेगेंदियादीया ॥ ४ ॥
देविंद-चक्कवट्टित्तणाइ, मोत्तु च तित्थयरभाव।
अणगारभाविया वि य, सेसाओ अणतसो पत्ता ॥ ५ ॥

अर्थात्—शीत आदि चौरासी लाख योनियो मे कतिपय शुभ और शेष अशुभ योनियाँ होती हैं। शुभ योनियाँ इस प्रकार है—असख्य वर्ष की आयु वाले मनुष्य (युगलिया), सख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्यो मे राजा-ईश्वर आदि, तीर्थंकरनामकर्म के बन्धक सर्वोत्तम शुभ योनि वाले हैं। सख्यात वर्ष की आयु वालो मे भी उच्चकुलसम्पन्न शुभ योनि वाले है, अन्य सब अशुभ योनि वाले है। देवो मे किल्विष जाति वालो की अशुभ और शेष शुभ हैं। पचेन्द्रिय तिर्यंचो मे हस्तिरत्न और अश्वरत्न शुभ हैं, शेष अशुभ हैं। एकेन्द्रियादि मे शुभ वर्णादि वाले शुभयोनिक और शेष अशुभयोनिक हैं। देवेन्द्र, चक्रवर्त्ती, तीर्थंकर और भावितात्मा अनगारो को छोड कर शेष जीवो ने अनन्त-अनन्त बार योनियाँ प्राप्त की है।

—प्रश्नव्या सैलाना

द्रव्यो से—पदार्थो से विरत नही हुए है अर्थात् जिन्होने अदत्तादान का परित्याग नही किया है, वे अत्यन्त एव विपुल सैकडो दु खो की आग मे जलते रहते है ।

अदत्तादान का यह फलविपाक है, अर्थात् अदत्तादान रूप पापकृत्य के सेवन से बँधे कर्मो का उदय मे आया विपाक—परिणाम है । यह इहलोक मे भी और परलोक—आगामी भवो मे भी होता है । यह सुख से रहित है और दु खो की बहुलता—प्रचुरता वाला है । अत्यन्त भयानक है । अतीव प्रगाढ कर्मरूपी रज वाला है । बडा ही दारुण है, कर्कश—कठोर है असातामय है और हजारो वर्षो मे इससे पिण्ड छूटता है, किन्तु इसे भोगे विना छुटकारा नही मिलता ।

विवेचन—मूल पाठ का आशय स्पष्ट है । मूल मे अदत्तादान के फलविपाक को 'अप्पसुहो' कहा गया है । यही पाठ हिंसा आदि के फलविपाक के विषय मे भी प्रयुक्त हुआ है । 'अल्प' शब्द के दो अर्थ घटित होते है—अभाव और थोडा । यहाँ दोनो अर्थ घटित होते है, अर्थात् अदत्तादान का फल सुख से रहित है, जैसा कि पूर्व के विस्तृत वर्णन से स्पष्ट है । जब 'अल्प' का अर्थ 'थोडा' स्वीकार किया जाता है तो उसका आशय समझना चाहिए—लेशमात्र, नाममात्र, पहाड बराबर दु खो की तुलना मे राई भर ।

यहाँ अर्थ और कामभोग को लोक मे 'सार' कहा गया है, सो सामान्य सासरिक प्राणियो की दृष्टि से ही समझना चाहिए । पारमार्थिक दृष्टि से तो अर्थ अनर्थो का मूल है और कामभोग आशीविष सर्प के सदृश है ।

उपसंहार—

७९—एवमाहसु णायकुल-णदणो महप्पा जिणो उ वीरवर-णामधेज्जो कहेसी य अदिण्णा-दाणस्स फलविवाग । एय त तइय पि अदिण्णादाण हर-दह-मरण-भय-कलुस-तासण-परसतिकभेज्ज-लोहमूल एव जाव चिरपरिगय-मणुगय दुरत ।

।। तइय अहम्मदार समत्त ।। त्तिबेमि ।।

७९—ज्ञातकुलनन्दन, महान्-आत्मा वीरवर (महावीर) नामक जिनेश्वर भगवान् ने इस प्रकार कहा है । अदत्तादान के इस तीसरे (आस्रव-द्वार के) फलविपाक को भी उन्ही तीर्थंकर देव ने प्रतिपादित किया है ।

यह अदत्तादान, परधन-अपहरण, दहन, मृत्यु, भय, मलिनता, त्रास, रौद्रध्यान एव लोभ का मूल है । इस प्रकार यह यावत् चिर काल से (प्राणियो के साथ) लगा हुआ है । इसका अन्त कठिनाई से होता है ।

।। तृतीय अधर्म-द्वार समाप्त ।।

चतुर्थ अध्ययन . अब्रह्म

श्रीसुधर्मा स्वामी अपने प्रधान अन्तेवासी जम्बू स्वामी के समक्ष चौथे आस्रव अब्रह्मचर्य की प्ररूपणा करते हुए उन्हे सम्बोधित करके कहते है—

८०—जबू ! अबभ च चउत्थ सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स पत्थणिज्ज पकपणयपासजालभूय थी-पुरिस-णपु सग-वेयचिंध तव-सजम-बभचेरविग्घ भेयाययण-बहुपमायमूल कायर-कापुरिससेविय सुयणजणवज्जणिज्ज उड्ढ-णरय-तिरिय-तिल्लोकपइट्ठाण जरा-मरण-रोग-सोगबहुल वध-बधविघाय-दुविघाय दसणचरित्तमोहस्स हेउभूय चिरपरिगय-मणुगयर दुरत चउत्थ अहम्मदार ॥१॥

८०—हे जम्बू ! चौथा आस्रवद्वार अब्रह्मचर्य है। यह अब्रह्मचर्य देवो, मानवो और असुरो सहित समस्त लोक अर्थात् ससार के प्राणियो द्वारा प्रार्थनीय है—ससार के समग्र प्राणी इसकी कामना या अभिलाषा करते है। यह प्राणियो को फँसाने वाले कीचड के समान है। इसके सम्पर्क से जीव उसी प्रकार फिसल जाते है जैसे काई के ससर्ग से। ससार के प्राणियो को बाधने के लिए पाश के समान है और फँसाने के लिए जाल के सदृश है। स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपु सक वेद इसका चिह्न है। यह अब्रह्मचर्य तपश्चर्या, सयम और ब्रह्मचर्य के लिए विघ्नस्वरूप—विघातक है। सदाचार—सम्यक्चारित्र के विनाशक प्रमाद का मूल है। कायरो—सत्त्वहीन प्राणियो और कापुरुषो—निन्दित—निम्नवर्ग के पुरुषो (जीवो) द्वारा इसका सेवन किया जाता है। यह सुजनो—पाप से विरत साधक पुरुषो द्वारा वर्जनीय—त्याज्य है। ऊर्ध्वलोक—देवलोक, नरकलोक—अधोलोक एव तिर्यक्लोक—मध्यलोक मे, इस प्रकार तीनो लोको मे इसकी अवस्थिति है—प्रसार है। जरा—बुढापा, मरण—मृत्यु, रोग और शोक की बहुलता वाला है, अर्थात् इसके फलस्वरूप जीवो को जरा, मरण, रोग और शोक का पात्र बनना पडता है। वध—मारने-पीटने, बन्ध—बन्धन मे डालने और विघात—प्राणहीन कर देने पर भी इसका विघात—अन्त नही होता। यह दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का मूल कारण है। चिरकाल—अनादिकाल से परिचित है और सदा से अनुगत है—प्राणियो के पीछे पडा हुआ है। यह दुरन्त है, अर्थात् कठिनाई से—तीव्र मनोबल, दृढ सकल्प, उग्र तपस्या आदि साधना से ही इसका अन्त आता है अथवा इसका अन्त अर्थात् फल अत्यन्त दु खप्रद होता है।

ऐसा यह अधर्मद्वार है।

विवेचन—अदत्तादान नामक तीसरे आस्रवद्वार का विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् यहाँ क्रमप्राप्त अब्रह्मचर्य का निरूपण प्रारम्भ किया जा रहा है। यो तो सभी आस्रवद्वार आत्मा को पतित करने वाले और अनेकानेक अनर्थो के मूल कारण है, जैसा कि पूर्व मे प्रतिपादित किया किया जा चुका है और आगे भी प्रतिपादन किया जाएगा। किन्तु अब्रह्मचर्य का इसमे अनेक दृष्टियो मे विशिष्ट स्थान है।

अब्रह्मचर्य इतना व्यापक है कि देवो, दानवो, मनुष्यो एव तिर्यंचो मे इसका एकच्छत्र साम्राज्य है। यहाँ तक कि जीवो मे सब से हीन सज्ञा वाले एकेन्द्रिय जीव भी इसके घेरे से बाहर

नही है। हरि, हर, ब्रह्मा आदि से लेकर कोई भी शूरवीर पुरुष ऐसा नही है जो कामवासना—अब्रह्मचर्य के अधीन न हो। यदि किसी पर इसका वश नही चल पाता तो वह केवल वीतराग—जिन ही है, अर्थात् जिसने राग का समूल उन्मूलन कर दिया है, जो वासना से सर्वथा रहित हो गया है वही पुरुषपुगव अब्रह्मचर्य के फदे से बच सका है।[1]

इस कथन का आशय यह नही है कि अब्रह्मचर्य के पाश से बचना और ब्रह्मचर्य की आराधना करना असभव है। जैसा कि ऊपर कहा गया है—जिन—वीतराग पुरुष इस दुर्जय विकार पर अवश्य विजय प्राप्त करते है। यदि अब्रह्मचर्य का त्याग असभव होता तो सर्वज्ञ—वीतराग महापुरुष इसके त्याग का उपदेश ही क्यो देते! जहाँ पुराणो आदि साहित्य मे ब्रह्मचर्य का पालन करने को उद्यत हुए किन्तु निमित्त मिलने पर रागोद्रेक से प्रेरित होकर अनेक साधको के उससे भ्रष्ट हो जाने के उदाहरण विद्यमान है, वही ऐसे-ऐसे जितेन्द्रिय, दृढमानस तपस्वियो के भी उदाहरण है, जिन्हे डिगाने के लिए देवागनाओ ने कोई कसर नही रक्खी, अपनी मोहक हाव-भाव—विलासमय चेष्टाओ से सभी उपाय किये, किन्तु वे जितेन्द्रिय महामानव रचमात्र भी नही डिगे। उन्होने नारी को रक्त—मास—अशुचि का ही पिण्ड समझा और अपने आत्मबल द्वारा ब्रह्मचर्य की पूर्ण रूप से रक्षा की। यही कारण है कि प्रस्तुत पाठ मे उसे 'दुरत' तो कहा है किन्तु 'अनत' नही कहा, अर्थात् यह नही कहा कि उसका अन्त नही हो सकता। हाँ, अब्रह्मचर्य पर पूर्ण विजय पाने के लिए तप और सयम मे दृढता होना चाहिए, साधक को सतत—निरन्तर सावधान रहना चाहिए।

अब्रह्म के गुण-निष्पन्न नाम—

८१—तस्स य णामाणि गोण्णाणि इमाणि होंति तीस, त जहा—१ अबभ २ मेहुण ३ चरत ४ ससग्गि ५ सेवणाहिगारो ६ सकप्पो ७ बाहणा पयाण ८ दप्पो ९ मोहो १० मणसखोभो ११ अणिग्गहो १२ वुग्गहो १३ विघाओ १४ विभगो १५ विब्भमो १६ अहम्मो १७ असीलया १८ गामधम्मतित्ती १९ रई २० रागचिंता २१ कामभोगमारो २२ वेर २३ रहस्स २४ गुज्झ २५ बहुमाणो २६ बभचेरविग्घो २७ वावत्ती २८ विराहणा २९ पसगो ३० कामगुणोत्ति वि य तस्स एयाणि एवमाईणि णामधेज्जाणि होंति तीस।

८१—उस पूर्व प्ररूपित अब्रह्मचर्य के गुणनिष्पन्न अर्थात् सार्थक तीस नाम है। वे इस प्रकार है—

१ अब्रह्म—अकुशल अनुष्ठान, अशुभ आचरण।
२ मैथुन—मिथुन अर्थात् नर-नारी के सयोग से होने वाला कृत्य।
३ चरत—समग्र ससार मे व्याप्त।
४ ससर्गि—स्त्री और पुरुष (आदि) के ससर्ग से उत्पन्न होने वाला।
५ सेवनाधिकार—चोरी आदि अन्यान्य पापकर्मो का प्रेरक।

---

१ हरि-हर-हिरण्यगर्भप्रमुखे भुवने न कोऽप्यसौ शूर।
कुसुमविशिखस्य विशिखान् अस्खलयद् यो जिनादन्य ॥
—प्र व्या, आगरा-सस्करण

६ सकल्पी—मानसिक सकल्प से उत्पन्न होने वाला।

७ बाधना पदानाम्—पद अर्थात् सयम-स्थानो को बाधित करने वाला, अथवा 'बाधना प्रजानाम्'-प्रजा अर्थात् सर्वसाधारण को पीडित-दुखी करने वाला।

८ दर्प—शरीर और इन्द्रियो के दर्प—अधिक पुष्ट होने—से उत्पन्न होने वाला।

९ मूढता-अज्ञानता-अविवेक—हिताहित के विवेक को नष्ट करने वाला या विवेक को भुला देने वाला अथवा मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला।

१० मन सक्षोभ—मानसिक क्षोभ से उत्पन्न होने वाला या मन मे क्षोभ-उद्वेग उत्पन्न करने वाला—मन को चलायमान बना देने वाला।

११ अनिग्रह—विषयो मे प्रवृत्त होते हुए मन का निग्रह न करना अथवा मनोनिग्रह न करने से उत्पन्न होने वाला।

१२ विग्रह—लडाई-झगडा-क्लेश उत्पन्न करने वाला अथवा विपरीत ग्रह-आग्रह-अभिनिवेश से उत्पन्न होने वाला।

१३ विघात—आत्मा के गुणो का घातक।

१४ विभग—सयम आदि सद्गुणो को भग करने वाला।

१५ विभ्रम—भ्रम का उत्पादक अर्थात् अहित मे हित की बुद्धि उत्पन्न करने वाला।

१६ अधर्म—अधर्म-पाप-का कारण।

१७ अशीलता—शील का घातक, सदाचरण का विरोधी।

१८ ग्रामधर्मतप्ति—इन्द्रियो के विषय शब्दादि काम-भोगो की गवेषणा का कारण।

१९ रति—रतिक्रीडा करना—सम्भोग करना।

२० रागचिन्ता—नर-नारी के शृङ्गार, हाव-भाव, विलास आदि के चिन्तन से उत्पन्न होने वाला।

२१ कामभोगमार—काम-भोगो मे होने वाली अत्यन्त आसक्ति से होने वाली मृत्यु का कारण।

२२. वैर—वैर-विरोध का हेतु।

२३ रहस्यम्—एकान्त मे किया जाने वाला कृत्य।

२४ गुह्य—लुक-छिपकर किया जाने वाला या छिपाने योग्य कर्म।

२५ बहुमान—ससारी जीवो द्वारा बहुत मान्य।

२६ ब्रह्मचर्यविघ्न—ब्रह्मचर्यपालन मे विघ्नकारी।

२७, व्यापत्ति—आत्मा के स्वाभाविक गुणो का विनाशक।

२८ विराधना—सम्यक्चारित्र की विराधना करने वाला।

२९ प्रसग—आसक्ति का कारण।

३० कामगुण—कामवासना का कार्य।

विवेचन—अब्रह्मचर्य के ये तीस गुणनिष्पन्न नाम है। इन नामो पर गम्भीरता से विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाएगा कि इनमे अब्रह्मचर्य के कारणो का, उसके कारण होने वाली हानियो का तथा उसके स्वरूप का स्पष्ट दिग्दर्शन कराया गया है।

अब्रह्मचर्यसेवन का मूल मन मे उत्पन्न होने वाला एक विशेष प्रकार का विकार है। अतएव

इसे 'मनोज' भी कहते है। उत्पन्न होते ही मन को मथ डालता है, इस कारण इसका एक नाम 'मन्मथ' भी है। मन मे उद्भूत होने वाला यह विकार शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि मे बाधक तो है ही, उसके लिए की जाने वाली साधना-आराधना का भी विघातक है। यह चारित्र को पनपने नही देता। सयम मे विघ्न उपस्थित करता है। प्रथम तो सम्यक्चारित्र को उत्पन्न ही नही होने देता, फिर उत्पन्न हुआ चारित्र भी इसके कारण नष्ट हो जाता है।

इसकी उत्पत्ति के कारणो की समीक्षा करते हुए शास्त्रकार ने स्पष्ट किया है कि इसका जन्म दर्प से होता है। इसका आशय यह है कि जब इन्द्रियाँ बलवान् बन जाती है और शरीर पुष्ट होता है तो कामवासना को उत्पन्न होने का अवसर मिलता है। यही कारण है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य की आराधना करने वाले साधक विविध प्रकार की तपश्चर्या करके अपनी इन्द्रियो को नियन्त्रित रखते है और अपने शरीर को भी बलिष्ठ नही बनाते। इसके लिए जिह्वेन्द्रिय पर काबू रखना और पौष्टिक आहार का वर्जन करना अनिवार्य है।

तीस नामो मे एक नाम 'ससर्गी' भी आया है। इससे ध्वनित है कि अब्रह्मचर्य के पाप से बचने के लिए साधक को विरोधी वेद वाले के ससर्ग से दूर रहना चाहिए। नर के साथ नारी का और नारी के साथ नर का अमर्याद ससर्ग कामवासना को उत्पन्न करता है।

अब्रह्मचर्य को मोह, विग्रह, विघात, विभ्रम, व्यापत्ति, बाधनापद आदि जो नाम दिये गए है उनसे ज्ञात होता है कि यह विकार मन मे विपरीत भावनाएँ उत्पन्न करता है। काम के वशीभूत हुआ प्राणी मूढ बन जाता है। वह हित-अहित को, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को या श्रेयस्-अश्रेयस् को यथार्थ रूप मे समझ नही पाता। हित को अहित और अहित को हित मान बैठता है। उसका विवेक नष्ट हो जाता है। उसके विचार विपरीत दिशा पकड लेते है। उसके शील-सदाचार-सयम का विनाश हो जाता है।

'विग्रहिक' और 'वैर' नामो से स्पष्ट है कि अब्रह्मचर्य लडाई-झगडा, युद्ध, कलह आदि का कारण है। प्राचीनकाल मे कामवासना के कारण अनेकानेक युद्ध हुए है, जिनमे हजारो-लाखो मनुष्यो का रक्त बहा है। शास्त्रकार स्वय आगे ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे है। आधुनिक काल मे भी अब्रह्मसेवन की बदौलत अनेक प्रकार के लडाई-झगडे होते ही रहते हैं। हत्याएँ भी होती रहती हैं।

इस प्रकार उल्लिखित तीस नाम जहाँ अब्रह्मचर्य के विविध रूपो को प्रकट करते है, वही उससे होने वाले भीषण अनर्थो को भी सूचित करते है।

अब्रह्मसेवी देवादि—

८२—त च पुण णिसेवंति सुरगणा सअच्छरा मोहमोहियमई असुर-भुयग-गरुल-विज्जु-जलण-दीव-उदहि-दिसि-पवण-थणिया, अणवण्णिय-पणवण्णिय-इसिवाइय-भूयवाइय-कंदिय-महाकंदिय-कुहंड-पयगदेवा, पिसाय-भूय-जक्ख-रक्खस-किण्णर-किंपुरिस-महोरग-गंधव्वा, तिरिय-जोइस-विमाणवासि-मणुयगणा, जलयर-थलयर-खहयरा, मोहपडिबद्धचित्ता अवितण्हा कामभोगतिसिया, तण्हाए बलवईए महईए समभिभूया गढिया य अइमुच्छिया य अबंभे उस्सण्णा तामसेण भावेण अणुम्मुक्का दंसण-चरित्तमोहस्स पंजरं पिव करेंति अण्णोण्ण सेवमाणा।

८२—उस अब्रह्म नामक पापास्रव को अप्सराओ (देवागनाओ) के साथ सुरगण (वैमानिक देव) सेवन करते है। कौन-से देव सेवन करते है? जिनकी मति मोह के उदय से मोहित—मूढ बन गई है तथा असुरकुमार, भुजग-नागकुमार, गरुडकुमार (सुपर्णकुमार) विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिशाकुमार, पवनकुमार तथा स्तनितकुमार, ये दश प्रकार के भवनवासी देव (अब्रह्म का सेवन करते है।)

अणपन्निक, पणपण्णिक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, क्रन्दित, महाक्रन्दित, कूष्माण्ड और पतग देव। (ये सब व्यन्तर देवो के प्रकार है—व्यन्तर जाति के देवो मे अन्तर्गत है।)

पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व (ये आठ प्रकार के व्यन्तर देव है।)

इनके अतिरिक्त तिर्छे—मध्य लोक मे विमानो मे निवास करने वाले ज्योतिष्क देव, मनुष्यगण, तथा जलचर, स्थलचर एव खेचर-आकाश मे उडने वाले पक्षी (ये पचेन्द्रिय तिर्यचजातीय जीव) अब्रह्म का सेवन करते है।)

जिनका चित्त मोह से ग्रस्त (प्रतिबद्ध) हो गया है, जिनकी प्राप्त कायभोग सबधी तृष्णा का अन्त नही हुआ है, जो अप्राप्त कामभोगो के लिए तृष्णातुर है, जो महती—तीव्र एव बलवती तृष्णा से बुरी तरह अभिभूत है—जिनके मानस को प्रबल काम-लालसा ने पराजित कर दिया है, जो विषयो मे गृद्ध—अत्यन्त आसक्त एव अतीव मूर्छित है—कामवासना की तीव्रता के कारण जिन्हे उससे होने वाले दुष्परिणामो का भान नही है, जो अब्रह्म के कीचड मे फँसे हुए है और जो तामसभाव—अज्ञान रूप जडता से मुक्त नही हुए है, ऐसे (देव, मनुष्य और तिर्यञ्च) अन्योन्य-परस्पर नर-नारी के रूप मे अब्रह्म (मैथुन) का सेवन करते हुए अपनी आत्मा को दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्म के पीजरे मे डालते है, अर्थात् वे अपने आप को मोहनीय कर्म के बन्धन से ग्रस्त करते है।

विवेचन—उल्लिखित मूल पाठ मे अब्रह्म-कामसेवन करने वाले सासारिक प्राणियो का कथन किया गया है। वैमानिक, ज्योतिष्क, भवनवासी और व्यन्तर, ये चारो निकायो के देवगण, मनुष्यवर्ग तथा जलचर, स्थलचर और नभश्चर—ये तिर्यञ्च कामवासना के चगुल मे फँसे हुए है। देवो का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

प्रस्तुत पाठ मे अब्रह्मचर्यसेवियो मे सर्वप्रथम देवो का उल्लेख किया गया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि देवो मे कामवासना अन्य गति के जीवो की अपेक्षा अधिक होती है। वे अनेक प्रकार से विषय-सेवन करते है।[1] इसे जानने के लिए स्थानाग सूत्र देखना चाहिए। अधिक विषय सेवन का कारण उनका सुखमय जीवन है। विक्रियाशक्ति भी उसमे सहायक होती है।

यहा यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वैमानिक देवो के दो प्रकार है—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। बारह देवलोको तक के देव कल्पोपपन्न और ग्रैवेयकविमानो तथा अनुत्तरविमानो के देव

१ (क) कायप्रवीचारा आ ऐशानात्

शेषा स्पर्शरूपशब्दमन प्रवीचारा द्वयोर्द्वयो परेऽप्रवीचारा।

—तत्त्वार्थसूत्र चतुर्थ अ, सूत्र ८, ९, १०

(ख) स्थानागसूत्र, स्था ३ उ ३

कल्पातीत होते है, अर्थात् उनमे इन्द्र, सामानिक आदि का स्वामी-सेवकभाव नही होता। अब्रह्म का सेवन कल्पोपपन्न वैमानिक देवो तक सीमित है, कल्पातीत वैमानिक देव अप्रवीचार-मैथुनसेवन से रहित होते है। यही तथ्य प्रदर्शित करने के लिए मूलपाठ मे **'मोह-मोहियमई'** विशेपण का प्रयोग किया गया है। यद्यपि कल्पातीत देवो मे भी मोह की विद्यमानता है तथापि उसकी मन्दता के कारण वे मैथुनप्रवृत्ति से विरत होते है।

वैमानिक देव ऊर्ध्वलोक मे निवास करते है। ज्योतिष्क देवो का निवास इस पृथ्वी के समतल भाग से ७९० योजन से ९०० योजन तक के अन्तराल मे है। ये सूर्य, चन्द्र आदि के भेद से मूलत पाच प्रकार के है। भवनवासी देवो के असुरकुमार, नागकुमार आदि दस प्रकार है। इस रत्नप्रभा पृथ्वी का पिण्ड एक लाख अस्सी हजार योजन है। इसमे से एक हजार योजन ऊपरी और एक हजार योजन नीचे के भाग को छोड कर एक लाख अठहत्तर योजन मे भवनवासी देवो का निवास है। व्यन्तर देव विविध प्रदेशो मे रहते है, इस कारण इन की सज्ञा व्यन्तर है। रत्नप्रभा पृथ्वी के प्रथम भाग एक हजार योजन मे से एक-एक सौ योजन ऊपर और नीचे छोड कर बीच के ८०० योजन मे, तिर्यग्भाग मे व्यन्तरो के असख्यात नगर हैं।

उल्लिखित विवरण से स्पष्ट है कि देव, मनुष्य और तिर्यच इस अब्रह्म नामक आस्रवद्वार के चगुल मे फँसे हैं।

चक्रवर्ती के विशिष्ट भोग—

८३—भुज्जो य असुर-सुर-तिरिय-मणुयभोगरइविहरसपउत्ता य चक्कवट्टी सुरणरवइसक्कया सुरवरुव्व देवलोए।

चक्रवर्ती का राज्य विस्तार—

८४—भरह-णग-णगर-णिगम-जणवय-पुरवर-दोणमुह-खेड-कब्बड-मडंब-सवाह-पट्टणसहस्स-मडिय थिमियमेयणिय एगच्छत्तं ससागरं भुंजिऊण वसुह।

चक्रवर्ती नरेन्द्र के विशेषण—

८५—नरसीहा णरवई णरिंदा णरवसहा मरुयवसहकप्पा अब्भहियं रायतेयलच्छीए दिप्प-माणा सोमा रायवंसतिलगा।

चक्रवर्ती के शुभ लक्षण—

रवि-ससि-संख-वरचक्क-सोत्थिय-पडाग-जव-मच्छ-कुम्म-रहवर-भग-भवण-विमाण-तुरय-तोरण-गोपुर-मणिरयण-णंदियावत्त-मुसल-णगल-सुरइयवरकप्परुक्ख-मिगवइ-भद्दासण - सुरुचिथूभ - वरमउड-सरिय-कुंडल-कुंजर-वरवसह-दीव-मंदर-गरुलज्झय-इंदकेउ-दप्पण-अट्ठावय - चाव - बाण-णक्खत्त-मेह-मेहल-वीणा-जुग-छत्त-दाम-दामिणि-कमडलु-कमल-घंटा-वरपोय-सूइ-सागर-कुमुदागर-मगर-हार-गागर-णेउर-णग-णगर-वइर-किण्णर-मयूर-वररायहस-सारस-चकोर-चक्कवाग-मिहुण-चामर-खेडग-पव्वीसग-विपंचि-वरतालियंट-सिरियाभिसेय-मेइणि-खग्गं-कुस-विमल-कलस-भिंगार-व णग - पसत्थउत्तमवि-भत्तवरपुरिसलक्खणधरा।

चक्रवर्ती की ऋद्धि—

बत्तीस वररायसहस्साणुजायमग्गा चउसट्ठिसहस्सपवरजुवतीणणयणकता रत्ताभा पउमपम्हकोरंटगदामचपकसुतवियवरकणकणिहसवण्णा सुवण्णा[1] सुजायसव्वगसुदरंगा महग्घवरपट्टणुग्गयविचित्तरागएणिपेणिणिम्मिय-दुगुल्लवरचीणपट्टकोसेज्ज-सोणिसुत्तगविभूसियगा वरसुरभि-गंधवरचुण्णवासवरकुसुमभरियसिरया कप्पियछेयायरियसुकयरइतमालकडगगयतुडियपवरभूसणपिणद्धदेहा एकावलिकठसुरइयवच्छा पालब-पलबमाणसुकयपडउत्तरिज्जमुद्दियापिंगलगुलिया उज्जल-णेवत्थरइयचेल्लगविरायमाणा तेएण दिवाकरोव्व दित्ता सारयणवत्थणियमहुरगंभीरणिद्धघोसा उप्पण्णसमत्त-रयण-चक्करयणप्पहाणा णवणिहिवइणो समिद्धकोसा चाउरता चाउराहिं सेणाहिं समणुजाइज्जमाणमग्गा तुरयवई गयवई रहवई णरवई विपुलकुलवीसुयजसा सारयससिसकलसोमवयणा सूरा तिलोक्कणिग्गयपभावलद्धसद्दा समत्तभरहाहिवा णरिंदा ससेल-वण-काणण च हिमवतसागरंत धीरा भुत्तूण भरहवास जियसत्तू पवररायसीहा पुव्वकडतवप्पभावा णिविट्ठसचियसुहा, अणेगवाससयमायुवतो भज्जाहि य जणवयप्पहाणाहि लालियता अतुल-सद्द-फरिस-रस-रूव-गधे य अणुभवेत्ता ते वि उवणमंति मरणधम्मं अवितत्ता कामाणं ।

८३, ८४, ८५—पुन असुरो, सुरो, तिर्यंचो और मनुष्यो सम्बन्धी भोगो मे रतिपूर्वक विहार—विविध प्रकार की कामक्रीडाओ मे प्रवृत्त, सुरेन्द्रो और नरेन्द्रो द्वारा सत्कृत—सम्मानित, देवलोक मे देवेन्द्र सरीखे, भरत क्षेत्र मे सहस्रो पर्वतो, नगरो, निगमो—व्यापारियो वाली वस्तियो, जनपदो—प्रदेशो, पुरवरो—राजधानी आदि विशिष्ट नगरो, द्रोणमुखो—जहाँ जलमार्ग और स्थलमार्ग—दोनो से जाया जा सके ऐसे स्थानो, खेटो—धूल के प्राकार वाली वस्तियो, कर्बटो—कस्बो—जिन के आस-पास दूर तक कोई वस्ती न हो ऐसे स्थानो, सवाहो—छावनियो, पत्तनो—व्यापार-प्रधान नगरियो से सुशोभित, सुरक्षित होने के कारण निश्चिन्त—स्थिर लोगो के निवास वाली, एकच्छत्र—एक के आधिपत्य वाली एव समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का उपभोग करके चक्रवर्त्ती—जो मनुष्यो मे सिंह के समान शूरवीर होते है, जो नरपति है, नरेन्द्र है—मनुष्यो मे सर्वाधिक ऐश्वर्यशाली है, जो नर-वृषभ है—स्वीकार किये उत्तरदायित्व को निभाने मे समर्थ है, जो मरुभूमि के वृषभ के समान सामर्थ्यवान् है, अत्यधिक राज-तेज रूपी लक्ष्मी—वैभव से देदीप्यमान है—जिनमे असाधारण राजसी तेज देदीप्यमान हो रहा है, जो सौम्य—शान्त एव नीरोग है, राजवशो मे तिलक के समान—श्रेष्ठ है, जो सूर्य, चन्द्रमा, शख, चक्र, स्वस्तिक, पताका, यव, मत्स्य, कच्छप—कछुवा, उत्तम रथ, भग—योनि, भवन, विमान, अश्व, तोरण, नगरद्वार, मणि (चन्द्रकान्त आदि), रत्न, नद्यावर्त्त—नौ कोणो वाला स्वस्तिक, मूसल, हल, सुन्दर कल्पवृक्ष, सिंह, भद्रासन, सुरुचि—एक विशिष्ट आभूषण, स्तूप, सुन्दर मुकुट, मुक्तावली हार, कु डल, हाथी, उत्तम वैल, द्वीप, मेरुपर्वत या घर, गरुड, ध्वजा, इन्द्रकेतु—इन्द्रमहोत्सव मे गाडा जाने वाला स्तम्भ, दर्पण, अष्टापद—वह फलक या पट जिस पर चौपड आदि खेली जाती है या कैलाश पर्वत, धनुष, वाण, नक्षत्र, मेघ, मेखला—करधनी, वीणा, गाडी का जूआ, छत्र, दाम—माला, दामिनी—पैरो तक लटकती माला, कमण्डलु, कमल, घटा, उत्तम पोत—जहाज, सुई, सागर, कुमुदवन अथवा कुमुदो से व्याप्त तालाव, मगर, हार, गागर—जलघट या एक

---

१. 'सुवण्णा' शब्द ज्ञानविमलसूरि वाली प्रति मे ही है ।

प्रकार का आभूषण, नूपुर—पाजेब, पर्वत, नगर, वज्र, किन्नर—देवविशेप या वाद्यविशेप, मयूर, उत्तम राजहस, सारस, चकोर, चक्रवाक-युगल, चवर, ढाल, पव्वीसक—एक प्रकार का वाजा, विपची—सात तारो वाली वीणा, श्रेष्ठ पखा, लक्ष्मी का अभिषेक, पृथ्वी, तलवार, अकुश, निर्मल कलश, भृ गार—झारी और वर्धमानक—सिकोरा अथवा प्याला, (चक्रवर्त्ती इन सव) श्रेप्ठ पुरुपो के मागलिक एव विभिन्न लक्षणो को धारण करने वाले होते है ।

बत्तीस हजार श्रेष्ठ मुकुटबद्ध राजा मार्ग मे उनके (चक्रवर्त्ती के) पीछे-पीछे चलते है। वे चौसठ हजार श्रेष्ठ युवतियो (महारानियो) के नेत्रो के कान्त—प्रिय होते है। उनके शरीर की कान्ति रक्तवर्ण होती है। वे कमल के गर्भ—मध्यभाग, चम्पा के फूलो, कोरट की माला और तप्त सुवर्ण की कसौटी पर खीची हुई रेखा के समान गौर वर्ण वाले होते है। उनके सभी अगोपाग अत्यन्त सुन्दर और सुडौल होते है। बडे-बडे पत्तनो मे वने हुए विविध रगो के हिरनी तथा खास जाति की हिरनी के चर्म के समान कोमल एव बहुमूल्य वल्कल से या हिरनी के चर्म से वने वस्त्रो से तथा चीनी वस्त्रो, रेशमी वस्त्रो से तथा कटिसूत्र—करधनी से उनका शरीर सुशोभित होता है। उनके मस्तिष्क उत्तम सुगन्ध से सुन्दर चूर्ण (पाउडर) के गध से और उत्तम कुसुमो से युक्त होते है। कुशल कलाचार्यो—शिल्पियो द्वारा निपुणतापूर्वक बनाई हुई सुखकर—आराम देने वाली माला, कडे, अगद—बाजूबद, तुटिक—अनन्त तथा अन्य उत्तम आभूषणो को वे शरीर पर धारण किए रहते है। एकावली हार से उनका कण्ठ सुशोभित रहता है। वे लम्बी लटकती धोती एव उत्तरीय वस्त्र—दुपट्टा पहनते है। उनकी उगलियाँ अगूठियो से पीली रहती है। अपने उज्ज्वल एव सुखप्रद वेप—पोशाक से अत्यन्त शोभायमान होते है। अपनी तेजस्विता से वे सूर्य के समान दमकते है। उनका आघोप (आवाज) शरद् ऋतु के नये मेघ की ध्वनि के समान मधुर गम्भीर एव स्निग्ध होता है। उनके यहाँ चौदह रत्न—जिनमे चक्ररत्न प्रधान है—उत्पन्न हो जाते है और वे नौ निधियो के अधिपति होते है। उनका कोश—कोशागार—खजाना—खूब भरपूर (समृद्ध) होता है। उनके राज्य की सीमा चातुरन्त होती है, अर्थात् तीन दिशाओ मे समुद्र पर्यन्त और एक दिशा मे हिमवान् पर्वत पर्यन्त होती है। चतुरगिणी सेना—गजसेना, अश्वसेना, रथसेना एव पदाति-सेना—उनके मार्ग का अनुगमन करती है—उनके पीछे-पीछे चलती है। वे अश्वो के अधिपति, हाथियो के अधिपति, रथो के अधिपति एव नरो—मनुष्यो के अधिपति होते है। वे बडे ऊचे कुलो वाले तथा विश्रुत—दूर-दूर तक फैले यश वाले होते है। उनका मुख शरद्-ऋतु के पूर्ण चन्द्रमा के समान होता है। शूरवीर होते है। उनका प्रभाव तीनो लोको मे फैला होता है एव सर्वत्र उनकी जय-जयकार होती है। वे सम्पूर्ण—छह खण्ड वाले भरत क्षेत्र के अधिपति, धीर, समस्त शत्रुओ के विजेता, बडे-बडे राजाओ मे सिंह के समान, पूर्वकाल मे किए तप के प्रभाव से सम्पन्न, सचित पुप्ट सुख को भोगने वाले, अनेक वर्षशत अर्थात् सैकडो वर्षो के आयुष्य वाले एव नरो मे इन्द्र—चक्रवर्त्ती होते हैं। पर्वतो, वनो और काननो सहित उत्तर दिशा मे हिमवान् नामक वर्षधर पर्वत और शेष तीन दिशाओ मे लवणसमुद्र पर्यन्त समग्र भरत क्षेत्र का भोग करके अर्थात् समस्त भारतवर्ष के स्वामित्व—राज्यशासन का उपभोग करके, (विभिन्न) जनपदो मे प्रधान—उत्तम भार्याओ के साथ भोग-विलास करते हुए तथा अनुपम—जिनकी तुलना नही की जा सकती ऐसे शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गध सम्बन्धी काम-भोगो का अनुभव—भोगोपभोग करते है। फिर भी वे काम-भोगो से तृप्त हुए विना ही मरणधर्म को—मृत्यु को प्राप्त हो जाते है।

विवेचन—उल्लिखित पाठ मे शास्त्रकार ने यह प्रदर्शित किया है कि कामभोगो से जीव की

कदापि तृप्ति होना सम्भव नही है । कामभोगो की लालसा अग्नि के समान है । ज्यो-ज्यो ईंधन डाला जाता है, त्यो-त्यो अग्नि अधिकाधिक प्रज्वलित ही होती जाती है । ईंधन से उसकी उपशान्ति होना असम्भव है । अतएव ईंधन डाल कर अग्नि को शान्त करने-बुझाने का प्रयास करना वज्रमूर्खता है । काम-भोगो के सम्बन्ध मे भी यही तथ्य लागू होता है । भोजन करके भूख शान्त की जा सकती है, जल-पान करके तृषा को उपशान्त किया जा सकता है, किन्तु कामभोगो के सेवन से काम-वासना तृप्त नही की जा सकती । जो काम-वासना की वृद्धि करने वाला है, उससे उसकी शान्ति होना असम्भव है । ज्यो-ज्यो कामभोगो का सेवन किया जाता है, त्यो-त्यो उसकी अभिवृद्धि ही होती है । यथार्थ ही कहा गया है—

न जातु काम कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ।।

जैसे आग मे घी डालने से आग अधिक प्रज्वलित होती है—शान्त नही होती, उसी प्रकार कामभोग से कामवासना कदापि शान्त नही हो सकती ।

अग्नि को बुझाने का उपाय उसमे नये सिरे से ईंधन न डालना है । इसी प्रकार कामवासना का उन्मूलन करने के लिए कामभोग से विरत होना है । महान् विवेकशाली जन कामवासना के चगुल से बचने के लिए इसी उपाय का अवलम्बन करते है । उन्होने भूतकाल मे यही उपाय किया है और भविष्य मे भी करेगे, क्योकि इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय है ही नही ।

कामभोग भोगतृष्णा की अभिवृद्धि के साधन है और उनके भोगने से तृप्ति होना सम्भव नही है, इसी तथ्य को अत्यन्त सुन्दर रूप से समझाने के लिए शास्त्रकार ने चक्रवर्त्ती के विपुल वैभव का विशद वर्णन किया है ।

चक्रवर्त्ती के भोगो की महिमा का बखान करना शास्त्रकार का उद्देश्य नही है । उसकी शारीरिक सम्पत्ति का वर्णन करना भी उनका अभीष्ट नही है । उनका लक्ष्य यह है कि मानव जाति मे सर्वोत्तम वैभवशाली, सर्वश्रेष्ठ शारीरिक बल का स्वामी, अतुल पराक्रम का धनी एव अनुपम काम-भोगो का दीर्घ काल तक उपभोक्ता चक्रवर्त्ती होता है । उसके भोगोपभोगो की तुलना मे शेष मानवो के उत्तमोत्तम कामभोग धूल हैं, निकृष्ट है, किसी गणना मे नही है । षट्खण्ड भारतवर्ष की सर्व श्रेष्ठ चौसठ हजार स्त्रियाँ उसकी पत्नियाँ होती है । वह उन पत्नियो के नयनो के लिए अभिराम होता है, अर्थात् समस्त पत्नियाँ उसे हृदय से प्रेम करती है । उनके साथ अनेक शताब्दियो तक निश्चिन्त होकर भोग भोगने पर भी उसकी वासना तृप्त नही होती और अन्तिम क्षण तक—मरण सन्निकट आने तक भी वह अतृप्त—असन्तुष्ट ही रहता है और अतृप्ति के साथ ही अपनी जीवन-लीला समाप्त करता है ।

जब चक्रवर्त्ती के जैसे विपुलतम भोगो से भी ससारी जीव की तृप्ति न हुई तो सामान्य जनो के भोगोपभोगो से किस प्रकार तृप्ति हो सकती है ! इसी तथ्य को प्रकाशित करना प्रस्तुत सूत्र का एक मात्र लक्ष्य है । इसी प्रयोजन को पुष्ट करने के लिए चक्रवर्त्ती की विभूति का वर्णन किया गया है ।

चक्रवर्त्ती सम्पूर्ण भरतखण्ड के एकच्छत्र साम्राज्य का स्वामी होता है । बत्तीस हजार मुकुट-

वद्ध राजा उनके समक्ष नतमस्तक होकर उसके आदेश को अगीकार करते है। सोलह हजार म्लेच्छ राजा भी उसके सेवक होते है।

सोलह हजार देव भी चक्रवर्त्ती के प्रकृष्ट पुण्य मे प्रेरित होकर उसके आज्ञाकारी होते हैं। इनमे से चौदह हजार देव चौदह रत्नो की रक्षा करते है और दो हजार उनके दोनो ओर खडे रहते है।

चक्रवर्त्ती की सेना बहुत विराट् होती है। उसमे चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख घोडे, चौरासी लाख रथ और ९६०००००००० पैदल सैनिक होते है।

उसके साम्राज्य मे ७२००० वडे-वडे नगर, ३२००० जनपद, ९६००००००० ग्राम, ९९००० द्रोणमुख, ४८००० पट्टन, २४००० मडब, २०००० आकर, १६००० खेट, १४००० सवाह आदि सम्मिलित होते है।

चक्रवर्त्ती की नौ निधियां—उनकी असाधारण सम्पत्ति नौ निधि और चौदह रत्न विशेषत उल्लेखनीय है। निधि का अर्थ निधान या भडार है। चक्रवर्त्ती की यह नौ निधिया सदैव समृद्ध रहती है। इनका परिचय इस प्रकार है—

१ नैसर्पनिधि—नवीन ग्रामो का निर्माण करना, पुरानो का जीर्णोद्धार करना और सेना के लिए मार्ग, शिविर, पुल आदि का निर्माण इस निधि से होता है।

२ पाण्डुकनिधि—धान्य एव बीजो की उत्पत्ति, नाप, तौल के साधन, वस्तुनिष्पादन की सामग्री प्रस्तुत करना आदि इसका काम है।

३ पिगलनिधि—स्त्रियो, पुरुषो, हस्तियो एव अश्वो आदि के आभूषणो की व्यवस्था करना।

४ सर्वरत्ननिधि—सात एकेन्द्रिय और सात पचेन्द्रिय श्रेष्ठरत्नो की उत्पत्ति इस निधि से होती है।

५ महापद्मनिधि—रगीन और श्वेत, सब तरह के वस्त्रो की उत्पत्ति और निष्पत्ति का कारण यह निधि है।

६ कालनिधि—अतीत और अनागत के तीन-तीन वर्षो के शुभाशुभ का ज्ञान, सौ प्रकार के शिल्प, प्रजा के लिए हितकर सुरक्षा, कृषि और वाणिज्य कर्म कालनिधि से प्राप्त होते है।

७ महाकालनिधि—लोहे, सोने, चादी आदि के आकर, मणि, मुक्ता, स्फटिक और प्रवाल की उत्पत्ति इससे होती है।

८ माणवकनिधि—योद्धाओ कवचो और आयुधो की उत्पत्ति, सर्व प्रकार की युद्धनीति एव दण्डनीति की व्यवस्था इस निधि से होती है।

९ शखमहानिधि—नृत्यविधि, नाटकविधि, चार प्रकार के काव्यो एव सभी प्रकार के वाद्यो की प्राप्ति का कारण।

इन नौ निधियो के अधिष्ठाता नौ देव होते है। यहाँ निधि और उसके अधिष्ठाता देव मे अभेद-विवक्षा है। अतएव जिस निधि से जिम वस्तु की प्राप्ति कही गई है, वह उस निधि के अधिष्ठायक देव मे समझना चाहिए।

इन नौ महानिधियों में चक्रवर्त्ती के लिए उपयोगी सभी वस्तुओं का समावेश हो जाता है। इन पर निधियों के नाम वाले देव निवास करते हैं। इनका क्रय-विक्रय नहीं हो सकता। सदा देवों का ही आधिपत्य होता है।[1]

चौदह रत्न—उल्लिखित नौ निधियों में से 'सर्वरत्ननिधि' से चक्रवर्त्ती को चौदह रत्नों की प्राप्ति होती है। यहाँ 'रत्न' शब्द का अर्थ हीरा, पन्ना आदि पाषाण नहीं समझना चाहिए। वस्तुतः जिस जाति में जो वस्तु श्रेष्ठ होती है, उसे 'रत्न' शब्द से अभिहित किया जाता है। जो नरों में उत्तम हो वह 'नररत्न' कहा जाता है। रमणियों में श्रेष्ठ को 'रमणीरत्न' कहते हैं। इसी प्रकार समस्त सेनापतियों में जो उत्तम हो वह सेनापतिरत्न, समस्त अश्वों में श्रेष्ठ को अश्वरत्न आदि। इसी प्रकार चौदह रत्नों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। चौदह रत्नों के नाम निम्नलिखित हैं—

(१) सेनापति (२) गाथापति (३) पुरोहित (४) अश्व (५) वर्धकि (६) हाथी (७) स्त्री (८) चक्र (९) छत्र (१०) चर्म (११) मणि (१२) काकिणी (१३) खड्ग और (१४) दण्ड। इनका परिचय अन्यत्र देख लेना चाहिए।[2] विस्तारभय से यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है।

ऐसी भोग-सामग्री के अधिपति भी कामभोगों से अतृप्त रहकर ही मरण-शरण होते हैं।

बलदेव और वासुदेव के भोग—

८६—भुज्जो भुज्जो बलदेव-वासुदेवा य पवरपुरिसा महाबलपरक्कमा महाधणुवियट्टगा महासत्तसागरा दुद्धरा धणुद्धरा णरवसहा रामकेसवा भायरो सपरिसा वसुदेवसमुद्दविजयमाइयदसाराण पज्जुण्ण-पईव-सब-अणिरुद्ध-णिसह-उम्मुय-सारण-गय-सुमुह-दुम्मुहाईण जायवाण अद्धुट्ठाण वि कुमारकोडीण हिययदइया देवीए रोहिणीए देवीए देवकीए य आणद-हिययभावणदणकरा सोलसरायवर-सहस्साणुजायमग्गा सोलसदेवीसहस्सवरणयणहिययदइया णाणामणिकणगरयणमोत्तियपवालधणधण्णसचयरिद्धिसमिद्धकोसा हयगयरहसहस्ससामी गामा-गर-णगर-खेड-कब्बड-मडब-दोणमुह-पट्टणासमसवाह-सहस्सथिमिय- णिव्वुयपमुइयजण- विविहसास- णिप्फज्जमाणमेइणिसरसरिय- तलाग- सेलकाणणआरामुज्जाणमणाभिरामपरिमडियस्स दाहिणड्ढवेयड्ढगिरिविभत्तस्स लवण-जलहि-परिगयस्स छव्विहकालगुणकामजुत्तस्स अद्धभरहस्स सामिगा धीरकित्तिपुरिसा ओहबला अइबला अणिहया अपराजियसत्तु-मद्दणरिपुसहस्समाणमहणा।

साणुक्कोसा अमच्छरी अचवला अचडा मियमजुलपलावा हसियगभीरमहुरभणिया अब्भुवगयवच्छला सरण्णा लक्खणवजणगुणोववेया माणुम्माणपमाणपडिपुण्णसुजायसव्वगसुदरगा ससिसोमागारकतपियदसणा अमरिसणा पयडडडप्पयारगभीरदरिसणिज्जा तालद्धउव्विद्धगरुलकेऊ बलवगगज्जतदरियदप्पियमुट्ठियचाणूरमूरगा रिट्ठवसहघाइणो केसरिमुहविप्फाडगा दरियणागदप्पमहणा जमलज्जुणभजगा महासउणिपूयणारिवू कसमउडमोडगा जरासधमाणमहणा।

---

१ स्थानाङ्ग, स्थान ९, पृ ६६६-६६८ (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)

२ प्रश्नव्याकरण, विवेचन ३५६ पृ (आगम संस्करण, श्री हेमचन्द्रजी म)

तेहि य अविरलसमसहियचदमडलसमप्पभेहि सुरमिरीयिकवय विणिम्मुयतेहि सपडिदडेहि, आयवत्तेहि धरिज्जतेहि विरायता । ताहि य पवरगिरिकुहरविहरणसमुद्धियाहि णिरुवहयचमरपच्छिम-सरीरसजायाहि अमइलसेयकमलविमुकुलज्जलिय-रययगिरिसिहर-विमलससिकिरण-सरिसकलहोय-णिम्मलाहि पवणाहयचवलचलियसललियपणच्चियवीइपसरियखीरोदगपवरसागरुप्पूरचचलाहि माणस-सरपसरपरिचियावासविसदवेसाहि कणगगिरिसिहरससिताहि उवायप्पायचवलजयिणसिग्घवेगाहि हस-वधूयाहि चेव कलिया णाणामणिकणगमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तडडाहि सललियाहि णरवइसिरि-समुदयप्पगासणकरिहि वरपट्टणुग्गयाहि समिद्धरायकुलसेवियाहि कालागुरुपवरकु दरुक्कतुरुक्कधूववसवा-सविसदगधुद्धुयाभिरामाहि चिल्लिगाहि उभओपास वि चामराहि उक्खिप्पमाणाहि सुहसीययवाय-वीइयगा ।

अजिया अजियरहा हलमूसलकणगपाणी सचचक्कगयसत्तिणदगधरा पवरुज्जलसुकयविमल-कोथूभतिरीडधारी कु डलउज्जोवियाणणा पु डरीयणयणा एगावलीकठरइयवच्छा सिरिवच्छसुलछणा वरजसा सव्वोउय-सुरभिकुसुमसुरइयपलबसोहतवियसतचित्तवणमालरइयवच्छा अट्ठसयविभत्तलक्खण-पसत्थसु दरविराइयगमगा मत्तगयवरिंदललियविक्कमविलसियगई कडिसुत्तगणीलपीयकोसिज्जवाससा पवरदित्ततेया सारयणवत्थणियमहुरगभीरणिद्धघोसा णरसीहा सीहविक्कमगई अत्थमियपवररायसीहा सोमा बारवइपुण्णचदा पुव्वकयतवप्पभावा णिविट्ठसचियसुहा अणेगवाससयमाउवता भज्जाहि य जणवयप्पहाणाहि लालियता अउल-सद्दफरिसरसरूवगधे अणुहवित्ता ते वि उवणमति मरणधम्म अवितत्ता कामाण ।

८६—और फिर (बलदेव तथा वासुदेव जैसे विशिष्ट ऐश्वर्यशाली एव उत्तमोत्तम काम-भोगो के उपभोक्ता भी जीवन के अन्त तक भोग भोगने पर भी तृप्त नही हो पाते, वे) बलदेव और वासुदेव पुरुषो मे अत्यन्त श्रेष्ठ होते है, महान् बलशाली और महान् पराक्रमी होते है । बडे-बडे (सारग आदि) धनुषो को चढाने वाले, महान् सत्त्व के सागर, शत्रुओ द्वारा अपराजेय, धनुषधारी, मनुष्यो मे धोरी वृषभ के समान—स्वीकृत उत्तरदायित्व-भार का सफलतापूर्वक निर्वाह करने वाले, राम—बलराम और केशव—श्रीकृष्ण-दोनो भाई-भाई अथवा भाइयो सहित, एव विशाल परिवार समेत होते है । वे वसुदेव तथा समुद्रविजय आदि दशार्ह—माननीय पुरुषो के तथा प्रद्युम्न, प्रतिव, शम्ब, अनिरुद्ध, निषध, उल्मुक, सारण, गज, सुमुख, दुर्मुख आदि यादवो और साढे तीन करोड कुमारो के हृदयो को दयित—प्रिय होते है । वे देवी—महारानी रोहिणी के तथा महारानी देवकी के हृदय मे आनन्द उत्पन्न करने वाले—उनके अन्तस् मे प्रीतिभाव के जनक होते है । सोलह हजार मुकुट-बद्ध राजा उनके मार्ग का अनुगमन करते है—उनके पीछे-पीछे चलते है । वे सोलह हजार सुनयना महारानियो के हृदय के वल्लभ होते है । उनके भाण्डार विविध प्रकार की मणियो, स्वर्ण, रत्न, मोती, मूगा, धन और धान्य के सचय रूप ऋद्धि से सदा भरपूर रहते है । वे सहस्रो हाथियो, घोडो एव रथो के अधिपति होते है । सहस्रो ग्रामो, आकरो, नगरो, खेटो, कर्वटो, मडम्बो, द्रोणमुखो, पट्टनो, आश्रमो, सवाहो—सुरक्षा के लिए निर्मित किलो मे स्वस्थ, स्थिर, शान्त और प्रमुदित जन निवास करते है, जहा विविध प्रकार के धान्य उपजाने वाली भूमि होती है, जहाँ बडे-बडे सरोवर है, नदियाँ हैं, छोटे-छोटे तालाव है, पर्वत है, वन है, आराम—दम्पतियो के क्रीडा करने योग्य वगीचे है, उद्यान है, (ऐसे ग्राम-नगर आदि के वे

स्वामी होते है।) वे अर्धभरत क्षेत्र के अधिपति होते है, क्योकि भरतक्षेत्र का दक्षिण दिशा की ओर का आधा भाग वैताढच नामक पर्वत के कारण विभक्त हो जाता है और वह तीन तरफ लवणसमुद्र से घिरा है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण षट्खण्ड भरत क्षेत्र को दो भागो मे विभक्त करने वाला वैताढच पर्वत पूर्व-पश्चिम दिशा मे लम्बा आ जाने से तीन खण्ड दक्षिण दिशा मे रहते है। उन तीनो खण्डो के शासक वासुदेव—अर्धचक्रवर्त्ती होते है। वह अर्धभरत (बलदेव-वासुदेव के समय मे) छहो प्रकार के कालो अर्थात् ऋतुओ मे होने वाले अत्यन्त सुख से युक्त होता है।

बलदेव और वासुदेव धैर्यवान् और कीर्त्तिमान् होते हैं—उनका धीरज अक्षय होता है और दूर-दूर तक यश फैला होता है। वे ओघबली होते है—उनका बल प्रवाह रूप से निरन्तर कायम रहता है। अतिबल—साधारण मनुष्यो की अपेक्षा अत्यधिक बल वाले होते है। उन्हे कोई आहत—पीडित नही कर सकता। वे कभी शत्रुओ द्वारा पराजित नही होते अपितु सहस्रो शत्रुओ का मान-मर्दन करने वाले भी होते है। वे दयालु, मत्सरता से रहित—गुणग्राही, चपलता से रहित, विना कारण कोप न करने वाले, परिमित और मजु भाषण करने वाले, मुस्कान के साथ गभीर और मधुर वाणी का प्रयोग वाले, अभ्युपगत—समक्ष आए व्यक्ति के प्रति वत्सलता (प्रीति) रखने वाले तथा शरणागत की रक्षा करने वाले होते है। उनका समस्त शरीर लक्षणो से—सामुद्रिक शास्त्र मे प्रतिपादित उत्तम चिह्नो से, व्यजनो, से—तिल मसा आदि से तथा गुणो से या लक्षणो और व्यजनो के गुणो से सम्पन्न होता है। मान और उन्मान से प्रमाणोपेत तथा इन्द्रियो एव अवयवो से प्रतिपूर्ण होने के कारण उनके शरीर के सभी अगोपाग सुडौल-सुन्दर होते हैं। उनकी आकृति चन्द्रमा के समान सौम्य होती है और वे देखने मे अत्यन्त प्रिय एव मनोहर होते है। वे अपराध को सहन नही करते अथवा अपने कर्त्तव्य-पालन मे प्रमाद नही करते। प्रचण्ड—उग्र दड का विधान करने वाले अथवा प्रचण्ड सेना के विस्तार वाले एव देखने मे गभीर मुद्रा वाले होते हैं। बलदेव की ऊँची ध्वजा ताड वृक्ष के चिह्न से और वासुदेव की ध्वजा गरुड के चिह्न से अकित होती है। गर्जते हुए अभिमानियो मे भी अभिमानी मौष्टिक और चाणूर नामक पहलवानो के दर्प को (उन्होने) चूर-चूर कर दिया था। रिष्ट नामक साड का घात करने वाले, केसरी सिंह के मुख को फाडने वाले, अभिमानी (कालीय) नाग के अभिमान का मथन करने वाले, (विक्रिया से बने हुए वृक्ष के रूप मे) यमल अर्जुन को नष्ट करने वाले, महाशकुनि और पूतना नामक विद्याधरियो के शत्रु, कस के मुकुट को मोड देने वाले अर्थात् कस को पकड, कर और नीचे पटक कर उसके मुकट को भग कर देने वाले और जरासध (जैसे प्रतापशाली राजा) का मान-मर्दन करने वाले थे। वे सघन, एक-सरीखी एव ऊँची शालाकाओ—ताडियो से निर्मित तथा चन्द्रमण्डल के समान प्रभा—कान्ति वाले, सूर्य की किरणो के समान, (चारो ओर फैली हुई) किरणो रूपी कवच को बिखेरने, अनेक प्रतिदडो से युक्त छत्रो को धारण करने से अतीव शोभायमान थे। उनके दोनो पार्श्वभागो (बगलो) मे ढोले जाते हुए चामरो से सुखद एव शीतल पवन किया जाता है। उन चामरो की विशे-षता इस प्रकार है—श्रेष्ठ पर्वतो की गुफाओ—पार्वत्य प्रदेशो मे विचरण करने वाली चमरी गायो से प्राप्त किये जाने वाले, नीरोग चमरी गायो के पृष्ठभाग—पूछ मे उत्पन्न हुए, अम्लान—ताजा श्वेत कमल, उज्ज्वल-स्वच्छ रजतगिरि के शिखर एव निर्मल चन्द्रमा की किरणो के सदृश वर्ण वाले तथा चादी के समान निर्मल होते है। पवन से प्रताडित, चपलता से चलने वाले, लीलापूर्वक नाचते हुए एव लहरो के प्रसार तथा सुन्दर क्षीर-सागर के सलिलप्रवाह के समान चचल होते हैं। साथ ही वे मान-सरोवर के विस्तार मे परिचित आवास वाली, श्वेत वर्ण वाली, स्वर्णगिरि पर स्थित तथा ऊपर-नीचे गमन करने मे अन्य चचल वस्तुओ को मात कर देने वाले वेग से युक्त हसनियो के समान होते है।

विविध प्रकार की मणियो के तथा पीतवर्ण तपनीय स्वर्ण के बने विचित्र दडो वाले होते है। वे लालित्य से युक्त और नरपतियो की लक्ष्मी के अभ्युदय को प्रकाशित करते हैं। वे बडे-बडे पत्तनो—नगरो मे निर्मित होते है और समृद्धिशाली राजकुलो मे उनका उपयोग किया जाता है। वे चामर, काले अगर, उत्तम कुदरुक्क—चीड की लकडी एव तुरुष्क—लोभान की धूप के कारण उत्पन्न होने वाली सुगध के समूह से सुगधित होते है। (ऐसे चामर वलदेव और वासुदेव के दोनो पमवाडो की ओर ढोले जाते हैं, जिनसे सुखप्रद तथा शीतल पवन का प्रसार होता है।)

(वे बलदेव और वासुदेव) अपराजेय होते है—किसी के द्वारा जीते नही जा सकते। उनके रथ अपराजित होते है। बलदेव हाथो मे हल, मूसल और वाण धारण करते है और वासुदेव पाञ्चजन्य शख, सुदर्शन चक्र, कौमुदी गदा, शक्ति (शस्त्र—विशेष) और नन्दक नामक खड्ग धारण करते हैं। अतीव उज्ज्वल एव सुनिर्मित कौस्तुभ मणि और मुकुट को धारण करते हैं। कुडलो (की दीप्ति) से उनका मुखमण्डल प्रकाशित होता रहता है। उनके नेत्र पुण्डरीक—श्वेत कमल के समान विकसित होते है। उनके कण्ठ और वक्षस्थल पर एकावली—एक लड वाला हार शोभित रहता है। उनके वक्षस्थल मे श्रीवत्स का सुन्दर चिह्न बना होता है। वे उत्तम यशस्वी होते हैं। सर्व ऋतुओ के सौरभमय सुमनो से ग्रथित लम्बी शोभायुक्त एव विकसित वनमाला से उनका वक्षस्थल शोभायमान रहता है। उनके अग उपाग एक सौ आठ मागलिक तथा सुन्दर लक्षणो—चिह्नो से सुशोभित होते है। उनकी गति—चाल मदोन्मत्त उत्तम गजराज की गति के समान ललित और विलासमय होती है। उनकी कमर कटिसूत्र—करधनी से शोभित होती है और वे नीले तथा पीले वस्त्रो को धारण करते हैं, अर्थात् बलदेव नीले वर्ण के और वासुदेव पीत वर्ण के कौशेय—रेशमी वस्त्र पहनते है। वे प्रखर तथा देदीप्यमान तेज से विराजमान होते है। उनका घोष (आवाज) शरत्काल के नवीन मेघ की गर्जना के समान मधुर, गभीर और स्निग्ध होता है। वे नरो मे सिह के समान (प्रचण्ड पराक्रम के धनी) होते है। उनकी गति सिह के समान पराक्रमपूर्ण होती है। वे बडे-बडे राज-सिंहो के (तेज को) अस्त—समाप्त कर देने वाले अथवा युद्ध मे उनकी जीवनलीला को समाप्त कर देते है। फिर (भी प्रकृति से) सौम्य-शान्त-सात्विक होते है। वे द्वाग्वती—द्वारका नगरी के पूर्ण चन्द्रमा थे। वे पूर्वजन्म मे किये तपश्चरण के प्रभाव वाले होते है। वे पूर्वसचित इन्द्रियसुखो के उपभोक्ता और अनेक सौ वर्षो—सैकडो वर्षो—की आयु वाले होते है।

ऐसे वलदेव और वासुदेव विविध देशो की उत्तम पत्नियो के साथ भोग-विलास करते है, अनुपम शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धरूप इन्द्रियविषयो का अनुभव—भोगोपभोग करते है। परन्तु वे भी कामभोगो से तृप्त हुए विना ही कालधर्म (मृत्यु) को प्राप्त होते है।

विवेचन—षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती महाराजाओ की ऋद्धि, भोगोपभोग, शरीरक सम्पत्ति आदि का विशद वर्णन करने के पश्चात् यहाँ वलभद्र और नारायण की ऋद्धि आदि का परिचय दिया गया है।

वलभद्र और नारायण प्रत्येक उत्सर्पिणी और प्रत्येक अवसर्पिणी काल मे होते है, जैसे चक्रवर्त्ती होते है। नारायण अर्थात् वासुदेव चक्रवर्त्ती की अपेक्षा आधी ऋद्धि, शरीरसम्पत्ति, वल-वाहन आदि विभूति आदि के धनी होते है। वलभद्र उनके ज्येष्ठ भ्राता होते हैं।

प्रस्तुत सूत्र का मूल आशय सभी कालो मे होने वाले सभी वलभद्रो और नारायणो के भोगो एव व्यक्तित्व का वर्णन करना और यह प्रदर्शित करना है कि ससारी जीव उत्कृष्ट से उत्कृष्ट भोग-

स्वामी होते है।) वे अर्धभरत क्षेत्र के अधिपति होते है, क्योकि भरतक्षेत्र का दक्षिण दिशा की ओर का आधा भाग वैताढ्य नामक पर्वत के कारण विभक्त हो जाता है और वह तीन तरफ लवणसमुद्र से घिरा है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण षट्खण्ड भरत क्षेत्र को दो भागो मे विभक्त करने वाला वैताढ्य पर्वत पूर्व-पश्चिम दिशा मे लम्बा आ जाने से तीन खण्ड दक्षिण दिशा मे रहते है। उन तीनो खण्डो के शासक वासुदेव—अर्धचक्रवर्त्ती होते है। वह अर्धभरत (वलदेव-वासुदेव के समय मे) छहो प्रकार के कालो अर्थात् ऋतुओ मे होने वाले अत्यन्त सुख से युक्त होता है।

वलदेव और वासुदेव धैर्यवान् और कीर्तिमान् होते है—उनका धीरज अक्षय होता है और दूर-दूर तक यश फैला होता है। वे ओघवली होते है—उनका वल प्रवाह रूप से निरन्तर कायम रहता है। अतिबल—साधारण मनुष्यो की अपेक्षा अत्यधिक वल वाले होते है। उन्हे कोई आहत—पीडित नही कर सकता। वे कभी शत्रुओ द्वारा पराजित नही होते अपितु सहस्रो शत्रुओ का मान-मर्दन करने वाले भी होते है। वे दयालु, मत्सरता से रहित—गुणग्राही, चपलता से रहित, विना कारण कोप न करने वाले, परिमित और मजु भाषण करने वाले, मुस्कान के साथ गभीर और मधुर वाणी का प्रयोग वाले, अभ्युपगत—समक्ष आए व्यक्ति के प्रति वत्सलता (प्रीति) रखने वाले तथा शरणागत की रक्षा करने वाले होते है। उनका समस्त शरीर लक्षणो से—सामुद्रिक शास्त्र मे प्रतिपादित उत्तम चिह्नो से, व्यजनो, से—तिल मसा आदि से तथा गुणो से या लक्षणो और व्यजनो के गुणो से सम्पन्न होता है। मान और उन्मान से प्रमाणोपेत तथा इन्द्रियो एव अवयवो से प्रतिपूर्ण होने के कारण उनके शरीर के सभी अगोपाग सुडौल-सुन्दर होते है। उनकी आकृति चन्द्रमा के समान सौम्य होती है और वे देखने मे अत्यन्त प्रिय एव मनोहर होते है। वे अपराध को सहन नही करते अथवा अपने कर्तव्य-पालन मे प्रमाद नही करते। प्रचण्ड—उग्र दड का विधान करने वाले अथवा प्रचण्ड सेना के विस्तार वाले एव देखने मे गभीर मुद्रा वाले होते है। वलदेव की ऊँची ध्वजा ताड वृक्ष के चिह्न से और वासुदेव की ध्वजा गरुड के चिह्न से अकित होती है। गर्जते हुए अभिमानियो मे भी अभिमानी मौष्टिक और चाणूर नामक पहलवानो के दर्प को (उन्होने) चूर-चूर कर दिया था। रिष्ट नामक साड का घात करने वाले, केसरी सिह के मुख को फाडने वाले, अभिमानी (कालीय) नाग के अभिमान का मथन करने वाले, (विक्रिया से बने हुए वृक्ष के रूप मे) यमल अर्जुन को नष्ट करने वाले, महाशकुनि और पूतना नामक विद्याधरियो के शत्रु, कस के मुकुट को मोड देने वाले अर्थात् कस को पकड, कर और नीचे पटक कर उसके मुकट को भग कर देने वाले और जरासध (जैसे प्रतापशाली राजा) का मान-मर्दन करने वाले थे। वे सघन, एक-सरीखी एव ऊँची शालाकाओ—ताडियो से निर्मित तथा चन्द्रमण्डल के समान प्रभा—कान्ति वाले, सूर्य की किरणो के समान, (चारो ओर फैली हुई) किरणो रूपी कवच को बिखेरने, अनेक प्रतिदडो से युक्त छत्रो को धारण करने से अतीव शोभायमान थे। उनके दोनो पार्श्वभागो (वगलो) मे ढोले जाते हुए चामरो से सुखद एव शीतल पवन किया जाता है। उन चामरो की विशेषता इस प्रकार है—श्रेष्ठ पर्वतो की गुफाओ—पार्वत्य प्रदेशो मे विचरण करने वाली चमरी गायो से प्राप्त किये जाने वाले, नीरोग चमरी गायो के पृष्ठभाग—पूछ मे उत्पन्न हुए, अम्लान—ताजा श्वेत कमल, उज्ज्वल-स्वच्छ रजतगिरि के शिखर एव निर्मल चन्द्रमा की किरणो के सदृश वर्ण वाले तथा चादी के समान निर्मल होते है। पवन से प्रताडित, चपलता से चलने वाले, लीलापूर्वक नाचते हुए एव लहरो के प्रसार तथा सुन्दर क्षीर-सागर के सलिलप्रवाह के समान चचल होते है। साथ ही वे मान-सरोवर के विस्तार मे परिचित आवास वाली, श्वेत वर्ण वाली, स्वर्णगिरि पर स्थित तथा ऊपर-नीचे गमन करने मे अन्य चचल वस्तुओ को मात कर देने वाले वेग से युक्त हसनियो के समान होते है।

विविध प्रकार की मणियो के तथा पीतवर्ण तपनीय स्वर्ण के बने विचित्र दडो वाले होते है। वे लालित्य से युक्त और नरपतियो की लक्ष्मी के अभ्युदय को प्रकाशित करते है। वे बडे-बडे पत्तनों—नगरो मे निर्मित होते है और समृद्धिशाली राजकुलो मे उनका उपयोग किया जाता है। वे चामर, काले अगर, उत्तम कुदरुक्क—चीड की लकडी एव तुरुष्क—लोभान की धूप के कारण उत्पन्न होने वाली सुगध के समूह से सुगधित होते हे। (ऐसे चामर बलदेव और वासुदेव के दोनो पसवाडो की ओर ढोले जाते है, जिनसे सुखप्रद तथा शीतल पवन का प्रसार होता है।)

(वे बलदेव और वासुदेव) अपराजेय होते है—किसी के द्वारा जीते नही जा सकते। उनके रथ अपराजित होते है। बलदेव हाथो मे हल, मूसल और बाण धारण करते है और वासुदेव पाञ्चजन्य शख, सुदर्शन चक्र, कौमुदी गदा, शक्ति (शस्त्र—विशेष) और नन्दक नामक खड्ग धारण करते हैं। अतीव उज्ज्वल एव सुनिर्मित कोस्तुभ मणि और मुकुट को धारण करते है। कुडलो (की दीप्ति) से उनका मुखमण्डल प्रकाशित होता रहता है। उनके नेत्र पुण्डरीक—श्वेत कमल के समान विकसित होते है। उनके कण्ठ और वक्षस्थल पर एकावली—एक लड वाला हार शोभित रहता है। उनके वक्षस्थल मे श्रीवत्स का सुन्दर चिह्न बना होता है। वे उत्तम यशस्वी होते हे। सर्व ऋतुओ के सौरभमय सुमनो से ग्रथित लम्बी शोभायुक्त एव विकसित वनमाला मे उनका वक्षस्थल शोभायमान रहता है। उनके अग उपाग एक सौ आठ मागलिक तथा सुन्दर लक्षणो—चिह्नो से सुशोभित होते हे। उनकी गति—चाल मदोन्मत्त उत्तम गजराज की गति के समान ललित और विलासमय होती है। उनकी कमर कटिसूत्र—करधनी से शोभित होती हे और वे नीले तथा पीले वस्त्रो को धारण करते हैं, अर्थात् बलदेव नीले वर्ण के और वासुदेव पीत वर्ण के कौशेय—रेशमी वस्त्र पहनते हैं। वे प्रखर तथा देदीप्यमान तेज से विराजमान होते है। उनका घोष (आवाज) शरत्काल के नवीन मेघ की गर्जना के समान मधुर, गभीर और स्निग्ध होता है। वे नरो मे सिह के समान (प्रचण्ड पराक्रम के धनी) होते है। उनकी गति सिह के समान पराक्रमपूर्ण होती है। वे बडे-बडे राज-सिहो के (तेज को) अस्त—समाप्त कर देने वाले अथवा युद्ध मे उनकी जीवनलीला को समाप्त कर देते है। फिर (भी प्रकृति से) सौम्य-शान्त-सात्विक होते है। वे द्वारवती—द्वारका नगरी के पूर्ण चन्द्रमा थे। वे पूर्वजन्म मे किये तपश्चरण के प्रभाव वाले होते है। वे पूर्वसचित इन्द्रियसुखो के उपभोक्ता और अनेक सौ वर्षो—सैकडो वर्षो—की आयु वाले होते है।

ऐसे बलदेव और वासुदेव विविध देशो की उत्तम पत्नियो के साथ भोग-विलास करते है, अनुपम शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धरूप इन्द्रियविषयो का अनुभव—भोगोपभोग करते है। परन्तु वे भी कामभोगो से तृप्त हुए विना ही कालधर्म (मृत्यु) को प्राप्त होते है।

विवेचन—षट्खण्डाधिपति चक्रवर्त्ती महाराजाओ की ऋद्धि, भोगोपभोग, शरीरक सम्पत्ति आदि का विशद वर्णन करने के पश्चात् यहाँ बलभद्र और नारायण की ऋद्धि आदि का परिचय दिया गया है।

बलभद्र और नारायण प्रत्येक उत्सर्पिणी और प्रत्येक अवसर्पिणी काल मे होते हैं, जैसे चक्रवर्त्ती होते है। नारायण अर्थात् वासुदेव चक्रवर्त्ती की अपेक्षा आधी ऋद्धि, शरीरसम्पत्ति, बल-वाहन आदि विभूति आदि के धनी होते है। बलभद्र उनके ज्येष्ठ भ्राता होते है।

प्रस्तुत सूत्र का मूल आशय सभी कालो मे होने वाले सभी बलभद्रो और नारायणो के भोगो एव व्यक्तित्व का वर्णन करना और यह प्रदर्शित करना है कि ससारी जीव उत्कृष्ट से उत्कृष्ट भोग-

भोग कर भी, अन्त तक भी तृप्ति नही पाता है। जीवन की अन्तिम वेला तक भी वह अतृप्त रह कर मरण को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार मामान्य रूप से सभी वलभद्रो और नारायणो से सवध रखने वाले प्रस्तुत वर्णन मे वर्त्तमान अवसर्पिणी काल मे हुए नवम वलभद्र (वलराम) और नवम नारायण (श्रीकृष्ण) का उल्लेख भी आ गया है। इसकी चर्चा करते हुए टीकाकार श्री अभयदेवसूरि ने समाधान किया[1] है कि—'राम केशव' का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए—जिन वलभद्रो और नारायणो मे वलराम एव श्रीकृष्ण जैसे हुए है। यद्यपि इस अवसर्पिणी काल मे नौ वलभद्र, और नौ नारायण हुए है किन्तु उनमे वलराम और श्रीकृष्ण लोक मे अत्यन्त विख्यात है। उनकी इस ख्याति के कारण ही उनके नामो आदि का विशेप रूप से उल्लेख किया गया है।

सभी वलभद्र और नारायण, जैसा कि पूर्व मे कहा गया है, चक्रवर्त्ती से आधी ऋद्धि आदि से सम्पन्न होते है। सभी पुरुपो मे प्रवर—सर्वश्रेष्ठ, महान् वल और पराक्रम के धनी, असाधारण धनुर्धारी, महान् सत्त्वशाली, अपराजेय और अपने-अपने काल मे अद्वितीय पुरुप होते है।

प्रस्तुत मे वलराम और श्रीकृष्ण से सम्वद्ध कथन भी नामादि के भेद से सभी के साथ लागू होता है।

जैनागमो के अनुसार सक्षेप मे उसका उल्लेख कर देना आवश्यक है, जो इस प्रकार है—

प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल मे ६३ शलाकापुरुष-श्लाघ्य—प्रशसनीय असाधारण पुरुष होते है। इन श्लाघ्य पुरुषो मे चौवीस तीर्थकरो का स्थान सर्वोपरि होता है। वे सर्वोत्कृष्ट पुण्य के स्वामी होते है। चक्रवर्त्ती आदि नरेन्द्र और सुरेन्द्र भी उनके चरणो मे नतमस्तक होते हैं, अपने आपको उनका किंकर मान कर धन्यता अनुभव करते हैं।

तीर्थकरो के पश्चात् दूसरा स्थान चक्रवर्त्तियो का है। ये वारह होते है। इनकी विभूति आदि का विस्तृत वर्णन पूर्व सूत्र मे किया गया है।

तीसरे स्थान पर वासुदेव और वलदेव है। इनकी समस्त विभूति चक्रवर्ती नरेश से आधी होती है। यथा—चक्रवर्त्ती छह खण्डो के अधिपति सम्राट् होते है तो वासुदेव तीन खडो के स्वामी होते है। चक्रवर्त्ती की अधीनता मे बत्तीस हजार नृपति होते है तो वासुदेव के अधीन सोलह हजार राजा होते है। चक्रवर्त्ती चौसठ हजार कामिनियो के नयनकान्त होते है तो वासुदेव वत्तीस हजार रमणियो के प्रिय होते है। इसी प्रकार अन्य विषयो मे भी जान लेना चाहिए।

वलदेव-वासुदेव के समकालीन प्रति वासुदेव भी नौ होते है, जो वासुदेव के द्वारा मारे जाते है।

बलराम और श्रीकृष्ण नामक जो अन्तिम बलभद्र और नारायण हुए है, उनसे सम्वद्ध कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

ये दोनो प्रशस्त पुरुष यादवकुल के भूषण थे। इस कुल मे दश दशार थे, जिनके नाम है—(१) समुद्रविजय (२) अक्षोभ्य (४) स्तिमित (४) सागर (५) हिमवान् (६) अचल (७) धरण (८) पूरण (९) अभिचन्द्र और (१०) वसुदेव।

---

१ अभयदेववृत्ति पृ ७३, आगमोदयममिति सस्करण।

इस परिवार मे ५६ करोड यादव थे। उनमे साढे तीन करोड प्रद्युम्न आदि कुमार थे। वलराम की माता का नाम रोहिणी और श्रीकृष्ण की माता का नाम देवकी था। इनके शस्त्रो तथा वस्त्रो के वर्ण आदि का वर्णन मूल पाठ मे ही प्राय आ चुका है।

मुष्टिक नामक मल्ल का हनन वलदेव ने और चाणूर मल्ल का वध श्रीकृष्ण ने किया था। रिष्ट नामक साड को मारना, कालिय नाग को नाथना, यमलार्जुन का हनन करना, महाशकुनी एव पूतना नामक विद्याधरियो का अन्त करना, कम-वध और जरासन्ध के मान का मर्दन करना आदि घटनाओ का उल्लेख वलराम-श्रीकृष्ण से सम्बन्धित है, तथापि तात्पर्य यह जानना चाहिए कि ऐसो-ऐसो के दमन करने का सामर्थ्य वलदेवो और वासुदेवो मे होता है। ऐसे असाधारण वल, प्रताप और पराक्रम के स्वामी भी भोगोपभोगो से तृप्त नही हो पाते। अतृप्त रह कर ही मरण को प्राप्त होते हैं।

माण्डलिक राजाओ के भोग—

८७—भुज्जो मडलिय-णरवरिंदा सबला सअतेउरा सपरिसा सपुरोहियामच्च-दडणायग-सेणावइ-मंतणीइ-कुसला णाणामणिरयणविपुल-धणधण्णसचयणिही-समिद्धकोसा रज्जसिरिं विउल-मणुहवित्ता विक्कोसत्ता बलेण मत्ता ते वि उवणमंति मरणधम्म अवितत्ता कामाण।

८७—और (वलदेव और वासुदेव के अतिरिक्त) माण्डलिक राजा भी होते हैं। वे भी सवल—वलवान् अथवा सैन्यसम्पन्न होते हैं। उनका अन्त पुर—रनवास (विशाल) होता है। वे सपरिषद्—परिवार या परिषदो से युक्त होते है। शान्तिकर्म करने वाले पुरोहितो से, अमात्यो—मत्रियो से, दडाधिकारियो—दडनायको से, सेनापतियो से जो गुप्त मत्रणा करने एव नीति मे निपुण होते हैं, इन सव से सहित होते है। उनके भण्डार अनेक प्रकार की मणियो से, रत्नो से, विपुल धन और धान्य से समृद्ध होते है। वे अपनी विपुल राज्य-लक्ष्मी का अनुभव करके अर्थात् भोगोपभोग करके, अपने शत्रुओ का पराभव करके—उन पर आक्रोश करते हुए अथवा अक्षय भण्डार के स्वामी होकर (अपने) वल मे उन्मत्त रहते हैं—अपनी शक्ति के दर्प मे चूर—वेभान वन जाते हैं। ऐसे माण्डलिक राजा भी कामभोगो से तृप्त नही हुए। वे भी अतृप्त रह कर ही कालधर्म—मृत्यु को प्राप्त हो गए।

विवेचन—किसी बडे साम्राज्य के अन्तर्गत एक प्रदेश का अधिपति माण्डलिक राजा कहलाता है। माण्डलिक राजा के लिए प्रयुक्त विशेषण सुगमता से समझे जा सकते है।

अकर्मभूमिज मनुष्यो के भोग

८८—भुज्जो उत्तरकुरु-देवकुरु-वणविवर-पायचारिणो णरगणा भोगुत्तमा भोगलक्खणधरा भोगसस्सिरीया पसत्थसोमपडिपुण्णरूवदरिसणिज्जा सुजायसव्वगसु दरगा रत्तुप्पलपत्तकतकरचरण-कोमलतला सुपइट्ठियकुम्मचारुचलणा अणुपुव्वसुसहयगुलीया उण्णयतणुतबणिद्धणक्खा सठियसुसिलिट्ठ-गूढगु फा एणीकुरुविंदवत्तवट्टाणुपुव्विजघा समुग्गणिसग्गगूढजाणू वरवारणमत्ततुल्लविक्कम-विलासिय-गई वरतुरगसुजायगुज्झदेसा आइण्णहयव्वणिरुवलेवा पमुइयवरतुरगसीहअइरेगवट्टियकडी गगा-वत्तदाहिणावत्ततरगभगुर-रविकिरण-बोहिय-विकोसायतपम्हगभीरवियडणाभी साहतसोणदमुसल-दप्पणणिगरियवरकणगच्छरुसरिसवरवइरवलियमज्झा उज्जुगसमसहियजच्चतणुकसिणणिद्ध-आइज्जल-

झहसूमालमउयरोमराई झसविहगसुजायपीणकुच्छी झसोयरा पम्हविगडणाभी सणयपासा सगयपासा सुदरपासा सुजायपासा मियमाइयपीणरइयपासा अकरडुयकणगरुयगणिम्मलसुजायणिरुवहयदेहधारी कणगसिलातलपसत्थसमतलउवइयविस्थिण्णपिहुलवच्छा जुयसण्णिभपीणरइयपीवरपउट्ठसठियसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसुणिचियघणथिरसुबद्धसधी पुरवरफलिहवट्टियभुया ।

भुयईसरविउलभोगआयाणफलिउच्छूढदीहबाहू रत्ततलोवतियमउयमसलसुजाय-लक्खणपसत्थ-अच्छिद्दजालपाणी पीवरसुजायकोमलवरगुली तबतलिणसुइरुइलणिद्धणखा णिद्धपाणिलेहा चदपाणिलेहा सूरपाणिलेहा सखपाणिलेहा चक्कपाणिलेहा दिसासोवत्थियपाणिलेहा रविससिसखवरचक्कदिसासोवत्थियविभत्तसुविरइयपाणिलेहा वरमहिसवराहसीहसद्दूलरिसहणागवरपडिपुण्णविउलखधा चउरगुलसुप्पमाणकबुवरसरिसग्गीवा अवट्ठियसुविभत्तचित्तमसू उवचियमसलपसत्थसद्दूलविउलहणुया ओयवियसिलप्पवालबिबफलसण्णिभाधरोट्ठा पडुरससिसकलविमलसखगोखीरफेणकुददगरयमुणालिया-धवलदतसेढी अखडदता अप्फुडियदता अविरलदता सुणिद्धदता सुजायदता एगदतसेढिव्व अणेगदता हुयवहणिद्ध तधोयतत्ततवणिज्जरत्ततला तालुजीहा गरुलायतउज्जुतुगणासा अवदालियपोडरीयणयणा कोकासियधवलपत्तलच्छा आणामियचावरुइलकिण्हब्भराजि-सठियसगयायसुजायभुमगा अल्लीणपमाण-जुत्तसवणा सुसवणा पीणमसलकवोलदेसभागा अचिरुग्गयबालचदसठियमहाणिलाडा उडुवइरिव-पडिपुण्णसोमवयणा छत्तागारुत्तमगदेसा घणणिचियसुबद्धलक्खणुण्णयकूडागारणिभपिंडियग्गसिरा हुयवहणिद्ध तधोयतत्ततवणिज्जरत्तकेसतकेसभूमी सामलीपोडघणणिचियछोडियमिउविसतपसत्थसुहुम-लक्खणसुगधिसुदरभुयमोयगभिगणीलकज्जलपहट्ठभमरगणणिद्धणिगुरुबणिचियकुचियपयाहिणावत्तमुद्ध-सिरया सुजायसुविभत्तसगयगा ।

८८—इसी प्रकार देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रो के वनो मे और गुफाओ मे पैदल विचरण करने वाले अर्थात् रथ, शकट आदि यानो और हाथी, घोडा आदि वाहनो का उपयोग न करके सदा पैदल चलने वाले नर-गण है अर्थात् यौगलिक-युगल मनुष्य होते है। वे उत्तम भोगो-भोगसाधनो से सम्पन्न होते है । प्रशस्त लक्षणो-स्वस्तिक आदि के धारक होते है । भोग-लक्ष्मी से युक्त होते है । वे प्रशस्त मगलमय सौम्य एव रूपसम्पन्न होने के कारण दर्शनीय होते है। उत्तमता से बने सभी अवयवो के कारण सर्वाग सुन्दर शरीर के धारक होते है । उनकी हथेलियाँ और पैरो के तलभाग—तलुवे लाल कमल के पत्तो की भाति लालिमायुक्त और कोमल होते है। उनके पैर कछुए के समान सुप्रतिष्ठित—सुन्दराकृति वाले होते है । उनकी अगुलियाँ अनुक्रम से बडी-छोटी, सुसहत-सघन-छिद्र-रहित होती है। उनके नख उन्नत—उभरे हुए, पतले, रक्तवर्ण और चिकने—चमकदार होते है। उनके पैरो के गुल्फ—टखने सुस्थित, सुघड और मासल होने के कारण दिखाई नही देते है । उनकी जघाएँ हिरणी की जघा, कुरुविन्द नामक तृण और वृत्त—सूत कातने की तकली के समान क्रमश वर्तुल एव स्थूल होती हैं । उनके घुटने डिब्बे एव उसके ढक्कन की सधि के समान गूढ होते हैं, (वे स्वभावत मासल—पुष्ट होने से दिखाई नही देते ।) उनकी गति—चाल मदोन्मत्त उत्तम हस्ती के समान विक्रम और विकास से युक्त होती है, अर्थात् वे मदोन्मत्त हाथी के समान मस्त एव धीर गति से चलते है। उनका गुह्यदेश—गुप्ताग—जननेन्द्रिय उत्तम जाति के घोडे के गुप्ताग के समान सुनिर्मित एव गुप्त होता है । जैसे उत्तम जाति के अश्व का गुदाभाग मल से

डहसूमालमउयरोमराई झसविहगसुजायपीणकुच्छी झसोयरा पम्हविगडणाभी सणयपासा सगयपासा सुंदरपासा सुजायपासा मियमाइयपीणरइयपासा अकरडुयकणगरुयगणिम्मलसुजायणिरुवहयदेहधारी कणगसिलातलपसत्थसमतलउवइयविच्छिण्णपिहुलवच्छा जुयसण्णिभपीणरइयपीवरपउट्ठसठियसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसुणिचियघणथिरसुबद्धसधी पुरवरफलिहवट्टियभुया ।

भुयईसरविउलभोगआयाणफलिउच्छूढदीहबाहू रत्ततलोवतियमउयमसलसुजाय-लक्खणपसत्थ-अच्छिद्दजालपाणी पीवरसुजायकोमलवरगुली तबतलिणसुइरुइलणिद्धणखा णिद्धपाणिलेहा चदपाणिलेहा सूरपाणिलेहा सखपाणिलेहा चक्कपाणिलेहा दिसासोवत्थियपाणिलेहा रविससिसखवरचक्कदिसासोवत्थियविभत्तसुविरइयपाणिलेहा वरमहिसवराहसीहसद्दूलरिसहणागवरपडिपुण्णविउलखधा चउरगुलसुप्पमाणकबुवरसरिसग्गीवा अवट्ठियसुविभत्तचित्तमसू उवचियमसलपसत्थसद्दूलविउलहणुया ओयवियसिलप्पवालबिबफलसण्णिभाधरोट्ठा पडुरससिसकलविमलसखगोखीरफेणकुददगरयमुणालिया-धवलदतसेढी अखडदता अप्फुडियदता अविरलदता सुणिद्धदता सुजायदता एगदतसेढिव्व अणेगदता हुयवहणिद्ध तधोयतत्ततवणिज्जरत्ततला तालुजीहा गरुलायतउज्जुतुगणासा अवदालियपोडरीयणयणा कोकासियधवलपत्तलच्छा आणामियचावरुइलकिण्हब्भराजि-सठियसगयायसुजायभुमगा अल्लीणपमाण-जुत्तसवणा सुसवणा पीणमसलकवोलदेसभागा अचिरुग्गयबालचदसठियमहाणिलाडा उडुवइरिव-पडिपुण्णसोमवयणा छत्तागारुत्तमगदेसा घणणिचियसुबद्धलक्खणुण्णयकूडागारणिभपिडियग्गसिरा हुयवहणिद्ध तधोयतत्ततवणिज्जरत्तकेसतकेसभूमी सामलीपोडघणणिचियछोडियमिउविसतपसत्थसुहुम-लक्खणसुगधिसुंदरभुयमोयगभिगणीलकज्जलपहट्ठभमरगणणिद्धणिगुरुबणिचियकुचियपयाहिणावत्तमुद्ध-सिरया सुजायसुविभत्तसगयगा ।

८८—इसी प्रकार देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रो के वनो मे और गुफाओ मे पैदल विचरण करने वाले अर्थात् रथ, शकट आदि यानो और हाथी, घोडा आदि वाहनो का उपयोग न करके सदा पैदल चलने वाले नर-गण है अर्थात् यौगलिक-युगल मनुष्य होते है। वे उत्तम भोगो-भोगसाधनो से सम्पन्न होते है। प्रशस्त लक्षणो-स्वस्तिक आदि के धारक होते है। भोग-लक्ष्मी से युक्त होते है। वे प्रशस्त मगलमय सौम्य एव रूपसम्पन्न होने के कारण दर्शनीय होते है। उत्तमता से बने सभी अवयवो के कारण सर्वांग सुन्दर शरीर के धारक होते है। उनकी हथेलियाँ और पैरो के तलभाग—तलुवे लाल कमल के पत्तो की भाति लालिमायुक्त और कोमल होते है। उनके पैर कछुए के समान सुप्रतिष्ठित—सुन्दराकृति वाले होते है। उनकी अगुलियाँ अनुक्रम से बडी-छोटी, सुसहत-सघन-छिद्र-रहित होती है। उनके नख उन्नत—उभरे हुए, पतले, रक्तवर्ण और चिकने—चमकदार होते है। उनके पैरो के गुल्फ—टखने सुस्थित, सुघड और मासल होने के कारण दिखाई नही देते हैं। उनकी जघाएँ हिरणी की जघा, कुरुविन्द नामक तृण और वृत्त—सूत कातने की तकली के समान क्रमश वर्तुल एव स्थूल होती है। उनके घुटने डिब्बे एव उसके ढक्कन की सधि के समान गूढ होते हैं, (वे स्वभावत मासल—पुष्ट होने से दिखाई नही देते।) उनकी गति—चाल मदोन्मत्त उत्तम हस्ती के समान विक्रम और विकास से युक्त होती है, अर्थात् वे मदोन्मत्त हाथी के समान मस्त एव धीर गति से चलते है। उनका गुह्यदेश—गुप्ताग—जननेन्द्रिय उत्तम जाति के घोडे के गुप्ताग के समान सुनिर्मित एव गुप्त होता है। जैसे उत्तम जाति के अश्व का गुदाभाग मल से

लिप्त नही होता उसी प्रकार उन यौगलिक पुरुषो का गुदाभाग भी मल के लेप मे रहित होता है। उनका कटिभाग—कमर का भाग हृष्ट-पुष्ट एव श्रेष्ठ और सिंह की कमर से भी अधिक गोलाकार होता है। उनकी नाभि गगा नदी के आवर्त्त—भवर तथा दक्षिणावर्त्त तरगो के समूह के समान चक्कर-दार तथा सूर्य की किरणो से विकसित कमल की तरह गभीर और विकट—विशाल होती है। उनके शरीर का मध्यभाग समेटी हुई त्रिकाष्ठिका—तिपाई, मूसल, दर्पण—दण्डयुक्त काच और शुद्ध किए हुए उत्तम स्वर्ण से निर्मित खड्ग की मूठ एव श्रेष्ठ वज्र के समान कृश—पतला होता है। उनकी रोम-राजि सीधी, समान, परस्पर सटी हुई, स्वभावत बारीक, कृष्णवर्ण, चिकनी, प्रशस्त—सौभाग्यशाली पुरुषो के योग्य सुकुमार और सुकोमल होती है। वे मत्स्य और विहग—पक्षी के समान उत्तम रचना—बनावट से युक्त कुक्षि वाले होने से झषोदर—मत्स्य जैसे पेट वाले होते है। उनकी नाभि कमल के समान गभीर होती है। पार्श्वभाग नीचे की ओर झुके हुए होते है, अतएव सगत, सुन्दर और सुजात—अपने योग्य गुणो से सम्पन्न होते है। वे पार्श्व प्रमाणोपेत एव परिपुष्ट होते हैं। वे ऐसे देह के धारक होते है, जिसकी पीठ और बगल की हड्डियाँ मासयुक्त होती हैं तथा जो स्वर्ण के आभूषण के समान निर्मल कान्तियुक्त, सुन्दर बनावट वाली और निरुपहत—रोगादि के उपद्रव से रहित होती है। उनके वक्षस्थल सोने की शिला के तल के समान प्रशस्त, समतल, उपचित—पुष्ट और विशाल होते है। उनकी कलाइयाँ गाडी के जुए के समान पुष्ट, मोटी एव रमणीय होती हैं। तथा अस्थिसन्धियाँ अत्यन्त सुडौल, सुगठित, सुन्दर, मासल और नसो से दृढ वनी होती है। उनकी भुजाएँ नगर के द्वार की आगेल के समान लम्बी और गोलाकार होती हैं। उनके बाहु भुजगेश्वर—शेषनाग के विशाल शरीर के समान और अपने स्थान से पृथक् की हुई आगल के समान लम्बे होते है। उनके हाथ लाल-लाल हथेलियो वाले, परिपुष्ट, कोमल, मासल, सुन्दर बनावट वाले, शुभ लक्षणो से युक्त और निश्छिद्र—छेद रहित अर्थात् आपस मे सटी हुई उगलियो वाले होते है। उनके हाथो की उगलियाँ पुष्ट, सुरचित, कोमल और श्रेष्ठ होती है। उनके नख ताम्रवर्ण—तावे जैसे वर्ण के—लालिमा लिये, पतले, स्वच्छ, रुचिर—सुन्दर, चिकने होते है। चिकनी तथा चन्द्रमा की तरह अथवा चन्द्र से अकित, सूर्य के समान (चमकदार) या सूर्य से अकित, शख के समान या शख के चिह्न से अकित, चक्र के समान या चक्र के चिह्न से अकित, दक्षिणावर्त्त स्वस्तिक के चिह्न से अकित, सूर्य, चन्द्रमा, शख, उत्तम चक्र, दक्षिणावर्त्त स्वस्तिक आदि शुभ चिह्नो से सुविरचित हस्त-रेखाओ वाले होते है। उनके कधे उत्तम महिष, शूकर, सिह, व्याघ्र, साड, और गजराज के कधे के समान परिपूर्ण—पुष्ट होते है। उनकी ग्रीवा चार अगुल परिमित एव शख जैसी होती है। उनकी दाढी-मूछे अवस्थित—न घटने वाली और न बढने वाली होती है—सदा एक सरीखो रहती है तथा सुविभक्त—अलग-अलग एव सुशोभन होती है। वे पुष्ट, मासयुक्त, सुन्दर तथा व्याघ्र के समान विस्तीर्ण हनु—ठुड्डी वाले होते है। उनके अधरोष्ठ सशुद्ध मूगे और बिम्बफल के सदृश लालिमायुक्त होते है। उनके दातो की पक्ति चन्द्रमा के टुकडे, निर्मल शख, गाय के दूध के फेन, कुन्दपुष्प, जलकण तथा कमल की नाल के समान धवल-श्वेत होती है। उनके दात अखण्ड होते हैं, टूटे नही होते, अविरल—एक दूसरे से सटे हुए होते है, अतीव स्निग्ध—चिकने होते है और सुजात—सुरचित होते है। वे एक दन्तपक्ति के समान अनेक—बत्तीस दातो वाले होते हैं, अर्थात् उनके दातो की कतार इस प्रकार परस्पर सटी होती है कि वे अलग-अलग नही जान पडते। उनका तालु और जिह्वा अग्नि मे तपाये हुए और फिर धोये हुए स्वच्छ स्वर्ण के सदृश लाल तल वाली होती है। उनकी नासिका गरुड के समान लम्बी, सीधी और ऊँची होती है। उनके नेत्र विकसित पुण्डरीक—

श्वेत कमल के समान विकसित (प्रमुदित) एव धवल होते है। उनकी भ्रू—भौहे किंचित् नीचे झुकाए धनुष के समान मनोरम, कृष्ण अभ्रराजि—मेघो की रेखा के समान काली, उचित मात्रा मे लम्बी एव सुन्दर होती हैं। कान आलीन—किंचित् शरीर से चिपके हुए-से और उचित प्रमाण वाले होते है। अतएव उनके कान सुन्दर होते हैं या सुनने की शक्ति से युक्त होते हैं। उनके कपोलभाग—गाल तथा उनके आसपास के भाग परिपुष्ट तथा मांसल होते है। उनका ललाट अचिर उद्गत—जिसे उगे अधिक समय नही हुआ, ऐसे बाल—चन्द्रमा के आकार का तथा विशाल होता है। उनका मुखमण्डल पूर्ण चन्द्र के सदृश सौम्य होता है। मस्तक छत्र के आकार का उभरा हुआ होता है। उनके सिर का अग्रभाग मुद्गर के समान सुदृढ नसो से आबद्ध, प्रशस्त लक्षणो-चिह्नो से सुशोभित, उन्नत—उभरा हुआ, शिखरयुक्त भवन के समान और गोलाकार पिण्ड जैसा होता है। उनके मस्तक की चमडी—टाट—अग्नि मे तपाये और फिर धोये हुए सोने के समान लालिमायुक्त एव केशो वाली होती है। उनके मस्तक के केश शाल्मली (सेमल) वृक्ष के फल के समान सघन, छांटे हुए—मानो घिसे हुए, बारीक, सुस्पष्ट, मांगलिक, स्निग्ध, उत्तम लक्षणो से युक्त, सुवासित, सुन्दर, भुजमोचक रत्न जैसे काले वर्ण वाले, नीलमणि और काजल के सदृश तथा हर्षित भ्रमरो के झुड की तरह काली कान्ति वाले, गुच्छ रूप, कुंचित—घुघराले, दक्षिणावर्त्त—दाहिनी ओर मुडे हुए होते हैं। उनके अग सुडौल, सुविभक्त—यथास्थान और सुन्दर होते है।

वे यौगलिक उत्तम लक्षणो, तिल आदि व्यजनो तथा गुणो से (अथवा लक्षणो और व्यजनो क गुणो से) सम्पन्न होते है। वे प्रशस्त—शुभ—मांगलिक बत्तीस लक्षणो के धारक होते हैं। वे हंस के, क्रौंच पक्षी के, दुन्दुभि के एव सिंह के समान स्वर—आवाज वाले होते है। उनका स्वर ओघ होता है—अविच्छिन्न और अत्रुटित होता है। उनकी ध्वनि मेघ की गर्जना जैसी होती है, अतएव कानो को प्रिय लगती है। उनका स्वर और निर्घोष—दोनो ही सुन्दर होते है। वे वज्रऋषभनाराचसहनन और समचतुरस्रसस्थान के धारक होते है। उनके अग-प्रत्यग कान्ति से देदीप्यमान रहते हैं। उनके शरीर की त्वचा प्रशस्त होती है। वे नीरोग होते है और कक नामक पक्षी के समान अल्प आहार करते हैं। उनकी आहार को परिणत करने—पचाने की शक्ति कबूतर जैसी होती है। उनका मल-द्वार पक्षी जैसा होता है, जिसके कारण मल-त्याग के पश्चात् वह मल-लिप्त नही होता। उनकी पीठ, पार्श्वभाग और जघाएँ सुन्दर, सुपरिमित होती है। पद्म—कमल और उत्पल—नील कमल की सुगन्ध के सदृश मनोहर गन्ध से उनका श्वास एव मुख सुगन्धित रहता है। उनके शरीर की वायु का वेग सदा अनुकूल रहता है। वे गौर-वर्ण, स्निग्ध तथा श्याम होते है (या उनके सिर पर चिकने और काले बाल होते है।) उनका उदर शरीर के अनुरूप उन्नत होता है। वे अमृत के समान रस वाले फलो का आहार करते है। उनके शरीर की ऊँचाई तीन गव्यूति की और आयु तीन पल्योपम की होती है। पूरी तीन पल्योपम की आयु को भोग कर वे अकर्मभूमि—भोगभूमि के मनुष्य (अन्त तक) कामभोगो से अतृप्त रहकर ही मृत्यु को प्राप्त होते है।

विवेचन—उल्लिखित सूत्रो मे यद्यपि देवकुरु और उत्तरकुरु नामक अकर्मभूमि—भोगभूमि के नाम का उल्लेख किया गया है, तथापि वहाँ के मनुष्यो के वर्णन मे जो कहा गया है, वह प्राय सभी अकर्मभूमिज मनुष्यो के लिए समझ लेना चाहिए।

देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्र महाविदेह क्षेत्र के अन्तर्गत है। इन दो क्षेत्र—विभागो—के अतिरिक्त शेष समग्र महाविदेह कर्मभूमि है।

देवकुरु और उत्तरकुरु का नामोल्लेख करने का कारण यह है कि वह उत्तम अकर्मभूमि है और सदा काल अकर्मभूमि ही रहती है।

अकर्मभूमि के तीस क्षेत्र है। भरत और ऐरवत क्षेत्र मे कभी अकर्मभूमि और कभी कर्मभूमि की स्थिति होती है।

तात्पर्य यह है कि जम्बूद्वीप मे भरत, ऐरवत और (देवकुरु—उत्तरकुरु के सिवाय) महाविदेह, ये तीन कर्मभूमि—क्षेत्र हैं। इनसे दुगुने अर्थात् छह धातकीखण्ड मे और छह पुष्करार्ध मे हैं। इस प्रकार पन्द्रह कर्मभूमिक्षेत्र है।

कर्मभूमिज मनुष्य असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, कला आदि कर्मो से अपना जीवनयापन करते है। अतएव ये क्षेत्र कर्मभूमि-क्षेत्र कहलाते है।

जैसा कि उल्लेख किया गया है, महाविदेह क्षेत्र के अन्तर्गत उत्तर दिशा मे स्थित उत्तरकुरु और दक्षिण मे स्थित देवकुरु तथा हरिवर्ष, रम्यक्वर्ष, हैमवत और हैरण्यवत, ये छह क्षेत्र अकर्मभूमि के है। बारह क्षेत्र धातकीखण्ड के और बारह पुष्करार्ध के मिल कर अकर्मभूमि के कुल तीस क्षेत्र है।

अकर्मभूमि के मनुष्य युगलिक कहलाते हैं, क्योकि वे पुत्र और पुत्री के रूप मे—युगल के रूप मे ही उत्पन्न होते हैं। वे पुत्र और पुत्री ही आगे चल कर पति-पत्नी बन जाते है और एक युगल को जन्म देते है। अधिक सन्तान उत्पन्न नही होती।

इन युगलो का जीवन-निर्वाह वृक्षो से होता है। वृक्षो से ही उनकी समग्र आवश्यकताओ की पूर्त्ति हो जाती है। अतएव उन वृक्षो को 'कल्पवृक्ष' कहा जाता है। ये मनुष्य अत्यन्त सात्त्विक प्रकृति के, मद कषायो वाले और भोगसामग्री के सग्रह से सर्वथा रहित होते है। पूर्ण रूप से प्रकृति पर निर्भर होते हैं। वे असि, मसि, कृषि आदि पूर्वोक्त कोई कर्म नही करते। कल्पवृक्षो से प्राप्त सामग्री मे ही सन्तुष्ट रहते है। उनकी इच्छा सीमित होती है। फलाहारी होने से सदा नीरोग रहते है। अश्व आदि होने पर भी उन पर सवारी नही करते। पैदल विचरण करते है। गाय-भैस आदि पशु होने पर भी ये मनुष्य उनके दूध का सेवन नही करते। पूर्ण वनस्पतिभोजी होते है।

वनस्पतिभोजी एव पूर्ण रूप से प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने के कारण उनकी शारीरिक दशा कितनी स्पृहणीय होती है, यह तथ्य मूल पाठ मे वर्णित उनकी शरीरसम्पत्ति से कल्पना मे आ सकता है। वे वज्रऋषभनाराचसहनन से सम्पन्न होते है अर्थात् उनकी अस्थिरचना श्रेष्ठतम होती है और शरीर की आकृति अत्यन्त सुडौल—समचतुरस्रसस्थान वाली होती है। यही कारण है कि उनके शरीर की अवगाहना तीन गाऊ की और उम्र तीन पल्योपम जितने लम्बे समय की होती है।

विशेष वर्णन सूत्रकार ने स्वय किया है। किन्तु इस सब विस्तृत वर्णन का उद्देश्य यही प्रदर्शित करना है कि तीन पल्योपम जितने दीर्घकाल तक और जीवन की अन्तिम घडी तक यौवन-अवस्था मे रहकर इच्छानुकूल एव श्रेष्ठ से श्रेष्ठ भोगो को भोग कर भी मनुष्य तृप्त नही हो पाता। उसकी अतृप्ति बनी ही रहती है और वे आखिर अतृप्त रहकर ही मरण-शरण होते हैं।

युगलो को बत्तीस प्रशस्त लक्षणो का धारक कहा गया है। वे बत्तीस लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) छत्र (२) कमल (३) धनुष (४) उत्तम रथ (५) वज्र (६) कूर्म (७) अकुश (८) वापी

(९) स्वस्तिक (१०) तोरण (११) सर (१२) सिंह (१३) वृक्ष (१४) चक्र (१५) शंख (१६) गज—हाथी (१७) सागर (१८) प्रासाद (१९) मत्स्य (२०) यव (२१) स्तम्भ (२२) स्तूप (२३) कमण्डलु (२४) पर्वत (२५) चामर (२६) दर्पण (२७) वृषभ (२८) पताका (२९) लक्ष्मी (३०) माला (३१) मयूर और (३२) पुष्प ।[1]

अकर्मभूमिज नारियों की शरीर-सम्पदा—

८९—पमया वि य तेसिं होंति सोम्मा सुजायसव्वंगसुंदरीओ पहाणमहिलागुणेहिं जुत्ता अइकंतविसप्पमाणमउयसुकुमालकुम्मसंठियसिलिट्ठचलणा उज्जुमउयपीवरसुसाहयंगुलीओ अब्भुण्णयरइयतलिणतंबसुइणिद्धणखा रोमरहियवट्टसंठियअजहण्णपसत्थलक्खणअकोप्पजंघजुयला सुणिम्मियसुणिगूढजाणू मंसलपसत्थसुबद्धसंधी कयलीखंभाइरेकसंठियणिव्वणसुकुमालमउयकोमलअविरलसमसंहियसुजायवट्टपीवरणिरंतरोरू अट्ठावयवीइपट्ठसंठियपसत्थविच्छिण्णपिहुलसोणी वयणायामप्पमाणदुगुणियविसालमंसलसुबद्धजहणवरधारिणीओ वज्जविराइयपसत्थलक्खणणिरोदरीओ तिवलिवलियतणुणमियमज्झियाओ उज्जुयसमसंहियजच्चतणुकसिणणिद्ध-आइज्जलडहसुकुमालमउयसुविभत्तरोमराईओ गंगावत्तगपदाहिणावत्ततरंगभंगरविकिरणतरुणबोहियअकोसायंत पउमगंभीरवियडणाभी अणुब्भडपसत्थसुजायपीणकुच्छी सण्णयपासा सुजायपासा संगयपासा मियमाइयपीणरइयपासा अकरंडुयकणगरुयगणिम्मलसुजायणिरुवहयगायलट्ठी कंचणकलसपमाणसमसंहियलट्ठचुच्चुयआमेलगजमलजुयलवट्टियपयोहराओ भुयंगअणुपुव्वतणुयगोपुच्छवट्टसमसंहियणमियआइज्जलडहबाहा तंबणहा मंसलग्गहत्था कोमलपीवरवरंगुलिया णिद्धपाणिलेहा ससिसूरसंखचक्कवरसोत्थियविभत्तसुविरइयपाणिलेहा ।

पीणुण्णयकक्खवत्थीप्पएसपडिपुण्णगलकवोला चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा मंसलसंठियपसत्थहणुया दालिमपुप्फप्पगासपीवरपलंबकुंचियवराधरा सुंदरोत्तरोट्ठा दधिदगरयकुंदचंदवासंतिमउलअच्छिद्दविमलदसणा रत्तुप्पलपउमपत्तसुकुमालतालुजीहा कणवीरमउलअकुडिलअब्भुण्णयउज्जुतुंगणासा सारयणवकमलकुमुयकुवलयदलणिगरसरिसलक्खणपसत्थअजिम्हकंतणयणा आणामियचावरुइलकिण्हब्भराइसंगयसुजायतणुकसिणद्धभुमगा अल्लीणपमाणजुत्तसवणा सुस्सवणा पीणमट्ठगंडलेहा चउरंगुलविसालसमणिडाला कोमुइरयणियरविमलपडिपुण्णसोमवयणा छत्तुण्णयउत्तमंगा अकविलसुसिणिद्धदीहसिरया ।

छत्त-ज्झय-जूव-थूभ-दामिणि-कमंडलु-कलस-वावि-सोत्थिय-पडाग-जव-मच्छ-कुम्भ-रहवर-मकरज्झय-अंक- थाल- अंकुस-अट्ठावय- सुपइट्ठअमरसिरियाभि[illegible] [illegible]-[illegible]णि- उदहिवर- पवरभवण-गिरिवर-वरायंस-सुललियगय-उसभ-सीह-चामर-पसत्थब[illegible] [illegible]ईओ कोइलमहुरगिराओ कंता सव्वस्स अणुमयाओ

---

१ प्र व्या सैलाना-संस्करण पृ २२५

उच्चत्तेण य णराण थोवूणमूसियाओ सिगारागारचारुवेसाओ सुदरथणजहणवयणकरचरणणयणा लावण्णरूवजोव्वणगुणोववेया णदणवणविवरचारिणीओ अच्छराओव्व उत्तरकुरुमाणुसच्छराओ अच्छेर-गपेच्छणिज्जियाओ तिण्णि य पलिओवमाइ परमाउ पालइत्ता ताओ वि उवणमति मरणधम्म अवितित्ता कामाण ।

८९—उन (युगलिको) की स्त्रियाँ भी सौम्य अर्थात् शान्त एव सात्त्विक स्वभाव वाली होती है। उत्तम सर्वांगो से सुन्दर होती है। महिलाओ के सब प्रधान—श्रेष्ठ गुणो से युक्त होती हैं। उनके चरण-- पैर अत्यन्त रमणीय, शरीर के अनुपात मे उचित प्रमाण वाले अथवा चलते समय भी अतिकोमल, कच्छप के समान—उभरे हुए और मनोज्ञ होते हैं। उनकी उगलियाँ सीधी, कोमल, पुष्ट और निश्छिद्र—एक दूसरे से सटी हुई होती है। उनके नाखून उन्नत, प्रसन्नताजनक, पतले, निर्मल और चमकदार होते है। उनकी दोनो जघाएँ रोमो से रहित, गोलाकार श्रेष्ठ मागलिक लक्षणो से सम्पन्न और रमणीय होती है। उनके घुटने सुन्दर रूप से निर्मित तथा मासयुक्त होने के कारण निगूढ होते है। उनकी सन्धियाँ मासल, प्रशस्त तथा नसो से सुवद्ध होती है। उनकी ऊपरी जघाएँ—साथल कदली-स्तम्भ से भी अधिक सुन्दर आकार की, घाव आदि से रहित, सुकुमार, कोमल, अन्तररहित, समान प्रमाण वाली, सुन्दर लक्षणो से युक्त, सुजात, गोलाकार और पुष्ट होती है। उनकी श्रोणि—कटि अष्टापद—द्यूतविशेष खेलने के लहरदार पट्ट के समान आकार वाली, श्रेष्ठ और विस्तीर्ण होती है। वे मुख की लम्बाई के प्रमाण से अर्थात् बारह अगुल से दुगुने अर्थात् चौवीस अगुल विशाल, मासल—पुष्ट, गढे हुए श्रेष्ठ जघन—कटिप्रदेश से नीचे के भाग—को धारण करने वाली होती है। उनका उदर वज्र के समान (मध्य मे पतला) शोभायमान, शुभ लक्षणो से सम्पन्न एव कृश होता है। उनके शरीर का मध्यभाग त्रिवलि—तीन रेखाओ से युक्त, कृश और नमित—झुका हुआ होता है। उनकी रोमराजि सीधी, एक-सी, परस्पर मिली हुई, स्वाभाविक, बारीक, काली, मुलायम, प्रशस्त, ललित, सुकुमार, कोमल और सुविभक्त—यथास्थानवर्त्ती होती है। उनकी नाभि गगा नदी के भवरो के समान, दक्षिणावर्त्त चक्कर वाली तरगमाला जैसी, सूर्य की किरणो से ताजा खिले हुए और नही कुम्हलाए हुए कमल के समान गभीर एव विशाल होती है। उनकी कुक्षि अनुद्भट—नही उभरी हुई, प्रशस्त, सुन्दर और पुष्ट होती है। उनका पार्श्वभाग सन्नत—उचित प्रमाण मे नीचे झुका, सुगठित और सगत होता है तथा प्रमाणोपेत, उचित मात्रा मे रचित, पुष्ट और रतिद—प्रसन्नताप्रद होता है। उनकी गात्रयष्टि—देह पीठ की उभरी हुई अस्थि से रहित, शुद्ध स्वर्ण से निर्मित रुचक नामक आभूषण के समान निर्मल या स्वर्ण की कान्ति के समान सुगठित तथा नीरोग होती है। उनके दोनो पयोधर—स्तन स्वर्ण के दो कलशो के सदृश, प्रमाणयुक्त, उन्नत—उभरे हुए, कठोर तथा मनोहर चूची (स्तनाग्रभाग) वाले तथा गोलाकार होते है। उनकी भुजाएँ सर्प की आकृति सरीखी क्रमश पतली, गाय की पूँछ के समान गोलाकार, एक-सी, शिथिलता से रहित, सुनमित, सुभग एव ललित होती है। उनके नाखून ताम्रवर्ण—लालिमायुक्त होते है। उनके अग्रहस्त—कलाई या हथेली मासल—पुष्ट होती है। उनकी अगुलियाँ कोमल और पुष्ट होती है। उनकी हस्तरेखाएँ स्निग्ध—चिकनी होती है तथा चन्द्रमा, सूर्य, शख, चक्र एव स्वस्तिक के चिह्नो से अकित एव सुनिर्मित होती हैं। उनकी काख और मलोत्सर्गस्थान पुष्ट तथा उन्नत होते हैं एव कपोल परिपूर्ण तथा गोलाकार होते है। उनकी ग्रीवा चार अगुल प्रमाण वाली एव उत्तम शख जैसी होती है। उनकी ठुड्डी मास से पुष्ट, सुस्थिर तथा प्रशस्त होती है। उनके अधरोष्ठ—नीचे के होठ अनार के खिले फूल जैसे लाल, कान्तिमय, पुष्ट, कुछ

(९) स्वस्तिक (१०) तोरण (११) सर (१२) सिंह (१३) वृक्ष (१४) चक्र (१५) शंख (१६) गज—हाथी (१७) सागर (१८) प्रासाद (१९) मत्स्य (२०) यव (२१) स्तम्भ (२२) स्तूप (२३) कमण्डलु (२४) पर्वत (२५) चामर (२६) दर्पण (२७) वृषभ (२८) पताका (२९) लक्ष्मी (३०) माला (३१) मयूर और (३२) पुष्प।[1]

अकर्मभूमिज नारियों की शरीर-सम्पदा—

८९—पमया वि य तेसिं होंति सोम्मा सुजायसव्वंगसुंदरीओ पहाणमहिलागुणेहिं जुत्ता अइकंतविसप्पमाणमउयसुकुमालकुम्मसंठियसिलिट्ठचलणा उज्जुमउयपीवरसुसाहयंगुलीओ अब्भुण्णयर-इयतलिणतंबसुइणिद्धणखा रोमरहियवट्टसंठियअजहण्णपसत्थलक्खणअकोप्पजंघजुयला सुणिम्मियसुणि-गूढजाणू मंसलपसत्थसुबद्धसंधी कयलीखंभाइरेकसंठियणिव्वणसुकुमालमउयकोमलअविरलसमसंहियसु-जायवट्टपीवरणिरंतरोरू अट्ठावयवीइपट्ठसंठियपसत्थविच्छिण्णपिहुलसोणी वयणायामप्पमाणदुगुणिय-विसालमंसलसुबद्धजहणवरधारिणीओ वज्जविराइयपसत्थलक्खणणिरोदरीओ तिवलिवलियतणुणमिय-मज्झियाओ उज्जुयसमसंहियजच्चतणुकसिणणिद्ध-आइज्जलडहसुकुमालमउयसुविभत्तरोमराईओ गंगा-वत्तगपदाहिणावत्ततरंगभंगरविकिरणतरुणबोहियअकोसायंत पउमगंभीरवियडणाभी अणुब्भडपसत्थ-सुजायपीणकुच्छी सण्णयपासा सुजायपासा संगयपासा मियमाइयपीणरइयपासा अकरंडुयकणगरुयग-णिम्मलसुजायणिरुवहयगायलट्ठी कंचणकलसपमाणसमसंहियलट्ठचुचुयआमेलगजमलजुयलवट्टियपयोह-राओ भुयगअणुपुव्वतणुयगोपुच्छवट्टसमसंहियणमियआइज्जलडहबाहा तंबणहा मंसलग्गहत्था कोमल-पीवरवरंगुलिया णिद्धपाणिलेहा ससिसूरसंखचक्कवरसोत्थियविभत्तसुविरइयपाणिलेहा।

पीणुण्णयकक्खवत्थीप्पएसपडिपुण्णगलकवोला चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा मंसल-संठियपसत्थहणुया दालिमपुप्फप्पगासपीवरपलंबकुंचियवराधरा सुंदरोत्तरोट्ठा दधिदगरयकुंदचंदवा-संतिमउलअच्छिद्दविमलदसणा रत्तुप्पलपउमपत्तसुकुमालतालुजीहा कणवीरमउलअकुडिलअब्भुण्णय-उज्जुतुंगणासा सारयणवकमलकुमुयकुवलयदलणिगरसरिसलक्खणपसत्थअजिम्हकंतणयणा आणामिय-चावरुइलकिण्हब्भराइसंगयसुजायतणुकसिणद्धभुमगा अल्लीणपमाणजुत्तसवणा सुस्सवणा पीणमट्ठगंड-लेहा चउरंगुलविसालसमणिडाला कोमुइरयणियरविमलपडिपुण्णसोमवयणा छत्तुण्णयउत्तमंगा अकवि-लसुसिणिद्धदीहसिरया।

छत्त-ज्झय-जूव-थूम-दामिणि-कमंडलु-कलस-वावि-सोत्थिय-पडाग-जव-मच्छ-कुम्भ-रहवर-मकरज्झय-अंक- थाल- अंकुस-अट्ठावय- सुपइट्ठअमरसिरियाभिसेय- तोरण- मेइणि- उदहिवर- पवरभवण-गिरिवर-वरायंस-सुललियगय-उसभ-सीह-चामर-पसत्थबत्तीसलक्खणधरीओ हंससरिसगईओ कोइल-महुरगिराओ कंता सव्वस्स अणुमयाओ ववगयवलिपलितवंग [illegible] -दोहग्ग-सोयमुक्काओ

१ प्र व्या सैलाना-संस्करण पृ २२५

उच्चत्तेण य णराण थोवूणमूसियाओ सिंगारागारचारुवेसाओ सुंदरथणजहणवयणकरचरणणयणा लावण्णरूवजोव्वणगुणोववेया णंदणवणविवरचारिणीओ अच्छराओव्व उत्तरकुरुमाणुसच्छराओ अच्छेर-गपेच्छणिज्जियाओ तिण्णि य पलिओवमाइं परमाउं पालइत्ता ताओ वि उवणमंति मरणधम्मं अवितित्ता कामाणं ।

८९—उन (युगलिकों) की स्त्रियाँ भी सौम्य अर्थात् शान्त एवं सात्त्विक स्वभाव वाली होती हैं। उत्तम सर्वांगों से सुन्दर होती हैं। महिलाओं के सब प्रधान—श्रेष्ठ गुणों से युक्त होती हैं। उनके चरण—पैर अत्यन्त रमणीय, शरीर के अनुपात में उचित प्रमाण वाले अथवा चलते समय भी अतिकोमल, कच्छप के समान—उभरे हुए और मनोज्ञ होते हैं। उनकी उंगलियाँ सीधी, कोमल, पुष्ट और निश्छिद्र—एक दूसरे से सटी हुई होती हैं। उनके नाखून उन्नत, प्रसन्नताजनक, पतले, निर्मल और चमकदार होते हैं। उनकी दोनों जंघाएँ रोमों से रहित, गोलाकार श्रेष्ठ मांगलिक लक्षणों से सम्पन्न और रमणीय होती हैं। उनके घुटने सुन्दर रूप से निर्मित तथा मांसयुक्त होने के कारण निगूढ होते हैं। उनकी सन्धियाँ मांसल, प्रशस्त तथा नसों से सुबद्ध होती हैं। उनकी ऊपरी जंघाएँ—साथल कदली-स्तम्भ से भी अधिक सुन्दर आकार की, घाव आदि से रहित, सुकुमार, कोमल, अन्तररहित, समान प्रमाण वाली, सुन्दर लक्षणों से युक्त, सुजात, गोलाकार और पुष्ट होती हैं। उनकी श्रोणि—कटि अष्टापद—द्यूतविशेष खेलने के लहरदार पट्ट के समान आकार वाली, श्रेष्ठ और विस्तीर्ण होती है। वे मुख की लम्बाई के प्रमाण से अर्थात् बारह अंगुल से दुगुने अर्थात् चौबीस अंगुल विशाल, मांसल—पुष्ट, गढे हुए श्रेष्ठ जघन—कटिप्रदेश से नीचे के भाग—को धारण करने वाली होती हैं। उनका उदर वज्र के समान (मध्य में पतला) शोभायमान, शुभ लक्षणों से सम्पन्न एवं कृश होता है। उनके शरीर का मध्यभाग त्रिवलि—तीन रेखाओं से युक्त, कृश और नमित—झुका हुआ होता है। उनकी रोमराजि सीधी, एक-सी, परस्पर मिली हुई, स्वाभाविक, बारीक, काली, मुलायम, प्रशस्त, ललित, सुकुमार, कोमल और सुविभक्त—यथास्थानवर्त्ती होती है। उनकी नाभि गंगा नदी के भंवरों के समान, दक्षिणावर्त्त चक्कर वाली तरंगमाला जैसी, सूर्य की किरणों से ताजा खिले हुए और नहीं कुम्हलाए हुए कमल के समान गंभीर एवं विशाल होती है। उनकी कुक्षि अनुद्भट—नहीं उभरी हुई, प्रशस्त, सुन्दर और पुष्ट होती है। उनका पार्श्वभाग सन्नत—उचित प्रमाण में नीचे झुका, सुगठित और संगत होता है तथा प्रमाणोपेत, उचित मात्रा में रचित, पुष्ट और रतिद—प्रसन्नताप्रद होता है। उनकी गात्रयष्टि—देह पीठ की उभरी हुई अस्थि से रहित, शुद्ध स्वर्ण से निर्मित रुचक नामक आभूषण के समान निर्मल या स्वर्ण की कान्ति के समान सुगठित तथा नीरोग होती है। उनके दोनों पयोधर—स्तन स्वर्ण के दो कलशों के सदृश, प्रमाणयुक्त, उन्नत—उभरे हुए, कठोर तथा मनोहर चूची (स्तनाग्रभाग) वाले तथा गोलाकार होते हैं। उनकी भुजाएँ सर्प की आकृति सरीखी क्रमश पतली, गाय की पूँछ के समान गोलाकार, एक-सी, शिथिलता से रहित, सुनमित, सुभग एवं ललित होती हैं। उनके नाखून ताम्रवर्ण—लालिमायुक्त होते हैं। उनके अग्रहस्त—कलाई या हथेली मांसल—पुष्ट होती है। उनकी अंगुलियाँ कोमल और पुष्ट होती हैं। उनकी हस्तरेखाएँ स्निग्ध—चिकनी होती हैं तथा चन्द्रमा, सूर्य, शंख, चक्र एवं स्वस्तिक के चिह्नों से अंकित एवं सुनिर्मित होती हैं। उनकी कांख और मलोत्सर्गस्थान पुष्ट तथा उन्नत होते हैं एवं कपोल परिपूर्ण तथा गोलाकार होते हैं। उनकी ग्रीवा चार अंगुल प्रमाण वाली एवं उत्तम शंख जैसी होती है। उनकी ठुड्डी मांस से पुष्ट, सुस्थिर तथा प्रशस्त होती है। उनके अधरोष्ठ—नीचे के होठ अनार के खिले फूल जैसे लाल, कान्तिमय, पुष्ट, कुछ

लम्बे, कुचित—सिकुडे हुए और उत्तम होते है । उनके उत्तरोष्ठ—ऊपर वाले होठ भी सुन्दर होते हैं । उनके दात दही, पत्ते पर पडी बूद, कुन्द के फूल, चन्द्रमा एव चमेली की कली के समान श्वेत वर्ण, अन्तररहित—एक दूसरे से सटे हुए और उज्ज्वल होते है। वे रक्तोत्पल के समान लाल तथा कमलपत्र के सदृश कोमल तालु और जिह्वा वाली होती है। उनकी नासिका कनेर की कली के समान, वक्रता से रहित, आगे से ऊपर उठी, सीधी और ऊँची होती है । उनके नेत्र शरद्ऋतु के सूर्य-विकासी नवीन कमल, चन्द्रविकासी कुमुद तथा कुवलय—नील कमल के पत्तो के समूह के समान, शुभ लक्षणो से प्रशस्त, कुटिलता (तिर्छेपन) से रहित और कमनीय होते है । उनकी भोहे किंचित् नमाये हुए धनुष के समान मनोहर, कृष्णवर्ण अभ्रराजि—मेघमाला के समान सुन्दर, पतली, काला और चिकनी होती है । उनके कान सटे हुए और समुचित प्रमाण से युक्त होते है । उनके कानो की श्रवणशक्ति अच्छी होती है । उनकी कपोलरेखा पुष्ट, साफ और चिकनी होती है । उनका ललाट चार अगुल विस्तीर्ण और सम होता है । उनका मुख चन्द्रिकायुक्त निर्मल एव परिपूर्ण चन्द्रमा के समान गोलाकार एव सौम्य होता है । उनका मस्तक छत्र के सदृश उन्नत—उभरा हुआ होता है । उनके मस्तक के केश काले, चिकने और लम्बे-लम्बे होते है । वे निम्नलिखित उत्तम वत्तीस लक्षणो से सम्पन्न होती है—

(१) छत्र (२) ध्वजा (३) यज्ञस्तम्भ (४) स्तूप (५) दामिनी—माला (६) कमण्डलु (७) कलश (८) वापी (९) स्वस्तिक (१०) पताका (११) यव (१२) मत्स्य (१३) कच्छप (१४) प्रधान रथ (१५) मकरध्वज (कामदेव) (१६) वज्र (१७) थाल (१८) अकुश (१९) अष्टापद —जुआ खेलने का पट्ट या वस्त्र (२०) स्थापनिका—ठवणी या ऊँचे पैदे वाला प्याला (२१) देव (२२) लक्ष्मी का अभिषेक (२३) तोरण (२४) पृथ्वी (२५) समुद्र (२६) श्रेष्ठ भवन (२७) श्रेष्ठ पर्वत (२८) उत्तम दपण (२९) क्रीडा करता हुआ हाथी (३०) वृषभ (३१) सिंह और (३२) चमर ।

उनकी चाल हस जैसी और वाणी कोकिला के स्वर की तरह मधुर होती है। वे कमनीय कान्ति से युक्त और सभी को प्रिय लगती हैं । उनके शरीर पर न झुर्रियाँ पडती है, न उनके वाल सफेद होते है, न उनमे अगहीनता होती है, न कुरूपता होती है । वे व्याधि, दुर्भाग्य—सुहाग-हीनता एव शोक-चिन्ता से (आजीवन) मुक्त रहती हैं । ऊँचाई मे पुरुषो से कुछ कम ऊँची होती है । शृ गार के आगार के समान और सुन्दर वेश-भूषा से सुशोभित होती है । उनके स्तन, जघन, मुख—चेहरा, हाथ, पाँव और नेत्र—सभी कुछ अत्यन्त सुन्दर होते है । लावण्य—सौन्दर्य, रूप और यौवन के गुणो से सम्पन्न होती है । वे नन्दन वन मे विहार करने वाली अप्सराओ सरीखी उत्तरकुरु क्षेत्र की मानवी अप्सराएँ होती है । वे आश्चर्यपूर्वक दर्शनीय होती है, अर्थात् उन्हे देखकर उनके अद्‌भुत सौन्दर्य पर आश्चर्य होना है कि मानवी मे भी इतना अपार सौन्दर्य सभव है । वे तीन पल्योपम की उत्कृष्ट—अधिक से अधिक मनुष्यायु को भोग कर भी—तीन पल्योपम जितने दीर्घ काल तक इष्ट एव उत्कृष्ट मानवीय भोगोपभोगो का उपभोग करके भी कामभोगो से तृप्त नही हो पाती और अतृप्त रह कर ही कालधर्म—मृत्यु को प्राप्त होती हैं ।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे भोगभूमि की महिलाओ का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस वर्णन मे उनके शरीर का आ-नख-शिख वर्णन समाविष्ट हो गया है । उनके पैरो, अगुलियो, नाखूनो जघाओ, घुटनो आदि से लेकर मस्तक के केशो तक का पृथक्-पृथक् वर्णन है, जो विविध उपमाओ से अलकृत है । इस शारीरिक सौन्दर्य के निरूपण के साथ ही उनकी हस-सदृश गति और कोकिला

सदृशी मधुर वाणी का भी कथन किया गया हे। यह भी प्रतिपादन किया गया है कि वे सदा रोग और शोक से मुक्त, सदा सुहाग से सम्पन्न और सुखमय जीवन यापन करती है।

यह सब उनके वाह्य सौन्दर्य का प्रदर्शक है। उनकी आन्तरिक प्रकृति के विपय मे यहाँ कोई उल्लेख नही है। इसका कारण यह है कि इससे पूर्व भोगभूमिज पुरुपो के वर्णन मे जो प्रतिपादन किया जा चुका है, वह यहाँ भी समझ लेना है। तात्पर्य यह है कि वहाँ के मानव-पुरुप जैसे अल्पकपाय एव सात्त्विक स्वभाव वाले होते है वैसे ही वहाँ की महिलाएँ भी होती हे। जैसे पुरुप पूर्णतया निसर्ग-जीवी होते है वैसे ही नारियाँ भी सर्वथा निसर्ग—निर्भर होती है। प्रकृतिजीवी होने के कारण उनका समग्र शरीर सुन्दर होता है, नीरोग रहता है और अन्त तक उन्हे वार्धक्य की विडम्वना नही भुगतनी पडती। उन्हे सौन्दर्यवर्धन के लिए आधुनिक काल मे प्रचलित अजन, मजन, पाउडर, नख-पालिस आदि वस्तुओ का उपयोग नही करना पडता और न ऐसी वस्तुओ का अस्तित्व वहाँ होता है। अभिप्राय यह है कि अकर्मभूमि की महिलाएँ तीन पल्योपम तक जीवित रहती है। यह जीवनमर्यादा मनुष्यो के लिए अधिकतम है। इससे अधिक काल का आयुष्य मनुष्य का असम्भव है। इतने लम्बे समय तक उनका यौवन अक्षुण्ण रहता है। उन्हे बुढापा आता नही। जीवन-पर्यन्त वे आनन्द, भोग-विलास मे मग्न रहती है। फिर भी अन्त मे भोगो से अतृप्त रह कर ही मरण को प्राप्त होती हैं। इसका कारण पूर्व मे ही लिखा जा चुका है कि जैसे ईंधन से आग की भूख नही मिटती, उसी प्रकार भोगोपभोगो को भोगने से भोगतृष्णा शान्त नही होती—प्रत्युत अधिकाधिक वृद्धिगत ही होती जाती है। अतएव भोगतृष्णा को शान्त करने के लिए भोग-विरति की शरण लेना ही एक मात्र सदुपाय है।

परस्त्री मे लुब्ध जीवो की दुर्दशा—

९०—मेहुणसण्णासपगिद्धा य मोहभरिया सत्थेहि हणंति एक्कमेक्कं।

विसयविसउदीरएसु अवरे परदारेहिं हम्मति विसुणिया धणणास सयणविप्पणास य पाउणंति।

परस्स दाराओ जे अविरया मेहुणसण्णासपगिद्धा य मोहभरिया अस्सा हत्थी गवा य महिसा मिगा य मारेंति एक्कमेक्कं।

मणुयगणा वाणरा य पक्खी य विरुज्झति, मित्ताणि खिप्पं हवंति सत्तू।

समए धम्मे गणे य भिंदति पारदारी।

धम्मगुणरया य बंभयारी खणेण उल्लोट्टए चरित्ताओ।

जसमंतो सुव्वया य पावेंति अयसकित्तिं।

रोगत्ता वाहिया पवड्ढेंति रोगवाही।

दुवे य लोया दुआराहगा हवंति-इहलोए चेव परलोए परस्स दाराओ जे अविरया।

तहेव केइ परस्स दारं गवेसमाणा गहिया य हया य बद्धरुद्धा य एवं जाव गच्छंति विउलमोहाभिभूयसण्णा।

९०—जो मनुष्य मैथुनसज्ञा मे अर्थात् मैथुन सेवन की वासना मे अत्यन्त आसक्त है और मोहभृत अर्थात् मूढता अथवा कामवासना से भरे हुए हैं, वे आपस मे एक दूसरे का शस्त्रो से घात करते हैं।

कोई-कोई विषयरूपी विष की उदीरणा करने वाली—वढाने वाली परकीय स्त्रियो मे प्रवृत्त होकर अथवा विपय-विष के वशीभूत होकर परस्त्रियो मे प्रवृत्त होकर दूसरो के द्वारा मारे जाते है। जव उनकी परस्त्रीलम्पटता प्रकट हो जाती है तव (राजा या राज्य-शासन द्वारा) धन का विनाश और स्वजनो—आत्मीय जनो का सर्वथा नाश प्राप्त करते है, अर्थात् उनकी सम्पत्ति और कुटुम्व का नाश हो जाता है।

जो परस्त्रियो से विरत नही है और मैथुनसवन की वासना मे अतीव आसक्त है और मूढता या मोह से भरपूर है, ऐसे घोडे, हाथी, वैल, भैंसे और मृग—वन्य पशु परस्पर लड कर एक-दूसरे को मार डालते है।

मनुष्यगण, वन्दर और पक्षीगण भी मैथुनसज्ञा के कारण परस्पर विरोधी वन जाते है।

मित्र शीघ्र ही शत्रु वन जाते है।

परस्त्रीगामी पुरुष समय-सिद्धान्तो या शपथो को, अहिसा, सत्य आदि धर्मो को तथा गण—समान आचार-विचार वाले समूह को या समाज की मर्यादाओ को भग कर देते है, अर्थात् धार्मिक एव सामाजिक मर्यादाओ का लोप कर देते है। यहाँ तक कि धर्म और सयमादि गुणो मे निरत ब्रह्मचारी पुरुप भी मैथुनसज्ञा के वशीभूत होकर क्षण भर मे चारित्र—सयम से भ्रष्ट हो जाते है।

वडे-वडे यशस्वी और व्रतो का समीचीन रूप से पालन करने वाले भी अपयश और अपकीर्त्ति के भागी वन जाते है।

ज्वर आदि रोगो से ग्रस्त तथा कोढ आदि व्याधियो से पीडित प्राणी मैथुनसज्ञा की तीव्रता की वदौलत रोग और व्याधि की अधिक वृद्धि कर लेते है, अर्थात् मैथुन—सेवन की अधिकता रोगो को और व्याधियो को वढावा देती है।

जो मनुष्य परस्त्री से विरत नही है, वे दोनो लोको मे, इहलोक और परलोक मे दुराराधक होते हैं, अर्थात् इहलोक मे और परलोक मे भी आराधना करना उनके लिए कठिन है।

इसी प्रकार परस्त्री की फिराक—तलाश-खोज मे रहने वाले कोई-कोई मनुष्य जव पकडे जाते है तो पीटे जाते है, वन्धनबद्ध किए जाते है और कारागार मे वद कर दिए जाते है।

इस प्रकार जिनकी बुद्धि तीव्र मोह या मोहनीय कर्म के उदय से नष्ट हो जाती है, वे यावत्[1] अधोगति को प्राप्त होते है।

विवेचन—मूल पाठ मे सामान्यतया मैथुनसज्ञा से उत्पन्न होने वाले अनेक अनर्थो का उल्लेख किया गया है और विशेष रूप से परस्त्रीगमन के दुष्परिणाम प्रकट किए गए है।

मानव के मन मे जब तीव्र मैथुनसज्ञा—कामवासना उभरती है तब उसकी मति विपरीत हो जाती है और उसका विवेक—कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यवोध विलीन हो जाता है। वह अपने हिताहित का, भविष्य मे होने वाले भयानक परिणामो का सम्यक् विचार करने मे असमर्थ बन जाता है। इसी कारण उसे विषयान्ध कहा जाता है। उस समय वह अपने यश, कुल, शील आदि का तनिक भी विचार नही कर सकता। कहा है—

---

१ यावत्' शब्द से यहाँ तृतीय आस्रवद्वार का 'गहिया य हया य बद्ध रुद्धा य' यहाँ से आगे 'निरये गच्छति निरभिरामे' यहाँ तक का पाठ समझ लेना चाहिए। —अभय टीका पृ ८६

धर्म शील कुलाचार, शौर्य स्नेहञ्च मानवा ।
तावदेव ह्यपेक्षन्ते, यावन्न स्त्रीवशो भवेत् ।।

अर्थात् मनुष्य अपने धर्म की, अपने शील की, शौर्य और स्नेह की तभी तक परवाह करते है, जब तक वे स्त्री के वशीभूत नही होते ।

सूत्र मे 'विषयविसस्स उदीरएसु' कह कर स्त्रियो को विपय रूपी विप की उदीरणा या उद्रेक करने वाली कहा गया है । यही कथन पुरुषवर्ग पर भी समान रूप से लागू होता है, अर्थात् पुरुष, स्त्रीजनो मे विषय-विष का उद्रेक करने वाले होते है । इस कथन का अभिप्राय यह है कि जैसे स्त्री के दर्शन, सान्निध्य, सस्पर्श आदि से पुरुष मे काम-वासना का उद्रेक होता है, उसी प्रकार पुरुप के दर्शन, सान्निध्य आदि से स्त्रियो मे वासना की उदीरणा होती है । स्त्री और पुरुष दोनो ही एक-दूसरे की वासनावृद्धि मे वाह्य निमित्तकारण होते हैं । उपादानकारण पुरुप की या स्त्री की आत्मा स्वय ही है । अन्तरग निमित्तकारण वेदमोहनीय आदि का उदय है तथा वहिरग निमित्तकारण स्त्री-पुरुष के शरीर आदि है । बाह्य निमित्त मिलने पर वेद-मोहनीय की उदीरणा होती है । मैथुन-सज्ञा की उत्पत्ति के कारण वतलाते हुए कहा गया है—

पणीदरसभोयणेण य तस्सुवजोगे कुसीलसेवाए ।
वेदस्सुदीरणाए, मेहुणसण्णा हवदि एव ।।

अर्थात् इन्द्रियो को उत्तेजित करने वाले गरिष्ठ रसीले भोजन से, पहले सेवन किये गए विपय-सेवन का स्मरण करने से, कुशील के सेवन से और वेद-मोहनीयकर्म की उदीरणा से मैथुनसज्ञा उत्पन्न होती है ।

इसी कारण मैथुनसज्ञा के उद्रेक से बचने के लिए ब्रह्मचर्य की नौ वाडो का विधान किया है ।

सूत्र मे 'गण' शब्द का प्रयोग 'समाज' के अर्थ मे किया गया है । मानवो का वह समूह गण कहलाता है जिनका आचार-विचार और रहन-सहन समान होता है । परस्त्रीलम्पट पुरुप समाज की उपयोगी और लाभकारी मर्यादाओ को भग कर देता है । वह शास्त्राज्ञा की परवाह नही करता, धर्म का विचार नही करता तथा शील और सदाचार को एक किनारे रख देता है । ऐसा करके वह सामाजिक शान्ति को ही भग नही करता, किन्तु अपने जीवन को भी दु खमय बना लेता है । वह नाना व्याधियो से ग्रस्त हो जाता है, अपयश का पात्र वनता है, निन्दनीय होता है और परलोक मे भव-भवान्तर तक घोर यातनाओ का पात्र बनता है । चोरी के फल-विपाक के समान अब्रह्म का फलविपाक भी यहाँ जान लेना चाहिए ।

अब्रह्मचर्य का दुष्परिणाम—

९१—मेहुणमूल य सुव्वए तत्थ तत्थ वत्तपुव्वा सगामा जणक्खयकरा सीयाए, दोवईए कए, रुप्पिणीए, पउमावईए, ताराए, कचणाए, रत्तसुभद्दाए, अहिल्लियाए, सुवण्णगुलियाए, किण्णरीए,

सुरूवविज्जुमईए, रोहिणीए[1] य, अण्णेसु य एवमाइएसु बहवे महिलाकएसु सुव्वंति अइक्कता सगामा गामधम्ममूला अबभसेविणो[2] ।

इहलोए ताव णट्ठा[3], परलोए वि य णट्ठा महया मोहतिमिसधयारे घोरे तसथावरसुहुमबायरेसु पज्जत्तमपज्जत्त-साहारणसरीरपत्तेयसरीरेसु य अडय-पोयय-जराउय-रसय-ससेइम-सम्मुच्छिम-उब्भिय-उववाइएसु य णरय-तिरिय-देव-माणुसेसु जरामरणरोगसोगबहुले पलिओवमसागरोवमाइ अणाईय अणवदग्ग दीहमद्ध चाउरत-ससार-कतार अणुपरियट्टंति जीवा मोहवससण्णिविट्ठा ।

९१—सीता के लिए, द्रौपदी के लिए, रुक्मिणी के लिए, पद्मावती के लिए, तारा के लिए, काञ्चना के लिए, रक्तसुभद्रा के लिए, अहिल्या के लिए, स्वर्णगुटिका के लिए, किन्नरी के लिए, सुरूपविद्युन्मती के लिए और रोहिणी के लिए पूर्वकाल मे मनुष्यो का सहार करने वाले विभिन्न ग्रन्थो मे वर्णित जो सग्राम हुए सुने जाते है, उनका मूल कारण मैथुन ही था—मैथुन सम्बन्धी वासना के कारण ये सब महायुद्ध हुए है । इनके अतिरिक्त महिलाओ के निमित्त से अन्य सग्राम भी हुए है, जो अब्रह्ममूलक थे ।

अब्रह्म का सेवन करने वाले इस लोक मे तो नष्ट होते ही है, वे परलोक मे भी नष्ट होते है ।

मोहवशीभूत प्राणी पर्याप्त और अपर्याप्त, साधारण और प्रत्येकशरीरी जीवो मे, अण्डज (अडे से उत्पन्न होने वाले), पोतज, जरायुज, रसज, सस्वेदिम, उद्भिज्ज और औपपातिक जीवो मे, इस प्रकार नरक, तिर्यच, देव और मनुष्यगति के जीवो मे, अर्थात् जरा, मरण, रोग और शोक की बहुलता वाले, महामोहरूपी अधकार से व्याप्त एव घोर-दारुण परलोक मे अनेक पल्योपमो एव सागरोपमो जितने सुदीर्घ काल पर्यन्त नष्ट-विनष्ट होते रहते है—वर्बाद होते रहते है—दारुण दशा भोगते है तथा अनादि और अनन्त, दीर्घ मार्ग वाले और चार गति वाले ससार रूपी अटवी मे बार-बार परिभ्रमण करते रहते है ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे प्राचीनकाल मे स्त्रियो के निमित्त हुए सग्रामो का उल्लेख करते हुए सीता, द्रौपदी आदि के नामो का निर्देश किया गया है । किन्तु इनके अतिरिक्त भी सैकडो अन्य उदाहरण इतिहास मे विद्यमान है । परस्त्रीलम्पटता के कारण आए दिन होने वाली हत्याओ के समाचार आज भी वृत्तपत्रो मे अनायास ही पढने को मिलते रहते है ।

परस्त्रीगमन वास्तव मे अत्यन्त अनर्थकारी पाप है । इसके कारण परस्त्रीगामी की आत्मा कलुषित होती है और उसका वर्त्तमान भव ही नही, भविष्य भी अतिशय दु ख पूर्ण बन जाता है । साथ ही अन्य निरपराध सहस्रो ही नही, लाखो और कभी-कभी करोडो मनुष्यो को अपने प्राणो से हाथ धोना पडता है । रुधिर की नदियाँ बहती है । देश को भारी क्षति सहनी पडती है । अतएव यह पाप बडा ही दारुण है । सूत्र मे निर्दिष्ट नामो से सबद्ध कथाएँ परिशिष्ट मे देखिये ।

---

१ "रोहिणीए" पाठ ज्ञानविमलसूरि वाली प्रति मे नही है, परन्तु टीका मे उसका चरित दिया है । लगता है कि भूल से छूट गया है ।

२ यहाँ "अवभसेविणो"—पाठ श्री ज्ञानविमलसूरि वाली प्रति मे अधिक है ।

३ "ताव णट्ठा" के स्थान पर 'णट्ठकित्ती' पाठ भी है ।

सूत्र मे उल्लिखित ससारी जीवो के कतिपय भेद-प्रभेदो का अर्थ इस प्रकार है—

जन्म-मरण के चक्र मे फँसे हुए जीव ससारी कहलाते है। जिन्हे मुक्ति प्राप्त नही हुई है वे जीव सदैव जन्म-मरण करते रहते है। ऐसे अनन्तानन्त जीव है। वे मुख्यत दो भागो मे विभक्त किये गये है—त्रस और स्थावर। केवल एक स्पर्शेन्द्रिय जिन्हे प्राप्त है ऐसे पृथ्वीकायिक, अप्कायिक आदि जीव स्थावर कहे जाते है और द्वीन्द्रियो से लेकर पचेन्द्रियो तक के प्राणी त्रस है। इन ससारी जीवो का जन्म तीन प्रकार का है—गर्भ, उपपात और सम्मूर्च्छन। गर्भ से अर्थात् माता-पिता के रज और वीर्य के सयोग से जन्म लेने वाले प्राणी गर्भज कहलाते हैं।

गर्भज जीवो के तीन प्रकार है—जरायुज, अण्डज और पोतज। गर्भ को लपेटने वाली थैली—पतली झिल्ली जरायु कहलाती है और जरायु से लिपटे हुए जो मनुष्य, पशु आदि जन्म लेते है, वे जरायुज कहे जाते है। पक्षी और सर्पादि जो प्राणी अडे द्वारा जन्म लेते है, उन्हे अण्डज कहते है। जो जरायु आदि के आवरण से रहित है, वह पोत कहलाता है। उससे जन्म लेने वाले पोतज प्राणी कहलाते हैं। ये पोतज प्राणी गर्भ से बाहर आते ही चलने-फिरने लगते है। हाथी, हिरण आदि इस वर्ग के प्राणी है।

देवो और नारक जीवो के जन्म के स्थान उपपात कहलाते है। उन स्थानो मे उत्पन्न होने के कारण उन्हे औपपातिक कहते है।

गर्भज और औपपातिक जीवो के अतिरिक्त शेष जीव सम्मूर्च्छिम कहलाते है। इधर-उधर के पुद्गलो के मिलने से गर्भ के विना ही उनका जन्म हो जाता है। विच्छू, मेढक, कीडे-मकोडे आदि प्राणी इसी कोटि मे परिगणित है। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के सभी जीव सम्मूर्च्छिम होते है। मनुष्यो के मल-मूत्र आदि मे उत्पन्न होने वाले मानवरूप जीवाणु भी सम्मूर्च्छिम होते है।

सम्मूर्च्छिम जन्म से उत्पन्न होने वाले जीव कोई स्वेदज, कोई रसज और कोई उद्भिज्ज होते है। स्वेद अर्थात् पसीने से उत्पन्न होने वाले जू आदि स्वेदज है। दूध, दही आदि रसो मे उत्पन्न हो जाने वाले रसज और पृथ्वी को फोड कर उत्पन्न होने वाले उद्भिज्ज कहलाते है।

पर्याप्ति का शब्दार्थ है पूर्णता। जीव जब नया जन्म धारण करता है तो उसे नये सिरे से शरीर, इन्द्रिय आदि के निर्माण की शक्ति—क्षमता प्राप्त करनी पडती है। इस शक्ति की पूर्णता को जैन परिभाषा के अनुसार पर्याप्ति कहते है। इसे प्राप्त करने मे अन्तर्मुहूर्त्त (४८ मिनट के अन्दर-अन्दर) का समय लगता है। जिस जीव की यह शक्ति पूर्णता पर पहुँच गई हो, वह पर्याप्त और जिसकी पूर्णता पर न पहुँच पाई हो, वह अपर्याप्त कहलाता है। ये अपर्याप्त जीव भी दो प्रकार के होते हैं। एक वे जिनकी शक्ति पूर्णता पर नही पहुँची किन्तु पहुँचने वाली है वे करण—अपर्याप्त कहलाते है। कुछ ऐसे भी जीव होते है जिनकी शक्ति पूर्णता को प्राप्त नही हुई है और होने वाली भी नही है। वह लब्ध्यपर्याप्त कहलाते है। ऐसे जीव अपने योग्य पर्याप्तियो को पूर्ण किए विना ही पुन मृत्यु को प्राप्त हो जाते है।

कुल पर्याप्तियाँ छह है। उनमे से आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति और श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति—ये चार एकेन्द्रिय जीवो मे, भाषापर्याप्ति के साथ पाँच पर्याप्तियाँ द्वीन्द्रियो से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय तक के जीवो मे और मन सहित छहो पर्याप्तियाँ सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो मे होती है।

सूत्र मे साधारण और प्रत्येकशरीरी जीवो का भी उल्लेख आया है। ये दोनो भेद वनस्पति-कायिक जीवो के है। जिस वनस्पति के एक शरीर के स्वामी अनन्त जीव हो, वे साधारण जीव कहलाते है और जिस वनस्पति के एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो, वह जीव प्रत्येकशरीर कहलाता है।

आशय यह है कि जो प्राणी अब्रह्म के पाप से विरत नही होते, उन्हे दीर्घकाल पर्यन्त जन्म-जरा-मरण की तथा अन्य अनेक प्रकार की भीषण एव दुस्सह यातनाओ का भागी वनना पडता है।

९२—एसो सो अबभस्स फलविवागो इहलोइओ परलोइओ य अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहि मुच्चइ, ण य अवेयइत्ता अत्थि हु मोक्खोत्ति, एवमाहसु णायकुलणदणो महप्पा जिणो उ वीरवरणामधिज्जो कहेसी य अबभस्स फलविवाग एय। त अबभवि चउत्थ सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स पत्थणिज्ज एव चिरपरिचियमणुगय दुरत। त्तिबेमि।

॥ चउत्थं अहम्मदार समत्त ॥

९२—अब्रह्म रूप अधर्म का यह इहलोकसम्बन्धी और परलोकसम्बन्धी फल-विपाक है। यह अल्पसुख—सुख से रहित अथवा लेशमात्र सुख वाला किन्तु वहुत दु खो वाला है। यह फल-विपाक अत्यन्त भयकर है और अत्यधिक पाप-रज से सयुक्त है। बडा ही दारुण और कठोर है। असाता का जनक है—असातामय है। हजारो वर्षो मे अर्थात् बहुत दीर्घकाल के पश्चात् इससे छुटकारा मिलता है, किन्तु इसे भोगे विना छुटकारा नही मिलता—भोगना ही पडता है। ऐसा ज्ञातकुल के नन्दन वीरवर—महावीर नामक महात्मा, जिनेन्द्र-तीर्थकर ने कहा है और अब्रह्म का फल-विपाक प्रतिपादित किया है।

यह चौथा आस्रव अब्रह्म भी देवता, मनुष्य और असुर सहित समस्त लोक के प्राणियो द्वारा प्रार्थनीय—अभीप्सित है। इसी प्रकार यह चिरकाल से परिचित—अभ्यस्त, अनुगत—पीछे लगा हुआ और दुरन्त है—दु खप्रद है अथवा बडी कठिनाई से इसका अन्त आता है।

विवेचन—चतुर्थ आस्रवद्वार का उपसहार करते हुए सूत्रकार ने अब्रह्म के फल को अतिशय दु खजनक, नाममात्र का—कल्पनामात्र जनित सुख का कारण बतलाते हुए कहा है कि यह आस्रव सभी ससारी जीवो के पीछे लगा है, चिरकाल से जुडा है। इसका अन्त करना कठिन है, अर्थात् इसका अन्त तो अवश्य हो सकता है किन्तु उसके लिए उत्कट सयम-साधना अनिवार्य है।

अब्रह्म के समग्र वर्णन एव फलविपाक के कथन की प्रामाणिकता प्रदर्शित करने के लिए यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अर्थ रूप मे इसके मूल प्रवक्ता भगवान् महावीर जिनेन्द्र है।

□□

पञ्चम अध्ययन : परिग्रह

परिग्रह का स्वरूप

९३—जंबू ! इत्तो परिग्गहो पंचमो उ णियमा णाणामणि-कणग-रयण-महरिहपरिमलसपुत्त-दार-परिजण-दासी-दास-भयग-पेस-हय-गय-गो-महिस-उट्ट-खर-अय-गवेलग-सीया-सगड-रह-जाण-जुग्ग-संदण-सयणासण-वाहण-कुविय-धणधण्ण-पाण-भोयणाच्छायण-गंध-मल्ल-भायण-भवणविहिं चेव बहु-विहीयं।

भरहं णग-णगर-णिगम-जणवय-पुरवर-दोणमुह-खेड-कब्बड-मडंब-संबाह-पट्टण-सहस्स-परि-मंडियं।

थिमियमेइणीयं एगच्छत्तं ससागरं भुंजिऊण वसुहं, अपरिमियमणंत-तण्ह-मणुगय-महिच्छ-सारणिरयमूलो, लोहकलिकसायमहक्खंधो, चितासयणिचियविउलसालो, गारवपविरल्लियग्गविडवो, णियडि-तयापत्तपल्लवधरो पुप्फफलं जस्स कामभोगा, आयासविसूरणा कलह-पकंपियग्गसिहरो।

णरवईसंपूइओ बहुजणस्स हिययदइओ इमस्स मोक्खवरमोत्तिमग्गस्स फलिहभूओ।

चरिमं अहम्मदारं।

९३—श्री सुधर्मा स्वामी ने अपने प्रधान शिष्य जम्बू स्वामी से कहा—हे जम्बू ! चौथे अब्रह्म नामक आस्रवद्वार के अनन्तर यह पाँचवाँ परिग्रह (आस्रव) है। (इस परिग्रह का स्वरूप इस प्रकार है—)

अनेक मणियों, स्वर्ण, कर्केतन आदि रत्नों, बहुमूल्य सुगंधमय पदार्थ, पुत्र और पत्नी समेत परिवार, दासी-दास, भृतक—काम करने वाले नौकर-चाकर, प्रेष्य—किसी कार्य के लिए भेजने योग्य कर्मचारी, घोड़े, हाथी, गाय, भैंस, ऊंट, गधा, बकरा और गवेलक (एक विशिष्ट जाति के बकरे, भेड़ों), शिविका—पालकी, शकट-गाडी—छकड़ा, रथ, यान, युग्य—दो हाथ लम्बी विशेष प्रकार की सवारी, स्यन्दन—क्रीडारथ, शयन, आसन, वाहन तथा कुप्य—घर के उपयोग में आने वाला विविध प्रकार का सामान, धन, धान्य—गेहूँ, चावल आदि, पेय पदार्थ, भोजन—भोज्य वस्तु, आच्छादन—पहनने-ओढने के वस्त्र, गन्ध—कपूर आदि, माला—फूलों की माला, वर्तन-भांडे तथा भवन आदि के अनेक प्रकार के विधानों को (भोग लेने पर भी)—

और हजारों पर्वतों, नगरों (कर-रहित बस्तियों), निगमों (व्यापारप्रधान मंडियों), जनपदों (देशों या प्रदेशों), महानगरों, द्रोणमुखों (जलमार्ग और स्थलमार्ग से जुड़े नगरों), खेट (चारों ओर धूल के कोट वाली बस्तियों), कर्बटों—छोटे नगरों—कस्बों, मडंबों—जिनके आसपास अढाई-अढाई कोस तक बस्ती न हो ऐसी बस्तियों, संबाहों तथा पत्तनों—जहाँ नाना प्रदेशों से वस्तुएँ खरीदने के लिए लोग आते हैं अथवा जहाँ रत्नों आदि का विशेष रूप से व्यापार होता हो ऐसे बड़े नगरों से सुशोभित भरतक्षेत्र—भारतवर्ष को भोग कर भी अर्थात् सम्पूर्ण भारतवर्ष का आधिपत्य भोग लेने पर भी, तथा—

जहाँ के निवासी निर्भय निवास करते है ऐसी सागरपर्यन्त पृथ्वी को एकच्छत्र—अखण्ड राज्य करके भोगने पर भी (परिग्रह से तृप्ति नही होती)।

(परिग्रह वृक्ष सरीखा है। उस का वर्णन इस प्रकार है—)

कभी और कही जिसका अन्त नही आता ऐसी अपरिमित एव अनन्त तृष्णा रूप महती इच्छा ही अक्षय एव अशुभ फल वाले इस वृक्ष के मूल है। लोभ, कलि-कलह-लडाई-झगडा और क्रोधादि कषाय इसके महास्कन्ध है। चिन्ता, मानसिक सन्ताप आदि की अधिकता से अथवा निरन्तर उत्पन्न होने वाली सैकडो चिन्ताओ से यह विस्तीर्ण शाखाओ वाला है। ऋद्धि, रस और साता रूप गौरव ही इसके विस्तीर्ण शाखाग्र—शाखाओ के अग्रभाग है। निकृति—दूसरो को ठगने के लिए की जाने वाली वचना—ठगाई या कपट ही इस वृक्ष के त्वचा—छाल, पत्र और पुष्प है। इनको यह धारण करने वाला है। काम-भोग ही इस वृक्ष के पुष्प और फल है। शारीरिक श्रम, मानसिक खेद और कलह ही इसका कम्पायमान अग्रशिखर—ऊपरी भाग है।

यह परिग्रह (रूप आस्रव—अधर्म) राजा-महाराजाओ द्वारा सम्मानित है, बहुत—अधिकाश लोगो का हृदय-वल्लभ—अत्यन्त प्यारा है और मोक्ष के निर्लोभता रूप मार्ग के लिए अर्गला के समान है, अर्थात् मुक्ति का उपाय निर्लोभता—अकिंचनता-ममत्वहीनता है और परिग्रह उसका बाधक है।

यह अन्तिम अधर्मद्वार है।

विवेचन—चौथे अब्रह्म नामक आस्रवद्वार का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के पश्चात् सूत्रकार ने परिग्रह नामक पाँचवे आस्रवद्वार का निरूपण किया है। जैनागमो मे आस्रवद्वारो का सर्वत्र यही क्रम प्रचलित है। इसी क्रम का यहाँ अनुसरण किया गया है। अब्रह्म के साथ परिग्रह का सम्बन्ध बतलाते हुए श्री अभयदेवसूरि ने अपनी टीका मे लिखा है—परिग्रह के होने पर ही अब्रह्म आस्रव होता है, अतएव अब्रह्म के अनन्तर परिग्रह का निरूपण किया गया है।[1]

सूत्रकार ने मूल पाठ मे **'परिग्गहो पचमो'** कहकर इसे पाँचवाँ बतलाया है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि सूत्रक्रम की अपेक्षा से ही इसे पाँचवाँ कहा है, किसी अन्य अपेक्षा से नही।[2]

सूत्र का आशय सुगम है। विस्तृत विवेचन की आवश्यकता नही है। भावार्थ इतना ही है कि नाना प्रकार की मणियो, रत्नो, स्वर्ण आदि मूल्यवान् अचेतन वस्तुओ का, हाथी, अश्व, दास-दासियो, नौकर-चाकरो आदि का, रथ-पालकी आदि सवारियो का, नग (पर्वत) नगर आदि से युक्त समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण भरतक्षेत्र का, यहाँ तक कि सम्पूर्ण पृथ्वी के अखण्ड साम्राज्य का उपभोग कर लेने पर भी मनुष्य की तृष्णा शान्त नही होती है। 'जहा लाहो तहा लोहो' अर्थात् ज्यो-ज्यो लाभ होता जाता है, त्यो-त्यो लोभ अधिकाधिक बढता जाता है। वस्तुत लाभ लोभ का वर्धक है। अतएव परिग्रह की वृद्धि करके जो सन्तोष प्राप्त करना चाहते है, वे आग मे घी होम कर उसे बुझाने का प्रयत्न करना चाहते हैं। यदि घृताहुति से अग्नि बुझ नही सकती, अधिकाधिक ही प्रज्वलित होती है तो परिग्रह की

१ अभय टीका, पृ ९१ (पूर्वार्ध)

२ अभय टीका, पृ ९१ (उत्तरार्ध)

वृद्धि से सन्तुष्टि प्राप्त होना भी असभव है। लोभ को शान्त करने का एक मात्र उपाय है शौच—निर्लोभता-मुक्ति धर्म का आचरण। जो महामानव अपने मानस मे सन्तोषवृत्ति को परिपुष्ट कर लेते है, तृष्णा-लोभ-लालसा से विरत हो जाते है वे ही परिग्रह के पिशाच से मुक्ति प्राप्त कर सकते है।

परिग्रह के गुणनिष्पन्न नाम—

९४—तस्स य णामाणि गोण्णाणि होंति तीस, त जहा—१ परिग्गहो २ सचयो ३ चयो ४ उवचयो ५ णिहाणं ६ सभारो ७ सकरो ८ आयरो ९ पिडो १० दव्वसारो ११ तहा महिच्छा १२ पडिबधो १३ लोहप्पा १४ महद्दी १५ उवकरण १६ सरक्खणा य १७ भारो १८ सपाउप्पायओ १९ कलिकरडो २० पवित्थरो २१ अणत्थो २२ सथवो २३ [1]अगुत्ति २४ आयासो २५ अविओगो २६ अमुत्ती २७ तण्हा २८ अणत्थओ २९ आसत्ती ३० असतोसो त्ति वि य, तस्स एयाणि एवमाईणि णामधिज्जाणि होंति तीस।

९४—उस परिग्रह नामक अधर्म के गुणनिष्पन्न अर्थात् उसके गुण-स्वरूप को प्रकट करने वाले तीस नाम है। वे नाम इस प्रकार है—

१ **परिग्रह**—शरीर, धन, धान्य आदि बाह्य पदार्थों को ममत्वभाव से ग्रहण करना।

२. **सचय**—किसी भी वस्तु को अधिक मात्रा मे ग्रहण करना।

३ **चय**—वस्तुओ को जुटाना—एकत्र करना।

४ **उपचय**—प्राप्त पदार्थों की वृद्धि करना—बढाते जाना।

५ **निधान**—धन को भूमि मे गाड कर रखना, तिजोरी मे रखना या बैक मे जमा करवा कर रखना, दबा कर रख लेना।

६ **सम्भार**—धान्य आदि वस्तुओ को अधिक मात्रा मे भर कर रखना। वस्त्र आदि को पेटियो मे भर कर रखना।

७ **सकर**—सकर का सामान्य अर्थ है—भेल-सेल करना। यहाँ इसका विशेष अभिप्राय है—मूल्यवान् पदार्थों मे अल्पमूल्य वस्तु मिला कर रखना, जिससे कोई बहुमूल्य वस्तु को जल्दी जान न सके और ग्रहण न कर ले।

८ **आदर**—पर-पदार्थों मे आदरबुद्धि रखना, शरीर, धन आदि को अत्यन्त प्रीतिभाव से सभालना-सवारना आदि।

९ **पिण्ड**—किसी पदार्थ का या विभिन्न पदार्थों का ढेर करना, उन्हे लालच से प्रेरित होकर एकत्रित करना।

१०. **द्रव्यसार**—द्रव्य अर्थात् धन को ही सारभूत समझना। धन को प्राणो से भी अधिक मानकर प्राणो को—जीवन को सकट मे डाल कर भी धन के लिए यत्नशील रहना।

---

१ श्री ज्ञानविमलीय प्रति मे २३ वाँ नाम 'अकित्ति' है और 'अगुत्ति' तथा 'आयासो' को एक ही गिना है।

११ **महेच्छा**—असीम इच्छा या असीम इच्छा का कारण ।

१२ **प्रतिबन्ध**—किसी पदार्थ के साथ बँध जाना, जकड जाना । जैसे भ्रमर सुगन्ध की लालच मे कमल को भेदन करने की शक्ति होने पर भी भेद नही सकता, कोश मे वन्द हो जाता है (और कभी-कभी मृत्यु का ग्रास वन जाता है) । इसी प्रकार स्त्री, धन आदि के मोह मे जकड जाना, उसे छोडना चाह कर भी छोड न पाना ।

१३ **लोभात्मा**—लोभ का स्वभाव, लोभरूप मनोवृत्ति ।

१४ **महद्दिका**—(**महर्धिका**)—महती आकाक्षा अथवा याचना ।

१५ **उपकरण**—जीवनोपयोगी साधन-सामग्री । वास्तविक आवश्यकता का विचार न करके ऊलजलूल—अनापसनाप साधनसामग्री एकत्र करना ।

१६ **सरक्षणा**—प्राप्त पदार्थो का आसक्तिपूर्वक सरक्षण करना ।

१७. **भार**—परिग्रह जीवन के लिए भारभूत है, अतएव उसे भार नाम दिया गया है। परिग्रह के त्यागी महात्मा हल्के—लघुभूत होकर निश्चिन्त, निर्भय विचरते है ।

१८ **सपातोत्पादक**—नाना प्रकार के सकल्पो-विकल्पो का उत्पादक, अनेक अनर्थो एव उपद्रवो का जनक ।

१९ **कलिकरण्ड**—कलह का पिटारा । परिग्रह कलह, युद्ध, वैर, विरोध, सघर्ष आदि का प्रमुख कारण है, अतएव इसे 'कलह का पिटारा' नाम दिया गया है ।

२० **प्रविस्तर**—धन-धान्य आदि का विस्तार । व्यापार-धन्धा आदि का फैलाव । यह सब परिग्रह का रूप है ।

२१ **अनर्थ**—परिग्रह नानाविध अनर्थो का प्रधान कारण है । परिग्रह-ममत्वबुद्धि से प्रेरित एव तृष्णा और लोभ से ग्रस्त होकर मनुष्य सभी अनर्थो का पात्र बन जाता है । उसे भीषण यातनाएँ भुगतनी पडती है ।

२२ **सस्तव**—सस्तव का अर्थ है परिचय—वारवार निकट का सम्बन्ध । सस्तव मोह को—आसक्ति को वढाता है । अतएव इसे सस्तव कहा गया है ।

२३ **अगुप्ति या अकीर्त्ति**—अपनी इच्छाओ या कामनाओ का गोपन न करना, उन पर नियन्त्रण न रखकर स्वच्छन्द छोड देना—बढने देना ।

'अगुप्ति' के स्थान पर कही 'अकीर्त्ति' नाम उपलब्ध होता है । परिग्रह अपकीर्त्ति—अपयश का कारण होने से उसे अकीर्त्ति भी कहते हैं ।

२४. **आयास**—आयास का अर्थ है—खेद या प्रयास । परिग्रह जुटाने के लिए मानसिक और शारीरिक खेद होता है, प्रयास करना पडता है । अतएव यह आयास है ।

२५ **अवियोग**—विभिन्न पदार्थो के रूप मे—धन, मकान या दुकान आदि के रूप मे जो परिग्रह एकत्र किया है, उसे विछुडने न देना । चमडी चली जाए पर दमडी न जाए, ऐसी वृत्ति ।

२६ **अमुक्ति**—मुक्ति अर्थात् निर्लोभता। उसका न होना अर्थात् लोभ की वृत्ति होना। यह मानसिक भाव परिग्रह है।

२७. **तृष्णा**—अप्राप्त पदार्थों की लालसा और प्राप्त वस्तुओ की वृद्धि की अभिलाषा तृष्णा है। तृष्णा परिग्रह का मूल है।

२८ **अनर्थक**—परिग्रह का एक नाम 'अनर्थ' पूर्व मे कहा जा चुका है। वहाँ अनर्थ का आशय उपद्रव, झझट या दुष्परिणाम से था। यहाँ अनर्थक का अर्थ 'निरर्थक' है। पारमार्थिक हित और सुख के लिए परिग्रह निरर्थक—निरुपयोगी है। इतना ही नही, वह वास्तविक हित और सुख मे बाधक भी है।

२९ **आसक्ति**—ममता, मूर्च्छा, गृद्धि।

३० **असन्तोष**—असन्तोष भी परिग्रह का एक रूप है। मन मे बाह्य पदार्थों के प्रति सन्तुष्टि न होना। भले ही पदार्थ न हो परन्तु अन्तरस् मे यदि असन्तोष है तो वह भी परिग्रह है।

विवेचन—'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' इस आगमोक्ति के अनुसार यद्यपि मूर्छा—ममता परिग्रह है, तथापि जिनागम मे सभी कथन सापेक्ष होते है। अतएव परिग्रह के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला यह कथन भाव की अपेक्षा से समझना चाहिए। ममत्वभाव परिग्रह है और ममत्वपूर्वक ग्रहण किए जाने वाले धन्य-धान्य, महल-मकान, कुटुम्ब-परिवार, यहाँ तक कि शरीर भी परिग्रह है। ये द्रव्यपरिग्रह है।

इस प्रकार परिग्रह मूलत दो प्रकार का है—आभ्यन्तर और बाह्य। इन्ही को भावपरिग्रह और द्रव्यपरिग्रह कहते है।

प्रस्तुत सूत्र मे परिग्रह के जो तीस नाम गिनाए गए है, उन पर गम्भीरता के साथ विचार करने पर यह आशय स्पष्ट हो जाता है। इन नामो मे दोनो प्रकार के परिग्रहो का समावेश किया गया है। प्रारम्भ मे प्रथम नाम सामान्य परिग्रह का वाचक है। उसके पश्चात् सचय, चय, उपचय, निधान, सभार, सकर आदि कतिपय नाम प्रधानत द्रव्य अथवा बाह्य परिग्रह को सूचित करते है। महिच्छा, प्रतिबन्ध, लोभात्मा, अगुप्ति, तृष्णा, आसक्ति, असन्तोष आदि कतिपय नाम आभ्यन्तर—भावपरिग्रह के वाचक है। इस प्रकार सूत्रकार ने द्रव्यपरिग्रह और भावपरिग्रह का नामोल्लेख किए विना ही दोनो प्रकार के परिग्रहो का इन तीस नामो मे समावेश कर दिया है।

अध्ययन के प्रारम्भ मे परिग्रह को वृक्ष की उपमा दी गई है। वृक्ष के छोटे-वडे अनेक अगोपाग—अवयव होते है। इसी प्रकार परिग्रह के भी अनेक अगोपाग है। अनेकानेक रूप है। उन्हे समझाने की दृष्टि से यहाँ तीस नामो का उल्लेख किया गया है।

यहाँ यह तथ्य स्मरण रखने योग्य है कि भावपरिग्रह अर्थात् ममत्वबुद्धि एकान्त परिग्रहरूप है। द्रव्यपरिग्रह अर्थात् बाह्य पदार्थ तभी परिग्रह बनते है, जब उन्हे ममत्वपूर्वक ग्रहण किया जाता है।

तीस नामो मे एक नाम 'अणत्थओ' अर्थात् अनर्थक भी है। इस नाम से सूचित होता है कि जीवननिर्वाह के लिए जो वस्तु अनिवार्य नही है, उसको ग्रहण करना भी परिग्रह ही है।

इस प्रकार ये तीस नाम परिग्रह के विराट् रूप को सूचित करते है। शान्ति, सन्तोप, समाधि और आनन्दमय जीवन यापन करने वालो को परिग्रह के इन रूपो को भलीभाँति समझ कर त्यागना चाहिए।

परिग्रह के पाश मे देव एवं मनुष्य गण भी बंधे है—

९५—त च पुण परिग्गह ममायति लोहघत्था भवणवर-विमाण-वासिणो परिग्गहरुई परिग्गहे विविहकरणबुद्धी देवणिकाया य असुर-भुयग-गरुल-विज्जु-जलण-दीव-उदहि-दिसि-पवण-थणिय-अणवण्णिय-पणवण्णिय-इसिवाइय-भूयवइय-कंदिय-महाकंदिय-कुहंड-पयगदेवा पिसाय-भूय-जक्ख-रक्खस-किण्णर-किंपुरिस-महोरग-गंधव्वा य तिरियवासी। पचविहा जोइसिया य देवा बहस्सई-चद-सूर-सुक्क-सणिच्छरा राहु-धूमकेउ-बुहा य अगारका य तत्ततवणिज्जकणयवण्णा जे य गहा जोइसम्मि चार चरति, केऊ य गइरईया अट्ठावीसइविहा य णक्खत्तदेवगणा णाणासठाणसठियाओ य तारगाओ ठियलेस्सा चारिणो य अविस्साम-मंडलगई उवरिचरा।

उड्ढलोयवासी दुविहा वेमाणिया य देवा सोहम्मी-साण-सणकुमार-माहिंद-बभलोय-लतक-महासुक्क-सहस्सार-आणय-पाणय-आरण-अच्चुया कप्पवरविमाणवासिणो सुरगणा, गेविज्जा अणुत्तरा दुविहा कप्पाईया विमाणवासी महिड्ढिया उत्तमा सुरवरा एव च ते चउव्विहा सपरिसा वि देवा ममायति भवण-वाहण-जाण-विमाण-सयणासणाणि य णाणाविहवत्थभूसणाप वरपहरणाणि य णाणा-मणिपचवण्णदिव्व य भायणविहिं णाणाविहकामरूवे वेउव्वियअच्छरगणसघाते दीव-समुद्दे दिसाओ विदिसाओ चेइयाणि वणसडे पव्वए य गामणयराणि य आरामुज्जाणकाणणाणि य कूव-सर-तलाग-वावि-दीहिय-देवकुल-सभप्पव-वसहिमाइयाइ बहुयाइ कित्तणाणि य परिगिण्हित्ता परिग्गह विउलदव्वसार देवावि सइदगा ण तित्ति ण तुट्ठि उवलभति। अच्चत-विउललोहाभिभूयसत्ता वासहर-इक्खुगार-वट्ट-पव्वय-कुडल-रुयग-वरमाणुसोत्तर-कालोदहि-लवण-सलिल-दहपइ-रइकर-अजणक-सेल-दहिमुह-ओवाउ-प्पाय-कचणक-चित्त-विचित्त-जमकवरिसिहरिकूडवासी।

वक्खार-अकम्मभूमिसु सुविभत्तभागदेसासु कम्मभूमिसु जे वि य णरा चाउरतचक्कवट्टी वासुदेवा बलदेवा मडलीया इस्सरा तलवरा सेणावई इब्भा सेट्ठी रट्ठिया पुरोहिया कुमारा दडणायगा माडबिया सत्थवाहा कोडुबिया अमच्चा एए अण्णे य एवमाई परिग्गह सचिणति अणत असरण दुरत अधुवमणिच्चं असासय पावकम्मणेम्म अवकिरियव्व विणासमूल वहबधपरिकिलेसबहुल अणतसकिलेस-कारण, ते त धणकणगरयणणिचय पिंडिया चेव लोहघत्था ससार अइवयति सव्वदुक्खसणिलयण।

९५—उस (पूर्वोक्त स्वरूप वाले) परिग्रह को लोभ से ग्रस्त—लालच के जाल मे फँसे हुए, परिग्रह के प्रति रुचि रखने वाले, उत्तम भवनो मे और विमानो मे निवास करने वाले (भवनवासी एव वैमानिक) ममत्वपूर्वक ग्रहण करते है। नाना प्रकार से परिग्रह को सचित करने की बुद्धि वाले देवो के निकाय—समूह, यथा—असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, ज्वलन (अग्नि)-

कुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, पवनकुमार, स्तनितकुमार (ये दस प्रकार के भवनवासी देव) तथा अणपन्निक, पणपन्निक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, क्रन्दित, महाक्रन्दित, कूष्माण्ड और पतग (ये व्यन्तरनिकाय के अन्तर्गत देव) और (पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग एव गन्धर्व, ये महर्द्धिक व्यन्तर देव) तथा तिर्यक्लोक– मध्यलोक मे निवास-विचरण करने वाले पाँच प्रकार के ज्योतिष्क देव, बृहस्पति, चन्द्र, सूर्य, शुक्र और शनैश्चर, राहु, केतु और बुध, अगारक (तपाये हुए स्वर्ण जैसे वर्ण वाला—मगल), अन्य जो भी ग्रह ज्योतिश्चक्र मे सचार करते हे, केतु, गति मे प्रसन्नता अनुभव करने वाले, अट्ठाईस प्रकार के नक्षत्र देवगण, नाना प्रकार के सस्थान—आकार वाले तारागण, स्थिर लेश्या अर्थात् कान्ति वाले अर्थात् मनुष्य क्षेत्र—अढाई द्वीप से बाहर के ज्योतिष्क और मनुष्य क्षेत्र के भीतर सचार करने वाले, जो तिर्यक् लोक के ऊपरी भाग मे (समतल भूमि से ७६० योजन से लगा कर ६०० योजन तक की ऊँचाई मे) रहने वाले तथा अविश्रान्त—लगातार— विना रुके वर्तुलाकार गति करने वाले है (ये सभी देव परिग्रह को ग्रहण करते हैं)।

(इनके अतिरिक्त) ऊर्ध्वलोक मे निवास करने वाले वैमानिक देव दो प्रकार के हे—कल्पोपपन्न और कल्पातीत । सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत, ये उत्तम कल्प-विमानो मे वास करने वाले—कल्पोपपन्न हे ।

(इनके ऊपर) नौ ग्रैवेयको और पाच अनुत्तर विमानो मे रहने वाले दोनो प्रकार के देव कल्पातीत हैं । ये विमानवासी (वैमानिक) देव महान् ऋद्धि के धारक, श्रेष्ठ सुरवर है ।

ये (पूर्वोक्त) चारो प्रकारो—निकायो के, अपनी-अपनी परिषद् सहित परिग्रह को ग्रहण करते है—उसमे मूर्च्छाभाव रखते है । ये सभी देव भवन, हस्ती आदि वाहन, रथ आदि अथवा घूमने के विमान आदि यान, पुष्पक आदि विमान, शय्या, भद्रासन, सिंहासन प्रभृति आसन, विविध प्रकार के वस्त्र एव उत्तम प्रहरण—शस्त्रास्त्रो को, अनेक प्रकार की मणियो के पचरगी दिव्य भाजनो—पात्रो को, विक्रियालब्धि से इच्छानुसार रूप बनाने वाली कामरूपा अप्सराओ के समूह को, द्वीपो, समुद्रो, पूर्व आदि दिशाओ, ईशान आदि विदिशाओ, चैत्यो—माणवक आदि या चेत्यस्तूपो, वनखण्डो और पर्वतो को, ग्रामो और नगरो को, आरामो, उद्यानो—वगीचो और काननो—जगलो को, कूप, सरोवर, तालाब, वापी—वावडी, दीर्घिका—लम्बी वावडी, देवकुल—देवालय, सभा, प्रपा—प्याऊ और वस्ती को और बहुत-से कीर्त्तनीय—स्तुतियोग्य धर्मस्थानो को ममत्वपूर्वक स्वीकार करते है । इस प्रकार विपुल द्रव्य वाले परिग्रह को ग्रहण करके इन्द्रो सहित देवगण भी न तृप्ति को और न सन्तुष्टि को अनुभव कर पाते है, अर्थात् अन्तिम समय तक इन्द्रो और देवो को भी तृप्ति एव सन्तोष नही होता ।

ये सव देव अत्यन्त तीव्र लोभ से अभिभूत सज्ञा वाले है, अत वर्षधर पर्वतो (भरतादि क्षेत्रो को विभक्त करने वाले हिमवन्त, महाहिमवन्त आदि), इषुकार (धातकीखण्ड और पुष्करवर द्वीपो को विभक्त करने वाले दक्षिण और उत्तर दिशाओ मे लम्बे) पर्वत, वृत्तपर्वत (शब्दापाती आदि गोलाकार पर्वत), कुण्डल (जम्बूद्वीप से ग्यारहवे कुण्डल नामक द्वीप मे मण्डलाकार) पर्वत, रुचकवर (तेरहवे रुचक नामक द्वीप मे मण्डलाकार रुचकवर नामक पर्वत), मानुषोत्तर (मनुष्यक्षेत्र की सीमा निर्धारित करने वाला) पर्वत, कालोदधिसमुद्र, लवणसमुद्र, सलिला (गगा आदि महा-नदियाँ), ह्रदपति (पद्म, महापद्म आदि ह्रद—सरोवर), रतिकर पर्वत (आठवे नन्दीश्वर नामक

इस प्रकार ये तीस नाम परिग्रह के विराट् रूप को सूचित करते है। शान्ति, सन्तोष, समाधि और आनन्दमय जीवन यापन करने वालो को परिग्रह के इन रूपो को भलीभाँति समझ कर त्यागना चाहिए।

परिग्रह के पाश मे देव एवं मनुष्य गण भी बंधे है—

९५—त च पुण परिग्गह ममायति लोहघत्था भवणवर-विमाण-वासिणो परिग्गहरुई परिग्गहे विविहकरणबुद्धी देवणिकाया य असुर-भुयग-गरुल-विज्जु-जलण-दीव-उदहि-दिसि-पवण-थणिय-अणवण्णिय-पणवण्णिय-इसिवाइय-भूयवइय-कदिय-महाकदिय-कुहड-पयगदेवा पिसाय-भूय-जक्ख-रक्खस-किण्णर-किंपुरिस-महोरग-गधव्वा य तिरियवासी। पचविहा जोइसिया य देवा बहस्सई-चद-सूर-सुक्क-सणिच्छरा राहु-धूमकेउ-बुहा य अगारका य तत्ततवणिज्जकणयवण्णा जे य गहा जोइसिम्मि चार चरति, केऊ य गइरईया अट्ठावीसइविहा य णक्खत्तदेवगणा णाणासठाणसठियाओ य तारगाओ ठियलेस्सा चारिणो य अविस्साम-मडलगई उवरिचरा।

उड्ढलोयवासी दुविहा वेमाणिया य देवा सोहम्मी-साण-सणकुमार-माहिंद-बभलोय-लतक-महासुक्क-सहस्सार-आणय-पाणय-आरण-अच्चुया कप्पवरविमाणवासिणो सुरगणा, गेविज्जा अणुत्तरा दुविहा कप्पाईया विमाणवासी महिड्ढिया उत्तमा सुरवरा एव च ते चउव्विहा सपरिसा वि देवा ममायति भवण-वाहण-जाण-विमाण-सयणासणाणि य णाणाविहवत्थभूसणाय वरपहरणाणि य णाणामणिपचवण्णदिव्व य भायणविहिं णाणाविहकामरूवे वेउव्वियअच्छरगणसघाते दीव-समुद्दे दिसाओ विदिसाओ चेइयाणि वणसडे पव्वए य गामणयराणि य आरामुज्जाणकाणणाणि य कूव-सर-तलाग-वावि-दीहिय-देवकुल-सभप्पव-वसहिमाइयाइ बहुयाइ कित्तणाणि य परिगिण्हित्ता परिग्गह विउलदव्वसार देवावि सइदगा ण तित्ति ण तुट्ठिं उवलभति। अच्चत-विउललोहाभिभूयसत्ता वासहर-इक्खुगार-वट्ट-पव्वय-कुडल-रुयग-वरमाणुसोत्तर-कालोदहि-लवण-सलिल-दहपइ-रइकर-अजणक-सेल-दहिमुह-ओवाउप्पाय-कचणक-चित्त-विचित्त-जमकवरिसिहरिकूडवासी।

वक्खार-अकम्मभूमिसु सुविभत्तभागदेसासु कम्मभूमिसु जे वि य णरा चाउरतचक्कवट्टी वासुदेवा बलदेवा मडलीया इस्सरा तलवरा सेणावई इब्भा सेट्ठी रट्ठिया पुरोहिया कुमारा दडणायगा माडबिया सत्थवाहा कोडु बिया अमच्चा एए अण्णे य एवमाई परिग्गह संचिणति अणत असरण दुरत अधुवमणिच्च असासय पावकम्मणेम्म अवकिरियव्व विणासमूल वहबधपरिकिलेसबहुल अणतसकिलेस-कारण, ते त धणकणगरयणणिचय पिडिया चेव लोहघत्था ससार अइवयति सव्वदुक्खसणिलयण।

९५—उस (पूर्वोक्त स्वरूप वाले) परिग्रह को लोभ से ग्रस्त—लालच के जाल मे फँसे हुए, परिग्रह के प्रति रुचि रखने वाले, उत्तम भवनो मे और विमानो मे निवास करने वाले (भवनवासी एव वैमानिक) ममत्वपूर्वक ग्रहण करते है। नाना प्रकार से परिग्रह को सचित करने की बुद्धि वाले देवो के निकाय—समूह, यथा—असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, ज्वलन (अग्नि)-

कुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, पवनकुमार, स्तनितकुमार (ये दस प्रकार के भवनवासी देव) तथा अणपन्निक, पणपन्निक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, क्रन्दित, महाक्रन्दित, कूष्माण्ड और पतग (ये व्यन्तरनिकाय के अन्तर्गत देव) और (पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग एव गन्धर्व, ये महर्द्धिक व्यन्तर देव) तथा तिर्यक्लोक— मध्यलोक मे निवास-विचरण करने वाले पाँच प्रकार के ज्योतिष्क देव, बृहस्पति, चन्द्र, सूर्य, शुक्र और शनैश्चर, राहु, केतु और बुध, अगारक (तपाये हुए स्वर्ण जैसे वर्ण वाला—मगल), अन्य जो भी ग्रह ज्योतिष्चक्र मे सचार करते है, केतु, गति मे प्रसन्नता अनुभव करने वाले, अट्ठाईस प्रकार के नक्षत्र देवगण, नाना प्रकार के सस्थान—आकार वाले तारागण, स्थिर लेश्या अर्थात् कान्ति वाले अर्थात् मनुष्य क्षेत्र—अढाई द्वीप से बाहर के ज्योतिष्क और मनुष्य क्षेत्र के भीतर सचार करने वाले, जो तिर्यक् लोक के ऊपरी भाग मे (समतल भूमि से ७९० योजन से लगा कर ९०० योजन तक की ऊँचाई मे) रहने वाले तथा अविश्रान्त—लगातार—विना रुके वर्तुलाकार गति करने वाले है (ये सभी देव परिग्रह को ग्रहण करते हैं)।

(इनके अतिरिक्त) ऊर्ध्वलोक मे निवास करने वाले वैमानिक देव दो प्रकार के है—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत, ये उत्तम कल्प-विमानो मे वास करने वाले—कल्पोपपन्न है।

(इनके ऊपर) नौ ग्रैवेयको और पाच अनुत्तर विमानो मे रहने वाले दोनो प्रकार के देव कल्पातीत हैं। ये विमानवासी (वैमानिक) देव महान् ऋद्धि के धारक, श्रेष्ठ सुरवर हैं।

ये (पूर्वोक्त) चारो प्रकारो—निकायो के, अपनी-अपनी परिषद् सहित परिग्रह को ग्रहण करते है—उसमे मूर्च्छाभाव रखते है। ये सभी देव भवन, हस्ती आदि वाहन, रथ आदि अथवा घूमने के विमान आदि यान, पुष्पक आदि विमान, शय्या, भद्रासन, सिहासन प्रभृति आसन, विविध प्रकार के वस्त्र एव उत्तम प्रहरण—शस्त्रास्त्रो को, अनेक प्रकार की मणियो के पचरगी दिव्य भाजनो—पात्रो को, विक्रियालब्धि से इच्छानुसार रूप बनाने वाली कामरूपा अप्सराओ के समूह को, द्वीपो, समुद्रो, पूर्व आदि दिशाओ, ईशान आदि विदिशाओ, चैत्यो—माणवक आदि या चैत्यस्तूपो, वनखण्डो और पर्वतो को, ग्रामो और नगरो को, आरामो, उद्यानो—बगीचो और काननो—जगलो को, कूप, सरोवर, तालाब, वापी—बावडी, दीर्घिका—लम्बी बावडी, देवकुल—देवालय, सभा, प्रपा—प्याऊ और वस्ती को और बहुत-से कीर्तनीय—स्तुतियोग्य धर्मस्थानो को ममत्वपूर्वक स्वीकार करते है। इस प्रकार विपुल द्रव्य वाले परिग्रह को ग्रहण करके इन्द्रो सहित देवगण भी न तृप्ति को और न सन्तुष्टि को अनुभव कर पाते है, अर्थात् अन्तिम समय तक इन्द्रो और देवो को भी तृप्ति एव सन्तोष नही होता।

ये सब देव अत्यन्त तीव्र लोभ से अभिभूत सज्ञा वाले है, अत वर्षधर पर्वतो (भरतादि क्षेत्रो को विभक्त करने वाले हिमवन्त, महाहिमवन्त आदि), इषुकार (धातकीखण्ड और पुष्करवर द्वीपो को विभक्त करने वाले दक्षिण और उत्तर दिशाओ मे लम्बे) पर्वत, वृत्तपर्वत (शब्दापाती आदि गोलाकार पर्वत), कुण्डल (जम्बूद्वीप से ग्यारहवे कुण्डल नामक द्वीप मे मण्डलाकार) पर्वत, रुचकवर (तेरहवे रुचक नामक द्वीप मे मण्डलाकार रुचकवर नामक पर्वत), मानुषोत्तर (मनुष्यक्षेत्र की सीमा निर्धारित करने वाला) पर्वत, कालोदधिसमुद्र, लवणसमुद्र, सलिला (गगा आदि महा-नदियाँ), ह्रदपति (पद्म, महापद्म आदि ह्रद—सरोवर), रतिकर पर्वत (आठवे नन्दीश्वर नामक

द्वीप के कोण मे स्थित झल्लरी के ग्राकार के चार पर्वत), अजनक पर्वत (नन्दीश्वर द्वीप के चक्रवाल मे रहे हुए कृष्णवर्ण के पर्वत), दधिमुखपर्वत (अजनक पर्वतो के पास की सोलह पुष्कर-णियो मे स्थित १६ पर्वत), अवपात पर्वत (वैमानिक देव मनुष्यक्षेत्र मे आने के लिए जिन पर उतरते है), उत्पात पर्वत (भवनपति देव जिनसे ऊपर उठकर मनुष्य क्षेत्र मे आते है—वे तिगिच्छ कूट आदि), काञ्चनक (उत्तरकुरु और देवकुरु क्षेत्रो मे स्थित स्वर्णमय पर्वत), चित्र-विचित्रपर्वत (निपध नामक वर्षधर पर्वत के निकट शीतोदा नदी के किनारे चित्रकूट और विचित्रकूट नामक पर्वत), यमकवर (नीलवन्त नामक वर्षधर पर्वत के समीप के शीता नदी के तट पर स्थित दो पर्वत), शिखरी (समुद्र मे स्थित गोस्तूप आदि पर्वत), कूट (नन्दनवन के कूट) आदि मे रहने वाले ये देव भी तृप्ति नही पाते। (फिर अन्य प्राणियो का तो कहना ही क्या ! वे परिग्रह से कैसे तृप्त हो सकते है ?)

वक्षारो (विजयो को विभक्त करने वाले चित्रकूट आदि) मे तथा अकर्मभूमियो मे (हैमवत आदि भोगभूमि के क्षेत्रो मे) और सुविभक्त—भलीभाँति विभागवाली भरत, ऐरवत आदि पन्द्रह कर्मभूमियो मे जो भी मनुष्य निवास करते है, जैसे— चक्रवर्त्ती, वासुदेव, बलदेव, माण्डलिक राजा (मण्डल के अधिपति महाराजा), ईश्वर—युवराज, वडे-वडे ऐश्वर्यशाली लोग, तलवर (मस्तक पर स्वर्णपट्ट बाधे हुए राजस्थानीय), सेनापति (सेना के नायक), इभ्य (इभ अर्थात् हाथी को ढँक देने योग्य विशाल सम्पत्ति के स्वामी), श्रेष्ठी (श्री देवता द्वारा अलकृत चिह्न को मस्तक पर धारण करने वाले सेठ), राष्ट्रिक (राष्ट्र अर्थात् देश की उन्नति-अवनति के विचार के लिए नियुक्त अधि-कारी), पुरोहित (शान्तिकर्म करने वाले), कुमार (राजपुत्र), दण्डनायक (कोतवाल स्थानीय राज्याधिकारी), माडम्बिक (मडम्ब के अधिपति—छोटे राजा), सार्थवाह (वहुतेरे छोटे व्यापारियो आदि को साथ लेकर चलने वाले वडे व्यापारी), कौटुम्बिक (वडे कुटुम्ब के प्रधान या गाँव के मुखिया) और अमात्य (मत्री), ये सब और इनके अतिरिक्त अन्य मनुष्य परिग्रह का सचय करते है। वह परिग्रह अनन्त—अन्तहीन या परिणामशून्य है, अशरण अर्थात् दु ख से रक्षा करने मे असमर्थ है, दु खमय अन्त वाला है, अध्रुव है अर्थात् टिकाऊ नही है, अनित्य है, अर्थात् अस्थिर एव प्रतिक्षण विनाशशील होने से अशाश्वत है, पापकर्मो का मूल है, ज्ञानीजनो के लिए त्याज्य है, विनाश का मूल कारण है, अन्य प्राणियो के वध और बन्धन का कारण है, अर्थात् परिग्रह के कारण अन्य जीवो को वध-बन्धन-क्लेश-परिताप उत्पन्न होता है अथवा परिग्रह स्वय परिग्रही के लिए वध-बन्धन आदि नाना प्रकार के घोर क्लेश का कारण बन जाता है, इस प्रकार वे पूर्वोक्त देव आदि धन, कनक, रत्नो आदि का सचय करते हुए लोभ से ग्रस्त होते है और समस्त प्रकार के दु खो के स्थान इस ससार मे परिभ्रमण करते है।

विविध कलाएँ भी परिग्रह के लिये—

९६—परिग्गहस्स य अट्ठाए सिप्पसय सिक्खए बहुजणो कलाओ य बावत्तरिं सुणिउणाओ लेहाइयाओ सउणरुयावसाणाओ गणियप्पहाणाओ, चउसट्ठि च महिलागुणे रइजणणे, सिप्पसेवं, असि-मसि-किसि-वाणिज्ज, ववहार अत्थसत्थईसत्थच्छरुप्पगय, विविहाओ य जोगजुजणाओ, अण्णेसु एवमाइएसु बहुसु कारणसएसु जावज्जीव णडिज्जए सचिणति मंदबुद्धी।

परिग्गहस्सेव य अट्ठाए करति पाणाण-वहकरण अलिय-णियडिसाइसपओगे परदव्वाभिज्जा

सपरदारअभिगमणासेवणाए आयासविसूरण कलहभडणवेराणि य अवमाणणविमाणणाओ इच्छामहिच्छप्पिवाससययतिसिया तण्हगेहिलोहघत्था अत्ताणा अणिग्गहिया करेंति कोहमाणमायालोहे ।

अकित्तणिज्जे परिग्गहे चेव होंति णियमा सल्ला दडा य गारवा य कसाया सण्णा य कामगुणअण्हगा य इंदियलेस्साओ सयणसपओगा सचित्ताचित्तमीसगाइ दव्वाइ अणतगाइ इच्छति परिघेत्तु ।

सदेवमणुयासुरम्मि लोए लोहपरिग्गहो जिणवरेहि भणिओ णत्थि एरिसो पासो पडिबधो अत्थि सव्वजीवाण सव्वलोए ।

९६— परिग्रह के लिए बहुत लोग सैकडो शिल्प या हुन्नर तथा उच्च श्रेणी की—निपुणता उत्पन्न करने वाले लेखन से लेकर शकुनिरुत—पक्षियो की बोली तक की, गणित की प्रधानता वाली बहत्तर कलाएँ सीखते है। नारियाँ रति उत्पन्न करने वाले चौसठ महिलागुणो को सीखती हैं। शिल्पपूर्वक सेवा करते है। कोई असि—तलवार आदि शस्त्रो को चलाने का अभ्यास करते हैं, कोई मसिकर्म—लिपि आदि लिखने की शिक्षा लेते है, कोई कृषि—खेती करते है, कोई वाणिज्य-व्यापार सीखते हैं, कोई व्यवहार अर्थात् विवाद के निपटारे की शिक्षा लेते है। कोई अर्थशास्त्र—राजनीति आदि की, कोई धनुर्वेद आदि शास्त्र एव छुरी आदि शस्त्रो को पकडने के उपायो की, कोई अनेक प्रकार के वशीकरण आदि योगो की शिक्षा ग्रहण करते है। इसी प्रकार के परिग्रह के सैकडो कारणो—उपायो मे प्रवृत्ति करते हुए मनुष्य जीवनपर्यन्त नाचते रहते है। और जिनकी बुद्धि मन्द है—जो पारमार्थिक हिताहित का विवेक करने वाली बुद्धि की मन्दता वाले है, वे परिग्रह का सचय करते है।

परिग्रह के लिए लोग प्राणियो की हिंसा के कृत्य मे प्रवृत्त होते है। झूठ बोलते है, दूसरो को ठगते है, निकृष्ट वस्तु को मिलावट करके उत्कृष्ट दिखलाते है और परकीय द्रव्य मे लालच करते है। स्वदार-गमन मे शारीरिक एव मानसिक खेद को तथा परस्त्री की प्राप्ति न होने पर मानसिक पीडा को अनुभव करते है। कलह—वाचनिक विवाद—झगडा, लडाई तथा वैर-विरोध करते हैं, अपमान तथा यातनाएँ सहन करते है। इच्छाओ और चक्रवर्ती आदि के समान महेच्छाओ रूपी पिपासा से निरन्तर प्यासे बने रहते है। तृष्णा—अप्राप्त द्रव्य की प्राप्ति की लालसा तथा प्राप्त पदार्थो सबधी गृद्धि—आसक्ति तथा लोभ मे ग्रस्त—आसक्त रहते हे। वे त्राणहीन एव इन्द्रियो तथा मन के निग्रह से रहित होकर क्रोध, मान, माया और लोभ का सेवन करते है।

इस निन्दनीय परिग्रह मे ही नियम से शल्य—मायाशल्य, मिथ्यात्वशल्य और निदानशल्य होते है, इसी मे दण्ड—मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड—अपराध होते हैं, ऋद्धि, रस तथा साता रूप तीन गौरव होते है, क्रोधादि कषाय होते है, आहारसज्ञा, भयसज्ञा, मैथुनसज्ञा और परिग्रह नामक सज्ञाएँ होती है, कामगुण—शब्दादि इन्द्रियो के विषय तथा हिंसादि पाँच आस्रवद्वार, इन्द्रियविकार तथा कृष्ण, नील एव कापोत नामक तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं। स्वजनो के साथ सयोग होते है और परिग्रहवान् असीम-अनन्त सचित्त, अचित्त एव मिश्र-द्रव्यो को ग्रहण करने की इच्छा करते है।

देवो, मनुष्यो और असुरो सहित इस त्रस-स्थावररूप जगत् मे जिनेन्द्र भगवन्तो—तीर्थंकरो ने (पूर्वोक्त स्वरूप वाले) परिग्रह का प्रतिपादन किया है। (वास्तव मे) परिग्रह के समान अन्य कोई पाश—फदा, बन्धन नही है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे परिग्रह के लिए किए जाने वाले विविध प्रकार के कार्यों का उल्लेख किया गया हे। जिन कार्यो का सूत्र मे साक्षात् वर्णन हे, उनके अतिरिक्त अन्य भी वहुत से कार्य हैं, जिन्हे परिग्रह की प्राप्ति, वृद्धि एव सरक्षण के लिए किया जाता है। अनेकानेक कार्य जीवनपर्यन्त निरन्तर करते रहने पर भी प्राणियो को परिग्रह मे तृप्ति नही होती। जो परिग्रह अधिकाधिक तृष्णा, लालसा, आसक्ति और असन्तुष्टि की वृद्धि करने वाला है, उससे तृप्ति अथवा सन्तुष्टि प्राप्त भी कैसे हो सकती है ! जीवनपर्यन्त उसे वढाने के लिए जुटे रहने पर भी, जीवन का अन्त आ जाता है परन्तु लालसा का अन्त नही आता।

तो क्या परिग्रह के पिशाच से कभी छुटकारा मिल ही नही सकता ? ऐसा नही है। जिनकी विवेकबुद्धि जागृत हो जाती है, जो यथार्थ वस्तुस्वरूप को समझ जाते है, परिग्रह की निस्सारता का भान जिन्हे हो जाता है और जो यह निश्चय कर लेते हे कि परिग्रह सुख का नही, दुःख का कारण है, इससे हित नही, अहित ही होता है, यह आत्मा की विशुद्धि का नही, मलीनता का कारण है, इससे आत्मा का उत्थान नही, पतन होता है, यह जीवन को भी अनेक प्रकार की यातनाओ से परिपूर्ण बना देता है, अशान्ति एव आकुलता का जनक है, वे महान् पुरुष परिग्रह के पिशाच से अवश्य मुक्ति प्राप्त कर लेते है।

मूलपाठ मे ही कहा गया है—परिग्रह अर्थात् ममत्वभाव अनन्त है—उसका कभी और कही अन्त नही आता। वह अशरण है अर्थात् शरणदाता नही है। जब मनुष्य के जीवन मे रोगादि उत्पन्न हो जाते है तो परिग्रह के द्वारा उनका निवारण नही हो सकता। चाहे पिता, पुत्र, पत्नी आदि सचित्त परिग्रह हो, चाहे धन-वैभव आदि अचित्त परिग्रह हो, सब एक ओर रह जाते हैं। रोगी को कोई शरण नही दे सकते। यहाँ नमिराज के कथानक का अनायास स्मरण हो आता है। उन्हे व्याधि उत्पन्न होने पर परिग्रह की अकिंचित्करता का भान हुआ, उनका विवेक जाग उठा और उसी समय वे भावतः परिग्रहमुक्त हो गए। अतएव शास्त्रकार ने परिग्रह को दुरन्त कहा है। तात्पर्य यह है कि परिग्रह का अन्त तो आ सकता है किन्तु कठिनाई से आता है।

परिग्रह का वास्तविक स्वरूप प्रकाशित करने के लिए शास्त्रकार ने उसे **'अणत असरण दुरत'** कहने के साथ **'अधुवमणिच्चं, असासय, पावकम्मणेम, विणासमूल, वहबधपरिकिलेसबहुल, अणत-सकिलेसकारण, सव्वदुक्खसनिलयण'** इत्यादि विशेषणो द्वारा अभिहित किया है।

अकथनीय यातनाएँ झेल कर—प्राणो को भी सकट मे डालकर कदाचित् परिग्रह प्राप्त कर भी लिया तो वह सदा ठहरता नही, कभी भी नष्ट हो जाता है। वह अनित्य है—सदा एक-सा रहता नही, अचल नही है—अशाश्वत है, समस्त पापकर्मो का मूल कारण है, यहाँ तक कि जीवन—प्राणो के विनाश का कारण है। बहुत वार परिग्रह की बदौलत मनुष्य को प्राणो से हाथ धोना पडता है—चोरो-लुटेरो-डकैतो के हाथो मरना पडता है और पारमार्थिक हित का विनाशक तो है ही।

लोग समझते है कि परिग्रह सुख का कारण है किन्तु ज्ञानी जनो की दृष्टि मे वह वध, बन्ध आदि नाना प्रकार के क्लेशो का कारण होता है। परिग्रही प्राणी के मन मे सदैव अशान्ति, आकुलता, बेचैनी, उथल-पुथल एव आशकाएँ बनी रहती है। परिग्रह के रक्षण की घोर चिन्ता दिन-रात उन्हे बेचैन वनाए रहती है। वे स्वजनो और परिजनो से भी सदा भयभीत रहते हैं। भोजन मे कोई विष

मिश्रित न कर दे, इस आशका के कारण निश्चिन्त होकर भोजन नही कर सकते । सोते समय कोई मार न डाले, इस भय से आराम से सो नही सकते । उन्हे प्रतिक्षण आशका रहती है । कहावत है— काया को नही, माया को डर रहता है । जिसका परिवार-रूप परिग्रह विशाल होता है, उन्हे भी नाना प्रकार की परेशानियाँ सताती रहती हैं । परिग्रह से उत्पन्न होने वाले विविध प्रकार के मानसिक सक्लेश अनुभवसिद्ध है और समग्र लोक इनका साक्षी हैं । अतएव शास्त्रकार ने परिग्रह को अनन्त सक्लेश का कारण कहा है ।

परिग्रह केवल सक्लेश का ही कारण नही, वह **'सव्वदुक्खसनिलयण'** भी हैं, अर्थात् जगत् के समस्त दु खो का घर है । एक आचार्य ने यथार्थ ही कहा है—

सयोगमूला जीवेन प्राप्ता दु खपरम्परा ।

अनादि काल से आत्मा के साथ दु खो की जो परम्परा चली आ रही है—एक दु ख का अन्त होने से पहले ही दूसरा दु ख आ टपकता है, दु ख पर दु ख आ पडते है और भव-भवान्तर मे यही दु खो का प्रवाह प्रवहमान है, इसका मूल कारण सयोग है, अर्थात् पर-पदार्थो के साथ अपने आपको जोडना है । यद्यपि कोई भी पर-पदार्थ आत्मा से जुडता नही, तथापि ममताग्रस्त पुरुष अपने ममत्व के धागे से उन्हे जुडा हुआ मान लेता है—ममता के बन्धन से उन्हे अपने साथ बाँधता है । परिणाम यह होता है कि पदार्थ तो बँधते नही, प्रत्युत वह बाधने वाला स्वय ही बँध जाता है । अतएव जो बन्धन मे नही पडना चाहते, उन्हे बाह्य पदार्थो के साथ सयोग स्थापित करने की कुबुद्धि का परित्याग करना चाहिए । इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए शास्त्रकार ने श्रमणो को **'सजोगा विप्पमुक्कस्स'** विशेषण प्रदान किया है । अर्थात् श्रमण अनगार सयोग से विप्रमुक्त—पूर्णरूप से मुक्त होते है ।

जब श्रमण परिग्रह से पूरी तरह मुक्त होते है, यहाँ तक कि अपने शरीर पर भी ममत्वभाव से रहित होते है तो उनके उपासको को भी यही श्रद्धा रखनी चाहिए कि परिग्रह अनर्थमूल होने से त्याज्य है । इस प्रकार की श्रद्धा यदि वास्तविक होगी तो श्रमणोपासक अपनी परिस्थिति का पर्यालोचन करके उसकी एक सीमा निर्धारित अवश्य करेगा अथवा उसे ऐसा करना चाहिए । यही एक मात्र सुख और शान्ति का उपाय है । वर्त्तमान जीवन-सम्बन्धी सुख-शान्ति और शाश्वत आत्म-हित इसी मे है ।

मूल पाठ मे बहत्तर कलाओ और चौसठ महिलागुणो का निर्देश किया गया है । कलाओ के नाम अनेक आगमो मे उल्लिखित है, उनके नामो मे भी किंचित् भिन्नता दिखाई देती है । वस्तुत कलाओ की कोई सख्या निर्धारित नही हो सकती । समय-समय पर उनकी सख्या और स्वरूप बदलता रहता है । आधुनिक काल मे अनेक नवीन कलाओ का आविष्कार हुआ है । प्राचीन काल मे जो कलाएँ प्रचलित थी, उनका वर्गीकरण बहत्तर भेदो मे किया गया था । उनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१ लेखकला—लिखने की कला, ब्राह्मी आदि अठारह प्रकार की लिपियो को लिखने का विज्ञान ।

२ गणितकला—गणना, सख्या की जोड-बाकी आदि का ज्ञान ।

३ रूपकला—वस्त्र, भित्ति, रजत-स्वर्णपट्ट आदि पर रूप (चित्र) बनाना।
४ नाट्यकला—नाचने और अभिनय करने का ज्ञान।
५ गीतकला—गायन सम्बन्धी कौशल।
६ वाद्यकला—अनेक प्रकार के वाद्य बजाने की कला।
७ स्वरगत कला—अनेक प्रकार की राग-रागिनियो मे स्वर निकालने की कला।
८ पुष्करगत कला—पुष्कर नामक वाद्यविशेष का ज्ञान।
९ समतालकला—समान ताल से बजाने की कला।
१० द्यूतकला—जुआ खेलने की कुशलता।
११ जनवादकला—जनश्रुति एव किंवदन्तियो को जानना।
१२ पौरस्कृत्यकला—पासे खेलने का ज्ञान।
१३ अष्टापदकला—शतरज, चौसर आदि खेलने का ज्ञान।
१४ दकमृत्तिकाकला—जल के सयोग से मिट्टी के खिलौने आदि बनाना।
१५ अन्नविधिकला—विविध प्रकार का भोजन बनाने का ज्ञान।
१६ पानविधिकला—पेय पदार्थ तैयार करने की कुशलता।
१७ वस्त्रविधि—वस्त्रो के निर्माण की कला।
१८ शयनविधि—शयन सम्बन्धी कला।
१९ आर्याविधि—आर्या छन्द बनाने की कला।
२० प्रहेलिका—पहेलियाँ बनाने, बूझने की कला, गूढार्थवाली कविता रचना।
२१ मागधिका—स्तुतिपाठ करने वाले चारण-भाटो सम्बन्धी कला।
२२ गाथाकला—प्राकृतादि भाषाओ मे गाथाएँ रचने का ज्ञान।
२३ श्लोककला—सस्कृतादि भाषाओ मे श्लोक रचना।
२४ गन्धयुक्ति—सुगधित पदार्थ तैयार करना।
२५ मधुसिक्थ—स्त्रियो के पैरो मे लगाया जाने वाला महावर बनाना।
२६ आभरणविधि—आभूषणनिर्माण की कला।
२७ तरुणीप्रतिकर्म—तरुणी स्त्रियो के अनुरजन का कौशल।
२८ स्त्रीलक्षण—स्त्रियो के शुभाशुभ लक्षणो को जानने का कौशल।
२९ पुरुषलक्षण—पुरुषो के शुभाशुभ लक्षणो को जानने का कौशल।
३० हयलक्षण—घोडो के लक्षण पहचानना।
३१ गजलक्षण—हाथी के शुभाशुभ लक्षण जानना।
३२ गोणलक्षण—बैलो के शुभाशुभ लक्षण जानना।
३३ कुक्कुटलक्षण—मुर्गो के शुभाशुभ लक्षण जानना।
३४ मेढलक्षण—मेढो के लक्षणो को पहचानना।
३५ चक्रलक्षण—चक्र आयुध के लक्षण जानना।
३६ छत्रलक्षण—छत्र के शुभाशुभ लक्षण जानना।
३७ दण्डलक्षण—दण्ड के लक्षणो का परिज्ञान।
३८ असिलक्षण—तलवार, बर्छी आदि के शुभ-अशुभ लक्षणो को जानना।

३९ मणिलक्षण—मणियो के शुभ-अशुभ लक्षणो का ज्ञान ।
४० काकणीलक्षण—काकणी नामक रत्न के लक्षणो को जानना ।
४१ चर्मलक्षण—चमडे की या चर्मरत्न की पहचान ।
४२ चन्द्रचर्या—चन्द्र के सचार और समकोण, वक्रकोण आदि से उदित हुए चन्द्र के निमित्त से शुभ-अशुभ को जानना ।
४३ सूर्यचर्या—सूर्यसचारजनित उपरागो के फल को पहचानना ।
४४ राहुचर्या—राहु की गति एव उसके द्वारा होने वाले चन्द्रग्रहणादि के फल को जानना ।
४५ ग्रहचर्या—ग्रहो के सचार के शुभाशुभ फलो का ज्ञान ।
४६ सौभाग्यकर—सौभाग्यवर्द्धक उपायो को जानना ।
४७ दौर्भाग्यकर—दुर्भाग्य बढाने वाले उपायो को जानना ।
४८ विद्यागत--विविध प्रकार की विद्याओ का ज्ञान ।
४९ मत्रगत—मत्रो का परिज्ञान ।
५० रहस्यगत—अनेक प्रकार के गुप्त रहस्यो को जानने की कला ।
५१ सभास—प्रत्येक वस्तु के वृत्त-स्वभाव का ज्ञान ।
५२ चारकला— गुप्तचर, जासूसी की कला ।
५३ प्रतिचारकला—ग्रह आदि के सचार का ज्ञान एव रोगी की सेवा-शुश्रूषा का ज्ञान ।
५४ व्यूहकला—युद्ध के लिए सेना की गरुड आदि के आकार मे रचना करना ।
५५ प्रतिव्यूह—व्यूह के सामने उसके विरोधी व्यूह की रचना करना ।
५६ स्कन्धावारमान— सेना के शिविर— पडाव के प्रमाण को जानना ।
५७ नगरमान—नगर की रचना सम्बन्धी कुशलता ।
५८ वास्तुमान—मकानो के मान-प्रमाण को जानना ।
५९ स्कन्धावारनिवेश—सेना को युद्ध के योग्य खडा करने या पडाव का ज्ञान ।
६० वस्तुनिवेश—वस्तुओ को कलात्मक ढग से रखने—सजाने का ज्ञान ।
६१ नगरनिवेश—यथोचित स्थान पर नगर बसाने का ज्ञान ।
६२ इष्वस्त्रकला—बाण चलाने—छोडने का कौशल ।
६३ छरुप्रवादकला—तलवार की मूठ आदि बनाना ।
६४ अश्वशिक्षा—घोडो को वाहनो मे जोतने आदि का ज्ञान ।
६५ हस्तिशिक्षा—हाथियो के सचालन आदि की कुशलता ।
६६ धनुर्वेद—शब्दवेधी आदि धनुर्विद्या का विशिष्ट ज्ञान ।
६७ हिरण्यपाक, सुवर्णपाक, मणिपाक, धातुपाक—चाँदी आदि को गलाने, पकाने और उनकी भस्म बनाने आदि का कौशल ।
६८ बाहुयुद्ध, दण्डयुद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध, सामान्ययुद्ध, नियुद्ध, युद्धातियुद्ध आदि अनेक प्रकार के युद्धो सम्बन्धी कौशल ।
६९ सूत्रखेड, नालिकाखेड, वर्त्तखेड, चर्मखेड आदि नाना प्रकार के खेलो को जानना ।
७० पत्रच्छेद्य, कटकच्छेद्य—पत्रो एव काष्ठो को छेदने-भेदने की कला ।

७१ सजीव-निर्जीव—सजीव को निर्जीव और निर्जीव को सजीव जैसा दिखाना ।

७२ शकुनिरुत—पक्षियो की बोली पहचानना ।

चौसठ महिलागुण—(१) नृत्यकला (२) औचित्यकला (३) चित्रकला (४) वादित्र (५) मत्र (६) तत्र (७) ज्ञान (८) विज्ञान (९) दण्ड (१०) जलस्तम्भन (११) गीतगान (१२) तालमान (१३) मेघवृष्टि (१४) फलाकृष्टि (१५) आरामरोपण (१६) आकारगोपन (१७) धर्मविचार (१८) शकुनविचार (१९) क्रियाकल्पन (२०) सस्कृतभाषण (२१) प्रसादनीति (२२) धर्मनीति (२३) वाणीवृद्धि (२४) सुवर्णसिद्धि (२५) सुरभितैल (२६) लीलासचारण (२७) गज-तुरगपरीक्षण (२८) स्त्री-पुरुषलक्षण (२९) स्वर्ण-रत्नभेद (३०) अष्टादशलिपि ज्ञान (३१) तत्कालबुद्धि (३२) वस्तु-सिद्धि (३३) वैद्यकक्रिया (३४) कामक्रिया (३५) घटभ्रम (३६) सार परिश्रम (३७) अजनयोग (३८) चूर्णयोग (३९) हस्तलाघव (४०) वचनपाटव (४१) भोज्यविधि (४२) वाणिज्यविधि (४३) मुखमण्डन (४४) शालिखण्डन (४५) कथाकथन (४६) पुष्पग्रथन (४७) वक्रोक्तिजल्पन (४८) काव्य-शक्ति (४९) स्फारवेश (५०) सकलभाषाविशेष (५१) अभिधानज्ञान (५२) आभरणपरिधान (५३) नृत्योपचार (५४) गृहाचार (५५) शाठ्यकरण (५६) परनिराकरण (५७) धान्यरन्धन (५८) केश-बन्धन (५९) वीणादिनाद (६०) वितण्डावाद (६१) अकविचार (६२) लोकव्यवहार (६३) अन्त्याक्षरी और (६४) प्रश्नप्रहेलिका ।

ये पुरुषो की बहत्तर और महिलाओ की चौसठ कलाएँ है । बहत्तर कलाओ का नामोल्लेख आगमो मे मिलता है, महिलागुणो का विशेष नामोल्लेख दृष्टिगोचर नही होता । इनसे प्राचीनकालीन शिक्षापद्धति एव जीवनपद्धति का अच्छा चित्र हमारे समक्ष उभर कर आता है । आगमो से यह भी विदित होता है कि ये कलाएँ सूत्र से, अर्थ से और प्रयोग से सिखलाई जाती थी ।

परिग्रह के लिए किये जाने वाले अन्यान्य कार्यो के विषय मे अधिक उल्लेख करने की आवश्यकता नही । मूल पाठ और अर्थ से ही उन्हे समझा जा सकता है । साराश यह है कि परिग्रह के लिए मनुष्य आजीवन विविध कार्य करता है, उसके लिए पचता है, मगर कभी तृप्त नही होता और अधिकाधिक परिग्रह के लिए तरसता-तरसता ही मरण के शिकजे मे फँसता है ।

परिग्रह पाप का कटुफल—

९७—परलोगम्मि य णट्ठा तम पविट्ठा महयामोहमोहियमई तिमिसधयारे तसथावरसुहुम-बायरेसु पज्जत्तमपज्जत्तग-साहारण-पत्तेयसरीरेसु य अण्डय-पोयय-जराउय-रसय-ससेइम-सम्मुच्छिम-उब्भिय-उववाइएसु य णरय-तिरिय-देव-मणुस्सेसु जरामरणरोगसोगबहुलेसु पलिओवमसागरोवमाइ अणाइय अणवयग्ग दीहमद्ध चाउरतससारकतार अणुपरियट्टति जीवा लोहवससण्णिविट्ठा । एसो सो परिग्गहस्स फलविवागो इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहि मुच्चइ ण अवेयइत्ता अत्थि हु मोक्खोत्ति ।

एवमाहसु णायकुलणदणो महप्पा जिणो उ वीरवरणामधिज्जो कहेसी य परिग्गहस्स फल-विवाग ।

एसो सो परिग्गहो पचमो उ णियमा णाणामणिकणगरयण-महरिह एव जाव इमस्स मोक्ख-वरमोत्तिमग्गस्स फलहभूओ ।

चरिम अहम्मदार समत्त । त्ति बेमि ॥

९७—परिग्रह मे आसक्त प्राणी परलोक मे और इस लोक मे (सुगति से, सन्मार्ग से और सुख-शान्ति से) नष्ट-भ्रष्ट होते है । अज्ञानान्धकार मे प्रविष्ट होते हैं । तीव्र मोहनीयकर्म के उदय से मोहित मति वाले, लोभ के वश मे पडे हुए जीव त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और वादर पर्यायो मे तथा पर्याप्तक और अपर्याप्तक अवस्थाओ मे यावत्[1] चार गति वाले ससार-कानन मे परिभ्रमण करते है ।

परिग्रह का यह इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्वन्धी फल-विपाक अल्प सुख और अत्यन्त दु ख वाला है । महान्—घोर भय से परिपूर्ण है, अत्यन्त कर्म-रज से प्रगाढ है—गाढ कर्मवन्ध का कारण है, दारुण है, कठोर है और असाता का हेतु है । हजारो वर्षो मे अर्थात् वहुत दीर्घ काल मे इससे छुटकारा मिलता है । किन्तु इसके फल को भोगे विना छुटकारा नही मिलता ।

इस प्रकार ज्ञातकुलनन्दन महात्मा वीरवर (महावीर) जिनेश्वर देव ने कहा है । अनेक प्रकार की चन्द्रकान्त आदि मणियो, स्वर्ण, कर्केतन आदि रत्नो तथा वहुमूल्य अन्य द्रव्यरूप यह परिग्रह मोक्ष के मार्गरूप मुक्ति—निर्लोभता के लिए अर्गला के समान है । इसप्रकार यह अन्तिम आस्रवद्वार समाप्त हुआ ।

---

[1] यावत् शब्द से गृहीत पाठ और उसके अर्थ के लिए देखिए सूत्र ९१

आस्रवद्वार का उपसंहार

उपसहार : गाथाओ का अर्थ

९८—एएहिं पचहिं असवरेंहि,[1] रयमादिणित्तु अणुसमय।
चउविहगइपेरत, अणुपरियट्टंति ससारे ॥ १ ॥

९८—इन पूर्वोक्त पाँच आस्रवद्वारो के निमित्त से जीव प्रतिसमय कर्मरूपी रज का सचय करके चार गतिरूप समार मे परिभ्रमण करते रहते है।

९९—सव्वगइपक्खदे, काहिंति अणतए अकयपुण्णा।
जे य ण सुणति धम्म, सोऊण य जे पमायति ॥ २ ॥

९९—जो पुण्यहीन प्राणी धर्म को श्रवण नही करते अथवा श्रवण करके भी उसका आचरण करने मे प्रमाद करते है, वे अनन्त काल तक चार गतियो मे गमनागमन (जन्म-मरण) करते रहेगे।

१००—अणुसिट्ठ वि बहुविह, मिच्छदिट्ठिया जे णरा अहम्मा।
बद्धणिकाइयकम्मा, सुणति धम्म ण य करेंति ॥ ३ ॥

१००—जो पुरुप मिथ्यादृष्टि है, अधार्मिक है, जिन्होने निकाचित (अत्यन्त प्रगाढ) कर्मो का वन्ध किया है, वे अनेक तरह से शिक्षा पाने पर भी, धर्म का श्रवण तो करते है किन्तु उसका आचरण नही करते।

१०१—किं सक्का काउं जे, णेच्छह ओसह मुहा पाउ।
जिणवयण गुणमहुर, विरेयण सव्वदुक्खाण ॥ ४ ॥

१०१—जिन भगवान् के वचन समस्त दु खो का नाश करने के लिए गुणयुक्त मधुर विरेचन-औपध है, किन्तु निस्वार्थ भाव से दी जाने वाली इस औषध को जो पीना ही नही चाहते, उनके लिए क्या किया जा सकता है।

१०२—पचेव य उज्झिऊणं, पचेव य रक्खिऊणं भावेण।
कम्मरय-विप्पमुक्क, सिद्धिवर-मणुत्तर जति ॥ ५ ॥

१०२—जो प्राणी पाँच (हिंसा आदि आस्रवो) को त्याग कर और पाँच (अहिंसा आदि सवरो) की भावपूर्वक रक्षा करते है, वे कर्म-रज से मर्वथा रहित होकर सर्वोत्तम सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करते हैं।

॥ आस्रवद्वार नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त ॥

---

१ 'आसवेहिं' पाठ भी है।

२

∙ रद्वार

भूमिका

१०३—जबू ! एत्तो सवरदाराइ, पच वोच्छामि आणुपुव्वीए ।
जह भणियाणि भगवया, सव्वदुक्खविमोक्खणट्ठाए ।। १ ।।

१०३—श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं—हे जम्बू ! अब मै पाँच सवरद्वारो को अनुक्रम से कहूगा, जिस प्रकार भगवान् ने सर्वदु खो से मुक्ति पाने के लिए कहे हैं ।। १ ।।

१०४—पढम होइ अहिंसा, बिइय सच्चवयण ति पण्णत्त ।
दत्तमणुण्णाय सवरो य, बभचेर-मपरिग्गहत्त च ।। २ ।।

१०४—(इन पाँच सवरद्वारो मे) प्रथम अहिंसा है, दूसरा सत्यवचन है तीसरा स्वामी की आज्ञा से दत्त (अदत्तादानविरमण) है, चौथा ब्रह्मचर्य और पचम अपरिग्रहत्व है ।। २ ।।

१०५—तत्थ पढम अहिंसा, तस-थावर-सव्वभूय-खेमकरी ।
तीसे सभावणाओ, किंचि वोच्छ गुणुद्देसं ।। ३ ।।

१०५—इन सवरद्वारो मे प्रथम जो अहिंसा है, वह त्रस और स्थावर—समस्त जीवो का क्षेम-कुशल करने वाली है । मैं पाँच भावनाओ सहित अहिंसा के गुणो का कुछ कथन करू गा ।। ३ ।।

विवेचन—पाँच आस्रवद्वारो के वर्णन के पश्चात् शास्त्रकार ने यहाँ पाँच सवरद्वारो के वर्णन की प्रतिज्ञा प्रकट की है ।

पहले बतलाया जा चुका है कि ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मो के बन्ध का कारण आस्रव कहलाता है । आस्रव के विवक्षाभेद से अनेक आधारो से, अनेक भेद किए गए हैं । किन्तु यहाँ प्रधानता की विवक्षा करके आस्रव के पाँच भेदो का ही निरूपण किया गया और अन्यान्य भेदो का इन्ही मे समावेश कर दिया गया है । अतएव आस्रव के विरोधी सवर के भी पाँच ही भेद कहे गए है । तीन गुप्ति, पाँच समिति, दस धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा आदि सवरो को अहिंसादि सवरो एव उनकी भावनाओ मे अन्तर्गत कर लिया गया है । अतएव अन्यत्र सवर के जो भेद-प्रभेद हैं उनके साथ यहाँ उल्लिखित पाँच सख्या का कोई विरोध नही है ।

सवर, आस्रव का विरोधी तत्त्व है । उसका तात्पर्य यह है कि जिन अशुभ भावो से कर्मो का वध होता है, उनसे विरोधी भाव अर्थात् आस्रव का निरोध करने वाला भाव सवर है । सवर शब्द की व्युत्पत्ति से भी यही अर्थ फलित होता है—**'संव्रियन्ते प्रतिरुध्यन्ते आगन्तुककर्माणि येन सः**

संवर'', अर्थात् जिसके द्वारा आने वाले कर्म संवृत कर दिए जाते—रोक दिए जाते है, वह सवर है।

सरलतापूर्वक सवर का अर्थ समझाने के लिए एक प्रसिद्ध उदाहरण की योजना की गई है। वह इस प्रकार है—एक नौका अथाह समुद्र मे स्थित है। नौका मे गडबड होने से कुछ छिद्र हो गए और समुद्र का जल नौका मे प्रवेश करने लगा। उस जल के आगमन को रोका न जाए तो जल के भार के कारण वह डूब जाएगी। मगर चतुर नाविक ने उन छिद्रो को देख कर उन्हे वद कर दिया। नौका के डूबने की आशका समाप्त हो गई। अब वह सकुशल किनारे लग जाएगी। इसी प्रकार इस ससार-सागर मे कर्म-वर्गणा रूपी अथाह जल भरा है, अर्थात् सम्पूर्ण लोक मे अनन्त-अनन्त कार्मण-वर्गणाओ के सूक्ष्म-अदृश्य पुद्गल ठसाठस भरे है। उसमे आत्मारूपी नौका स्थित है। हिसा आदि आस्रवरूपी छिद्रो के द्वारा उसमे कर्मरूपी जल भर रहा है। यदि उस जल को रोका न जाए तो कर्मो के भार से वह ड्व जाएगी—ससार मे परिभ्रमण करेगी और नरकादि अधोगति मे जाएगी। मगर विवेकरूपी नाविक कर्मागमन के कारणो को देखता है और उन्हे वद कर देता है, अर्थात् अहिंसा आदि के आचरण से हिंसादि आस्रवो को रोक देता है। जब आस्रव रुक जाते है, कर्मवन्ध के कारण समाप्त हो जाते है तो कर्मो का नवीन बन्ध रुक जाता है और आत्मारूपी नौका सही-सलामत ससार से पार पहुच जाती है।

यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि नवीन पानी के आगमन को रोकने के साथ नौका मे जो जल पहले भर चुका है, उसे उलीच कर हटा देना पडता है। इसी प्रकार जो कर्म पहले बँध चुके है, उन्हे निर्जरा द्वारा नष्ट करना आवश्यक है। किन्तु यह क्रिया सवर का नही, निर्जरा का विषय है। यहाँ केवल सवर का ही प्रतिपादन है, जिसका विषय नये सिरे से कर्मो के आगमन को रोक देना है।

सवर की प्ररूपणा करने की प्रतिज्ञा के साथ सूत्रकार ने प्रथम गाथा मे दो महत्त्वपूर्ण बातो का भी उल्लेख किया है। **'जह भणियाणि भगवया'** अर्थात् भगवान् ने सवर का स्वरूप जैसा कहा है, वैसा ही मैं कहूँगा। इस कथन से सूत्रकार ने दो तथ्य प्रकट कर दिए है। प्रथम यह कि जो कथन किया जाने वाला है वह स्वमनीषिकाकल्पित नही है। सर्वज्ञ वीतराग देव द्वारा कथित है। इससे प्रस्तुत कथन की प्रामाणिकता द्योतित की है। साथ ही अपनी लघुता-नम्रता भी व्यक्त कर दी है।

'सव्वदुक्खविमोक्खणट्ठाए' इस पद के द्वारा अपने कथन का उद्देश्य प्रकट किया है। ससार के समस्त प्राणी दु ख से बचना चाहते है। जो भी कार्य किया जाता है, उसका लक्ष्य दु ख से मुक्ति पाना ही होता है। यह अलग बात है कि अधिकाश प्राणी अपने अविवेक के अतिरेक के कारण दु ख से बचने के लिए ऐसे उपाय करते है, जिनके कारण दु ख की अधिकाधिक वृद्धि होती है। फिर भी लक्ष्य तो दु ख से बचाव करना ही होता है।

समस्त दु खो से छुटकारा पाने का अमोघ उपाय समस्त कर्मो से रहित शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करना है और प्राप्त करने के लिए सवर की आराधना करना अनिवार्य है। जब तक नवीन कर्मो के आगमन को रोका न जाए तब तक कर्म-प्रवाह आत्मा मे आता ही रहता है। इस तथ्य को सूचित करने के लिए शास्त्रकार ने कहा है कि सवरद्वारो का प्ररूपण करने का प्रयोजन सर्व दु खो से विमोक्षण है, क्योकि उन्हे यथार्थ रूप से जाने विना उनकी साधना नही की जा सकती।

प्रथम अध्ययन . अहिसा

सवरद्वारो की महिमा

१०६—ताणि उ इमाणि सुव्वय ! महव्वयाइ लोयहियसव्वयाइ सुयसागर-देसियाइ तवसजममहव्वयाइ सीलगुणवरव्वयाइ सच्चज्जवव्वयाइ णरय-तिरिय-मणुय-देवगइ-विवज्जगाइ सव्वजिणसासणगाइ कम्मरयविदारगाइ भवसयविणासगाइ दुहसयविमोयणगाइ सुहसयपवत्तणगाइ कापुरिसदुरुत्तराइ सप्पुरिसणिसेवियाइ णिव्वाणगमणसग्गप्पयाणगाइ सवरदाराइ पच कहियाणि उ भगवया ।

१०६—श्रीसुधर्मा स्वामी ने अपने अन्तेवासी जम्बू स्वामी से कहा—हे सुव्रत ! अर्थात् उत्तम व्रतो के धारक और पालक जम्बू ! जिनका पूर्व मे नामनिर्देश किया जा चुका है ऐसे ये महाव्रत समस्त लोक के लिए हितकारी है या लोक का सर्व हित करने वाले है (अथवा लोक मे धैर्य—आश्वासन प्रदान करने वाले है ।) श्रुतरूपी सागर मे इनका उपदेश किया गया है । ये तप और सयमरूप व्रत हैं या इनमे तप एव सयम का व्यय—क्षय नही होता है । इन महाव्रतो मे शील का और उत्तम गुणो का समूह सन्निहित है । सत्य और आर्जव—ऋजुता—सरलता—निष्कपटता इनमे प्रधान है । अथवा इनमे सत्य और आर्जव का व्यय नही होता है । ये महाव्रत नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति से बचाने वाले है—मुक्तिप्रदाता है । समस्त जिनो—तीर्थंकरो द्वारा उपदिष्ट है—सभी ने इनका उपदेश दिया है । कर्मरूपी रज का विदारण करने वाले अर्थात् क्षय करने वाले हैं । सैकडो भवो—जन्ममरणो का अन्त करने वाले है । सैकड़ो दु खो से बचाने वाले हैं और सैकडो सुखो मे प्रवृत्त करने वाले है । ये महाव्रत कायर पुरुषो के लिए दुस्तर है, अर्थात् जो पुरुष भीरु है, जिनमे धैर्य और दृढता नही है, वे इनका पूरी तरह निर्वाह नही कर सकते । सत्पुरुषो द्वारा सेवित हैं, अर्थात् धीर-वीर पुरुषो ने इनका सेवन किया है (सेवन करते है और करेंगे) । ये मोक्ष मे जाने के मार्ग हैं, स्वर्ग मे पहुँचाने वाले है । इस प्रकार के ये महाव्रत रूप पाँच सवरद्वार भगवान् महावीर ने कहे है ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे सवरद्वारो का माहात्म्य प्रकट किया गया है, किन्तु यह माहात्म्य केवल स्तुतिरूप नही है । यह सवरद्वारो के स्वरूप और उनके सेवन करने के फल का वास्तविक निदर्शन कराने वाला है । सूत्र का अर्थ स्पष्ट है, तथापि किंचित् विवेचन करने से पाठको को सुविधा होगी ।

सवरद्वारो को महाव्रत कहा गया है । श्रावको के पालन करने योग्य व्रत अणुव्रत कहलाते है । अणुव्रतो की अपेक्षा महान् होने से इन्हे महाव्रत कहा गया है । अणुव्रतो मे हिसादि पापो का पूर्णतया त्याग नही होता—एक मर्यादा रहती है किन्तु महाव्रत कृत, कारित और अनुमोदना रूप तीनो करणो से तथा मन, वचन और काय रूप तीनो योगो से पालन किए जाते है । इनमे हिसा आदि का पूर्ण त्याग किया जाता है, अतएव ये महाव्रत कहलाते है ।

सवर समस्त हितो के प्रदाता है और वीतरागप्ररूपित शास्त्रो मे इनका उपदेश किया गया है, अतएव सशय के लिए कोई अवकाश नही है ।

ये महाव्रत तप और सयमरूप है । इस विशेषण द्वारा सूचित किया गया है कि इन महाव्रतो से सवर और निर्जरा—दोनो की सिद्धि होती है, अर्थात् नवीन कर्मो का आना भी रुकता है और पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा भी होती है । सयम सवर का और तप निर्जरा का कारण है । मुक्तिप्राप्ति के लिए सवर और निर्जरा दोनो अपेक्षित है । इसी तथ्य को स्फुट करने के लिए इन्हे **कर्म-रजविदारक** अर्थात् कर्मरूपी रज को नष्ट करने वाले है, ऐसा कहा गया है ।

महाव्रतो को भवशतविनाशक भी कहा है, जिसका शाब्दिक अर्थ सैकडो भवो को नष्ट करने वाला है । किन्तु 'शत' शब्द यहाँ सौ सख्या का वाचक न होकर विपुलसख्यक अर्थ का द्योतक समझना चाहिए अर्थात् इनकी आराधना से वहुत-से भवो—जन्ममरणो का अन्त आ जाता है ।

इनकी आराधना से जीव सैकडो दु खो से वच जाता है और सैकडो प्रकार के सुखो को प्राप्त करने मे समर्थ होता है, यह स्पष्ट है ।

महाव्रतरूप सवर की आराधना कायर पुरुष नही कर सकते, सत्पुरुष ही कर सकते है । जिनका मनोबल बहुत हीन दशा मे है, जो इन्द्रियो के दास है, जो मन पर नियत्रण नही रख सकते और जो धैर्यहीन है, सहनशील नही है, वे प्रथम तो महाव्रतो को धारण ही नही कर सकते । कदाचित् भावनावश धारण कर ले तो उनका यथावत् निर्वाह नही कर पाते । थोडे से प्रलोभन से या कष्ट आने पर भ्रष्ट हो जाते है अथवा साधुवेष को धारण किए हुए ही असाधुजीवन व्यतीत करते हैं । किन्तु जो सत्त्वशाली पुरुष दृढ मनोवृत्ति वाले, परीषह और उपसर्ग का वीरतापूर्वक सामना करने वाले एव मन तथा इन्द्रियो को अपने विवेक के अकुश मे रखते है, ऐसे सत्पुरुष इन्हे अगीकार करके निश्चल भाव से पालते है ।

महाव्रतो या सवरो का वर्णन प्रत्येक की पाँच-पाँच भावनाओ सहित किया जाएगा । कारण यह है कि भावनाएँ एक प्रकार से व्रत का अग है और उनका अनुसरण करने से व्रतो के पालन मे सरलता होती है, सहायता मिलती है और व्रत मे पूर्णता आ जाती है । भावनाओ की उपेक्षा करने से व्रत-पालन मे वाधा आती है । अतएव व्रतधारी को व्रत की भावनाओ को भलीभाँति समझ कर उनका यथावत् पालन करना चाहिए । इस तथ्य को सूचित करने के लिए **'सभावणाओ'** पद का प्रयोग किया गया है ।

अहिंसा भगवती के साठ नाम—

१०७—तत्थ पढमं अहिंसा जा सा सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स भवइ दीवो ताण सरण गई पइट्ठा १ णिव्वाण २ णिव्वुई ३ समाही ४ सत्ती ५ कित्ती ६ कती ७ रई य ८ विरई य ९ सुयंग १० तित्ती ११ दया १२ विमुत्ती १३ खती १४ सम्मत्ताराहणा १५ महती १६ बोही १७ बुद्धी १८ धिई १९ समिद्धी २० रिद्धी २१ विद्धी २२ ठिई २३ पुट्ठी २४ णदा २५ भद्दा २६ विसुद्धी २७ लद्धी २८ विसिट्ठदिट्ठी २९ कल्लाण ३० मगल ३१ पमोओ ३२ विभूई ३३ रक्खा ३४ सिद्धावासो ३५ अणासवो ३६ केवलीण ठाण ३७ सिव ३८ समिई ३९ सील ४० सजमो त्ति य ४१ सीलपरिघरो

४२ सवरो य ४३ गुत्ती ४४ ववसाओ ४५ उस्सओ ४६ जण्णो ४७ आययण ४८ जयणं ४९ अप्पमाओ ५० अस्साओ ५१ वीसाओ ५२ अभओ ५३ सव्वस्स वि अमाघाओ ५४ चोक्ख ५५ पवित्ता ५६ सूई ५७ पूया ५८ विमल ५९ पभासा य ६० णिम्मलयर त्ति एवमाईणि णिययगुणणिम्मियाइ पज्जवणामाणि होंति अहिंसाए भगवईए।

१०७—उन (पूर्वोक्त) पाँच सवरद्वारो मे प्रथम सवरद्वार अहिंसा है। अहिंसा के निम्नलिखित नाम है—

(१) द्वीप-त्राण-शरण-गति-प्रतिष्ठा—यह अहिंसा देवो, मनुष्यो और असुरो सहित समग्र लोक के लिए—द्वीप अथवा दीप (दीपक) के समान है—शरणदात्री है और हेयोपादेय का ज्ञान कराने वाली है। त्राण है—विविध प्रकार के जागतिक दुःखो से पीडित जनो की रक्षा करने वाली है, उन्हे शरण देने वाली है, कल्याणकामी जनो के लिए गति—गम्य है—प्राप्त करने योग्य है तथा समस्त गुणो एव सुखो का आधार है।

(२) निर्वाण—मुक्ति का कारण, शान्तिस्वरूपा है।

(३) निर्वृत्ति—दुर्ध्यानरहित होने से मानसिक स्वस्थतारूप है।

(४) समाधि—समता का कारण है।

(५) शक्ति—आध्यात्मिक शक्ति या शक्ति का कारण है। कही-कही 'सत्ती' के स्थान पर 'सती' पद मिलता है, जिसका अर्थ है—शान्ति। अहिंसा मे परद्रोह की भावना का अभाव होता है, अतएव वह शान्ति भी कहलाती है।

(६) कीर्त्ति—कीर्त्ति का कारण है।

(७) कान्ति—अहिंसा के आराधक मे कान्ति—तेजस्विता उत्पन्न हो जाती है, अत वह कान्ति है।

(८) रति—प्राणीमात्र के प्रति प्रीति, मैत्री, अनुरक्ति—आत्मीयता को उत्पन्न करने के कारण वह रति है।

(९) विरति—पापो से विरक्ति।

(१०) श्रुताङ्ग—समीचीन श्रुतज्ञान इसका कारण है, अर्थात् सत्-शास्त्रो के अध्ययन-मनन से अहिंसा उत्पन्न होती है, इस कारण इसे श्रुताग कहा गया है।

(११) तृप्ति—सन्तोषवृत्ति भी अहिंसा का एक अग है।

(१२) दया—कष्ट पाते हुए, मरते हुए या दुःखित प्राणियो की करुणाप्रेरित भाव से रक्षा करना, यथाशक्ति दूसरे के दुःख का निवारण करना।

(१३) विमुक्ति—बन्धनो से पूरी तरह छुडाने वाली।

(१४) क्षान्ति—क्षमा, यह भी अहिंसारूप है।

(१५) सम्यक्त्वाराधना—सम्यक्त्व की आराधना—सेवना का कारण।

(१६) महती—समस्त व्रतो मे महान्—प्रधान—जिनमे समस्त व्रतो का समावेश हो जाए।

(१७) बोधि—धर्मप्राप्ति का कारण।

(१८) बुद्धि—बुद्धि को साथकता प्रदान करने वाली।

(१९) धृति—चित्त की धीरता—दृढता।

(२०) समृद्धि—सब प्रकार की सम्पन्नता से युक्त—जीवन को आनन्दित करने वाली ।
(२१) ऋद्धि—लक्ष्मीप्राप्ति का कारण ।
(२२) वृद्धि—पुण्य-धर्म की वृद्धि का कारण ।
(२३) स्थिति—मुक्ति मे प्रतिष्ठित करने वाली ।
(२४) पुष्टि—पुण्यवृद्धि से जीवन को पुष्ट बनाने वाली अथवा पाप का अपचय कर के पुण्य का उपचय करने वाली ।
(२५) नन्दा—स्व और पर को आनन्द-प्रमोद प्रदान करने वाली ।
(२६) भद्रा—स्व का और पर का भद्र—कल्याण करने वाली ।
(२७) विशुद्धि—आत्मा को विशिष्ट शुद्ध बनाने वाली ।
(२८) लब्धि—केवलज्ञान आदि लब्धियो का कारण ।
(२९) विशिष्ट दृष्टि—विचार और आचार मे अनेकान्तप्रधान दर्शन वाली ।
(३०) कल्याण—कल्याण या शारीरिक एव मानसिक स्वास्थ्य का कारण ।
(३१) मगल—पाप-विनाशिनी, सुख उत्पन्न करने वाली, भव-सागर से तारने वाली ।
(३२) प्रमोद—स्व-पर को हर्ष उत्पन्न करने वाली ।
(३३) विभूति—आध्यात्मिक ऐश्वर्य का कारण ।
(३४) रक्षा—प्राणियो को दु ख से बचाने की प्रकृतिरूप, आत्मा को सुरक्षित बनाने वाली ।
(३५) सिद्धावास—सिद्धो मे निवास कराने वाली, मुक्तिधाम मे पहुँचाने वाली, मोक्षहेतु ।
(३६) अनास्रव—आते हुए कर्मो का निरोध करने वाली ।
(३७) केवलि-स्थानम्—केवलियो के लिए स्थानरूप ।
(३८) शिव—सुख स्वरूप, उपद्रवो का शमन करने वाली ।
(३९) समिति—सम्यक् प्रवृत्ति ।
(४०) शील—सदाचार स्वरूपा, समीचीन आचार ।
(४१) सयम—मन और इन्द्रियो का निरोध तथा जीवरक्षा रूप ।
(४२) शीलपरिग्रह—सदाचार अथवा ब्रह्मचर्य का घर—चारित्र का स्थान ।
(४३) सवर—आस्रव का निरोध करने वाली ।
(४४) गुप्ति—मन, वचन, काय की असत् प्रवृत्ति को रोकना ।
(४५) व्यवसाय—विशिष्ट-उत्कृष्ट निश्चय रूप ।
(४६) उच्छ्रय—प्रशस्त भावो की उन्नति—वृद्धि, समुदाय ।
(४७) यज्ञ—भावदेवपूजा अथवा यत्न-जीवरक्षा मे सावधानतास्वरूप ।
(४८) आयतन—समस्त गुणो का स्थान ।
(४९) अप्रमाद—प्रमाद—लापरवाही आदि का त्याग ।
(५०) आश्वास—प्राणियो के लिए आश्वासन—तसल्ली ।
(५१) विश्वास—समस्त जीवो के विश्वास का कारण ।
(५२) अभय—प्राणियो को निर्भयता प्रदान करने वाली, स्वय आराधक को भी निर्भय बनाने वाली ।
(५३) सर्वस्य अमाघात—प्राणिमात्र की हिंसा का निषेध अथवा अमारी-घोषणास्वरूप ।

(५४) चोक्ष—चोखी, शुद्ध, भली प्रतीत होने वाली ।
(५५) पवित्रा—अत्यन्त पावन--वज्र सरीखे घोर आघात से भी त्राण करने वाली ।
(५६) शुचि—भाव की अपेक्षा शुद्ध—हिसा आदि मलीन भावो से रहित, निष्कलक ।
(५७) पूता—पूजा, विशुद्ध या भाव से देवपूजारूप ।
(५८) विमला—स्वय निर्मल एव निर्मलता का कारण ।
(५९) प्रभासा—आत्मा को दीप्ति प्रदान करने वाली, प्रकाशमय ।
(६०) निर्मलतरा—अत्यन्त निर्मल अथवा आत्मा को अतीव निमल बनाने वाली ।

अहिंसा भगवती के इत्यादि (पूर्वोक्त तथा इसी प्रकार के अन्य) स्वगुणनिष्पन्न—अपने गुणो से निष्पन्न हुए नाम है ।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे अहिसा को भगवती कह कर उसकी असाधारण महिमा प्रकट की गई है । साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया हे कि चाहे नर हो, सुर हो अथवा असुर हो, अर्थात् मनुष्य या चारो निकायो के देवो मे से कोई भी हो और उपलक्षण से इनसे भिन्न पशु-पक्षी आदि हो सब के लिए अहिसा ही शरणभूत है । अथाह सागर मे डूबते हुए मनुष्य को जैसे द्वीप मिल जाए तो उसकी रक्षा हो जाती है, उसी प्रकार ससार-सागर मे दु ख पा रहे हुए प्राणियो के लिए भगवती अहिंसा त्राणदायिनी है ।

अहिसा के साठ नामो का साक्षात् उल्लेख करने के पश्चात् शास्त्रकार ने बतलाया है कि इसके इनके अतिरिक्त अन्य नाम भी है और वे भी गुणनिष्पन्न ही है ।

मूल पाठ मे जिन नामो का उल्लेख किया गया है, उनसे अहिसा के अत्यन्त व्यापक एव विराट् स्वरूप की सहज ही कल्पना आ सकती है । जो लोग अहिसा का अत्यन्त सकीर्ण अर्थ करते है, उन्हे अहिसा के इन साठ नामो से फलित होने वाले अर्थ पर गभीरता से विचार करना चाहिए । निर्वाण, निर्वृ त्ति, समाधि, तृप्ति, क्षान्ति, वोधि, धृति, विशुद्धि आदि-आदि नाम साधक की आन्तरिक भावनाओ को प्रकट करते है, अर्थात् मानव की इस प्रकार की सात्त्विक भावनाएँ भी अहिसा मे गर्भित हैं । ये भगवती अहिसा के विराट् स्वरूप की अग है । रक्षा, समिति, दया, अमाघात आदि नाम पर के प्रति चरितार्थ होने वाले साधक के व्यवहार के द्योतक है । तात्पर्य यह कि इन नामो से प्रतीत होता है कि दु खो से पीडित प्राणी को दु ख से बचाना भी अहिसा है, पर-पीडाजनक कार्य न करते हुए यतनाचार-समिति का पालन करना भी अहिसा का अग है और विश्व के समग्र जीवो पर दया-करुणा करना भी अहिसा है । कीर्त्ति, कान्ति, रति, चोक्षा, पवित्रा, शुचि, पूता आदि नाम उसकी पवित्रता के प्रकाशक हैं । नन्दा, भद्रा, कल्याण, मगल, प्रमोदा आदि नाम प्रकट करते हैं कि अहिसा की आराधना का फल क्या है । इसकी आराधना से आराधक की चित्तवृत्ति किस प्रकार कल्याणमयी, मगलमयी बन जाती है ।

इस प्रकार अहिसा के उल्लिखित नामो से उसके विविध रूपो का, उसकी आराधना से आराधक के जीवन मे प्रादुर्भूत होने वाली प्रशस्त वृत्तियो का एव उसके परिणाम—फल का स्पष्ट चित्र उभर आता है । अतएव जो लोग अहिसा का अतिसकीर्ण अर्थ 'जीव के प्राणो का व्यपरोपण न करना' मात्र मानते है, उनकी मान्यता की भ्रान्तता स्पष्ट हो जाती है ।

यद्यपि अहिंसा शब्द का सामान्य अर्थ हिंसा का अभाव, ऐसा होता है, किन्तु हिंसा शब्द मे भी बहुत व्यापक अर्थ निहित हे । अतएव उसके विरोधी 'अहिंसा' शब्द मे भी व्यापक अर्थ छिपा है । प्रमाद, कषाय आदि के वशीभूत होकर किसी प्राणी के प्राणो का व्यपरोपण करना हिंसा कहा गया है ।[1] यह हिंसा दो प्रकार की है—द्रव्यहिंसा और भावहिंसा । प्राणव्यपरोपण द्रव्यहिंसा हे और प्राणव्यपरोपण का मानसिक विचार भावहिंसा है । हिंसा से बचने की सावधानी न रखना भी एक प्रकार की हिंसा है । इनमे से भावहिंसा एकान्त रूप से हिंसा है, किन्तु द्रव्यहिंसा तभी हिंसा होती है जब वह भावहिंसा के साथ हो । अतएव अहिंसा के आराधक को भावहिंसा से बचने के लिए निरन्तर जागृत रहना पडता है । यह समस्त विषय अहिंसा के नामो पर सम्यक् विचार करने से स्पष्ट हो जाता है ।

अहिंसा का अन्तिम फल निर्वाण है, यह तथ्य भी प्रस्तुत पाठ से विदित हो जाता हे ।

अहिंसा की महिमा—

१०८—एसा सा भगवई अहिंसा जा सा भीयाण विव सरण,
पक्खीणं विव गमण,
तिसियाणं विव सलिल,
खुहियाण विव असणं,
समुद्दमज्झे व पोयवहण,
चउप्पयाण व आसमपय,
दुहट्ठियाण व ओसहिबल,
अडवीमज्झे व सत्थगमण,

एत्तो विसिट्ठतरिया अहिंसा जा सा पुढवी-जल-अगणि-मारुय-वणस्सइ-बीय-हरिय-जलयर-थलयर-खहयर-तस-थावर-सव्वभूय-खेमकरी ।

१०८—यह अहिंसा भगवती जो है सो
(ससार के समस्त) भयभीत प्राणियो के लिए शरणभूत है,
पक्षियो के लिए आकाश मे गमन करने—उडने के समान है,
यह अहिंसा प्यास से पीडित प्राणियो के लिए जल के समान है,
भूखो के लिए भोजन के समान है,
समुद्र के मध्य मे डूबते हुए जीवो के लिए जहाज समान है,
चतुष्पद—पशुओ के लिए आश्रम-स्थान के समान है,
दु खो से पीडित—रोगी जनो के लिए औषध-बल के समान है,
भयानक जगल मे सार्थ—सघ के साथ गमन करने के समान है ।

(क्या भगवती अहिंसा वास्तव मे जल, अन्न, औषध, यात्रा मे सार्थ (समूह) आदि के समान

१ प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिंसा । —तत्त्वार्थसूत्र अ ६

ही है ? नही ।) भगवती अहिंसा इनसे भी अत्यन्त विशिष्ट है, जो पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, वीज, हरितकाय, जलचर, स्थलचर, खेचर, त्रस और स्थावर सभी जीवो का क्षेम—कुशल-मगल करने वाली है ।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे अहिंसा की महिमा एव उपयोगिता का सुगम तथा भावपूर्ण चित्र उपमाओ द्वारा अभिव्यक्त किया गया है ।

जो प्राणी भय मे ग्रस्त है, जिसके सिर पर चारो ओर मे भय मडरा रहा हो, उसे यदि निर्भयता का स्थान—शरण मिल जाए तो कितनी प्रसन्नता होती है ! मानो उसका प्राण-सकट टला और नया जीवन मिला । अहिंसा समस्त प्राणियो के लिए इसी प्रकार शरणप्रदा है ।

व्योमविहारी पक्षी को पृथ्वी पर अनेक सकट आने की आशका रहती है और थोडी-सी भी आपत्ति की सभावना होते ही वह धरती छोड कर आकाश मे उडने लगता है । आकाश उसके लिए अभय का स्थल है । अहिंसा भी अभय का स्थान है ।

प्यास से पीडित को पानी और भूखे को भोजन मिल जाए तो उसकी पीडा एव पीडाजनित व्याकुलता मिट जाती है, उसे शान्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार अहिंसा परम शान्तिदायिनी है ।

जैसे जहाज समुद्र मे डूबते की प्राणरक्षा का हेतु होता है, उसी प्रकार ससार-समुद्र मे डूबने वाले प्राणियो की रक्षा करने वाली, उन्हे उवारने वाली अहिंसा है ।

चौपाये जैसे अपने वाडे मे पहुँच कर निर्भयता का अनुभव करते है—वह उनके लिए अभय का स्थान है, इसी प्रकार भगवती अहिंसा भी अभय का स्थान है—अभय प्रदान करने वाली है ।

जहाँ आवागमन वहुत ही कम होता है, ऐसी सुनसान तथा हिंस्र जन्तुओ से व्याप्त अटवी मे एकाकी गमन करना सकटमय होता है । सार्थ (समूह) के साथ जाने पर भय नही रहता, इसी प्रकार जहाँ अहिंसा है, वहाँ भय नही रहता ।

इन उपमाओ के निरूपण के पश्चात् सूत्रकार ने स्पष्ट किया है कि अहिंसा आकाश, पानी, भोजन, औषध आदि के समान कही गई है किन्तु ये उपमाएँ पूर्णोपमाएँ नही है । भोजन, पानी, औषध आदि उपमाएँ न तो ऐकान्तिक है और न आत्यन्तिक । तात्पर्य यह है कि दु ख या भय का प्रतीकार करने वाली इन वस्तुओ से न तो सदा के लिए दु ख दूर होता है और न परिपूर्ण रूप से होता है । यही नही, कभी-कभी तो भोजन, औषध आदि दु ख के कारण भी वन जाते है । किन्तु अहिंसा मे यह खतरा नही है । अहिंसा से प्राप्त आनन्द ऐकान्तिक है—उससे दु ख की लेशमात्र भी सभावना नही है । साथ ही वह आनन्द आत्यन्तिक भी है, अर्थात् अहिंसा से निर्वाण की प्राप्ति होती है, अतएव वह आनन्द सदैव स्थायी रहता है । एक वार प्राप्त होने के पश्चात् उसका विनाश नही होता । इस आशय को व्यक्त करने के लिए शास्त्रकार ने कहा है—**'एत्तो विसिट्ठतरिया अहिंसा'** अर्थात् अहिंसा इन सव उपमाभूत वस्तुओ से अत्यन्त विशिष्ट है ।

मूलपाठ मे वनस्पति का उल्लेख करने के साथ वीज, हरितकाय, पृथ्वीकायिक आदिए केन्द्रियो का उल्लेख करने के साथ स्थावर का एव जलचर आदि के साथ त्रस का और अन्त मे 'सर्वभूत' शब्द का जो पृथक् ग्रहण किया गया है, इसका प्रयोजन अहिंसा-भगवती की महिमा के अतिशय

को प्रकट करना है। आशय यही है कि अहिंसा से प्राणीमात्र का क्षेम-कुशल ही होता हैं, किसी का अक्षेम नही होता।

अहिंसा के विशुद्ध द्रष्टा और आराधक—

१०९—एसा भगवई अहिंसा जा सा अपरिमिय-णाणदसणधरेहिं सील-गुण-विणय-तव-सयम-णायगेहिं तित्थयरेहिं सव्वजगजीववच्छलेहि तिलोयमहिएहिं जिणवरेहि (जिणचदेहि) सुट्ठुदिट्ठा, ओहिजिणेहिं विण्णाया, उज्जुमईहिं विदिट्ठा, विउलमईहि विदिआ, पुव्वधरेहि अहीया, वेउव्वीहिं पतिण्णा, आभिणिबोहियणाणीहि सुयणाणीहि मणपज्जवणाणीहिं केवलणाणीहि आमोसहिपत्तेहि खेलोसहिपत्तेहि जल्लोसहिपत्तेहि विप्पोसहिपत्तेहि सव्वोसहिपत्तेहि बोयबुद्धीहि कुट्ठबुद्धीहि पयाणुसारीहि सभिण्णसोएहिं सुयधरेहिं मणबलिएहिं वयबलिएहिं कायबलिएहिं णाणबलिएहि दसणबलिएहिं चरित्तबलिएहि खीरासवेहिं महुआसवेहि सप्पियासवेहि अवखीणमहाणसिएहि चारणेहि विज्जाहरेहि।

चउत्थभत्तिएहिं एव जाव छम्मासभत्तिएहिं उक्खित्तचरएहि णिविखत्तचरएहि अतचरएहिं पतचरएहि लूहचरएहिं समुयाणचरएहि अण्णइलाएहि मोणचरएहि ससट्ठकप्पिएहिं तज्जायससट्ठकप्पिएहिं उवणिएहिं सुद्धेसणिएहिं सखादत्तिएहि दिट्ठलाभिएहि पुट्ठलाभिएहिं आयबिलिएहि पुरिमड्ढिएहिं एक्कासणिएहिं णिव्विइएहि भिण्णपिडवाइएहि परिमियपिडवाइएहि अताहारेहि पताहारेहि अरसाहारेहि विरसाहारेहि लूहाहारेहि तुच्छाहारेहि अतजीवीहि पतजीवीहि लूहजीवीहिं तुच्छजीवीहि उवसतजीवीहि पसतजीवीहि विवित्तजीवीहि अखीरमहुसप्पिएहिं अमज्जमसासिएहि ठाणाइएहि पडिमठाईहिं ठाणुक्कडिएहिं वीरासणिएहि णेसज्जिएहि डडाइएहि लगडसाईहि एगपासगेहि आयावएहिं अप्पावएहिं अणिट्ठुभएहिं अकडूयएहि धुयकेसमसुलोमणएहि सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्केहिं समणुचिण्णा, सुयहरविइयत्थकायबुद्धीहि। धीरमइबुद्धिणो य जे ते आसीविसउग्गतेयकप्पा णिच्छयववसायपज्जत्तकयमईया णिच्च सज्झायज्झाणअणुबद्धधम्मज्झाणा पचमहव्वयचरित्तजुत्ता समिया समिइसु, समियपावा छव्विहजगवच्छला णिच्चमप्पमत्ता एएहिं अण्णेहि य जा सा अणुपालिया भगवई।

१०९—यह भगवती अहिंसा वह है जो अपरिमित—अनन्त केवलज्ञान-दर्शन को धारण करने वाले, शीलरूप गुण, विनय, तप और सयम के नायक—इन्हे चरम सीमा तक पहुँचाने वाले, तीर्थ की सस्थापना करने वाले—प्रवर्त्तक, जगत् के समस्त जीवो के प्रति वात्सल्य धारण करने वाले, त्रिलोकपूजित जिनवरो (जिनचन्द्रो) द्वारा अपने केवलज्ञान-दर्शन द्वारा सम्यक् रूप मे स्वरूप, कारण और कार्य के दृष्टिकोण से निश्चित की गई है।

विशिष्ट अवधिज्ञानियो द्वारा विज्ञात की गई है—ज्ञपरिज्ञा से जानी गई और प्रत्याख्यान-परिज्ञा से सेवन की गई है। ऋजुमति-मन पर्यवज्ञानियो द्वारा देखी-परखी गई है। विपुलमति-मन - पर्यायज्ञानियो द्वारा ज्ञात की गई है। चतुर्दश पूर्वश्रुत के धारक मुनियो ने इसका अध्ययन किया है। विक्रियालब्धि के धारको ने इसका आजीवन पालन किया है। आभिनिवोधिक-मतिज्ञानियो ने, श्रुतज्ञानियो ने, अवधिज्ञानियो ने, मन पर्यवज्ञानियो ने, केवलज्ञानियो ने, आमर्षौपधिलब्धि के धारक, श्लेष्मौपधिलब्धिधारक, जल्लौपधिलब्धिधारको, विप्रुडौर्षधलब्धिधारको, सर्वौपधिलब्धिप्राप्त,

वीजबुद्धि-कोष्ठबुद्धि—पदानुसारिबुद्धि—लब्धि के धारको, सभिन्नश्रोतस्लब्धि के धारको, श्रुतधरो, मनोबली, वचनवली और कायवली मुनियो, ज्ञानवली, दर्शनवली तथा चारित्रवली महापुरुपो ने, मध्वास्रवलब्धिधारी, सर्पिरास्रवलब्धिधारी तथा अक्षीणमहानमलब्धि के धारको ने, चारणो और विद्याधरो ने, चतुर्थभक्तिको— एक-एक उपवास करने वालो से लेकर दो, तीन, चार, पाँच दिनो, इसी प्रकार एक मास, दो मास, तीन मास, चार मास, पाँच मास एव छह मास तक का अनशन-उपवास करने वाले तपस्वियो ने, इसी प्रकार उत्क्षिप्तचरक, निक्षिप्तचरक, अन्तचरक, प्रान्तचरक, रूक्षचरक, समुदानचरक, अन्नग्लायक, मौनचरक, ससृष्टकल्पिक, तज्जातससृष्टकल्पिक, उपनिधिक, शुद्धैपणिक, सख्यादत्तिक, दृष्टलाभिक, अदृष्टलाभिक, पृष्ठलाभिक, आचाम्लक, पुरिमार्धिक, एकाशनिक, निर्विकृतिक, भिन्नपिण्डपातिक, परिमितपिण्डपातिक, अन्ताहारी, प्रान्ताहारी, अरसाहारी, विरसाहारी, रूक्षाहारी, तुच्छाहारी, अन्तजीवी, प्रान्तजीवी, रूक्षजीवी, तुच्छजीवी, उपशान्तजीवी, प्रशान्तजीवी, विविक्तजीवी तथा दूध, मधु और घृत का यावज्जीवन त्याग करने वालो ने, मद्य और मास से रहित आहार करने वालो ने, कायोत्सर्ग करके एक स्थान पर स्थित रहने का अभिग्रह करने वालो ने, प्रतिमास्थायिको ने, स्थानोत्कटिको ने, वीरासनिको ने, नैपधिको ने, दण्डायतिको ने, लगण्डशायिको ने, एकपार्श्वको ने, आतापको ने, अपाव्रतो ने, अनिष्ठीवको ने, अकडूयको ने, धूतकेश-श्मश्रु लोम-नख अर्थात् सिर के बाल, दाढी, मू छ और नखो का सस्कार करने का त्याग करने वालो ने, सम्पूर्ण शरीर के प्रक्षालन आदि सस्कार के त्यागियो ने, श्रुतधरो के द्वारा तत्त्वार्थ को अवगत करने वाली बुद्धि के धारक महापुरुपो ने (अहिंसा भगवती का) सम्यक् प्रकार से आचरण किया है। (इनके अतिरिक्त) आशीविष सर्प के समान उग्र तेज से सम्पन्न महापुरुषो ने, वस्तुतत्त्व का निश्चय और पुरुषार्थ—दोनो मे पूर्ण कार्य करने वाली बुद्धि से सम्पन्न प्रज्ञापुरुषो ने, नित्य स्वाध्याय और चित्तवृत्तिनिरोध रूप ध्यान करने वाले तथा धर्मध्यान मे निरन्तर चिन्ता को लगाये रखने वाले पुरुषो ने, पाँच महाव्रतस्वरूप चारित्र से युक्त तथा पाँच समितियो से सम्पन्न, पापो का शमन करने वाले, षट् जीवनिकायरूप जगत् के वत्सल, निरन्तर अप्रमादी रह कर विचरण करने वाले महात्माओ ने तथा अन्य विवेकविभूषित सत्पुरुषो ने अहिंसा भगवती की आराधना की है।

विवेचन—कतिपय लोगो की ऐसी धारणा होती है कि अहिंसा एक आदर्श सिद्धान्त मात्र है। जीवन मे उसका निर्वाह नही किया जा सकता, अर्थात् वह व्यवहार मे नही लाई जा सकती। इस धारणा को भ्रमपूर्ण सिद्ध करने के लिए सूत्रकार ने खूब विस्तारपूर्वक यह बतलाया है कि अहिंसा मात्र सिद्धान्त नही, वह व्यवहार भी है और अनेकानेक महापुरुष अपने जीवन मे उसका पूर्णरूपेण परिपालन करते रहे हैं। यही तथ्य स्फुट करने के उद्देश्य से यहाँ तीर्थंकर भगवन्तो से लेकर विशिष्ट ज्ञानो के धारको, अतिशय लोकोत्तर बुद्धि के धनियो, विविध लब्धियो से सम्पन्न महामुनियो, आहार-विहार मे अतिशय सयमशील एव तपोनिरत तपस्वियो आदि-आदि का उल्लेख हुआ है।

इस विस्तृत उल्लेख से उन साधको के चित्त का समाधान भी किया गया है जो अहिंसा के पथ पर अग्रसर होने मे शकाशील होते है। जिस पथ पर अनेकानेक पुरुप चल चुके है, उस पर निश्शक भाव से मनुष्य चल पडता है। लोकोक्ति है—

महाजनो येन गत स पन्था।

अर्थात् जिस मार्ग पर महाजन—विशिष्ट पुरुष चले हे, वही हमारे लिए लक्ष्य तक पहुँचने का सही मार्ग है ।

अहिंसा के पथ पर त्रिलोकपूजित, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, प्राणीमात्र के प्रति वत्सल तीर्थंकर देव चले और अन्य अतिशयज्ञानी महामानव चले, वह अहिंसा का मार्ग निस्सदेह गन्तव्य है, वही लक्ष्य तक पहुँचाने वाला है और उसके विषय मे किसी प्रकार की शका रखना योग्य नही है । इस मूल पाठ से साधक को इस प्रकार का आश्वासन मिलता है ।

मूल पाठ मे अनेक पद ऐसे आए हैं, जिनकी व्याख्या करना आवश्यक है । वह इस प्रकार है—

विशिष्ट प्रकार की तपश्चर्या करने से तपस्वियो को विस्मयकारी लब्धियाँ—शक्तियाँ स्वत· प्राप्त हो जाती है । उनमे से कुछ लब्धियो के धारको का यहाँ उल्लेख किया गया है ।

आमर्षौषधिलब्धिधारक—विशिष्ट तपस्या के प्रभाव से किसी तपस्वी मे ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि उसके शरीर का स्पर्श करते ही सव प्रकार के रोग नष्ट हो जाते है । वह तपस्वी आमर्षौषधिलब्धि का धारक कहलाता है ।

श्लेष्मौषधिलब्धिधारी—जिनका श्लेष्म—कफ सुगधित और रोगनाशक हो ।

जल्लौषधिलब्धिधारी—जिनके शरीर का मैल रोग-विनाशक हो ।

विप्रुडौषधिलब्धिधारी—जिनका मल-मूत्र रोग-विनाशक हो ।

सर्वौषधिलब्धिधारी—जिनका मल, मूत्र कफ, मैल आदि सभी कुछ व्याधिविनाशक हो ।

बीजबुद्धिधारी—वीज के समान बुद्धि वाले । जैसे छोटे वीज से विशाल वृक्ष उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार एक साधारण अर्थ के ज्ञान के सहारे अनेक अर्थो को विशद रूप से जान लेने वाली क्षयोपशमजनित बुद्धि के धारक ।

कोष्ठबुद्धिधारी—जैसे कोठे मे भरा धान्य क्षीण नही होता, वैसे ही प्राप्त ज्ञान चिरकाल तक उतना ही वना रहे—कम न हो, ऐसी शक्ति से सम्पन्न ।

पदानुसारीबुद्धिधारक—एक पद को सुन कर ही अनेक पदो को जान लेने की बुद्धि-शक्ति वाले ।

सभिन्नश्रोतस्लब्धिधारी—एक इन्द्रिय से सभी इन्द्रियो के विषय को ग्रहण करने की शक्ति वाले ।

श्रुतधर—आचाराग आदि आगमो के विशिष्ट ज्ञाता ।

मनोबली—जिनका मनोवल अत्यन्त दृढ हो ।

वचनबली—जिनके वचनो मे कुतर्क, कुहेतु का निरसन करने का विशिष्ट सामर्थ्य हो ।

कायबली—भयानक परीषह और उपसर्ग आने पर भी अचल रहने की शारीरिक शक्ति के धारक ।

ज्ञानबली—मतिज्ञान आदि ज्ञानो के वल वाले ।

दर्शनबली—सुदृढ तत्त्वार्थश्रद्धा के बल से सम्पन्न ।

चारित्रबली—विशुद्ध चारित्र की शक्ति से युक्त ।

क्षीरास्रवी—जिनके वचन दूध के समान मधुर प्रतीत हो ।

मधुरास्रवी—जिनकी वाणी मधु-सी मीठी हो ।

सर्पिरास्रवी—जिनके वचन घृत जैसे स्निग्ध-स्नेहभरे हो ।

अक्षीणमहानसिक—समाप्त नही होने वाले भोजन की लब्धि वाले । इस लब्धि के धारक मुनि अकेले अपने लिए लाये भोजन मे मे लाखो को तृप्तिजनक भोजन करा सकते है । वह भोजन तभी समाप्त होता है जब लाने वाला स्वय भोजन कर ले ।

चारण—आकाश मे विशिष्ट गमन करने वाले ।

विद्याधर—विद्या के बल से आकाश मे चलने की शक्ति वाले ।

उत्क्षिप्तचरक—पकाने के पात्र मे से बाहर निकाले हुए भोजन मे से ही आहार ग्रहण करने के अभिग्रह वाले ।

निक्षिप्तचरक—पकाने के पात्र मे रक्खे हुए भोजन को ही लेने वाले ।

अन्तचरक—नीरस या चना आदि निम्न कोटि का ही आहार लेने वाले ।

प्रान्तचरक—बचा-खुचा ही आहार लेने की प्रतिज्ञा—अभिग्रह वाले ।

रूक्षचरक—रूखा-सूखा ही आहार लेने वाले ।

समुदानचरक—सधन, निर्धन एव मध्यम श्रेणी के घरो से समभावपूर्वक भिक्षा ग्रहण करने वाले ।

अन्नग्लायक—ठडी-बासी भिक्षा स्वीकार करने वाले ।

मौनचरक—मौन धारण करके भिक्षा के लिए जाने वाले ।

ससृष्टकल्पिक—भरे (लिप्त) हाथ या पात्र से आहार लेने की मर्यादा वाले ।

तज्जातससृष्टकल्पिक—जो पदार्थ ग्रहण करना है उसी से भरे हुए हाथ या पात्रादि से भिक्षा लेने के कल्प वाले ।

उपनिधिक—समीप मे ही भिक्षार्थ जाने के अथवा समीप मे रहे हुए पदार्थ को ही ग्रहण करने के अभिग्रह वाले ।

शुद्धैषणिक—निर्दोप आहार की गवेषणा करने वाले ।

सख्यादत्तिक—दत्तियो की सख्या निश्चित करके आहार लेने वाले ।

दृष्टलाभिक—दृष्ट स्थान से दी जाने वाली या दृष्ट पदार्थ की भिक्षा ही स्वीकार करने वाले ।

अदृष्टलाभिक—अदृष्टपूर्व—पहले नही देखे दाता से भिक्षा लेने वाले ।

पृष्टलाभिक—'महाराज ! यह वस्तु लेगे ?' इस प्रकार प्रश्नपूर्वक प्राप्त भिक्षा लेने वाले ।

आचाम्लिक—आयबिल तप करने वाले ।

पुरिमार्धिक—दो पौरुषी दिन चढे बाद आहार लेने वाले ।

एकासनिक—एकाशन करने वाले ।

निर्विकृतिक—घी, दूध, दही आदि रसो मे रहित भिक्षा लेने वाले ।

भिन्नपिण्डपातिक—फूटे—बिखरे पिण्ड—आहार को लेने वाले ।

परिमितपिण्डपातिक—घरो एव आहार के परिमाण का निश्चय करके आहार ग्रहण करने वाले ।

अरसाहारी—रसहीन—हीग आदि वघार से रहित आहार लेने वाले ।

विरसाहारी—पुराना होने से नीरस हुए धान्य का आहार लेने वाले ।

उपशान्तजीवी—भिक्षा के लाभ और अलाभ की स्थिति मे उद्विग्न न होकर शान्तभाव मे रहने वाले ।

प्रतिमास्थायिक—एकमासिकी आदि भिक्षुप्रतिमाओ को स्वीकार करने वाले ।

स्थानोत्कुटुक—उकडू आसन से एक जगह बैठने वाले ।

वीरासनिक—वीरासन से बैठने वाले । (पैर धरती पर टेक कर कुर्सी पर बैठे हुए मनुष्य के नीचे से कुर्सी हटा लेने पर उसका जो आसन रहता है, वह वीरासन है ।)

नैषद्यिक—दृढ आसन से बैठने वाले ।

दण्डायतिक—डडे के समान लम्बे लेट कर रहने वाले ।

लगण्डशायिक—सिर और पावो की एडियो को धरती पर टिका कर और शेष शरीर को अधर रख कर शयन करने वाले ।

एकपार्श्वक—एक ही पसवाडे से सोने वाले ।

आतापक—सर्दी-गर्मी मे आतापना लेने वाले ।

अप्रावृत्तिक—प्रावरण—वस्त्ररहित होकर शीत, उष्ण, दश-मशक आदि परीषह सहन करने वाले ।

अनिष्ठीवक—नही थूकने वाले ।

अकण्डूयक—शरीर को खुजली आने पर भी नही खुजलाने वाले ।

शेष पद सुगम—सुबोध है और उनका आशय अर्थ मे ही आ चुका है ।

इस प्रकार के महनीय पुरुषो द्वारा आचरित अहिंसा प्रत्येक कल्याणकामी के लिए आचरणीय है ।

आहार की निर्दोष विधि

११०—इम च पुढवि-दग-अगणि-मारुय-तरुगण-तस-थावर-सव्वभूयसजमदयट्ठयाए सुद्ध उञ्छ गवेसियव्व अकयमकारियमणाहूयमणुद्दिट्ठ अकीयकड णवहि य कोडिहिं सुपरिसुद्ध, दसहि य दोसेहिं विप्पमुक्क, उग्गम-उप्पायणेसणासुद्ध ववगयचुयचावियचत्तदेह च फासुय च ण णिसज्जकहापओयणक्खासुओवणीय ति ण तिगिच्छा-मत-मूल-भेसज्जकज्जहेउ, ण लक्खणुप्पाय-सुमिण-जोइस-णिमित्त-कहकप्पउत्त, ण वि डभणाए, ण वि रक्खणाए, ण वि सासणाए, ण वि डभण-रक्खण-सासणाए भिक्ख गवेसियव्व, ण वि वदणाए, ण वि माणणाए, ण वि पूयणाए, ण वि वदण-माणण-पूयणाए भिक्ख गवेसियव्व ।

११०—अहिसा का पालन करने के लिए उद्यत साधु को पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय—इन स्थावर और (द्वीन्द्रिय आदि) त्रस, इस प्रकार सभी प्राणियो के प्रति सयमरूप दया के लिए शुद्ध--निर्दोष भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए। जो आहार साधु के लिए नही बनाया गया हो, दूसरे से नही बनवाया गया हो, जो अनाहूत हो अर्थात् गृहस्थ द्वारा निमत्रण देकर या पुन बुलाकर न दिया गया हो, जो अनुद्दिष्ट हो—साधु के निमित्त तैयार न किया गया हो, साधु के उद्देश्य से खरीदा नही गया हो, जो नव कोटियो से विशुद्ध हो, शकित आदि दश दोषो से सर्वथा रहित हो, जो उद्गम के सोलह, उत्पादना के सोलह और एपणा के दम दोषो से रहित हो, जिस देय वस्तु मे से आगन्तुक जीव-जन्तु स्वत पृथक् हो गए हो, वनस्पतिकायिक आदि जीव स्वत या परत – किसी के द्वारा च्युत—मृत हो गए हो या दाता द्वारा दूर करा दिए गए हो अथवा दाता ने स्वय दूर कर दिए हो, इस प्रकार जो भिक्षा अचित्त हो, जो शुद्ध अर्थात् भिक्षा सम्वन्धी अन्य दोपो से रहित हो, ऐसी भिक्षा की गवेपणा करनी चाहिए।

भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर गए हुए साधु को आसन पर बैठ कर, धर्मोपदेश देकर या कथा-कहानी सुना कर प्राप्त किया हुआ आहार नही ग्रहण करना चाहिए। वह आहार चिकित्सा, मत्र, मूल--जडीबूटी, औषध आदि के हेतु नही होना चाहिए। स्त्री-पुरुप आदि के शुभाशुभसूचक लक्षण, उत्पात—भूकम्प, अतिवृष्टि, दुर्भिक्ष आदि स्वप्न, ज्यौतिष—ग्रहदशा, मुहूर्त्त आदि का प्रतिपादक शास्त्र, विस्मयजनक चामत्कारिक प्रयोग या जादू के पयोग के कारण दिया जाता आहार नही होना चाहिए, अर्थात् साधु को लक्षण, उत्पात, स्वप्नफल या कुतूहलजनक प्रयोग आदि वतला कर भिक्षा नही ग्रहण करना चाहिए। दम्भ अर्थात् माया का प्रयोग करके भिक्षा नही लेनी चाहिए। गृहस्वामी के घर की या पुत्र आदि की रखवाली करने के बदले प्राप्त होने वाली भिक्षा नही लेनी चाहिए—भिक्षाप्राप्ति के लिए रखवाली नही करनी चाहिए। गृहस्थ के पुत्रादि को शिक्षा देने या पढाने के निमित्त से भी भिक्षा ग्राह्य नही है। पूर्वोक्त दम्भ, रखवाली और शिक्षा—इन तीनो निमित्तो से भिक्षा नही स्वीकार करनी चाहिए। गृहस्थ का वन्दन—स्तवन—प्रशसा करके, सन्मान—सत्कार करके अथवा पूजा—सेवा करके और वन्दन, मानन एव पूजन—इन तीनो को करके भिक्षा की गवेषणा नही करना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे अहिसा के आराधक साधु को किस प्रकार की निर्दोप भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए, यह प्रतिपादित किया गया है। सूत्र मे जिन दोषो का उल्लेख हुआ है, उनसे बचते हुए ही भिक्षा ग्रहण करने वाला पूर्ण अहिसा की आराधना कर सकता है। कतिपय विशिष्ट पदो का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

नवकोटिपरिशुद्ध—आहारशुद्धि की नौ कोटियाँ ये है—(१) आहारादि के लिए साधु हिसा न करे (२) दूसरे के द्वारा हिंसा न कराए (३) ऐसी हिसा करने वाले का अनुमोदन न करे (४) स्वय न पकाए (५) दूसरे से न पकवाए (६) पकाने वाले का अनुमोदन न करे (७) स्वय न खरीदे (८) दूसरे से न खरीदवाए और (९) खरीदने वाले का अनुमोदन न करे। ये नौ कोटियाँ मन, वचन और काय से समझना चाहिए।

शंकित आदि दस दोष—

(१) **शकित**—दोष की आशका होने पर भी भिक्षा ले लेना।

(२) म्रक्षित—देते समय हाथ, पात्र या आहार सचित्त पानी आदि मे लिप्त होना।
(३) निक्षिप्त—सचित्त पर रक्खी अचित्त वस्तु ग्रहण करना।
(४) पिहित—सचित्त से ढँकी वस्तु लेना।
(५) संहृत—किसी पात्र मे से दोषयुक्त वस्तु पृथक् करके उसी पात्र मे दी जाने वाली भिक्षा ग्रहण करना।
(६) दायक—बालक आदि अयोग्य दाता से भिक्षा लेना, किन्तु गृहस्वामी स्वय बालक से दिलाए तो दोष नही है।
(७) उन्मिश्र—सचित्त अथवा सचित्तमिश्रित से मिला हुआ लेना।
(८) अपरिणत—जिसमे शस्त्र पूर्ण रूप से परिणत न हुआ हो—जो पूर्ण रूप से अचित्त न हुआ हो, ऐसा आहार लेना।
(९) लिप्त—तत्काल लीपी हुई भूमि पर से भिक्षा लेना।
(१०) छर्दित—जो आंशिक रूप से नीचे गिर या टपक रहा हो, ऐसा आहार लेना।

(१) सोलह उद्गम-दोष—

(१) आधाकर्म —किसी एक—अमुक साधु के निमित्त से षट्काय के जीवो की विराधना करके किसी वस्तु को पकाना आधाकर्म कहलाता है। यह दोष चार प्रकार से लगता है—(१) आधाकर्म दोष से दूषित आहार का सेवन करना (२) आधाकर्मी आहार के लिए निमत्रण स्वीकार करना (३) आधाकर्मी आहार का सेवन करने वालो के साथ रहना (४) आधाकर्मी आहारसेवी की प्रशसा करना।

(२) औद्देशिक—साधारण रूप से भिक्षुओ के लिए तैयार किया हुआ आहारादि औद्देशिक कहलाता है। यह दो प्रकार से होता है—ओघ से और विभाग से। अपने लिए बनती हुई रसोई मे भिक्षुको के लिए कुछ अधिक बनाना ओघ है और विवाह आदि के अवसर पर भिक्षुको के लिए कुछ भाग अलग निकाल रखना विभाग कहा जाता है। आधाकर्मी आहार किसी विशिष्ट—अमुक एक साधु के उद्देश्य से और औद्देशिक सामान्य रूप से किन्ही भी साधुओ के लिए बनाया गया होता है। यही इन दोनो मे अन्तर है।

(३) पूतिकर्म —निर्दोष आहार मे दूषित आहार का अश मिला हो तो वह पूतिकर्म दोष से दूषित होता है।

(४) मिश्रजात—अपने लिए और साधु के लिए तैयार किया गया आहार मिश्रजातदोषयुक्त कहलाता है।

(५) स्थापना—साधु के लिए अलग रखा हुआ आहार लेना स्थापनादोष है।

(६) प्राभृतिका—साधु को आहार देने के निमित्त से जीमनवार के समय को आगे-पीछे करना।

(७) प्रादुष्करण—अन्धेरे मे रक्खी हुई वस्तु को लाने के लिए उजाला करके या अन्धकार मे से प्रकाश मे लाया आहार लेना।

(८) क्रीत—साधु के निमित्त खरीद कर लाया आहार लेना।

(९) प्रामित्य—साधु के लिए उधार लिया हुआ आहार लेना।

(१०) परिवर्तित—साधु के लिए आहार मे अदल-बदल करना, दूसरे मे अदलाबदली करना।

(११) अभिहृत—साधु के सामने—उपाश्रय आदि मे आहार लाना।

(१२) उद्भिन्न—साधु को देने के लिए किसी पात्र को खोलना—लाख आदि के लेप को हटाना।

(१३) मालापहृत—निसरणी आदि लगा कर, उस पर चढ कर, ऊपर से नीचे उतार कर दिया जाने वाला आहार।

(१४) आच्छेद्य—दुर्बलो से या आश्रित जनो से छीन कर साधु को आहार देना।

(१५) अनिसृष्ट—जिस वस्तु के अनेक स्वामी हो, उसे उन सब की अनुमति के बिना देना।

(१६) अध्यवपूर—साधुओ का आगमन जान कर अपने लिए बनने वाले भोजन मे अधिक सामग्री मिला देना—अधिक रसोई तैयार करना।

उद्गम के इन सोलह दोषो का निमित्त दाता होता है, अर्थात् दाता के कारण ये दोष होते है।

(२) सोलह उत्पादनादोष—

(१) धात्री—धायमाता जैसे कार्य—बच्चे को खेलाना आदि करके आहार प्राप्त करना।

(२) दूती—गुप्त अथवा प्रकट सदेश पहुँचा कर आहार प्राप्त करना।

(३) निमित्त—शुभ-अशुभ निमित्त बतलाकर आहार प्राप्त करना।

(४) आजीव—प्रकट या अप्रकट रूप से अपनी जाति या कुल का परिचय देकर भिक्षा प्राप्त करना।

(५) वनीपक—जैन, बौद्ध, वैष्णव आदि मे जहाँ जिसका आदर हो, वहाँ वैसा ही अपने को बतलाकर अथवा दीनता दिखलाकर आहार प्राप्त करना।

(६) चिकित्सा—वैद्यवृत्ति से आहार प्राप्त करना।

(७) क्रोध—क्रोध करके या गृहस्थ को शाप आदि का भय दिखाकर आहार प्राप्त करना।

(८) मान—अभिमान से अपने को प्रतापी, तेजस्वी वगैरह बतला कर आहार प्राप्त करना।

(९) माया—छल करके आहार प्राप्त करना।

(१०) लोभ—आहार मे लोभ करना, आहार के लिए जाते समय लालचवश ऐसा निश्चय करके जाना कि आज तो अमुक वस्तु ही लाएँगे और उस वस्तु के न मिलने पर उसके लिए भटकना।

(११) पूर्व-पश्चात् सस्तव—आहार देने से पहले या पश्चात् दाता की प्रशसा करना, उसका गुणगान करना।

(१२) विद्या—देवी जिसकी अधिष्ठात्री हो और जप या हवन से जिसकी सिद्धि हो, उसे विद्या कहते है। ऐसी विद्या के प्रयोग से आहारलाभ करना।

(१३) **मन्त्र**—पुरुषप्रधान अक्षर-रचना को मत्र कहते हैं, जिसका जप करने मात्र मे सिद्धि प्राप्त हो जाए। ऐसे मत्र के प्रयोग से आहार प्राप्त करना।

(१४) **चूर्ण**—अदृश्य करने वाले चूर्ण—सुरमा आदि का प्रयोग करके भिक्षालाभ करना।

(१५) **योग**—पैर मे लेप करने आदि द्वारा सिद्धियाँ बतला करके आहार प्राप्त करना।

(१६) **मूलकर्म**—गर्भाधान, गर्भपात आदि भवभ्रमण के हेतुभूत पापकृत्य मूल कहलाते है। ऐसे कृत्य बतला कर आहार प्राप्त करना।

ये सोलह उत्पादना दोष कहलाते है। ये दोष साधु के निमित्त से लगते हैं। निर्दोष भिक्षा प्राप्त करने के लिए इनसे भी बचना आवश्यक है।

१११—णवि हीलणाए, ण वि णिदणाए, ण वि गरहणाए, ण वि हीलण-णिदण-गरहणाए भिक्ख गवेसियव्व। ण वि भेसणाए, ण वि तज्जणाए, ण वि तालणाए, ण वि भेसण-तज्जण-तालणाए भिक्ख गवेसियव्व। ण वि गारवेण, ण वि कुहणयाए, ण वि वणीमयाए, ण वि गारव-कुहण-वणीमयाए भिक्ख गवेसियव्व। ण वि मित्तयाए, ण वि पत्थणाए, ण वि सेवणाए, ण वि मित्त-पत्थण-सेवणाए भिक्ख गवेसियव्व। अण्णाए अगढिए अदुट्ठे अदीणे अविमणे अकलुणे अविसाई अपरितंतजोगी जयणघडणकरणचरियविणयगुणजोगसपउत्ते भिक्खू भिक्खेसणाए णिरए।

१११—(पूर्वोक्त वन्दन, मानन एव पूजन से विपरीत) न तो गृहस्थ की हीलना करके—जाति आदि के आधार पर बदनामी करके, न निन्दना—देय आहार आदि अथवा दाताके दोषको प्रकट करके और न गर्हा करके—अन्य लोगो के समक्ष दाता के दोष प्रकट करके तथा हीलना, निन्दना एव गर्हा—तीनो न करके भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इसी तरह साधु को भय दिखला कर, तर्जना करके—डाट कर या धमकी देकर और ताडना करके—थप्पड-मुक्का मार कर भी भिक्षा नही ग्रहण करना चाहिए और यह तीनो—भय-तर्जना-ताडना करके भी भिक्षा की गवेषणा नही करनी चाहिए। ऋद्धि, रस और साता के गौरव-अभिमान से भी भिक्षा की गवेषणा नही करनी चाहिए, न अपनी दरिद्रता दिखा कर, मायाचार करके या क्रोध करके, न भिखारी की भाँति दीनता दिखा कर भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए और न यह तीनो—गौरव-क्रोध-दीनता दिखा कर भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए। मित्रता प्रकट करके, प्रार्थना करके और सेवा करके भी अथवा यह तीनो करके भी भिक्षा की गवेषणा नही करनी चाहिए। किन्तु अज्ञात रूप से—अपने स्वजन, कुल, जाति आदि का परिचय न देते हुए, अगृद्ध—आहार मे आसक्ति—मूर्छा से रहित होकर, आहार और आहारदाता के प्रति द्वेष न करते हुए, अदीन—दैन्यभाव से मुक्त रह कर, भोजनादि न मिलने पर मन मे उदासी न लाते हुए, अपने प्रति हीनता-करुणता का भाव न रखते हुए—दयनीय न होकर, अविषादी—विषाद-रहित वचन-चेष्टा रख कर, निरन्तर मन-वचन-काय को धर्मध्यान मे लगाते हुए, यत्न—प्राप्त सयमयोग मे उद्यम, अप्राप्त सयम योगो की प्राप्ति मे चेष्टा, विनय के आचरण और क्षमादि के गुणो के योग से युक्त होकर साधु को भिक्षा की गवेषणा मे निरत—तत्पर होना चाहिए।

विवेचन—उल्लिखित पाठ मे भी साधु की भिक्षाशुद्धि की विधि का प्रतिपादन किया गया है। शरीर धर्मसाधना का प्रधान आधार है और आहार के अभाव मे शरीर टिक नही सकता। इस

उद्देश्य से साधु को आहार-पानी आदि सयम-साधनो की आवश्यकता होती है। किन्तु उन्हे किस प्रकार निर्दोष रूप मे प्राप्त करना चाहिए, इस प्रश्न का उत्तर आगमो मे यत्र-तत्र अत्यन्त विस्तार से दिया गया है। आहारादि-ग्रहण के साथ अनेकानेक विधिनिषेध जुडे हुए है। उन सब का अभिप्राय यही है कि साधु ने जिन महाव्रतो को अगीकार किया है, उनका भलीभांति रक्षण एव पालन करते हुए ही उसे आहारादि प्राप्त करना चाहिए। आहारादि के लिए उसे सयमविरुद्ध कोई क्रिया नही करनी चाहिए। साथ ही पूर्ण समभाव की स्थिति मे रहना चाहिए। आहार का लाभ होने पर हर्ष और लाभ न होने पर विषाद को निकट भी न फटकने देना चाहिए। मन मे लेशमात्र दीनता-हीनता न आने देना चाहिए और दाता या देय वस्तु के अनिष्ट होने पर क्रोध या द्वेष की भावना नही लानी चाहिए। आहार के विषय मे गृद्धि नहीं उत्पन्न होने देना भी आवश्यक है। इस प्रकार शरीर, आहार आदि के प्रति ममत्वविहीन होकर सब दोषो से बच कर भिक्षा की गवेषणा करने वाला मुनि ही अहिसा भगवती की यथावत् आराधना करने मे समर्थ होता है।

प्रवचन का उद्देश्य और फल—

११२—इम च ण सव्वजगजीव-रक्खणदयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय अत्तहिय पेच्चाभाविय आगमेसिभद्द सुद्ध णेयाउय अकुडिल अणुत्तर सव्वदुक्खपावाणविउसमण।

११२—(अहिंसा की आराधना के लिए शुद्ध—निर्दोष भिक्षा आदि के ग्रहण का प्रतिपादक) यह प्रवचन श्रमण भगवान् महावीर ने जगत् के समस्त जीवो की रक्षा—दया के लिए समीचीन रूप मे कहा है। यह प्रवचन आत्मा के लिए हितकर है, परलोक—आगामी जन्मो मे शुद्ध फल के रूप मे परिणत होने से भविक है तथा भविष्यत् काल मे भी कल्याणकर है। यह भगवत्प्रवचन शुद्ध—निर्दोष है और दोषो से मुक्त रखने वाला है, न्याययुक्त है—तर्कसगत है और किसी के प्रति अन्यायकारी नही है, अकुटिल है अर्थात् मुक्तिप्राप्ति का सरल—सीधा मार्ग है, यह अनुत्तर—सर्वोत्तम है तथा समस्त दु खो और पापो को उपशान्त करने वाला है।

विवेचन—इस पाठ मे विनेय जनो की श्रद्धा को सुदृढ बनाने के लिए प्रवचन के उद्देश्य और महत्त्व का निरूपण किया गया है।

तीर्थंकर भगवान् जगत् के समस्त प्राणियो के प्रति परिपूर्ण समभाव के धारक होते है। पूर्ण वीतराग होने के कारण न किसी पर राग और न किसी पर द्वेष का भाव उनमे होता है। इस कारण भगवान् तीर्थंकर देव का प्रवचन सार्व—सर्वकल्याणकारी ही होता है।

चार घातिकर्मों से मुक्त और कृतकृत्य हो चुकने पर भी तीर्थंकर उपदेश क्यो—किसलिए करते है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तीर्थंकर नामकर्म के उदय से भगवान् प्राणियो की रक्षा रूप करुणा से प्रेरित होकर उपदेश मे प्रवृत्त होते हैं। भव्य प्राणियो का प्रबल पुण्य भी उसमे बाह्य निमित्त बनता है।

साधारण पुरुष की उक्ति वचन कहलाती है और महान् पुरुष का वचन **प्रवचन** कहलाता है। प्रवचन शब्द की व्युत्पत्ति व्याकरणशास्त्र के अनुसार तीन प्रकार से की जा सकती है—

प्रकृष्ट वचन यस्य असौ प्रवचन—अर्थात् जिनका वचन प्रकृष्ट—अत्यन्त उत्कृष्ट हो । इस व्युत्पत्ति के अनुसार वीतराग देव प्रवचन हैं ।

प्रकृष्ट वचन प्रवचनम्—अर्थात् श्रेष्ठ वचन ही प्रवचन है । इस व्युत्पत्ति के अनुसार शास्त्र प्रवचन कहलाता है ।

प्रकृष्टस्य वचन प्रवचनम्—अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष का वचन प्रवचन है । इस व्युत्पत्ति मे गुरु को भी प्रवचन कहा जा सकता है ।

इस प्रकार प्रवचन शब्द देव, शास्त्र और गुरु, इन तीनो का वाचक हो सकता है । प्रस्तुत मे 'पावयण' (प्रवचन) शब्द आगमवाचक है ।

किसी वस्तु की प्रमाण से परीक्षा करना न्याय कहलाता है । भगवान् का प्रवचन न्याययुक्त है, इस विशेषण से यह ध्वनित किया गया है कि भगवत्प्रवचन प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणो से अबाधित है । बाधायुक्त वचन प्रवचन नही कहलाता ।

यह वीतराग और सर्वज्ञ द्वारा कथित प्रवचन वर्त्तमान जीवन मे, आगामी भव मे और भविष्यत् काल मे भी कल्याणकारी है और मोक्ष का सरल—सीधा मार्ग है ।

अहिंसा महाव्रत की प्रथम भावना · ईर्यासमिति—

११३—तस्स इमा पच भावणाओ पढमस्स वयस्स होंति—

पाणाइवायवेरमण-परिरक्खणट्ठयाए पढम ठाण-गमण-गुणजोगजु जणजुगतरणिवाइयाए दिट्ठीए ईरियव्व कीड-पयग-तस-थावर-दयावरेण णिच्च पुप्फ-फल-तय-पवाल-कद-मूल-दग-मट्टिय-बीय-हरिय-परिवज्जिएण सम्म । एव खलु सव्वपाणा ण हीलियव्वा, ण णिंदियव्वा, ण गरहियव्वा, ण हिंसियव्वा, ण छिंदियव्वा, ण भिंदियव्वा, ण वहेयव्वा, ण भय दुक्ख च किंचि लब्भा पावेउ, एव ईरियासमिइजोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा असबलमसकिलिट्ठणिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए सजए सुसाहू ।

११३—पाँच महाव्रतो—सवरो मे से प्रथम महाव्रत की ये—आगे कही जाने वाली—पाँच भावनाएँ प्राणातिपातविरमण अर्थात् अहिंसा महाव्रत की रक्षा के लिए है ।

खडे होने, ठहरने और गमन करने मे स्व-पर की पीडारहितता गुणयोग को जोडने वाली तथा गाडी के युग (जूवे) प्रमाण भूमि पर गिरने वाली दृष्टि से अर्थात् लगभग चार हाथ आगे की भूमि पर दृष्टि रख कर निरन्तर कीट, पतग, त्रस, स्थावर जीवो की दया मे तत्पर होकर फूल, फल, छाल, प्रवाल—पत्ते—कोपल—कद, मूल, जल, मिट्टी, बीज एव हरितकाय—दूब आदि को (कुचलने से) बचाते हुए, सम्यक् प्रकार से—यतना के साथ चलना चाहिए । इस प्रकार चलने वाले साधु को निश्चय ही समस्त अर्थात् किसी भी प्राणी की हीलना—उपेक्षा नही करनी चाहिए, निन्दा नही करनी चाहिए, गर्हा नही करनी चाहिए । उनकी हिंसा नही करनी चाहिए, उनका छेदन नही करना चाहिए, भेदन नही करना चाहिए, उन्हे व्यथित नही करना चाहिए । इन पूर्वोक्त जीवो को लेश मात्र भी भय या दु ख नही पहुँचाना चाहिए । इस प्रकार (के आचरण) से साधु ईर्यासमिति मे मन, वचन, काय

की प्रवृत्ति से भावित होता है। तथा शवलता (मलीनता) से रहित, सक्लेश से रहित, अक्षत—निरतिचार चारित्र की भावना से युक्त, सयमशील एव अहिंसक सुसाधु कहलाता है—मोक्ष का साधक होता है।

द्वितीय भावना : मन:समिति—

११४—बिइय च मणेण पावएण पावग अहम्मिय दारुण णिस्सस वह-बध-परिकिलेसबहुल भय-मरण-परिकिलेससकिलिट्ठ ण कयावि मणेण पावएण पावग किंचि वि झायव्व। एव मणसमिइ-जोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा असबलमसकिलिट्ठणिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए सजए सुसाहू।

११४—दूसरी भावना मन समिति है। पापमय, अधार्मिक—धर्मविरोधी, दारुण—भयानक, नृशस—निर्दयतापूर्ण, वध बन्ध और परिक्लेश की बहुलता वाले, भय, मृत्यु एव क्लेश से सक्लिष्ट—मलीन ऐसे पापयुक्त मन से लेशमात्र भी विचार नही करना चाहिए। इस प्रकार (के आचरण) से—मन समिति की प्रवृत्ति से अन्तरात्मा भावित—वासित होती है तथा निर्मल, सक्लेशरहित, अखण्ड निरतिचार चारित्र की भावना मे युक्त, सयमशील एव अहिंसक सुसाधु कहलाता है।

तृतीय भावना : वचनसमिति—

११५—तइय च वईए पावियाए पावग ण किंचि वि भासियव्व। एव वइ-समिति-जोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा असबलमसकिलिट्ठणिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए सजए सुसाहू।

११५—अहिंसा महाव्रत की तीसरी भावना वचनसमिति है। पापमय वाणी से तनिक भी पापयुक्त—सावद्य वचन का प्रयोग नही करना चाहिए। इस प्रकार की वाक्समिति (भाषासमिति) के योग से युक्त अन्तरात्मा वाला निर्मल, सक्लेशरहित और अखण्ड चारित्र की भावना वाला अहिंसक साधु सुसाधु होता है—मोक्ष का साधक होता है।

चतुर्थ भावना : आहारैषणासमिति—

११६—चउत्थ आहारएसणाय सुद्ध उछ गवेसियव्व अण्णाए अगढिए अदुट्ठे अदीणे अकलुणे अविसाई अपरितंतजोगी जयण-घडण-करण-चरिय-विणय-गुण-जोग-सपओगजुत्ते भिक्खू भिक्खेसणाए जुत्ते समुदाणेऊण भिक्खचरिय उछ घेत्तूण आगओ गुरुजणस्स पास गमणागमणाइयारे पडिक्कमण-पडिक्कते आलोयणदायण य दाऊण गुरुजणस्स गुरुसदिट्ठस्स वा जहोवएस णिरइयार च अप्पमत्तो पुणरवि अणेसणाए पयओ पडिक्कमित्ता पसते आसीणसुहणिसण्णे मुहुत्तमित्त च झाणसुहजोगणाण-सज्झायगोवियमणे धम्ममणे अविमणे सुहमणे अविग्गहमणे समाहियमणे सद्धासवेगणिज्जरमणे पवयणवच्छलभावियमणे उट्ठेऊण य पहट्ठतुट्ठे जहारायणिय णिमतइत्ता य साहवे भावओ य विइण्णे य गुरुजणेण उपविट्ठे।

सपमज्जिऊण ससीस काय तहा करयल, अमुच्छिए अगिद्धे अगढिए अगरहिए अणज्झोववण्णे अणाइले अलुद्धे अणत्तट्ठिए असुरसुर अचवचव अदुयमविलबिय अपरिसाडिय आलोयभायणे जय पयत्तेण ववगय-सजोग-मणिगाल च विगयधूम अक्खोवजणाणुलेवणभूय सजमजायामायाणिमित्त संजम-

भारवहणट्ठयाए भुंजेज्जा पाणधारणट्ठयाए संजएण समियं एवं आहारसमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठणिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू ।

११६—आहार की एषणा से शुद्ध—एषणासम्बन्धी समस्त दोषों से रहित, मधुकरी वृत्ति से—अनेक घरों से भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए। भिक्षा लेने वाला साधु अज्ञात रहे—अज्ञात सम्बन्ध वाला रहे, अगृद्ध—गृद्धि—आसक्ति से रहित हो, अदुष्ट-द्वेष से रहित हो, अर्थात् भिक्षा न देने वाले, अपर्याप्त भिक्षा देने वाले या नीरस भिक्षा देने वाले दाता पर द्वेष न करे। करुण—दयनीय—दयापात्र न बने। अलाभ की स्थिति में विषाद न करे। मन-वचन-काय की सम्यक् प्रवृत्ति में निरन्तर निरत रहे। प्राप्त संयमयोगों की रक्षा के लिए यतनाशील एवं अप्राप्त संयमयोगों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नवान्, विनय का आचरण करने वाला तथा क्षमा आदि गुणों की प्रवृत्ति में युक्त ऐसा भिक्षाचर्या में तत्पर भिक्षु अनेक घरों में भ्रमण करके थोड़ी-थोड़ी भिक्षा ग्रहण करे। भिक्षा ग्रहण करके अपने स्थान पर गुरुजन के समक्ष जाने-आने में लगे हुए अतिचारों—दोषों का प्रतिक्रमण करे। गृहीत आहार—पानी की आलोचना करे, आहार—पानी उन्हें दिखला दे, फिर गुरुजन के अथवा गुरुजन द्वारा निर्दिष्ट किसी अग्रगण्य साधु के आदेश के अनुसार, सब अतिचारों—दोषों से रहित एवं अप्रमत्त होकर विधिपूर्वक अनेषणाजनित दोषों की निवृत्ति के लिए पुनः प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) करे। तत्पश्चात् शान्त भाव से सुखपूर्वक आसीन होकर, मुहूर्त्त भर धर्मध्यान, गुरु की सेवा आदि शुभ योग, तत्त्वचिन्तन अथवा स्वाध्याय के द्वारा अपने मन का गोपन करके—चित्त स्थिर करके श्रुत-चारित्ररूप धर्म में संलग्न मन वाला होकर, चित्तशून्यता से रहित होकर, संक्लेश से मुक्त रह कर, कलह अथवा दुराग्रह से रहित मन वाला होकर, समाहितमना—समाधियुक्त मन वाला—अपने चित्त को उपशम में स्थापित करने वाला, श्रद्धा, संवेग—मोक्ष की अभिलाषा और कर्मनिर्जरा में चित्त को संलग्न करने वाला, प्रवचन में वत्सलतामय मन वाला होकर साधु अपने आसन से उठे और हृष्ट-तुष्ट होकर यथारात्निक—दीक्षा में छोटे-बड़े के क्रमानुसार अन्य साधुओं को आहार के लिए निमंत्रित करे। गुरुजनों द्वारा लाये हुए आहार को वितरण कर देने के बाद उचित आसन पर बैठे। फिर मस्तक सहित शरीर को तथा हथेली को भलीभाँति प्रमार्जित करके—पूँज करके आहार में अनासक्त होकर, स्वादिष्ट भोजन की लालसा से रहित होकर तथा रसों में अनुराग-रहित होकर, दाता या भोजन की निन्दा नहीं करता हुआ, सरस वस्तुओं में आसक्ति न रखता हुआ, अकलुषित भावपूर्वक, लोलुपता से रहित होकर, परमार्थ बुद्धि का धारक साधु (भोजन करते समय) 'सुड्-सुड्' ध्वनि न करता हुआ, 'चप-चप' आवाज न करता हुआ, न बहुत जल्दी-जल्दी और न बहुत देर से, भोजन को भूमि पर न गिराता हुआ, चौड़े प्रकाशयुक्त पात्र में (भोजन करे।) यतना-पूर्वक, आदरपूर्वक एवं संयोजनादि सम्बन्धी दोषों से रहित, अंगार तथा धूम दोष से रहित, गाड़ी की धुरी में तेल देने अथवा घाव पर मल्हम लगाने के समान, केवल संयमयात्रा के निर्वाह के लिए एवं संयम के भार को वहन करने के लिए प्राणों को धारण करने के उद्देश्य से साधु को सम्यक् प्रकार से—यतना के साथ भोजन करना चाहिए।

इस प्रकार आहारसमिति (एषणासमिति) में समीचीन रूप से प्रवृत्ति के योग से अन्तरात्मा भावित करने वाला साधु, निर्मल, संक्लेशरहित तथा अखण्डित चारित्र की भावना वाला अहिंसक संयमी होता है—मोक्षसाधक होता है।

पचमी भावना : आदान-निक्षेपणसमिति—

११७—पचम आयाणणिक्खेवणसमिई—पीढ-फलग-सिज्जा-सथारग-वत्थ-पत्त-कबल-दडग-रय-हरण-चोलपट्टग-मुहपोत्तिय-पायपुछणाई एय पि सजमस्स उववूहणट्ठयाए वायातव-दसमसग-सीयपरि-रक्खणट्ठयाए उवगरण रागदोसरहिय परिहरियव्व सजमेण णिच्च पडिलेहण-पप्फोडण-पमज्जणयाए अहो य राओ य अप्पमत्तेण होइ सयय णिक्खियव्व च गिण्हियव्व च भायणभडोवहिउवगरण एव आयाणभडणिक्खेवणासमिइजोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा असबलमसकिलिट्ठणिव्वणचरित्तभावणाए अहिसए सजए सुसाहू ।

११७—अहिसा महाव्रत की पाँचवी भावना आदान-निक्षेपणसमिति है । इस का स्वरूप इस प्रकार है—सयम के उपकरण पीठ—पीढा, चौकी, फलक पाट, शय्या—सोने का आसन, सस्तारक—घास का बिछौना, वस्त्र, पात्र, कम्बल, दण्ड, रजोहरण, चोलपट्ट, मुखवस्त्रिका, पादप्रोछन—पैर पोछने का वस्त्रखण्ड, ये अथवा इनके अतिरिक्त उपकरण सयम की रक्षा या वृद्धि के उद्देश्य से तथा पवन, धूप, डास, मच्छर और शीत आदि से शरीर की रक्षा के लिए धारण-ग्रहण करना चाहिए । (शोभावृद्धि आदि किसी अन्य प्रयोजन से नही) । साधु सदैव इन उपकरणो के प्रतिलेखन, प्रस्फोटन—झटकारने और प्रमार्जन करने मे, दिन मे और रात्रि मे सतत अप्रमत्त रहे और भाजन—पात्र, भाण्ड—मिट्टी के बरतन, उपधि—वस्त्र तथा अन्य उपकरणो को यतनापूर्वक रक्खे या उठाए ।

इस प्रकार आदान-निक्षेपणसमिति के योग से भावित अन्तरात्मा—अन्त करण वाला साधु निर्मल, असक्लिष्ट तथा अखण्ड—निरतिचार चारित्र की भावना से युक्त अहिसक सयमशील सुसाधु होता है अथवा ऐसा सुसाधु ही अहिसक होता है ।

विवेचन—उल्लिखित पचभावना सम्बन्धी पाठ मे अहिसा महाव्रत के परिपूर्ण पालन के लिए आवश्यक पाँच भावनाओ के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है और यह स्पष्ट किया है कि इन भावनाओ के अनुसार आचरण करने वाला ही पूर्ण अहिसक हो सकता है, वही सुसाधु कहलाने योग्य है, वही चारित्र को निर्मल-निरतिचार रूप से पालन कर सकता है ।

मूल पाठ मे साधु की भिक्षाचर्या का विशद वर्णन किया गया है । उसका आशय सरलता पूर्वक समझा जा सकता है, अतएव उसके लिए अधिक विवेचन की आवश्यकता नही । अहिसाव्रत की पाँच भावनाएँ पाँच समितियो के नाम से कही गई प्रसिद्ध है ।

प्रथम भावना ईर्यासमिति है । साधु को अनेक प्रयोजनो से गमनागमन करना पडता है । किन्तु उसका गमनागमन विशिष्ट विधि के अनुसार होना चाहिए । गमन करते समय उसे अपने महाव्रत को ध्यान मे रखना चाहिए और पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक एव वनस्पतिकायिक स्थावर जीवो को तथा कीडा-मकोडा आदि छोटे-मोटे त्रस जीवो को किचिन्मात्र भी आघात न लगे, उनकी विराधना न हो जाए, इस ओर सतत सावधान रहना चाहिए । ऐसी सावधानी रखने वाला साधु पर-विराधना से बच जाता है, साथ ही आत्मविराधना से भी बचता है । असावधानी से चलने वाला साधु आत्मविराधक भी हो सकता है । कण्टक, ककर आदि के चुभने से, गड्हे मे गिर जाने से,

पाषाण या ठूठ से टकरा जाने से चोट लग सकती है, गिर पड सकता हे। ऐसी स्थिति मे आर्त्त-ध्यान उत्पन्न हो सकता है। उसका समाधिभाव नष्ट हो सकता है। यह आत्मविराधना है। अतएव स्व-परविराधना से बचने के लिए इधर-उधर दृष्टि न डालते हुए, वार्तालाप मे चित्त न लगाते हुए गन्तव्य मार्ग पर ही दृष्टि रखनी चाहिए। आगे की चार हाथ प्रमाण भूमि को देखते हुए एकाग्र भाव से चलना चाहिए।

दूसरी भावना मन समिति है। अहिंसा भगवती की पूरी तरह आराधना करने के लिए मन के अप्रशस्त व्यापारो से निरन्तर वचते रहना चाहिए। मन आत्मा का सूक्ष्म किन्तु अत्यन्त शक्ति-शाली साधन है। वह कर्मबन्ध का भी और कर्मनिर्जरा का भी प्रधान कारण हे। उस पर नियन्त्रण रखने के लिए निरन्तर उसकी चौकसी रखनी पडती है। जरा-सी सावधानी हटी और वह कही का कही दौड जाता है। अत सावधान रहकर उसकी देख-भाल करते रहने की आवश्यकता हे। किसी भी प्रकार का पापमय, अधार्मिक या अप्रशस्त विचार उत्पन्न न हो, इसके लिए सदा धर्ममय विचार मे सलग्न रखना चाहिए।

तीसरी वचन-भावना मे वाणी-प्रयोग सम्वन्धी विवेक को जगाए रखने की मुख्यता हे। वध-बन्धकारी, क्लेशोत्पादक, पीडाजनक अथवा कठोर वचनो का प्रयोग नही करना चाहिए। साधु के लिए मौन सर्वोत्तम है किन्तु वचनप्रयोग आवश्यक होने पर हित-मित-पथ्य वचनो का ही प्रयोग करना चाहिए।

चौथी भावना आहार-एषणा है। आहार की प्राप्ति साधु को भिक्षा द्वारा ही होती है। अतएव जैनागमो मे भिक्षा सम्बन्धी विधि-निषेध बहुत विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किए गए है। भिक्षा सम्बन्धी दोपो का उल्लेख पहले किया जा चुका है। आहार पकाने मे हिसा अवश्यभावी है। किन्तु इस हिंसा से पूरी तरह बचाव भी हो और भिक्षा भी प्राप्त हो जाए, ऐसा मार्ग भगवान् ने वतलाया है। इसी प्रयोजन से आहार सम्वन्धी उद्गमदोप, उत्पादनादोष आदि का निरूपण किया गया है। उन सब दोषो से रहित भिक्षा ग्रहण करना मुख्यत परविराधना से बचने के लिए आवश्यक है।

साधु को कभी सरस या नीरस आहार भी मिलता है। कदाचित् अनेक घरो मे भ्रमण करने पर भी आहार का लाभ नही होता। ऐसे प्रसगो मे मन मे रागभाव अथवा द्वेपभाव का उदय हो सकता है। दीनता की भावना भी आ सकती है। मूलपाठ मे स्पष्ट किया गया है कि भिक्षा के लाभ, अलाभ अथवा अल्पलाभ आदि का प्रसग उपस्थित होने पर साधु को अपना समभाव कायम रखना चाहिए।

'हम परान्नजीवी है, दूसरो के दिये आहार पर हमारी जीविका निर्भर है' इस प्रकार के विचार को निकट भी नही फटकने देना चाहिए। दीनता-हीनता का यह भाव साधु का तेजोवध करता है और तेजोविहीन साधु प्रवचन की प्रभावना नही कर सकता, श्रोताओ को प्रभावित नही कर सकता। जिस प्रकार गृहस्थो से भिक्षा ग्रहण करके साधु उपकृत होता है, उसी प्रकार गृहस्थ भी भिक्षा देकर उपकृत होता है। वह सुपात्रदान के महान् इहलोक और परलोक सबधी सुफल से अनुगृहीत होता है। वह उत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन करता है। शालिभद्र और सुबाहुकुमार जैसे पुण्यशाली महापुरुषो ने सुपात्रदान के फलस्वरूप ही लौकिक एव लोकोत्तर ऋद्धि—विभूति प्राप्त की थी। अतएव साधु, गृहस्थो से भिक्षा लेकर उनका भी महान् उपकार करता है। ऐसी स्थिति मे साधु

पंचमी भावना : आदान-निक्षेपणसमिति—

११७—पचम आयाणणिक्खेवणसमिई—पीढ-फलग-सिज्जा-सथारग-वत्थ-पत्त-कवल-दडग-रय-हरण-चोलपट्टग-मुहपोत्तिय-पायपु छणाई एय पि सजमस्स उववूहणट्ठयाए वायातव-दसमसग-सीयपरि-रक्खणट्ठयाए उवगरण रागदोसरहिय परिहरियव्व सजमेण णिच्च पडिलेहण-पप्फोडण-पमज्जणयाए अहो य राओ य अप्पमत्तेण होइ सयय णिक्खियव्व च गिण्हियव्व च भायणभडोवहिउवगरण एव आयाणभडणिक्खेवणासमिइजोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा असबलमसकिलिट्ठणिव्वणचरित्तभावणाए अहिसए सजए सुसाहू ।

११७—अहिसा महाव्रत की पाँचवी भावना आदान-निक्षेपणसमिति है । इस का स्वरूप इस प्रकार है—सयम के उपकरण पीठ—पीढा, चौकी, फलक पाट, शय्या—सोने का आसन, सस्तारक—घास का बिछौना, वस्त्र, पात्र, कम्वल, दण्ड, रजोहरण, चोलपट्ट, मुखवस्त्रिका, पादप्रोछन—पैर पोछने का वस्त्रखण्ड, ये अथवा इनके अतिरिक्त उपकरण सयम की रक्षा या वृद्धि के उद्देश्य से तथा पवन, धूप, डास, मच्छर और शीत आदि से शरीर की रक्षा के लिए धारण-ग्रहण करना चाहिए । (शोभावृद्धि आदि किसी अन्य प्रयोजन से नही) । साधु सदैव इन उपकरणो के प्रतिलेखन, प्रस्फोटन—झटकारने और प्रमार्जन करने मे, दिन मे और रात्रि मे सतत अप्रमत्त रहे और भाजन—पात्र, भाण्ड—मिट्टी के वरतन, उपधि—वस्त्र तथा अन्य उपकरणो को यतनापूर्वक रक्खे या उठाए ।

इस प्रकार आदान-निक्षेपणसमिति के योग से भावित अन्तरात्मा—अन्त करण वाला साधु निर्मल, असक्लिष्ट तथा अखण्ड—निरतिचार चारित्र की भावना से युक्त अहिसक सयमशील सुसाधु होता है अथवा ऐसा सुसाधु ही अहिसक होता है ।

विवेचन—उल्लिखित पचभावना सम्वन्धी पाठ मे अहिसा महाव्रत के परिपूर्ण पालन के लिए आवश्यक पाँच भावनाओ के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है और यह स्पष्ट किया है कि इन भावनाओ के अनुसार आचरण करने वाला ही पूर्ण अहिसक हो सकता है, वही सुसाधु कहलाने योग्य है, वही चारित्र को निर्मल-निरतिचार रूप से पालन कर सकता है ।

मूल पाठ मे साधु की भिक्षाचर्या का विशद वर्णन किया गया है । उसका आशय सरलता पूर्वक समझा जा सकता है, अतएव उसके लिए अधिक विवेचन की आवश्यकता नही । अहिसाव्रत की पाँच भावनाएँ पाँच समितियो के नाम से कही गई प्रसिद्ध है ।

प्रथम भावना ईर्यासमिति है । साधु को अनेक प्रयोजनो से गमनागमन करना पडता है । किन्तु उसका गमनागमन विशिष्ट विधि के अनुसार होना चाहिए । गमन करते समय उसे अपने महाव्रत को ध्यान मे रखना चाहिए और पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक एव वनस्पतिकायिक स्थावर जीवो को तथा कीडा-मकोडा आदि छोटे-मोटे त्रस जीवो को किंचिन्मात्र भी आघात न लगे, उनकी विराधना न हो जाए, इस ओर सतत सावधान रहना चाहिए । ऐसी सावधानी रखने वाला साधु पर-विराधना से वच जाता है, साथ ही आत्मविराधना से भी बचता है । असावधानी से चलने वाला साधु आत्मविराधक भी हो सकता है । कण्टक, ककर आदि के चुभने से, गडहे मे गिर जाने से,

पाषाण या ठूठ से टकरा जाने से चोट लग सकती है, गिर पड सकता है। ऐसी स्थिति मे आर्त्त-ध्यान उत्पन्न हो सकता है। उसका समाधिभाव नष्ट हो सकता है। यह आत्मविराधना है। अतएव स्व-परविराधना से बचने के लिए इधर-उधर दृष्टि न डालते हुए, वार्तालाप मे चित्त न लगाते हुए गन्तव्य मार्ग पर ही दृष्टि रखनी चाहिए। आगे की चार हाथ प्रमाण भूमि को देखते हुए एकाग्र भाव से चलना चाहिए।

दूसरी भावना मन समिति है। अहिंसा भगवती की पूरी तरह आराधना करने के लिए मन के अप्रशस्त व्यापारो से निरन्तर बचते रहना चाहिए। मन आत्मा का सूक्ष्म किन्तु अत्यन्त शक्तिशाली साधन है। वह कर्मबन्ध का भी और कर्मनिर्जरा का भी प्रधान कारण है। उस पर नियन्त्रण रखने के लिए निरन्तर उसकी चौकसी रखनी पडती है। जरा-सी सावधानी हटी और वह कही का कही दौड जाता है। अत सावधान रहकर उसकी देख-भाल करते रहने की आवश्यकता है। किसी भी प्रकार का पापमय, अधार्मिक या अप्रशस्त विचार उत्पन्न न हो, इसके लिए सदा धर्ममय विचार मे सलग्न रखना चाहिए।

तीसरी वचन-भावना मे वाणी-प्रयोग सम्बन्धी विवेक को जगाए रखने की मुख्यता है। वध-बन्धकारी, क्लेशोत्पादक, पीडाजनक अथवा कठोर वचनो का प्रयोग नही करना चाहिए। साधु के लिए मौन सर्वोत्तम है किन्तु वचनप्रयोग आवश्यक होने पर हित-मित-पथ्य वचनो का ही प्रयोग करना चाहिए।

चौथी भावना आहार-एषणा है। आहार की प्राप्ति साधु को भिक्षा द्वारा ही होती है। अतएव जैनागमो मे भिक्षा सम्बन्धी विधि-निषेध बहुत विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किए गए है। भिक्षा सम्बन्धी दोषो का उल्लेख पहले किया जा चुका है। आहार पकाने मे हिंसा अवश्यभावी है। किन्तु इस हिंसा से पूरी तरह बचाव भी हो और भिक्षा भी प्राप्त हो जाए, ऐसा मार्ग भगवान् ने बतलाया है। इसी प्रयोजन से आहार सम्बन्धी उद्गमदोष, उत्पादनादोष आदि का निरूपण किया गया है। उन सब दोषो से रहित भिक्षा ग्रहण करना मुख्यत परविराधना से बचने के लिए आवश्यक है।

साधु को कभी सरस या नीरस आहार भी मिलता है। कदाचित् अनेक घरो मे भ्रमण करने पर भी आहार का लाभ नही होता। ऐसे प्रसगो मे मन में रागभाव अथवा द्वेषभाव का उदय हो सकता है। दीनता की भावना भी आ सकती है। मूलपाठ मे स्पष्ट किया गया है कि भिक्षा के लाभ, अलाभ अथवा अल्पलाभ आदि का प्रसग उपस्थित होने पर साधु को अपना समभाव कायम रखना चाहिए।

'हम परान्नजीवी है, दूसरो के दिये आहार पर हमारी जीविका निर्भर है' इस प्रकार के विचार को निकट भी नही फटकने देना चाहिए। दीनता-हीनता का यह भाव साधु का तेजोवध करता है और तेजोविहीन साधु प्रवचन की प्रभावना नही कर सकता, श्रोताओ को प्रभावित नही कर सकता। जिस प्रकार गृहस्थो से भिक्षा ग्रहण करके साधु उपकृत होता है, उसी प्रकार गृहस्थ भी भिक्षा देकर उपकृत होता है। वह सुपात्रदान के महान् इहलोक और परलोक सबधी सुफल से अनुगृहीत होता है। वह उत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन करता है। शालिभद्र और सुबाहुकुमार जैसे पुण्यशाली महापुरुषो ने सुपात्रदान के फलस्वरूप ही लौकिक एव लोकोत्तर ऋद्धि—विभूति प्राप्त की थी। अतएव साधु, गृहस्थो से भिक्षा लेकर उनका भी महान् उपकार करता है। ऐसी स्थिति मे साधु

के मन मे दीनता या हीनता का विचार नही आना चाहिए। यह तथ्य प्रकट करने के लिए मूलपाठ मे **'अदीणो'** पद का प्रयोग किया गया है।

पाँचवी भावना आदान-निक्षेपणसमिति है। साधु अपने शरीर पर भी ममत्वभाव नही रखते, किन्तु **'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्'** उक्ति के अनुसार सयम-साधना का निमित्त मान कर उसकी रक्षा के लिए अनेक उपकरणो को स्वीकार करते है। इन उपकरणो को उठाते समय एव रखते समय यतना रखनी चाहिए। यथासमय यथाविधि उनका प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन भी अप्रमत्त रूप से करते रहना चाहिए।

इस प्रकार अहिसा महाव्रत की इन भावनाओ के यथावत् परिपालन से व्रत निर्मल, निरतिचार बनता है। निरतिचार व्रत का पालक साधु ही सुसाधु है, वही मोक्ष की साधना मे सफलता प्राप्त करता है।

११८—एवमिण सवरस्स दार सम्म सवरिय होइ सुप्पणिहिय इमेहि पचहि वि कारणेहि मण-वयण-कायपरिरक्खिएहि णिच्च आमरणत च एस जोगो णेयव्वो धिइमया मइमया अणासवो अकलसो अच्छिद्दो असकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुण्णाओ।

११८—इस प्रकार मन, वचन और काय मे सुरक्षित इन पाँच भावना रूप उपायो से यह अहिसा-सवरद्वार पालित-सुप्रणिहित होता है। अतएव धैर्यशाली और मतिमान् पुरुष को सदा जीवनपर्यन्त सम्यक् प्रकार से इसका पालन करना चाहिए। यह अनास्रव है, अर्थात् नवीन कर्मो के आस्रव को रोकने वाला है, दीनता से रहित है, कलुष-मलीनता से रहित और अच्छिद्र-अनास्रवरूप है, अपरिस्रावी—कर्मरूपी जल के आगमन को अवरुद्ध करने वाला है, मानसिक सक्लेश से रहित है, शुद्ध है और सभी तीर्थकरो द्वारा अनुज्ञात-अभिमत है।

विवेचन—हिंसा आस्रव का कारण है तो उसकी विरोधी अहिसा आस्रव को रोकने वाली हो, यह स्वाभाविक ही है।

अहिंसा के पालन मे दो गुणो की अपेक्षा रहती है—धैर्य की और मति—विवेक की। विवेक के अभाव मे अहिसा के वास्तविक आशय को समझा नही जा सकता और वास्तविक आशय को समझे विना उसका आचरण नही किया जा सकता है। विवेक विद्यमान हो और अहिसा के स्वरूप को वास्तविक रूप मे समझ भी लिया जाए, मगर साधक मे यदि धैर्य न हो तो भी उसका पालन होना कठिन है। अहिसा के उपासक को व्यवहार मे अनेक कठिनाइयाँ आती है, सकट भी झेलने पडते हैं, ऐसे प्रसगो पर धीरज ही उसे अपने व्रत मे अडिग रख सकता है। अतएव पाठ मे **'धिइमया मइमया'** इन दो पदो का प्रयोग किया गया है।

११९—एव पढम सवरदार फासिय पालिय सोहिय तीरिय किट्टिय आराहिय आणाए अणुपालिय भवइ। एव णायमुणिया भगवया पण्णविय परूविय पसिद्ध सिद्ध सिद्धवरसासणमिण आघविय सुदेसियं पसत्थ।

॥ पढम सवरदार समत्त। त्तिबेमि ॥

११९—पूर्वोक्त प्रकार से प्रथम सवरद्वार स्पृष्ट होता है, पालित होता है, शोधित होता है, तीर्ण-पूर्ण रूप से पालित होता है, कीर्त्तित, आराधित और (जिनेन्द्र भगवान् की) आज्ञा के अनुसार पालित होता है। ऐसा भगवान् ज्ञातमुनि—महावीर ने प्रज्ञापित किया है एव प्ररूपित किया है। यह सिद्धवरशासन प्रसिद्ध है, सिद्ध है, वहुमूल्य है, सम्यक् प्रकार से उपदिष्ट है और प्रशस्त है।

विवेचन—यहाँ प्रथम अहिसा-सवरद्वार का उपसहार किया गया है। इस सवरद्वार मे जो-जो कथन किया गया है, उसी प्रकार से इसका समग्र रूप मे परिपालन किया जाना है। पाठ मे आए कतिपय विशिष्ट पदो का स्पष्टीकरण इस भाँति है—

फासिय—यथासमय विधिपूर्वक स्वीकार किया गया।
पालित—निरन्तर उपयोग के साथ आचरण किया गया।

सोहिय—इस पद के सस्कृत रूप दो होते है—शोभित और शोधित। अन्न के योग्य दूसरे पात्रो को दिया गया शोभित कहलाता है और अतिचार-रहित पालन करने से शोधित कहा जाता है।

तीरिय—किनारे तक पहुँचाया हुआ।
कित्तिय—दूसरो को उपदिष्ट किया हुआ।
आराहिय—पूर्वोक्त रूप से सम्पूर्णता को प्राप्त।[1]

॥ प्रथम सवरद्वार समाप्त ॥

१—अभयदेवटीका, पृ ११३

द्वितीय अध्ययन सत्य

प्रथम संवरद्वार अहिंसा के विशद विवेचन के अनन्तर द्वितीय संवरद्वार सत्य का निरूपण किया जा रहा है। अहिंसा की समीचीन एवं परिपूर्ण साधना के लिए असत्य से विरत होकर सत्य की समाराधना आवश्यक है। सत्य की समाराधना के बिना अहिंसा की आराधना नहीं हो सकती। वस्तुतः सत्य अहिंसा को पूर्णता प्रदान करता है। वह अहिंसा को अलंकृत करता है। अतएव अहिंसा के पश्चात् सत्य का निरूपण किया जाता है।

सत्य की महिमा

१२०—जंबू ! बिइयं य सच्चवयणं सुद्धं सुचियं सिवं सुजायं सुभासियं सुव्वयं सुकहियं सुदिट्ठं सुपइट्ठियं सुपइट्ठियजसं सुसंजमियं-वयण-बुइयं सुरवर-णरवसभ-पवरबलवग-सुविहियजणबहुमयं, परमसाहुधम्मचरणं, तव-णियमपरिग्गहियं सुगइपहदेसगं य लोगुत्तमं वयमिणं।

विज्जाहरगगणगमणविज्जाण साहकं सग्गमग्ग-सिद्धिपहदेसगं अवितहं, तं सच्चं उज्जुयं अकुडिलं भूयत्थं अत्थओ विसुद्धं उज्जोयकरं पभासगं भवइ सव्वभावाण जीवलोए, अविसंवाइ जहत्थमहुरं।

पच्चक्खं दयिवयं व जं तं अच्छेरकारगं अवत्थतरेसु बहुएसु माणुसाणं सच्चेण महासमुद्दमज्झे वि मूढाणिया वि पोया। सच्चेण य उदगसंभमम्मि वि ण वुज्झइ ण य मरंति थाहं ते लहंति।

सच्चेण य अगणिसंभमम्मि वि ण डज्झंति उज्जुगा मणुस्सा।

सच्चेण य तत्ततेल्ल-तउलोहसीसगाइं छिवंति धरेंति ण य डज्झंति मणुस्सा।

पव्वयकडकाहिं मुच्चंते ण य मरंति।

सच्चेण य परिग्गहिया, असिपंजरगया समराओ वि णिइंति अणहा य सच्चवाई।

वहबंधभियोगवेर-घोरेहिं पमुच्चंति य अमित्तमज्झाहिं णिइंति अणहा य सच्चवाई। सादेव्वाणि य देवयाओ करेंति सच्चवयणे रत्ताणं।

तं सच्चं भगवं तित्थयरसुभासियं दसविहं, चोद्दसपुव्वीहिं पाहुडत्थविइयं, महरिसीण य समयप्पइण्णं, देविंदणरिंदभासियत्थं, वेमाणियसाहियं, महत्थं, मंतोसहिविज्जासाहणत्थं, चारणगण-समणसिद्धविज्जं, मणुयगणाणं वंदणिज्जं, अमरगणाणं अच्चणिज्जं, असुरगणाणं य पूयणिज्जं, अणेग-पासंडिपरिग्गहियं जं तं लोगम्मि सारभूयं, गंभीरयरं महासमुद्दाओ, थिरयरगं मेरुपव्वयाओ, सोमयरगं चंदमंडलाओ, दित्तयरं सूरमंडलाओ, विमलयरं सरयणहयलाओ, सुरभियरं गंधमादणाओ, जे वि य लोगम्मि अपरिसेसा मंतजोगा जवा य विज्जा य जंभगा य अत्थाणि य सत्थाणि य सिक्खाओ य आगमा य सव्वाइं पि ताइं सच्चे पइट्ठियाइं।

सदोष सत्य का त्याग

सच्च वि य संजमस्स उवरोहकारगं किंचि ण वत्तव्वं, हिंसासावज्जसंपउत्तं भेयविकहकारगं अणत्थवायकलहकारगं अणज्जं अववाय-विवायसंपउत्तं वेलंबं ओजधेज्जबहुलं णिल्लज्जं लोयगरहणिज्जं दुद्दिट्ठं दुस्सुयं अमुणियं, अप्पणो थवणा परेसु णिंदा, ण तंसि मेहावी, ण तंसि धण्णो, ण तंसि पियधम्मो, ण तंसि कुलीणो, ण तंसि दाणवई, ण तंसि सूरो, ण तंसि पडिरूवो, ण तंसि लट्ठो, ण पंडिओ, ण बहुस्सुओ, ण वि य तंसि तवस्सी, ण यावि परलोयणिच्छयमई असि, सव्वकालं जाइ-कुल-रूव-वाहि-रोगेण वावि जं होई वज्जणिज्जं दुहओ उवयारमइक्कंतं एवं विहं सच्चं वि ण वत्तव्वं।

बोलने योग्य वचन

अह केरिसगं पुणाइ सच्चं तु भासियव्वं ?

जं तं दव्वेहिं पज्जवेहि य गुणेहिं कम्मेहिं बहुविहेहिं सिप्पेहिं आगमेहि य णामक्खायणिवाय-उवसग्ग-तद्धिय-समास-संधि-पद-हेउ-जोगिय-उणाइ-किरियाविहाणधाउ-सर-विभत्ति-वण्णजुत्तं तिकल्लं दसविहं पि सच्चं जह भणियं तह य कम्मुणा होइ। दुवालसविहा होइ भासा, वयणं वि य होइ सोलसविहं। एवं अरहंतमणुण्णायं समिक्खियं संजएणं कालम्मि य वत्तव्वं।

१२०—श्री सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा—हे जम्बू ! द्वितीय संवर सत्यवचन है। सत्य शुद्ध—निर्दोष, शुचि—पवित्र, शिव—समस्त प्रकार के उपद्रवों से रहित, सुजात-प्रशस्त-विचारों में उत्पन्न होने के कारण सुभाषित—समीचीन रूप से भाषित—कथित होता है। यह उत्तम व्रतरूप है और सम्यक् विचारपूर्वक कहा गया है। इसे ज्ञानी जनों ने कल्याण के साधन के रूप में देखा है, अर्थात् ज्ञानियों की दृष्टि में सत्य कल्याण का कारण है। यह सुप्रतिष्ठित है—सुस्थिर कीर्ति वाला है, समीचीन रूप में संयमयुक्त वाणी से कहा गया है। सत्य सुरवरों—उत्तम कोटि के देवों, नरवृषभों—श्रेष्ठ मानवों, अतिशय बलधारियों एवं सुविहित जनों द्वारा बहुमत—अतीव मान्य किया गया है। श्रेष्ठ—नैष्ठिक मुनियों का धार्मिक अनुष्ठान है। तप एवं नियम से स्वीकृत किया गया है। सद्गति के पथ का प्रदर्शक है और यह सत्यव्रत लोक में उत्तम है।

सत्य विद्याधरों की आकाशगामिनी विद्याओं को सिद्ध करने वाला है। स्वर्ग के मार्ग का तथा मुक्ति के मार्ग का प्रदर्शक है। यथातथ्य अर्थात् मिथ्याभाव से रहित है, ऋजुक—सरल भाव से युक्त है, कुटिलता से रहित है, प्रयोजनवश यथार्थ पदार्थ का ही प्रतिपादक है, सर्व प्रकार से शुद्ध है—असत्य या अर्द्धसत्य की मिलावट से रहित है अर्थात् असत्य का सम्मिश्रण जिसमें नहीं होता वही विशुद्ध सत्य कहलाता है अथवा निर्दोष होता है। इस जीवलोक में समस्त पदार्थों का विसंवाद-रहित—यथार्थ प्ररूपक है। यह यथार्थ होने के कारण मधुर है और मनुष्यों का बहुत-सी विभिन्न प्रकार की अवस्थाओं में आश्चर्यजनक कार्य करने वाले देवता के समान है, अर्थात् मनुष्यों पर आ पड़े घोर संकट की स्थिति में वह देवता की तरह सहायक बन कर संकट से उबारने वाला है।

किसी महासमुद्र में, जिस में बैठे सैनिक मूढधी हो गए हों, दिशाभ्रम से ग्रस्त हो जाने के कारण जिनकी बुद्धि काम न कर रही हो, उनके जहाज भी सत्य के प्रभाव से ठहर जाते हैं, डूबते

नही है। सत्य का ऐसा प्रभाव है कि भवरो से युक्त जल के प्रवाह मे भी मनुष्य वहते नही है, मरते नही है, किन्तु थाह पा लेते है।

सत्य के प्रभाव से जलती हुई अग्नि के भयकर घेरे मे पडे हुए मानव जलते नही है।

सत्यनिष्ठ सरलहृदय वाले सत्य के प्रभाव से तपे—उवलते हुए तेल, रागे, लोहे और सीसे को छू लेते है, हथेली पर रख लेते है, फिर भी जलते नही है।

मनुष्य पर्वत के शिखर से गिरा दिये जाते है—नीचे फेंक दिये जाते है, फिर भी (सत्य के प्रभाव से) मरते नही है।

सत्य के (सुरक्षा-कवच को) धारण करने वाले मनुष्य चारो ओर से तलवारो के घेरे मे—तलवार-धारको के पीजरे मे पडे हुए भी अक्षत-शरीर सग्राम से (सकुशल) वाहर निकल आते है।

सत्यवादी मानव वध, वन्धन सवल प्रहार और घोर वैर-विरोधियो के वीच मे से मुक्त हो जाते है—वच निकलते है।

सत्यवादी शत्रुओ के घेरे मे से विना किसी क्षति के सकुशल वाहर आ जाते है।

सत्य वचन मे अनुरागी जनो का देवता भी सान्निध्य करते है—उसके साथ रह कर उनकी सेवा-सहायता करते है।

तीर्थंकरो द्वारा भाषित सत्य भगवान् दस प्रकार का है। इसे चौदह पूर्वो के ज्ञाता महामुनियो ने प्राभृतो (पूर्वगत विभागो) से जाना है एव महर्षियो को सिद्धान्त रूप मे दिया गया है—साधुओ के द्वितीय महाव्रत मे सिद्धान्त द्वारा स्वीकार किया गया है। देवेन्द्रो और नरेन्द्रो ने इसका अर्थ कहा है अथवा देवेन्द्रो एव नरेन्द्रो को इसका अर्थ तत्त्वरूप से कहा गया है। यह सत्य वैमानिक देवो द्वारा समर्थित एव आसेवित है। महान् प्रयोजन वाला है। यह मत्र औषधि और विद्याओ की सिद्धि का कारण है—सत्य के प्रभाव से मत्र और विद्याओ की सिद्धि होती है। यह चारण (विद्याचारण, जघाचारण) आदि मुनिगणो की विद्याओ को सिद्ध करने वाला है। मानवगणो द्वारा वदनीय है—स्तवनीय है, अर्थात् स्वय सत्य तथा सत्यनिष्ठ पुरुष मनुष्यो की प्रगसा-स्तुति का पात्र बनता है। इतना ही नही, सत्यसेवी मनुष्य अमरगणो—देवसमूहो के लिए भी अर्चनीय तथा असुरकुमार आदि भवनपति देवो द्वारा भी पूजनीय होता है। अनेक प्रकार के पाषडी-व्रतधारी इसे धारण करते है।

इस प्रकार की महिमा से मण्डित यह सत्य लोक मे सारभूत है। महासागर से भी गम्भीर है। सुमेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर-अटल है। चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य—आह्लादक है। सूर्य-मण्डल से भी अधिक दीप्ति से देदीप्यमान है। शरत्-काल के आकाश तल से भी अधिक विमल है। गन्धमादन (गजदन्त गिरिविशेष) से भी अधिक सुरभिसम्पन्न है।

लोक मे जो भी समस्त मत्र है, वशीकरण आदि योग है, जप है, प्रज्ञप्ति प्रभृति विद्याएँ है, दस प्रकार के जृंभक देव है, धनुष आदि अस्त्र है, जो भी सत्य—तलवार आदि शस्त्र अथवा शास्त्र है, कलाएँ है, आगम है, वे सभी सत्य मे प्रतिष्ठित है—सत्य के ही आश्रित है।

किन्तु जो सत्य सयम मे वाधक हो—रुकावट पैदा करता हो, वैसा सत्य तनिक भी नही

वोलना चाहिए (क्योकि जो वचन तथ्य होते हुए भी हितकर नही, प्रशस्त नही, हिंसकारी है, वह सत्य मे परिगणित नही होता)। जो वचन (तथ्य होते हुए भी) हिंसा रूप पाप से अथवा हिंसा एव पाप से युक्त हो, जो भेद—फूट उत्पन्न करने वाला हो, जो विकथाकारक हो—स्त्री आदि से सम्बन्धित चारित्रनाशक या अन्य प्रकार से अनर्थ का हेतु हो, जो निरर्थक वाद या कलहकारक हो अर्थात् जो वचन निरर्थक वाद-विवाद रूप हो और जिससे कलह उत्पन्न हो, जो वचन अनार्य हो—अनाडी लोगो के योग्य हो—आर्य पुरुषो के बोलने योग्य न हो अथवा अन्याययुक्त हो, जो अन्य के दोषो को प्रकाशित करने वाला हो, विवादयुक्त हो, दूसरो की विडम्बना—फजीहत करने वाला हो, जो विवेकशून्य जोश और धृष्टता से परिपूर्ण हो, जो निर्लज्जता से भरा हो, जो लोक—जनसाधारण या सत्पुरुषो द्वारा निन्दनीय हो, ऐसा वचन नही बोलना चाहिए।

जो घटना भलीभाँति स्वय न देखी हो, जो वात सम्यक् प्रकार मे सुनी न हो, जिसे ठीक तरह—यथार्थ रूप मे जान नही लिया हो, उसे या उसके विषय मे बोलना नही चाहिए।

इसी प्रकार अपनी प्रशसा और दूसरो की निन्दा भी (नही करनी चाहिए), यथा—तू बुद्धिमान् नही है—बुद्धिहीन है, तू धन्य—धनवान् नही—दरिद्र है, तू धर्मप्रिय नही है, तू कुलीन नही है, तू दानपति—दानेश्वरी नही है, तू शूरवीर नही है, तू सुन्दर नही है, तू भाग्यवान् नही है, तू पण्डित नही है, तू वहुश्रुत—अनेक शास्त्रो का ज्ञाता नही है, तू तपस्वी भी नही है, तुझमे परलोक सबधी निश्चय करने की बुद्धि भी नही है, आदि। अथवा जो वचन सदा-सर्वदा जाति (मातृपक्ष), कुल (पितृपक्ष), रूप (सौन्दर्य), व्याधि (कोढ आदि बीमारी), रोग (ज्वरादि) से सम्बन्धित हो, जो पीडाकारी या निन्दनीय होने के कारण वर्जनीय हो—न बोलने योग्य हो, अथवा जो वचन द्रोह-कारक अथवा द्रव्य-भाव से आदर एव उपचार से रहित हो—शिष्टाचार के अनुकूल न हो अथवा उपकार का उल्लघन करने वाला हो, इस प्रकार का तथ्य—सद्भूतार्थ वचन भी नही वोलना चाहिए।

(यदि पूर्वोक्त प्रकार के तथ्य—वास्तविक वचन भी वोलने योग्य नही है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि) फिर किस प्रकार का सत्य बोलना चाहिए?

प्रश्न का उत्तर यह है—जो वचन द्रव्यो—त्रिकालवर्त्ती पुद्गलादि द्रव्यो से, पर्यायो से—नवीनता पुरातनता आदि क्रमवर्त्ती अवस्थाओ से तथा गुणो से अर्थात् सहभावी वर्ण आदि विशेषो से युक्त हो अर्थात् द्रव्यो, पर्यायो या गुणो के प्रतिपादक हो तथा कृषि आदि कर्मों से अथवा धरने—उठाने आदि क्रियाओ से, अनेक प्रकार की चित्रकला, वास्तुकला आदि शिल्पो से और आगमो अर्थात् सिद्धान्तसम्मत अर्थो से युक्त हो और जो नाम देवदत्त आदि सज्ञापद, आख्यात—त्रिकाल सम्बन्धी 'भवति' आदि क्रियापद, निपात—'वा, च' आदि अव्यय, प्र, परा आदि उपसर्ग, तद्धितपद—जिनके अन्त मे तद्धित प्रत्यय लगा हो, जैसे 'नाभेय' आदि पद, समास—अनेक पदो को मिला कर एक पद वना देना, जैसे 'राजपुरुष' आदि, सन्धि—समीपता के कारण अनेक पदो का जोड, जैसे विद्या+आलय=विद्यालय आदि, हेतु—अनुमान का वह अग जिससे साध्य को जाना जाए, जैसे धूम से अग्नि का किसी विशिष्ट स्थल पर अस्तित्व जाना जाता है, यौगिक—दो आदि के सयोग वाला पद अथवा जिस पद के अवयवार्थ से समुदायार्थ जाना जाए, जैसे 'उपकरोति' आदि, उणादि—उणादिगण के प्रत्यय जिन पदो के अन्त मे हो, जैसे 'साधु आदि, क्रियाविधान—क्रिया को सूचित करने वाला

नही है । सत्य का ऐसा प्रभाव है कि भवरो से युक्त जल के प्रवाह मे भी मनुष्य वहते नही है, मरते नही है, किन्तु थाह पा लेते है ।

सत्य के प्रभाव से जलती हुई अग्नि के भयकर घेरे मे पडे हुए मानव जलते नही है ।

सत्यनिष्ठ सरलहृदय वाले सत्य के प्रभाव से तपे—उवलते हुए तेल, रागे, लोहे और सीसे को छू लेते है, हथेली पर रख लेते है, फिर भी जलते नही है ।

मनुष्य पर्वत के शिखर से गिरा दिये जाते हैं—नीचे फैंक दिये जाते है, फिर भी (सत्य के प्रभाव से) मरते नही है ।

सत्य के (सुरक्षा-कवच को) धारण करने वाले मनुष्य चारो ओर से तलवारो के घेरे मे—तलवार-धारको के पीजरे मे पडे हुए भी अक्षत-शरीर सग्राम से (सकुशल) बाहर निकल आते है ।

सत्यवादी मानव वध, बन्धन सवल प्रहार और घोर वैर-विरोधियो के वीच मे से मुक्त हो जाते है—वच निकलते है ।

सत्यवादी शत्रुओ के घेरे मे से विना किसी क्षति के सकुशल वाहर आ जाते है ।

सत्य वचन मे अनुरागी जनो का देवता भी सान्निध्य करते है—उसके साथ रह कर उनकी सेवा-सहायता करते है ।

तीर्थकरो द्वारा भाषित सत्य भगवान् दस प्रकार का है । इसे चौदह पूर्वो के ज्ञाता महामुनियो ने प्राभृतो (पूर्वगत विभागो) से जाना है एव महर्षियो को सिद्धान्त रूप मे दिया गया है—साधुओ के द्वितीय महाव्रत मे सिद्धान्त द्वारा स्वीकार किया गया है । देवेन्द्रो और नरेन्द्रो ने इसका अर्थ कहा है अथवा देवेन्द्रो एव नरेन्द्रो को इसका अर्थ तत्त्वरूप से कहा गया है । यह सत्य वैमानिक देवो द्वारा समर्थित एव आसेवित है । महान् प्रयोजन वाला है । यह मत्र औषधि और विद्याओ की सिद्धि का कारण है—सत्य के प्रभाव से मत्र और विद्याओ की सिद्धि होती है । यह चारण (विद्याचारण, जघाचारण) आदि मुनिगणो की विद्याओ को सिद्ध करने वाला है । मानवगणो द्वारा वदनीय है—स्तवनीय है, अर्थात् स्वय सत्य तथा सत्यनिष्ठ पुरुष मनुष्यो की प्रगसा-स्तुति का पात्र बनता है । इतना ही नही, सत्यसेवी मनुष्य अमरगणो—देवसमूहो के लिए भी अर्चनीय तथा असुरकुमार आदि भवनपति देवो द्वारा भी पूजनीय होता है । अनेक प्रकार के पाषडी-व्रतधारी इसे धारण करते है ।

इस प्रकार की महिमा से मण्डित यह सत्य लोक मे सारभूत है । महासागर से भी गम्भीर है । सुमेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर-अटल है । चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य—आह्लादक है । सूर्य-मण्डल से भी अधिक दीप्ति से देदीप्यमान है । शरत्-काल के आकाश तल से भी अधिक विमल है । गन्धमादन (गजदन्त गिरिविशेष) से भी अधिक सुरभिसम्पन्न है ।

लोक मे जो भी समस्त मत्र है, वशीकरण आदि योग है, जप है, प्रज्ञप्ति प्रभृति विद्याएँ है, दस प्रकार के जृभक देव है, धनुष आदि अस्त्र है, जो भी सत्य—तलवार आदि शस्त्र अथवा शास्त्र है, कलाएँ है, आगम है, वे सभी सत्य मे प्रतिष्ठित है—सत्य के ही आश्रित है ।

किन्तु जो सत्य सयम मे वाधक हो—रुकावट पैदा करता हो, वैसा सत्य तनिक भी नही

बोलना चाहिए (क्योकि जो वचन तथ्य होते हुए भी हितकर नहो, प्रशस्त नही, हिंसकारी है, वह सत्य मे परिगणित नही होता)। जो वचन (तथ्य होते हुए भी) हिंसा रूप पाप से अथवा हिंसा एव पाप से युक्त हो, जो भेद—फूट उत्पन्न करने वाला हो, जो विकथाकारक हो—स्त्री आदि से सम्बन्धित चारित्रनाशक या अन्य प्रकार से अनर्थ का हेतु हो, जो निरर्थक वाद या कलहकारक हो अर्थात् जो वचन निरर्थक वाद-विवाद रूप हो और जिससे कलह उत्पन्न हो, जो वचन अनार्य हो—अनाडी लोगो के योग्य हो—आर्य पुरुषो के बोलने योग्य न हो अथवा अन्याययुक्त हो, जो अन्य के दोषो को प्रकाशित करने वाला हो, विवादयुक्त हो, दूसरो की विडम्बना—फजीहत करने वाला हो, जो विवेकशून्य जोश और धृष्टता से परिपूर्ण हो, जो निर्लज्जता से भरा हो, जो लोक—जनसाधारण या सत्पुरुषो द्वारा निन्दनीय हो, ऐसा वचन नही बोलना चाहिए।

जो घटना भलीभाँति स्वय न देखी हो, जो बात सम्यक् प्रकार से सुनी न हो, जिसे ठीक तरह—यथार्थ रूप मे जान नही लिया हो, उसे या उसके विषय मे बोलना नही चाहिए।

इसी प्रकार अपनी प्रशसा और दूसरो की निन्दा भी (नही करनी चाहिए), यथा—तू बुद्धिमान् नही है—बुद्धिहीन है, तू धन्य—धनवान् नही—दरिद्र है, तू धर्मप्रिय नही है, तू कुलीन नही है, तू दानपति—दानेश्वरी नही है, तू शूरवीर नही है, तू सुन्दर नही है, तू भाग्यवान् नही है, तू पण्डित नही है, तू बहुश्रुत—अनेक शास्त्रो का ज्ञाता नही है, तू तपस्वी भी नही है, तुझमे परलोक सबधी निश्चय करने की बुद्धि भी नही है, आदि। अथवा जो वचन सदा-सर्वदा जाति (मातृपक्ष), कुल (पितृपक्ष), रूप (सौन्दर्य), व्याधि (कोढ आदि बीमारी), रोग (ज्वरादि) से सम्बन्धित हो, जो पीडाकारी या निन्दनीय होने के कारण वर्जनीय हो—न बोलने योग्य हो, अथवा जो वचन द्रोह-कारक अथवा द्रव्य-भाव से आदर एव उपचार से रहित हो—शिष्टाचार के अनुकूल न हो अथवा उपकार का उल्लघन करने वाला हो, इस प्रकार का तथ्य—सद्भूतार्थ वचन भी नही बोलना चाहिए।

(यदि पूर्वोक्त प्रकार के तथ्य—वास्तविक वचन भी बोलने योग्य नही है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि) फिर किस प्रकार का सत्य बोलना चाहिए ?

प्रश्न का उत्तर यह है—जो वचन द्रव्यो—त्रिकालवर्त्ती पुद्गलादि द्रव्यो से, पर्यायो से—नवीनता पुरातनता आदि क्रमवर्त्ती अवस्थाओ से तथा गुणो से अर्थात् सहभावी वर्ण आदि विशेषो से युक्त हो अर्थात् द्रव्यो, पर्यायो या गुणो के प्रतिपादक हो तथा कृषि आदि कर्मो से अथवा धरने—उठाने आदि क्रियाओ से, अनेक प्रकार की चित्रकला, वास्तुकला आदि शिल्पो से और आगमो अर्थात् सिद्धान्तसम्मत अर्थो से युक्त हो और जो नाम देवदत्त आदि सज्ञापद, आख्यात—त्रिकाल सम्बन्धी 'भवति' आदि क्रियापद, निपात—'वा, च' आदि अव्यय, प्र, परा आदि उपसर्ग, तद्धितपद—जिनके अन्त मे तद्धित प्रत्यय लगा हो, जैसे 'नाभेय' आदि पद, समास—अनेक पदो को मिला कर एक पद बना देना, जैसे 'राजपुरुष' आदि, सन्धि—समीपता के कारण अनेक पदो का जोड, जैसे विद्या+आलय=विद्यालय आदि, हेतु—अनुमान का वह अग जिससे साध्य को जाना जाए, जैसे धूम से अग्नि का किसी विशिष्ट स्थल पर अस्तित्व जाना जाता है, यौगिक—दो आदि के सयोग वाला पद अथवा जिस पद के अवयवार्थ से समुदायार्थ जाना जाए, जैसे 'उपकरोति' आदि, उणादि—उणादिगण के प्रत्यय जिन पदो के अन्त मे हो, जैसे 'साधु आदि, क्रियाविधान—क्रिया को सूचित करने वाला

पद, जैसे 'पाचक' (पकाने की क्रिया करने वाला), धातु—क्रियावाचक 'भू—हो' आदि, स्वर—'अ, आ' इत्यादि अथवा सगीतशास्त्र सम्बन्धी षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि सात स्वर, विभक्ति—प्रथमा आदि, वर्ण—'क, ख' आदि व्यजनयुक्त अक्षर, इन से युक्त हो (ऐसा वचन बोलना चाहिए।)

त्रिकालविषयक सत्य दस प्रकार का होता है। जैसा मुख से कहा जाता है उसी प्रकार कर्म से अर्थात् लेखन क्रिया से तथा हाथ, पैर, आँख आदि की चेष्टा से, मुँह बनाना आदि आकृति से अथवा जैसा कहा जाए वैसी ही क्रिया करके बतलाने से अर्थात् कथन के अनुसार अमल करने से सत्य होता है।

बारह प्रकार की भाषा होती है। वचन सोलह प्रकार का होता है।

इस प्रकार अरिहन्त भगवान् द्वारा अनुज्ञात—आदिष्ट तथा सम्यक् प्रकार से विचारित सत्य-वचन यथावसर पर ही साधु को बोलना चाहिए।

विवेचन—उल्लिखित पाठ मे सत्य की महिमा का विस्तारपूर्वक एव प्रभावशाली शब्दो मे वर्णन किया गया है, जो वचन सत्य—तथ्य होने पर भी किसी को पीडा उत्पन्न करने वाला अथवा अनर्थकारी होने से सदोष हो, वैसा वचन भी बोलने योग्य नही है। यह कथन अनेक उदाहरणो सहित प्रतिपादित किया गया है तथा किस प्रकार का सत्य भाषण करने योग्य है, इसका भी उल्लेख किया गया है। सत्य, भाषा और वचन के भेद भी बतलाए गए है।

इस सम्पूर्ण कथन से साधक के समक्ष सत्य का सुस्पष्ट चित्र उभर आता है। सत्य की महिमा का प्रतिपादन करने वाला अश सरल—सुबोध है। उस पर अधिक विवेचन की आवश्यकता नही है। तथापि सक्षेप मे वह महिमा इस प्रकार है—

सत्य की महिमा—सत्य सभी के लिए हितकर है, व्रतरूप है, सर्वज्ञो द्वारा दृष्ट और परीक्षित है, अतएव उसके विषय मे किंचित् भी शका के लिए स्थान नही है। उत्तम देवो तथा चक्रवर्त्ती आदि उत्तम मनुष्यो, सत्पुरुषो और महापुरुषो द्वारा स्वीकृत है। सत्यसेवी ही सच्चा तपस्वी और नियम-निष्ठ हो सकता है। वह स्वर्ग और अपवर्ग का मार्ग है। यथार्थता—वास्तविकता के ही साथ उसका सम्बन्ध है। जब मनुष्य घोर सकट मे पड जाता है तब सत्य देवता की तरह उसकी रक्षा करता है। सत्य के लोकोत्तर प्रभाव से महासागर मे पडा प्राणी सकुशल किनारा पा लेता है। सत्य चारो ओर भयकर धू-धू करती आग की लपटो से बचाने मे समर्थ है—सत्यनिष्ठ को आग जला नही सकती। उबलता हुआ लोहा, रागा आदि सत्यात्मा सत्यसेवी की हथेली पर रख दिया जाए तो उसका बाल बाका नही होता। उसे ऊँचे गिरिशिखर से पटक दिया जाए तो भी वह सुरक्षित रहता है। विकराल सग्राम मे, तलवारो के घेरे से वह सकुशल बाहर आ जाता है। अभिप्राय यह है कि सत्य की समग्र-भाव से आराधना करने वाले भीषण से भीषण विपत्ति से आश्चर्यजनक रूप से सहज ही छुटकारा पा जाते है।

सत्य के प्रभाव से विद्याएँ और मत्र सिद्ध होते है। श्रमणगण, चारणगण, सुर और असुर—सभी के लिए वह अर्चनीय है, पूजनीय है, आराधनीय है। सत्य महासागर से भी अधिक गम्भीर है, क्योकि वह सर्वथा क्षोभरहित है। अटलता के लिहाज से वह मेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर है। आह्लादजनक और सन्तापहारक होने से चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य है। सूर्य से भी अधिक

प्रकाशमान है, क्योंकि वह मूर्त्त-- अमूर्त आदि समस्त पदार्थो को अविकल रूप मे प्रकाशित करता है। शरत्कालीन व्योम से भी अधिक निर्मल है, क्योकि वह कालुष्यरहित है और गन्धमादन पर्वतो मे भी अधिक सौरभमय है।

ऐसा सत्य भी वर्जनीय—

जो वचन तथ्य—वास्तविक होने पर भी किसी प्रकार अनर्थकर या हानिकर हो, वह वर्जनीय है। यथा—

१ जो सयम का विघातक हो।
२ जिसमे हिंसा या पाप का मिश्रण हो।
३ जो फूट डालने वाला, वृथा वकवास हो, आर्यजनोचित न हो।
४ अन्याय का पोषक हो, मिथ्यादोषारोपणरूप हो।
५ जो विवाद या विडम्वनाजनक हो, धृष्टतापूर्ण हो।
६ जो लोकनिन्दनीय हो।
७ जो भलीभाति देखा, सुना या जाना हुआ न हो।
८ जो आत्मप्रशसा और परनिन्दारूप हो।
९ जो द्रोहयुक्त, द्विधापूर्ण हो।
१० जिससे शिष्टाचार का उल्लघन होता हो।
११ जिससे किसी को पीडा उत्पन्न हो।

ऐसे और इसी कोटि के अन्य वचन तथ्य होने पर भी वोलने योग्य नही है।

सत्य के दस प्रकार—

मूल पाठ मे निर्दिष्ट दस प्रकार के सत्य का स्वरूप इस प्रकार है—

जणवय-सम्मय-ठवणा नामे-रूवे पडुच्चसच्चे य।
ववहार-भाव-जोगे, दसमे ओवम्मसच्चे य ॥[1]

१. जनपदसत्य—जिस देश-प्रदेश मे जिस वस्तु के लिए जो शब्द-प्रयुक्त होता हो, वहाँ उस वस्तु के लिए उसी शब्द का प्रयोग करना, जैसे माता को 'आई' कहना, नाई को 'राजा' कहना।

२. सम्मतसत्य—वहुत लोगो ने जिस शब्द को जिस वस्तु का वाचक मान लिया हो, जैसे 'देवी' शब्द पटरानी का वाचक मान लिया गया है। अत पटरानी को 'देवी' कहना सम्मतसत्य है।

३ स्थापनासत्य—जिसकी मूर्ति हो उसे उसी के नाम से कहना, जैसे—इन्द्रमूर्ति को इन्द्र कहना या शतरज की गोटो को हाथी, घोडा आदि कहना।

४. नामसत्य—जिसका जो नाम हो उसे गुण न होने पर भी उस शब्द से कहना, जैसे कुल की वृद्धि न करने वाले को भी 'कुलवर्द्धन' कहना।

५ रूपसत्य—साधु के गुण न होने पर भी वेषमात्र से असाधु को साधु कहना।

---

१ दशवैकालिक हारिभद्रीय वृत्ति,

६ **प्रतीत्यसत्य**—अपेक्षाविशेष से कोई वचन बोलना, जैसे दूसरी उंगली की अपेक्षा से किसी उंगली को छोटी या बडी कहना, द्रव्य की अपेक्षा सब पदार्थों को नित्य कहना या पर्याय की अपेक्षा से सब को क्षणिक कहना।

७ **व्यवहारसत्य**—जो वचन लोकव्यवहार की दृष्टि से सत्य हो, जैसे—रास्ता तो कहीं जाता नहीं, किन्तु कहा जाता है कि यह रास्ता अमुक नगर को जाता है, गाँव आ गया आदि।

८. **भावसत्य**—अनेक गुणो की विद्यमानता होने पर भी किसी प्रधान गुण की विवक्षा करके कहना, जैसे तोते मे लाल वर्ण होने पर भी उसे हरा कहना।

९ **योगसत्य**—संयोग के कारण किसी वस्तु को किसी शब्द से कहना, जैसे—दण्ड धारण करने के कारण किसी को दण्डी कहना।

१० **उपमासत्य**—समानता के आधार पर किसी शब्द का प्रयोग करना, जैसे—मुख-चन्द्र आदि।

भाषा के बारह प्रकार

आगमो मे भाषा के विविध दृष्टियो से अनेक भेद-प्रभेद प्रतिपादित किए गए है। उन्हे विस्तार से समझने के लिए दशवैकालिक तथा प्रज्ञापनासूत्र का भाषापद देखना चाहिए। प्रस्तुत पाठ मे बारह प्रकार की भाषाएँ बतलाई गई है, वे तत्काल मे प्रचलित भाषाएँ है, जिनके नाम ये हैं—(१) प्राकृत (२) संस्कृत (३) मागधी (४) पैशाची (५) शौरसेनी और (६) अपभ्रंश। ये छह गद्यमय और छह पद्यमय होने से बारह प्रकार की है।

सोलह प्रकार के वचन

टीकाकार श्री अभयदेवसूरि ने सोलह प्रकार के वचन निम्नलिखित गाथा उद्धृत करके गिनाए है—

वयणतिय लिंगतिय कालतिय तह परोक्ख पच्चक्ख।
उवणीयाइ चउक्क अज्झत्थ चेव सोलसम॥

अर्थात् वचनत्रिक, लिंगत्रिक, कालत्रिक, परोक्ष, प्रत्यक्ष, उपनीत आदि चतुष्क और सोलहवाँ अध्यात्मवचन, ये सब मिलकर सोलह वचन है।

वचनत्रिक—एकवचन, द्विवचन, बहुवचन।
लिंगत्रिक—स्त्रीलिंग, पुंलिंग, नपुंसकलिंग।
कालत्रिक—भूतकाल, वर्त्तमानकाल, भविष्यत्काल।
प्रत्यक्षवचन—यथा यह पुरुष है।
परोक्षवचन—यथा वह मुनिराज।

उपनीतादिचतुष्क—(१) उपनीतवचन अर्थात् प्रशंसा का प्रतिपादक वचन, जैसे यह रूपवान् है। (२) अपनीतवचन—दोष प्रकट करने वाला वचन, जैसे यह दुराचारी है। (३) उपनीतापनीत—प्रशंसा के साथ निन्दावाचक वचन, जैसे यह रूपवान् है किन्तु दुराचारी है। (४) अपनीतोपनीत-वचन—निन्दा के साथ प्रशंसा प्रकट करने वाला वचन, जैसे—यह दुराचारी है किन्तु रूपवान् है।

अध्यात्मवचन—जिस अभिप्राय को कोई छिपाना चाहता है, फिर भी अकस्मात् उस अभिप्राय को प्रकट कर देने वाला वचन ।

इस दस प्रकार के सत्य का, वारह प्रकार की भाषा का और सोलह प्रकार के वचनों का सयमी पुरुष को तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा के अनुसार, अवसर के अनुकूल प्रयोग करना चाहिए । जिससे किसी को पीडा उत्पन्न न हो—जो हिंसा का कारण न वने ।

सत्य महाव्रत का सुफल

१२१—इम च अलिय-पिसुण-फरुस-कडुय-चवलवयण-परिरक्खणट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय अत्तहिय पेच्चाभाविय आगमेसिभद्द सुद्ध णेयाउय अकुडिल अणुत्तर सव्वदुक्खपावाण विउसमण ।

१२१—अलीक—असत्य, पिशुन—चुगली, परुष—कठोर, कटु—कटुक और चपल—चचलतायुक्त वचनो से (जो असत्य के रूप है) वचाव के लिए तीर्थंकर भगवान् ने यह प्रवचन समीचीन रूप से प्रतिपादित किया है । यह भगवत्प्रवचन आत्मा के लिए हितकर है, जन्मान्तर मे शुभ भावना से युक्त है, भविष्य मे श्रेयस्कर है, शुद्ध—निर्दोष है, न्यायसगत है, मुक्ति का सीधा मार्ग है, सर्वोत्कृष्ट है तथा समस्त दु खो और पापो को पूरी तरह उपशान्त—नष्ट करने वाला है ।

सत्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ

प्रथम भावना—अनुवीचिभाषण

१२२—तस्स इमा पच भावणाओ विइयस्स वयस्स अलियवयणस्स वेरमण-परिरक्खणट्ठयाए ।

पढम—सोऊण सवरट्ठ परमट्ठ सुट्ठु जाणिऊण ण वेगिय ण तुरिय ण चवल ण कडुय ण फरुस ण साहस ण य परस्स पीडाकर सावज्ज, सच्च च हिय च मिय च गाहग च सुद्ध सगयमकाहल च समिक्खिय सजएण कालम्मि य वत्तव्व ।

एव अणुवीइसमिइजोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा सजयकर-चरण-णयण-वयणो सूरो सच्चज्जवसपुण्णो ।

१२२—दूसरे व्रत अर्थात् सत्यमहाव्रत की ये—आगे कही जा रही पाँच भावनाएँ है, जो असत्य वचन के विरमण की रक्षा के लिए है अर्थात् इन पाँच भावनाओ का विचारपूर्वक पालन करने से असत्य-विरमणरूप सत्य महाव्रत की पूरी तरह रक्षा होती है । इन पाँच भावनाओ मे प्रथम अनुवीचिभाषण है । सद्गुरु के निकट सत्यव्रत रूप सवर के अर्थ—आशय को सुन कर एव उसके शुद्ध परमार्थ—रहस्य को सम्यक् प्रकार से जानकर जल्दी-जल्दी—सोच-विचार किए विना नही वोलना चाहिए, अर्थात् कटुक वचन नही बोलना चाहिए, शब्द से कठोर वचन नही बोलना चाहिए, चपलतापूर्वक नही वोलना चाहिए, विचारे विना सहसा नही वोलना चाहिए, पर को पीडा पैदा करने वाला एव सावद्य—पापयुक्त वचन भी नही वोलना चाहिए । किन्तु सत्य, हितकारी, परिमित, ग्राहक—विवक्षित अर्थ का वोध कराने वाला, शुद्ध—निर्दोष, सगत—युक्तियुक्त एव पूर्वापर-अविरोधी,

स्पष्ट तथा पहले बुद्धि द्वारा सम्यक् प्रकार से विचारित ही साधु को अवसर के अनुसार बोलना चाहिए।

इस प्रकार अनुवीचिसमिति के—निरवद्य वचन बोलने की यतना के योग से भावित अन्तरात्मा—प्राणी हाथो, पैरो, नेत्रो और मुख पर सयम रखने वाला, शूर तथा सत्य और आर्जव धर्म से सम्पन्न होता है।

दूसरी भावना—अक्रोध

१२३—बिइय—कोहो ण सेवियव्वो, कुद्धो चडिक्किओ मणूसो अलिय भणेज्ज, पिसुण भणेज्ज, फरुस भणेज्ज, अलिय-पिसुण-फरुस भणेज्ज, कलह करिज्जा, वेर करिज्जा, विकह करिज्जा, कलह-वेर-विकह करिज्जा, सच्च हणेज्ज, सील हणेज्ज, विणय हणेज्ज, सच्च-सील-विणय हणेज्ज, वेसो हवेज्ज, वत्थु हवेज्ज, गम्मो हवेज्ज, वेसो-वत्थु-गम्मो हवेज्ज, एय अण्ण च एवमाइय भणेज्ज कोहग्गि-सपलित्तो तम्हा कोहो ण सेवियव्वो। एव खतीइ भाविओ भवइ अतरप्पा सजयकर-चरण-णयण-वयणो सूरो सच्चज्जवसपण्णो।

१२३—दूसरी भावना क्रोधनिग्रह—क्षमाशीलता है। (सत्य के आराधक को) क्रोध का सेवन नही करना चाहिए। क्रोधी मनुष्य रौद्रभाव वाला हो जाता है और (ऐसी अवस्था मे) असत्य भाषण कर सकता है (या करता है)। वह पिशुन—चुगली के वचन बोलता है, कठोर वचन बोलता है। मिथ्या, पिशुन और कठोर—तीनो प्रकार के वचन बोलता है। कलह करता है, वैर-विरोध करता है, विकथा करता है तथा कलह-वैर-विकथा—ये तीनो करता है। वह सत्य का घात करता है, शील—सदाचार का घात करता है, विनय का विघात करता है और सत्य, शील तथा विनय—इन तीनो का घात करता है। असत्यवादी लोक मे द्वेष का पात्र बनता है, दोषो का घर बन जाता है और अनादर का पात्र बनता है तथा द्वेष, दोष और अनादर—इन तीनो का पात्र बनता है।

क्रोधाग्नि से प्रज्वलितहृदय मनुष्य ऐसे और इसी प्रकार के अन्य सावद्य वचन बोलता है। अतएव क्रोध का सेवन नही करना चाहिए। इस प्रकार क्षमा से भावित अन्तरात्मा—अन्त करण वाला हाथो, पैरो, नेत्रो और मुख के सयम से युक्त, शूर साधु सत्य और आर्जव से सम्पन्न होता है।

तीसरी भावना—निर्लोभता

१२४—तइय—लोभो ण सेवियव्वो, १ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय खेत्तस्स व वत्थुस्स व कएण, २ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय, कित्तीए लोभस्स व कएण, ३ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय, इड्ढीए व सोक्खस्स व कएण, ४ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय, भत्तस्स व पाणस्स व कएण, ५ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय, पीढस्स व फलगस्स व कएण, ६ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय, सेज्जाए व सथारगस्स व कएण, ७ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय, वत्थस्स व पत्तस्स व काएण, ८ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय, कबलस्स व पायपुंछणस्स व कएण, ९ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय, सीसस्स व सिस्सिणीए व कएण, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलिय, अण्णेसु य एवमाइसु बहुसु कारणसएसु लुद्धो लोलो भणेज्ज अलीय, तम्हा

लोभो ण सेवियव्वो, एव मुत्तीए भाविओ भवइ अतरप्पा सजयकर-चरण-णयण-वयणो सूरो सच्चज्जव-सपण्णो।

१२४—तीसरी भावना लोभनिग्रह है। लोभ का सेवन नही करना चाहिए।

(१) लोभी मनुष्य लोलुप होकर क्षेत्र—खेत-खुली भूमि और वास्तु-मकान आदि के लिए असत्य भाषण करता है।

(१) लोभी-लालची मनुष्य कीर्त्ति और लोभ—धनप्राप्ति के लिए असत्य भापण करता है।

(३) लोभी-लालची मनुष्य ऋद्धि-वैभव और सुख के लिए असत्य भापण करता है।

(४) लोभी-लालची भोजन के लिए, पानी (पेय) के लिए असत्य भापण करता है।

(५) लोभी-लालची मनुष्य पीठ-पीढा और फलक—पाट प्राप्त करने के लिए असत्य भापण करता है।

(६) लोभी-लालची मनुष्य शय्या और सस्तारक—छोटे विछौने के लिए असत्य भाषण करता है।

(७) लोभी-लालची मनुष्य वस्त्र और पात्र के लिए असत्य भाषण करता है।

(८) लोभी-लालची मनुष्य कम्बल और पादप्रोछन के लिए असत्य भाषण करता है।

(९) लोभी-लालची मनुष्य शिष्य और शिष्या के लिए असत्य भाषण करता है।

(१०) लोभी-लालची मनुष्य इस प्रकार के सैकडो कारणो-प्रयोजनो से असत्य भाषण करता है।

लोभी व्यक्ति मिथ्या भाषण करता है, अर्थात् लोभ भी असत्य भाषण का एक कारण है, अतएव (सत्य के आराधक को) लोभ का सेवन नही करना चाहिए। इस प्रकार मुक्ति—निर्लोभता से भावित अन्त करण वाला साधु हाथो, पैरो, नेत्रो और मुख से सयत, शूर और सत्य तथा आर्जव धर्म से सम्पन्न होता है।

चौथी भावना—निर्भयता

१२५—चउत्थ—ण भाइयव्व, भीय खु भया अइति लहुय, भीओ अबितिज्जओ मणूसो, भीओ भूएहि घिप्पइ, भीओ अण्ण वि हु भेसेज्जा, भीओ तवसजम बि हु मुएज्जा, भीओ य भर ण णित्थरेज्जा, सप्पुरिसणिसेविय च मग्ग भीओ ण समत्थो अणुचरिउं, तम्हा ण भाइयव्व। भयस्स वा वाहिस्स वा रोगस्स वा जराए वा मच्चुस्स वा अण्णस्स वा एवमाइयस्स। एव धेज्जेण भाविओ भवइ अतरप्पा सजयकर-चरण-णयण-वयणो सूरो सच्चज्जवसपण्णो।

१२५—चौथी भावना निर्भयता—भय का अभाव है। भयभीत नही होना चाहिए। भीरु मनुष्य को अनेक भय शीघ्र ही जकड लेते है—भयग्रस्त बना देते है। भीरु मनुष्य अद्वितीय-असहाय रहता है। भयभीत मनुष्य भूत-प्रेतो द्वारा आक्रान्त कर लिया जाता है। भीरु मनुष्य (स्वय तो डरता ही है) दूसरो को भी डरा देता है। भयभीत हुआ पुरुष निश्चय ही तप और सयम को भी छोड वैठता है। भीरु साधक भार का निस्तार नही कर सकता अर्थात् स्वीकृत कार्यभार अथवा सयम-भार का भलीभाति निर्वाह नही कर सकता है। भीरु पुरुष सत्पुरुषो द्वारा सेवित मार्ग का अनुसरण

करने मे समर्थ नही होता। अतएव (किसी मनुष्य, पशु-पक्षी या देवादि अन्य निमित्त के द्वारा जनित अथवा आत्मा द्वारा जनित) भय से, व्याधि-कुष्ठ आदि से, ज्वर आदि रोगो से, वृद्धावस्था से, मृत्यु से या इसी प्रकार के अन्य इष्टवियोग, अनिष्टसयोग आदि के भय से डरना नही चाहिए। इस प्रकार विचार करके धैर्य—चित्त की स्थिरता अथवा निर्भयता से भावित अन्त करण वाला साधु हाथो, पैरो, नेत्रो और मुख से सयत, शूर एव सत्य तथा आर्जवधर्म से सम्पन्न होता है।

पाँचवी भावना—हास्य-त्याग

१२६—पचमग—हास ण सेवियव्व अलियाइ असतगाइ जपति हासइत्ता। परपरिभवकारण च हास, परपरिवायप्पिय च हास, परपीलाकारग च हास, भेयविमुत्तिकारगं च हास, अण्णोण्णजणिय च होज्ज हास, अण्णोण्णगमण च होज्ज मम्म, अण्णोण्णगमण च होज्ज कम्म, कदंप्पाभियोगगमण च होज्ज हास, आसुरिय किव्विसत्तण च जणेज्ज हास, तम्हा हास ण सेवियव्व। एव मोणेण भाविओ भवइ अतरप्पा सजयकर-चरण-णयण-वयणो सूरो सच्चज्जवसपण्णो।

१२६—पाँचवी भावना परिहासपरिवर्जन है। हास्य का सेवन नही करना चाहिए। हँसोड व्यक्ति अलीक—दूसरे मे विद्यमान गुणो को छिपाने रूप-और असत्—अविद्यमान को प्रकाशित करने वाले या अशोभनीय और अशान्तिजनक वचनो का प्रयोग करते है। परिहास दूसरो के परिभव-अपमान-तिरस्कार का कारण होता है। हँसी मे परकीय निन्दा-तिरस्कार ही प्रिय लगता है। हास्य परपीडाकारक होता है। हास्य चारित्र का विनाशक, शरीर की आकृति को विकृत करने वाला है और मोक्षमार्ग का भेदन करने वाला है। हास्य अन्योन्य—एक दूसरे का परस्पर मे किया हुआ होता है, फिर परस्पर मे परदारगमन आदि कुचेष्टा—मर्म का कारण होता है। एक दूसरे के मर्म—गुप्त चेष्टाओ को प्रकाशित करने वाला बन जाता है, हँसी-हँसी मे लोग एक दूसरे की गुप्त चेष्टाओ को प्रकट करके फजीहत करते है। हास्य कन्दर्प-हास्यकारी अथवा आभियोगिक—आज्ञाकारी सेवक जैसे देवो मे जन्म का कारण होता है। हास्य असुरता एव किल्विषता उत्पन्न करता है, अर्थात् साधु तप और सयम के प्रभाव से कदाचित् देवगति मे उत्पन्न हो तो भी अपने हँसोडपन के कारण निम्न कोटि के देवो मे उत्पन्न होता है। वैमानिक आदि उच्च कोटि के देवो मे नही उत्पन्न होता। इस कारण हँसी का सेवन नही करना चाहिए। इस प्रकार मौन से भावित अन्त करण वाला साधु हाथो, पैरो, नेत्रो और मुख से सयत होकर शूर तथा सत्य और आर्जव से सम्पन्न होता है।

विवेचन—उल्लिखित पाँच (१२२ से १२६) सूत्रो मे अहिंसामहाव्रत के समान सत्यमहाव्रत की पाँच भावनाओ का प्रतिपादन किया गया है, जो इस प्रकार है—(१) अनुवीचिभाषण (२) क्रोध का त्याग—अक्रोध (३) लोभत्याग या निर्लोभता (४) भयत्याग या निर्भयता और (५) परिहास-परिहार या हँसी-मजाक का त्याग।

वाणीव्यवहार मानव की एक महत्त्वपूर्ण विशिष्टता है। पशु-पक्षी भी अपनी-अपनी वाणी से बोलते है किन्तु मानव की वाणी की अर्थपरकता या सोद्देश्यता उनकी वाणी मे नही होती। अतएव व्यक्त वाणी मनुष्य की एक अनमोल विभूति है।

वाणी की यह विभूति मनुष्य को अनायास प्राप्त नही होती। एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिक आदि

स्थावर जीव जिह्वा से सर्वथा वचित होते है। वे वोल ही नही सकते। द्वीन्द्रियादि जीव जिह्वा वाले होते हुए भी व्यक्त वाणी नही बोल सकते। व्यक्त और सार्थक वाणी मनुष्य को ही प्राप्त है। किन्तु क्या यह वाणीवैभव यो ही प्राप्त हो गया? नही, इसे प्राप्त करने के लिए वहुत वडी पुण्यराशि खरचनी पडी है। विपुल पुण्य की पू जी के बदले इसकी उपलब्धि हुई है। अतएव मनुष्य की वाणी बहुमूल्य है। धन देकर प्राप्त न की जा सकने के कारण वह अनमोल भी है।

विचारणीय है कि जो वस्तु अनमोल है, जो प्रवलतर पुण्य के प्रभाव से प्राप्त हुई है, उसका उपयोग किस प्रकार करना उचित है? यदि कोई मनुष्य अपनी वाणी का प्रयोग पाप के उपार्जन मे करता है तो वह निश्चय ही अभागा है, विवेकविहीन है। इस वाणी की सार्थकता और सदुपयोग यही हो सकता है कि इसे धर्म और पुण्य की प्राप्ति मे व्यय किया जाए। यह तभी सम्भव है जब इसे पापोपार्जन का निमित्त न बनाया जाए।

इसी उद्देश्य से सत्य को महाव्रत के रूप मे स्थापित किया गया है और इससे पूर्व सत्य की महिमा का प्रतिपादन किया गया है।

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि असत्य के पाप से बच कर सत्य भगवान् की आराधना किस प्रकार की जा सकती है? इसी प्रश्न के समाधान के लिए पाँच भावनाओ की प्ररूपणा की गई है। सत्य की आराधना के लिए पूर्ण रूप से असत्य से बचना आवश्यक है और असत्य से बचने के लिए असत्य के कारणो से दूर रहना चाहिए। असत्य के कारणो की विद्यमानता मे उससे बचना अत्यन्त कठिन है, प्राय असभव है। किन्तु जब असत्य का कोई कारण न हो तो उसका अभाव अवश्य हो जाता है, क्योकि कारण के विना कार्य की उत्पत्ति नही होती। इन भावनाओ मे असत्य के कारणो के परिहार का ही प्रतिपादन किया गया है। न होगा वास, न बजेगी वासुरी। असत्य का कारण न होगा तो असत्य भी नही होगा।

असत्य के प्रधान कारण पाँच हैं। उनके त्याग की यहाँ प्रेरणा की गई है।

असत्य का एक कारण है—सोच-विचार किये विना, जल्दबाजी मे, जो मन मे आए, बोल देना। इस प्रकार बोल देने से अनेको वार घोर अनर्थ उत्पन्न हो जाते है। 'अन्धे की सन्तान अन्धी होती है' द्रौपदी के इस अविचारित वचन ने कितने भीषण अनर्थ उत्पन्न नही किए? स्वय द्रौपदी को अपमानित होना पडा, पाण्डवो की दुर्दशा हुई और महाभारत जैसा दुर्भाग्यपूर्ण सग्राम हुआ, जिसमे करोडो को प्राण गँवाने पडे। अतएव जिस विषय की जानकारी न हो, जिसके विषय मे सम्यक् प्रकार से विचार न कर लिया गया हो, जिसके परिणाम के सम्बन्ध मे पूरी तरह सावधानी न रक्खी गई हो, उस विषय मे वाणी का प्रयोग करना उचित नही है। तात्पर्य यह है कि जो भी बोला जाए, सुविचारित एव सुज्ञात ही बोला जाए। भलीभाति विचार करके बोलने वाले को पश्चात्ताप करने का अवसर नही आता, उसे लाछित नही होना पडता और उसका सत्यव्रत अखडित रहता है।

प्रथम भावना का नाम 'अनुवीचिसमिति' कहा गया है। तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धिटीका मे इसका अर्थ किया गया है—'अनुवीचिभाषणम्—निरवद्यानुभाषणम्'[1] अर्थात् निरवद्य भाषा

१ सर्वार्थसिद्धि अ ७

का प्रयोग करना अनुवीचिभाषण कहलाता है। तत्त्वार्थभाष्य मे भी सत्यव्रत की प्रथम भावना के लिए 'अनुवीचि' भाषण शब्द का ही प्रयोग किया गया है।[1] अतएव भलीभाँति विचार कर बोलने के साथ-साथ भाषा सम्बन्धी अन्य दोषो से बचना भी इस भावना के अन्तर्गत है।

सत्यव्रत का निरतिचार रूप से पालन करने के लिए क्रोधवृत्ति पर विजय प्राप्त करना भी आवश्यक है। क्रोध ऐसी वृत्ति है जो मानवीय विवेक को विलुप्त कर देती है और कुछ काल के लिए पागल बना देती है। क्रोध का उद्रेक होने पर सत्—असत् का भान नही रहता और असत्य बोला जाता है। कहना चाहिए कि क्रोध के अतिशय आवेश मे जो बोला जाता है, वह असत्य ही होता है। अतएव सत्यमहाव्रत की सुरक्षा के लिए क्रोधप्रत्याख्यान अथवा अक्रोधवृत्ति परमावश्यक है।

तीसरी भावना लोभत्याग या निर्लोभता है। लोभ से होने वाली हानियो का मूल पाठ मे ही विस्तार से कथन कर दिया गया है। शास्त्र मे लोभ को समस्त सद्गुणो का विनाशक कहा है।[2] जब मनुष्य लोभ की जकड मे फँस जाता है तो कोई भी दुष्कर्म करना उसके लिए कठिन नही होता। अतएव सत्यव्रत की सुरक्षा चाहने वाले को निर्लोभवृत्ति धारण करनी चाहिए। किसी भी वस्तु के प्रति लालच उत्पन्न नही होने देना चाहिए।

चौथी भावना भय-प्रत्याख्यात है। भय मनुष्य की बडी से बडी दुर्बलता है। भय मनुष्य के मस्तिष्क मे छिपा हुआ विषाणु है जो उसे कातर, भीरु, निर्बल, सामर्थ्यशून्य और निष्प्राण बना देता है। भय वह पिशाच है जो मनुष्य की वीर्यशक्ति को पूरी तरह सोख जाता है। भय वह वृत्ति है जिसके कारण मनुष्य अपने को निकम्मा, नालायक और नाचीज समझने लगता है। शास्त्रकार ने कहा है कि भयभीत पुरुष को भूत-प्रेत ग्रस्त कर लेते है। बहुत वार तो भय स्वय ही भूत बन जाता है और उस मनोविनिर्मित भूत के आगे मनुष्य घुटने टेक देता है। भय के भूत के प्रताप से कइयो को जीवन से हाथ धोना पडता है और अनेको का जीवन बेकार बन जाता है।

भीरु मनुष्य स्वय भीत होता है, साथ ही दूसरो के मस्तक मे भी भय का भूत उत्पन्न कर देता है। भीरु पुरुष स्वय सन्मार्ग पर नही चल सकता और दूसरो के चलने मे भी बाधक बनता है।

मनुष्य के मन मे व्याधि, रोग, वृद्धावस्था, मरण आदि के अनेक प्रकार के भय विद्यमान रहते है। मूल पाठ मे निर्देश किया गया है कि रोगादि के भय से डरना नही चाहिए। भय कोई औषध तो है नही कि उसके सेवन से रोगादि उत्पन्न न हो! क्या बुढापे का भय पालने से बुढापा आने से रुक जाएगा? मरणभय के सेवन से मरण टल जाएगा? ऐसा कदापि नही हो सकता। यही नही, प्रत्युत भय के कारण न आने वाला रोग भी आ सकता है, न होने वाली व्याधि हो सकती है, विलम्ब से आने वाले वार्धक्य और मरण को भय आमत्रण देकर शीघ्र ही निकट ला सकता है। ऐसी स्थिति मे भयभीत होने से हानि के अतिरिक्त लाभ क्या है।

साराश यह है कि भय की भावना आत्मिक शक्ति के परिबोध मे बाधक है, साहस को तहस-नहस करने वाली है, समाधि की विनाशक है और सक्लेश को उत्पन्न करने वाली है। वह सत्य पर स्थिर नही रहने देती। अतएव सत्य भगवान् के आराधक को निर्भय होना चाहिए।

---

१ तत्त्वार्थभाष्य अ ७

२ लोहो सव्वविणासणो—दशवैकालिकसूत्र

पाँचवी भावना है परिहास-परिहार या हास्यप्रत्याख्यान। सरलभाव से यथातथ्य वचनो के प्रयोग से हँसी-मजाक का रूप नही वनता। हास्य के लिए सत्य को विकृत करना पडता है। नमक-मिर्च लगाकर बोलना होता है। किसी के सद्‌गुणो को छिपा कर दुर्गुणो को उघाडा करना होता है। अभिप्राय यह है कि सर्वांश या अधिकाश मे सत्य को छिपा कर असत्य का आश्रय लिए विना हँसी-मजाक नही होता। इससे सत्यव्रत का विघात होता है और अन्य को पीडा होती है। अतएव सत्यव्रत के सरक्षण के लिए हास्यवृत्ति का परिहार करना आवश्यक है।

जो साधक हास्यशील होता है, साथ ही तपस्या भी करता है, वह तप के फलस्वरूप यदि देवगति पाता है तो भी किल्विष या आभियोगिक जैसे निम्नकोटि के देवो मे जन्म पाता है। वह देवगणो मे अस्पृश्य चाण्डाल जैसी अथवा दास जैसी स्थिति मे रहता है। उसे उच्च श्रेणी का देवत्व प्राप्त नही होता। इस प्रकार हास्यवृत्ति महान् फल को भी तुच्छ बना देती है।

सयमी के लिए मौनवृत्ति का अवलम्बन करना सर्वोत्तम है। जो इस वृत्ति का निर्वाह भावपूर्वक कर सकते है, उनके लिए मौन रह कर सयम की साधना करना हितकर है। किन्तु आजीवन इस उत्सर्ग मार्ग पर चलना प्रत्येक के लिए सम्भव नही है। सघ और तीर्थ के अभ्युदय एव हित की दृष्टि से यह वाछनीय भी नही है। फिर भी भाषा का प्रयोग करते समय आगम मे उल्लिखित निर्देशो का ध्यान रख कर समितिपूर्वक जो वचनप्रयोग करते है, उनका सत्यमहाव्रत अखण्डित रहता है। उनके चित्त मे किसी प्रकार का सक्लेशभाव उत्पन्न नही होता। वे अपनी आराधना मे सफलता प्राप्त करते है। उनके लिए मुक्ति का द्वार उद्‌घाटित रहता है।

उपसंहार—

१२७—एवमिण सवरस्स दार सम्म सवरिय होइ सुप्पणिहिय, इमेहि पचहि वि कारणेहि मण-वयण-काय-परिरक्खिएहि णिच्च आमरणत च एस जोगो णेयव्वो धिइमया मइमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असकिलिट्ठो सव्वजिणमणुण्णाओ।

१२७—इस प्रकार मन, वचन और काय से पूर्ण रूप से सुरक्षित-सुसेवित इन पाच भावनाओ से सवर का यह द्वार—सत्यमहाव्रत सम्यक् प्रकार से सवृत—आचरित-और सुप्रणिहित—स्थापित हो जाता है। अतएव धैर्यवान् तथा मतिमान् साधक को चाहिए कि वह आस्रव का निरोध करने वाले, निर्मल (अकलुष), निश्छिद्र—कर्म-जल के प्रवेश को रोकने वाले, कर्मवन्ध के प्रवाह से रहित, सक्लेश का अभाव करने वाले एव समस्त तीर्थंकरो द्वारा अनुज्ञात इस योग को निरन्तर जीवनपर्यन्त आचरण मे उतारे।

१२८—एव बिइय सवरदार फासिय पालिय सोहियं तीरियं किट्टिय अणुपालिय आणाए आराहिय भवइ। एव णायमुणिणा भगवया पण्णविय परूवियं पसिद्ध सिद्ध सिद्धवरसासणमिण आघविय सुदेसिय पसत्थं।

।। बिइयं सवरदार समत्तं ।। त्तिबेमि ।।

तृतीय अध्ययन : दत्तानुज्ञात

द्वितीय सवरद्वार के निरूपण के पश्चात् अचौर्य नामक तृतीय सवरद्वार का निरूपण प्रस्तुत है। सत्य के पश्चात् अचौर्य के विवेचन के टीकाकार ने दो कारण वतलाए है—प्रथम यह कि सूत्रक्रम के अनुसार अब अस्तेय का निरूपण ही सगत है, दूसरा असत्य का त्यागी वही हो सकता है जो अदत्तादान का त्यागी हो। अदत्तादान करने वाले सत्य का निर्वाह नही कर सकते। अतएव सत्यसवर के अनन्तर अस्तेयसवर का निरूपण करना उचित है।

अस्तेय का स्वरूप

१२९—जंबू ! दत्तमणुण्णाय-संवरो णाम होइ तइय सुव्वया ! महव्वय गुणव्वय परदव्व-हरणपडिविरइकरणजुत्त अपरिमियमणततण्हाणुगयमहिच्छमणवयणकलुसआयाणसुणिग्गहिय सुसज-मिय-मण-हत्थ-पायणिहुय णिग्गथ णिट्ठिय णिरुत्त णिरासव णिव्भय विमुत्त उत्तमणरवसभपवरबलवग-सुविहियजणसम्मत परमसाहुधम्मचरण।

१२९—हे शोभन व्रतो के धारक जम्बू ! तीसरा सवरद्वार 'दत्तानुज्ञात' नामक है। यह महान् व्रत है तथा यह गुणव्रत—इहलोक और परलोक सबधी उपकारो का कारणभूत भी है। यह परकीय द्रव्य-पदार्थों के हरण से निवृत्तिरूप क्रिया से युक्त है, अर्थात् इस व्रत मे परायी वस्तुओ के अपहरण का त्याग किया जाता है। यह व्रत अपरिमित—सीमातीत और अनन्त तृष्णा से अनुगत महा-अभिलाषा से युक्त मन एव वचन द्वारा पापमय परद्रव्यहरण का भलीभाँति निग्रह करता है। इस व्रत के प्रभाव से मन इतना सयमशील बन जाता है कि हाथ और पैर परधन को ग्रहण करने से विरत हो जाते हैं। यह बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थियो से रहित है, सब धर्मों के प्रकर्ष के पर्यन्त-वर्त्ती है। सर्वज्ञ भगवन्तो ने इसे उपादेय कहा है। यह आस्रव का निरोध करने वाला है। निर्भय है—इसका पालन करने वाले को राजा या शासन आदि का भय नही रहता और लोभ उसका स्पर्श भी नही करता। यह प्रधान बलशालियो तथा सुविहित साधुजनो द्वारा सम्मत है, श्रेष्ठ साधुओ का धर्माचरण है।

विवेचन—तृतीय सवरद्वार के प्रारभ मे सुधर्मा स्वामी ने अपने प्रधान अन्तेवासी को 'सुव्रत' कह कर सम्बोधित किया है। अपने सदाचरण की गुरुजन द्वारा प्रशसा सुन कर शिष्य के हृदय मे उल्लास होता है और वह सदाचरण मे अधिक उत्साह के साथ अग्रसर होता है। इस प्रकार यह सम्वोधन शिष्य के उत्साहवर्द्धन के लिए प्रयुक्त हुआ है।

अस्तेय महाव्रत है। जीवन पर्यन्त तृण जैसे अत्यन्त तुच्छ पदार्थ को भी अदत्त या अननुज्ञात ग्रहण न करना अपने आप मे एक महान् साधना है। इसका निर्वाह करने मे आने वाली बडी-बडी कठिनाइयो को समभाव से, मन मे तनिक भी मलीनता लाये विना, सहन कर लेना और वह भी स्वेच्छा से, कितना कठिन है ! अतएव इसे महाव्रत कहना सर्वथा समुचित ही है।

यह व्रत अनेकानेक गुणो का जनक है। इसके धारण और पालन से इस लोक मे भी उपकार होता है और परलोक मे भी, अतएव इसे गुणव्रत भी कहा गया है।

अस्तेयव्रत की आराधना से अपरिमित तृष्णा और अभिलाषा के कारण कलुषित मन का निग्रह होता है। जो द्रव्य प्राप्त है, उसका व्यय न हो जाए, इस प्रकार की इच्छा को यहाँ तृष्णा कहा गया है और अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की बलवती लालसा को महेच्छा कहा गया है।

'सुसजमिय-मण-हत्थ-पायनिहुय' इस विशेषण के द्वारा शास्त्रकार ने यह सूचित किया है कि मन पर यदि सम्यक् प्रकार से नियन्त्रण कर लिया जाए, मन पूरी तरह काबू मे रहे तो हाथो और पैरो की प्रवृत्ति स्वत रुक जाती है। जिस ओर मन नही जाता उस ओर हाथ-पैर भी नही हिलते। यह सूचना साधको के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है। साधको को सर्वप्रथम अपने मन को सयत बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने पर वचन और काय अनायास ही सयत हो जाते है।

शेष पदो का अर्थ सुगम है।

१३०—जत्थ य गामागर-णगर-णिगम-खेड-कब्बड-मडब-दोणमुह-सबाह-पट्टणासमगयं च किंचि दव्व मणि-मुत्त-सिलप्पवाल-कस-दूस-रयय-वरकणग-रयणमाइ पडिय पम्हुट्ठ विप्पणट्ठ, ण कप्पइ कस्सइ कहेउ वा गिण्हिउं वा अहिरण्णसुवण्णियेण समलेट्ठुकचणेण अपरिग्गहसवुडेण लोगम्मि विहरियव्व।

१३०—इस अदत्तादानविरमण व्रत मे ग्राम, आकर, नगर, निगम, खेट, कर्वट, मडब, द्रोणमुख, सवाध, पट्टन अथवा आश्रम (अथवा इनके अतिरिक्त किसी अन्य स्थान) मे पडी हुई, उत्तम मणि, मोती, शिला, प्रवाल, कासा, वस्त्र, चादी, सोना, रत्न आदि कोई भी वस्तु पडी हो—गिरी हो, कोई उसे भूल गया हो, गुमी हुई हो तो (उसके विषय मे) किसी को कहना अथवा स्वय उठा लेना नही कल्पता है। क्योकि साधु को हिरण्य—सुवर्ण का त्यागी हो कर, पाषाण और स्वर्ण मे समभाव रख कर, परिग्रह से सर्वथा रहित और सभी इन्द्रियो से सवृत-सयत होकर ही लोक मे विचरना चाहिए।

विवेचन—ग्राम, आकर आदि विभिन्न प्रकार की वस्तियाँ है, जिनका अर्थ पूर्व मे लिखा जा चुका है। इन वस्तियो मे से किसी भी वस्ती मे और उपलक्षण से वन मे या मार्ग आदि मे कही कोई मूल्यवान् या अल्पमूल्य वस्तु साधु को दिखाई दे जाए तो उसके विषय मे दूसरे किसी को कहना अथवा स्वय उठा लेना योग्य नही है। साधु की दृष्टि ऐसी परमार्थदर्शिनी बन जाए कि वह पत्थर और सोने को समदृष्टि से देखे। उसे पूर्णरूप से अपरिग्रही होकर विचरण करना चाहिए और अपनी सब इन्द्रियो को सदा सयममय रखना चाहिए।

१३१—ज वि य हुज्जाहि दव्वजाय खलगय खेत्तगय रण्णमतरगय वा किंचि पुप्फ-फल-तयप्पवाल-कद-मूल-तण-कट्ठ-सक्कराइ अप्प च बहुं च अणु च थूलग वा ण कप्पइ उग्गहम्मि अदिण्णम्मि गिण्हिउ जे, हणि हणि उग्गह अणुण्णविय गिण्हियव्व, वज्जेयव्वो सव्वकाल अचियत्तघरप्पवेसो

अचियत्तभत्तपाण अचियत्तपीढ-फलग-सिज्जा-सथारग-वत्थ-पत्त-कवल-दडग-रयहरण-णिसिज्ज-चोल-पट्टग-मुहपोत्तिय-पायपु छणाइ भायण-भडोवहि-उवगरण परपरिवाओ परस्स दोसो परववएसेण ज च गिण्हइ, परस्स णासेइ ज च सुकय, दाणस्स य अतराइय दाणविप्पणासो पिसुण्ण चेव मच्छरिय च ।

ये अस्तेय के आराधक नही—

जे वि य पीढ-फलग-सिज्जा-सथारग-वत्थ-पाय-कवल-मुहपोत्तिय-पाय-पु छणाइ-भायण-भडो-वहिउवगरण असविभागी, असगहरुई, तवतेणे य वइतेणे य रूवतेणे य आयारे चेव भावतेणे य, सद्दकरे झझकरे कलहकरे वेरकरे विकहकरे असमाहिकरे सया अप्पमाणभोई सयय अणुवद्धवेरे य णिच्चरोसी से तारिसए णाराहए वयमिण ।

१३१—कोई भी वस्तु, जो खलिहान मे पडी हो, या खेत मे पडी हो, या जगल मे पडी हो, जैसे कि फूल हो, फल हो, छाल हो, प्रवाल हो, कन्द, मूल, तृण, काष्ठ या ककर आदि हो, वह थोडी हो या बहुत हो, छोटी हो या मोटी हो, स्वामी के दिये विना या उसकी आज्ञा प्राप्त किये विना ग्रहण करना नही कल्पता। घर और स्थडिलभूमि भी आज्ञा प्राप्त किये विना ग्रहण करना उचित नही है।

तो फिर साधु को किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए ? यह विधान किया जाता है कि प्रति-दिन अवग्रह की आज्ञा लेकर ही उसे लेना चाहिए। तथा अप्रीतिकारक घर मे प्रवेश वर्जित करना चाहिए अर्थात् जिस घर के लोगो मे साधु के प्रति अप्रीति हो, ऐसे घरो मे किसी वस्तु के लिए प्रवेश करना योग्य नही है। अप्रीतिकारक के घर से आहार-पानी तथा पीठ, फलक—पाट, शय्या, सस्तारक, वस्त्र, पात्र, कबल, दण्ड—विशिष्ट कारण से लेने योग्य लाठी और पादप्रोछन—पैर साफ करने का वस्त्रखण्ड आदि एव भाजन—पात्र, भाण्ड—मिट्टी के पात्र तथा उपधि—वस्त्रादि उपकरण भी ग्रहण नही करना चाहिए। साधु को दूसरे की निन्दा नही करनी चाहिए, दूसरे को दोष नही देना चाहिए या किसी पर द्वेष नही करना चाहिए। (आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, रुग्ण अथवा शैक्ष आदि) दूसरे के नाम से जो कोई वस्तु ग्रहण करता है तथा जो उपकार को या किसी के सुकृत को छिपाता है—नष्ट करता है, जो दान मे अन्तराय करता है, अर्थात् दिये जाने वाले दान मे किसी प्रकार से विघ्न डालता है, जो दान का विप्रणाश करता अर्थात् दाता के नाम को छिपाता है, जो पैशुन्य करता—चुगली खाता है और मात्सर्य—ईर्षा-द्वेष करता है, (वह सर्वज्ञ भगवान् की आज्ञा से विरुद्ध करता है, अतएव इनसे बचना चाहिए।)

जो भी पीठ—पीढा, पाट, शय्या, सस्तारक, वस्त्र, पात्र, कम्बल, दण्ड, रजोहरण, आसन, चोलपट्टक, मुखवस्त्रिका और पादप्रोञ्छन आदि, पात्र, मिट्टी के पात्र—भाण्ड और अन्य उपकरणो का जो आचार्य आदि साधर्मिको मे सविभाग (उचित रूप से विभाग) नही करता, वह अस्तेयव्रत का आराधक नही होता। जो असग्रहरुचि है अर्थात् एषणीय पीठ, फलक आदि गच्छ के लिए आव-श्यक या उपयोगी उपकरणो का जो स्वार्थी (आत्मभरी) होने के कारण सग्रह करने मे रुचि नही रखता, जो तपस्तेन है अर्थात् तपस्वी न होने पर भी तपस्वी के रूप मे अपना परिचय देता है, वचनस्तेन—वचन का चोर है, जो रूपस्तेन है अर्थात् सुविहित साधु न होने पर भी जो सुविहित साधु का वेष धारण करता है, जो आचार का चोर है अर्थात् आचार से दूसरो को धोखा देता है और जो

भावस्तेन है अर्थात् दूसरे के ज्ञानादि गुण के आधार पर अपने आपको ज्ञानी प्रकट करता है, जो शब्दकर है अर्थात् रात्रि मे उच्चस्वर से स्वाध्याय करता या बोलता है अथवा गृहस्थो जैसी भाषा बोलता है, जो गच्छ मे भेद उत्पन्न करने वाले कार्य करता है, जो कलहकारी, वैरकारी और असमाधिकारी है, जो शास्त्रोक्त प्रमाण से सदा अधिक भोजन करता है, जो सदा वैर बाँध रखने वाला है, सदा क्रोध करता रहता है, ऐसा पुरुष इस अस्तेयव्रत का आराधक नही होता है।

विवेचन—अस्तेयव्रत की आराधना की विधि विस्तारपूर्वक यहाँ बतलाई गई है। प्रारभ मे कहा गया है कि अस्तेयव्रत के आराधक को कोई भी वस्तु, चाहे वह मूल्यवान् हो या मूल्यहीन हो, बहुत हो या थोडी हो, छोटी हो या मोटी हो, यहाँ तक कि धूल या ककर जैसी तुच्छतर ही क्यो न हो, बिना दी हुई या अननुज्ञात ग्रहण नही करना चाहिए। ग्राह्य वस्तु का दाता अथवा अनुज्ञाता भी वही होना चाहिए जो उसका स्वामी हो। व्रत की पूर्ण आराधना के लिए यह नियम सर्वथा उपयुक्त ही है। मगर प्रश्न हो सकता है कि साधु जब मार्ग मे चल रहा हो, ग्राम, नगर आदि से दूर जगल मे हो और उसे अचानक तिनका जैसी किसी वस्तु की आवश्यकता हो जाए तो वह क्या करे ?

उत्तर यह है कि शास्त्र मे अनुज्ञा देने वाले पाँच बतलाए गए है—(१) देवेन्द्र (२) राजा (३) गृहपति—मण्डलेश, जागीरदार या ठाकुर (४) सागारी (गृहस्थ) और (५) साधर्मिक। पूर्वोक्त परिस्थिति मे तृण, ककर आदि तुच्छ—मूल्यहीन वस्तु की यदि आवश्यकता हो तो साधु देवेन्द्र की अनुज्ञा से उसे ग्रहण कर सकते है।

इस आशय को व्यक्त करने के लिए मूल पाठ मे इस व्रत या सवर के लिए **दत्तमणुण्णायसवरो** (दत्त—अनुज्ञातसवर) शब्द का प्रयोग किया गया है, केवल 'दत्तसवर' नही कहा गया। इसका तात्पर्य यही है कि जो पीठ, फलक आदि वस्तु किसी गृहस्थ के स्वामित्व की हो उसे स्वामी के देने पर ग्रहण करना चाहिए और जो धूलि या तिनका जैसी तुच्छ वस्तुओ का कोई स्वामी नही होता—जो सर्व साधारण के लिए मुक्त है, उन्हे देवेन्द्र की अनुज्ञा से ग्रहण किया जाए तो वे अनुज्ञात है। उनके ग्रहण से व्रतभग नही होता।[1]

अदत्तादान के विषय मे कुछ अन्य शकाए भी उठाई जाती है, यथा—

शका—साधु कर्म और नोकर्म का जो ग्रहण करता है, वह अदत्त है। फिर व्रतभग क्यो नही होता ?

समाधान—जिसका देना और लेना सभव होता है, उसी वस्तु मे स्तेय—चौर्य-चोरी का व्यवहार होता है। कर्म—नोकर्म के विषय मे ऐसा व्यवहार नही हो सकता, अत उनका ग्रहण अदत्तादान नही है।

शका—साधु रास्ते मे या नगरादि के द्वार मे प्रवेश करता है, वह अदत्तादान क्यो नही है ?

समाधान—रास्ता और नगरद्वार आदि सामान्य रूप से सभी के लिए मुक्त है, साधु के लिए

---

१ भगवती—श १६ उ २

भी उसी प्रकार अनुज्ञात है जैसे दूसरो के लिए। अतएव यहाँ भी अदत्तादान नही समझना चाहिए। अथवा जहाँ प्रमादभाव है वही अदत्तादान का दोप होता है। रास्ते आदि मे प्रवेश करने वाले साधु मे प्रमत्तयोग नही होता, अतएव वह अदत्तादानी नही है। तात्पर्य यह है कि जहाँ सक्लेशभावपूर्वक प्रवृत्ति होती है वही अदत्तादान होता है, भले ही वह बाह्य वस्तु को ग्रहण करे अथवा न करे।[1]

अभिप्राय यह है कि जिन वस्तुओ मे देने और लेने का व्यवहार सभव हो और जहाँ सक्लिष्ट परिणाम के साथ बाह्य वस्तु को ग्रहण किया जाए, वही अदत्तादान का दोप लागू होता है। जो अस्वामिक या सस्वामिक वस्तु सभी के लिए मुक्त है या जिसके लिए देवेन्द्र आदि की अनुज्ञा ले ली गई है, उसे ग्रहण करने अथवा उसका उपयोग करने से अदत्तादान नही होता। साधु को दत्त और अनुज्ञात वस्तु ही ग्राह्य होती हे।

सूत्र मे असविभागी और असग्रहरुचि पदो द्वारा व्यक्त किया गया है कि गच्छवासी साधु को गच्छवर्ती साधुओ की आवश्यकताओ का भी ध्यान रखना चाहिए। उसे स्वार्थी नही होना चाहिए। आहारादि शास्त्रानुसार जो भी प्राप्त हो उसका उदारतापूर्वक यथोचित सविभाग करना चाहिए। किसी दूसरे साधु को किसी उपकरण की या अमुक प्रकार के आहार की आवश्यकता हो और वह निर्दोष रूप से प्राप्त भी हो रहा हो तो केवल स्वार्थीपन के कारण उसे ग्रहण मे अरुचि नही करनी चाहिए। गच्छवासी साधुओ को एक दूसरे के उपकार और अनुग्रह मे प्रसन्नता अनुभव करनी चाहिये।

उल्लिखित पाठ मे तपस्तेन अर्थात् 'तप का चोर' आदि पदो का प्रयोग किया गया है, उनका उल्लेख दशवैकालिक सूत्र मे भी आया है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

तप स्तेन—किसी स्वभावत कृशकाय साधु को देखकर किसी ने पूछा—महाराज, अमुक गच्छ मे मासखमण की तपस्या करने वाले सुने हैं, क्या आप वही मासक्षपक है ?

यह सुन कर वह कृशकाय साधु मासक्षपक न होते हुए भी यदि अपने को मासक्षपक कह देता है तो वह तप का चोर है। अथवा धूर्ततापूर्वक उत्तर देता है—'भई, साधु तो तपस्वी होते ही हैं, उनका जीवन ही तपोमय है।'

इस प्रकार गोलमोल उत्तर देकर वह तपस्वी न होकर भी यह धारणा उत्पन्न कर देता है कि यही मासक्षपक तपस्वी है, किन्तु निरहकार होने के कारण स्पष्ट नही कह रहे है। ऐसा साधु तप स्तेन कहलाता है।

वच स्तेन—इसी प्रकार किसी वाग्मी—कुशल व्याख्याता साधु का यश छल के द्वारा अपने ऊपर ओढ लेना—धूर्तता से अपने को वाग्मी प्रकट करने या कहने वाला वचस्तेन साधु कहलाता है।

रूपस्तेन—किसी सुन्दर रूपवान् साधु का नाम किसी ने सुना है। वह किसी दूसरे रूपवान् साधु को देख कर पूछता है—क्या अमुक रूपवान् साधु आप ही है ? वही साधु न होने पर भी वह साधु यदि हाँ कह देता है अथवा छलपूर्वक गोलमोल उत्तर देता है, जिससे प्रश्नकर्ता की धारणा बन जाए कि यह वही प्रसिद्ध रूपवान् साधु है, तो ऐसा कहने वाला साधु रूप का चोर है।

[1] सर्वार्थसिद्धिटीका अ ७, सूत्र १५

रूप दो प्रकार का है—शरीर की सुन्दरता और सुविहित साधु का वेष। जो साधु सुविहित तो न हो किन्तु लोगो को अपने प्रति आकर्षित करने के लिए, अन्य साधुओ की अपेक्षा अपनी उत्कृष्टता प्रदर्शित करने के लिए सुविहित साधु का वेष धारण कर ले—मैला चोलपट्ट, मैल से भरा शरीर, सिर्फ दो पात्र आदि रख कर विचरे तो वह रूप का चोर कहलाता है।

इसी प्रकार आचारस्तेन और भावस्तेन भी समझ लेने चाहिए। शेप पदो की सुबोध होने से व्याख्या करना अनावश्यक है।

अस्तेय के आराधक कौन ?

१३२—अह केरिसए पुणाइ आराहए वयमिण ? जे से उवहि-भत्त-पाण-सगहण-दाण-कुसले अच्चतबाल-दुब्बल-गिलाण-वुड्ढ-खवग-पवत्ति-आयरिय-उवज्झाए सेहे साहम्मिए तवस्सी-कुल-गण-सघ-चेइयट्ठे य णिज्जरट्ठी वेयावच्च अणिस्सिय दसविह बहुविह करेइ, ण य अचियत्तस्स गिह पविसइ, ण य अचियत्तस्स गिण्हइ भत्तपाण, ण य अचियत्तस्स सेवइ पीढ-फलग-सिज्जा-सथारग-वत्थ-पाय-कबल-दंडग-रयहरण-णिसिज्ज-चोलपट्टय-मुहपोत्तिय पायपुछणाइ-भायण-भडोवहिउवगरण ण य परिवाय परस्स जपइ, ण यावि दोसे परस्स गिण्हइ, परववएसेण वि ण किंचि गिण्हइ, ण य विपरिणामेइ किंचि जण, ण यावि णासेइ दिण्णसुकय दाऊण य ण होइ पच्छाताविए सभागसीले सग्गहोवग्गहकुसले से तारिसए आराहए वयमिण।

१३२—प्रश्न—(यदि पूर्वोक्त प्रकार के मनुष्य इस व्रत की आराधना नही कर सकते) तो फिर किस प्रकार के मनुष्य इस व्रत के आराधक हो सकते है ?

उत्तर—इस अस्तेयव्रत का आराधक वही पुरुष हो सकता है जो—वस्त्र, पात्र आदि धर्मोपकरण, आहार-पानी आदि का सग्रहण और सविभाग करने मे कुशल हो।

जो अत्यन्त बाल, दुर्बल, रुग्ण, वृद्ध और मासक्षपक आदि तपस्वी साधु की, प्रवर्त्तक, आचार्य, उपाध्याय की, नवदीक्षित साधु की तथा सार्धमिक—लिग एव प्रवचन से समानधर्मा साधु की, तपस्वी, कुल, गण, सघ के चित्त की प्रसन्नता के लिए सेवा करने वाला हो,

जो निर्जरा का अभिलाषी हो—कर्मक्षय करने का इच्छुक हो, जो अनिश्रित हो अर्थात् यश-कीर्त्ति आदि की कामना न करते हुए पर पर निर्भर न रहता हो, वही दस प्रकार का वैयावृत्य, अन्न-पान आदि अनेक प्रकार से करता है। वह अप्रीतिकारक गृहस्थ के कुल मे प्रवेश नही करता और न अप्रीतिकारक के घर का आहार-पानी ग्रहण करता है। अप्रीतिकारक से पीठ, फलक, शय्या, सस्तारक, वस्त्र, पात्र, कम्वल, दण्ड, रजोहरण, आसन, चोलपट्ट, मुखवस्त्रिका एव पादप्रोछन भी नही लेता है। वह दूसरो की निन्दा (परपरिवाद) नही करता और न दूसरे के दोषो को ग्रहण करता है। जो दूसरे के नाम से (अपने लिए) कुछ भी ग्रहण नही करता और न किसी को दानादि धर्म से विमुख करता है, दूसरे के दान आदि सुकृत का अथवा धर्माचरण का अपलाप नही करता है, जो दानादि देकर और वैयावृत्य आदि करके पश्चात्ताप नही करता है, ऐसा आचार्य, उपाध्याय आदि के लिए सविभाग करने वाला, सग्रह एव उपकार करने मे कुशल साधक ही इस अस्तेयव्रत का आराधक होता है।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे बतलाया गया है कि अस्तेयव्रत की आराधना के लिए किन-किन योग्यताओ की आवश्यकता है ? जिस साधक मे मूल पाठ मे उल्लिखित गुण विद्यमान होते है, वही वास्तव मे इस व्रत का पालन करने मे समर्थ होता है । वैयावृत्य (सेवा) के दस भेद बतलाए गए है, वे इस प्रकार है—

वेयावच्च वावडभावो इह धम्मसाहणनिमित्त ।
अन्नाइयाण विहिणा, सपायणमेस भावत्थो ।।

आयरिय-उवज्झाए थेर-तवस्सी-गिलाण-सेहाण ।
साहम्मिय-कुल-गण-सघ-सगय तमिह कायव्व ।।[1]

अर्थात्—धर्म की साधना के लिए विधिपूर्वक आचार्य आदि के लिए अन्न आदि उपयोगी वस्तुओ का सपादन करना—प्राप्त करना वैयावृत्य कहलाता है ।

वैयावृत्य के पात्र दस है—(१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) स्थविर (४) तपस्वी (५) ग्लान (६) शैक्ष (७) साधर्मिक (८) कुल (९) गण और (१०) सघ । साधु को इन दस की सेवा करनी चाहिए, अतएव वैयावृत्य के भी दस प्रकार होते है ।

१ **आचार्य**—सघ के नायक, पचविध आचार का पालन करने-कराने वाले ।

२ **उपाध्याय**—विशिष्ट श्रुतसम्पन्न, साधुओ को सूत्रशिक्षा देने वाले ।

३ **स्थविर**—श्रुत, वय अथवा दीक्षा की अपेक्षा वृद्ध साधु, अर्थात् स्थानाग-समवायाग आदि आगमो के विज्ञाता, साठ वर्ष से अधिक वय वाले अथवा कम से कम बीस वर्ष की दीक्षा वाले ।

४ **तपस्वी**—मासखमण आदि विशिष्ट तपश्चर्या करने वाले ।

५. **ग्लान**—रुग्ण मुनि ।

६ **शैक्ष**—नवदीक्षित ।

७. **साधर्मिक**—सदृश समाचार वाले तथा समान वेष वाले ।

८ **कुल**—एक गुरु के शिष्यो का समुदाय अथवा एक वाचनाचार्य से ज्ञानाध्ययन करने वाले ।

९ **गण**—अनेक कुलो का समूह ।

१० **सघ**—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकाओ का समूह ।

इन सब का वैयावृत्य निर्जरा के हेतु करना चाहिए, यश-कीर्त्ति आदि के लिए नही । भगवान् ने वैयावृत्य को आभ्यन्तर तप के रूप मे प्रतिपादित किया है । इसका सेवन दोहरे लाभ का कारण है—वैयावृत्यकर्त्ता कर्मनिर्जरा का लाभ करता है और जिनका वैयावृत्य किया जाता है, उनके चित्त मे समाधि, सुख-शान्ति उत्पन्न होती है ।

साधर्मिक बारह प्रकार के है । उनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१ नामसाधर्मिक—दो या अधिक व्यक्तियो मे नाम की समानता होना । जैसे देवदत्त नामक दो व्यक्तियो मे नाम की समानता है ।

१—अभयदेवटीका से उद्धृत ।

२ स्थापनासाधर्मिक—साधर्मिक के चित्र आदि मे उसकी स्थापना करना ।
३ द्रव्यसाधर्मिक—जो भूतकाल मे साधर्मिक था या भविष्यत् मे होगा, वर्त्तमान मे नही है ।
४ क्षेत्रसाधर्मिक—एक ही क्षेत्र—देश या नगर आदि के निवासी ।
५ कालसाधर्मिक—जो समकालीन हो या एककालोत्पन्न हो ।
६ प्रवचनसाधर्मिक—एक सिद्धान्त को मानने वाले, समान श्रद्धा वाले ।
७ लिगसाधर्मिक—एक ही प्रकार के वेप वाले ।
८ दर्शनसाधर्मिक—जिनका सम्यग्दर्शन समान हो ।
९ ज्ञानसाधर्मिक—मति आदि ज्ञानो की समानता वाले ।
१० चारित्रसाधर्मिक—समान चारित्र-आचार वाले ।

११ अभिग्रहसाधर्मिक—एक-से अभिग्रह वाले, आहारादि के विषय मे जिन्होने एक-सी प्रतिज्ञा अगीकार की हो ।

१२ भावनासाधर्मिक—समान भावना वाले—अनित्यादि भावनाओ मे समान रूप से विचरने वाले ।

प्रस्तुत मे प्रवचन, लिग और चारित्र की अपेक्षा साधर्मिक समझना चाहिए, अन्य अपेक्षाओ से नही ।

एक प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता ह कि परनिन्दा और पर को दोष देना दोष तो है किन्तु अदत्तादान के साथ उनका सबन्ध जोडना कैसे उपयुक्त हो सकता है ? अर्थात् जो परनिन्दा करता है और पर के साथ द्वेष करता है, वह अदत्तादानविरमण व्रत का पालन नही कर सकता और जो यह नही करता वही पालन कर सकता है, ऐसा क्यो कहा गया है ?

इस प्रश्न का समाधान आचार्य अभयदेव ने इस प्रकार किया है—

सामीजीवादत्त तित्थयरेण तहेव य गुरूहि ।

अर्थात् अदत्त चार प्रकार का है—स्वामि-अदत्त अर्थात् स्वामी के द्वारा विना दिया, जीव-अदत्त, तीर्थकर-अदत्त और गुरु-अदत्त ।

निन्दा निन्दनीय व्यक्ति द्वारा तथा तीर्थकर और गुरु द्वारा अननुज्ञात (अदत्त) है, इसी प्रकार दोष देना भी दूषणीय जीव एव तीर्थकर-गुरु द्वारा अननुज्ञात है, अतएव इनका सेवन अननुज्ञात—अदत्त का सेवन करना है । इस प्रकार अदत्तादान-त्यागी को परनिन्दा और दूसरे को दोष लगाना या किसी पर द्वेष करना भी त्याज्य है ।

शेष सुगम है ।

आराधना का फल—

१३३—इम च परदव्वहरणवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय अत्तहिय पेच्चाभाविय आगमेसिभद्द सुद्ध णेयाउय अकुडिल अणुत्तर सव्वदुक्खपावाण विउवसमण ।

१३३—परकीय द्रव्य के हरण से विरमण (निवृत्ति) रूप इस अस्तेयव्रत की परिरक्षा

के लिए भगवान् तीर्थंकर देव ने यह प्रवचन समीचीन रूप से कहा है। यह प्रवचन आत्मा के लिए हितकारी है, आगामी भव मे शुभ फल प्रदान करने वाला और भविष्यत् मे कल्याणकारी है। यह प्रवचन शुद्ध है, न्याय-युक्ति-तर्क से सगत है, अकुटिल-मुक्ति का सरल मार्ग है, सर्वोत्तम है तथा समस्त दुखो और पापो को निश्शेष रूप से शान्त कर देने वाला है।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे अस्तेयव्रत सबधी भगवत्प्रवचन की महिमा बतलाई गई है। साथ ही व्रत के पालनकर्त्ता को प्राप्त होने वाले फल का भी निर्देश किया गया है। आशय स्पष्ट है।

अस्तेय व्रत की पाँच भावनाएँ—

१३४—तस्स इमा पच भावणाओ होंति परदव्व-हरण-वेरमण-परिरक्खणट्ठयाए।

१३४—परद्रव्यहरणविरमण (अदत्तादानत्याग) व्रत की पूरी तरह रक्षा करने के लिए पाँच भावनाएँ है, जो आगे कही जा रही है।

प्रथम भावना—निर्दोष उपाश्रय—

१३५—पढम—देवकुल-सभा-प्पवा-वसह-रुक्खमूल-आराम-कदरागर-गिरि-गुहा-कम्मतउज्जाण-जाणसाला-कुवियसाला-मडव-सुण्णघर-सुसाण-लेण-आवणे अण्णम्मि य एवमाइयम्मि दग-मट्टिय-बीज-हरिय-तसपाणअससत्ते अहाकडे फासुए विवित्ते पसत्थे उवस्सए होइ विहरियव्व।

आहाकम्मबहुले य जे से आसित्त-सम्मज्जिय-उवलित्त-सोहिय-छायण-दूमण-लिपण-अणुलिपण-जलण-भडचालण अतो बहि च असजमो जत्थ वड्ढइ सजयाण अट्ठा वज्जियव्वो हु उवस्सओ से तारिसए सुत्तपडिकुट्ठे।

एव विवत्तवासवसहिसमिइजोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा णिच्च-अहिगरणकरणकारावण-पावकम्मविरओ दत्तमणुण्णाय उग्गहरुई।

१३५—पाँच भावनाओ मे से प्रथम भावना (विविक्त एव निर्दोष वसति का सेवन करना) है। वह इस प्रकार है—देवकुल—देवालय, सभा—विचार-विमर्श का स्थान अथवा व्याख्यानस्थान, प्रपा—प्याऊ, आवसथ—परिव्राजको के ठहरने का स्थान, वृक्षमूल, आराम—लतामण्डप आदि से युक्त, दम्पतियो के रमण करने योग्य बगीचा, कन्दरा—गुफा, आकर—खान, गिरिगुहा—पर्वत की गुफा, कर्म—जिसके अन्दर सुधा (चूना) आदि तैयार किया जाता है, उद्यान—फूल वाले वृक्षो से युक्त बाग, यानशाला—रथ आदि रखने की जगह, कुप्यशाला—घर का सामान रखने का स्थान, मण्डप—विवाह आदि के लिए या यज्ञादि के लिए बनाया गया मण्डप, शून्य घर, श्मशान, लयन—पहाड मे बना गृह तथा दुकान मे और इसी प्रकार के अन्य स्थानो मे जो भी सचित्त जल, मृत्तिका, बीज, दूब आदि हरित और चीटी-मकोडे आदि त्रस जीवो से रहित हो, जिसे गृहस्थ ने अपने लिए बनवाया हो, प्रासुक—निर्जीव हो, जो स्त्री, पशु एव नपुसक के ससर्ग से रहित हो और इस कारण जो प्रशस्त हो, ऐसे उपाश्रय मे साधु को विहरना चाहिए—ठहरना चाहिए।

(किस प्रकार के उपाश्रय—स्थान मे नही ठहरना चाहिए ? इसका उत्तर यह है—) साधुओ

२ स्थापनासाधर्मिक—साधर्मिक के चित्र आदि मे उसकी स्थापना करना ।

३ द्रव्यसाधर्मिक—जो भूतकाल मे साधर्मिक था या भविष्यत् मे होगा, वर्त्तमान मे नही है ।

४ क्षेत्रसाधर्मिक—एक ही क्षेत्र—देश या नगर आदि के निवासी ।

५ कालसाधर्मिक—जो समकालीन हो या एककालोत्पन्न हो ।

६ प्रवचनसाधर्मिक—एक सिद्धान्त को मानने वाले, समान श्रद्धा वाले ।

७ लिंगसाधर्मिक—एक ही प्रकार के वेष वाले ।

८ दर्शनसाधर्मिक—जिनका सम्यग्दर्शन समान हो ।

९ ज्ञानसाधर्मिक—मति आदि ज्ञानो की समानता वाले ।

१० चारित्रसाधर्मिक—समान चारित्र-आचार वाले ।

११ अभिग्रहसाधर्मिक—एक-से अभिग्रह वाले, आहारादि के विषय मे जिन्होने एक-सी प्रतिज्ञा अगीकार की हो ।

१२ भावनासाधर्मिक—समान भावना वाले—अनित्यादि भावनाओ मे समान रूप से विचरने वाले ।

प्रस्तुत मे प्रवचन, लिंग और चारित्र की अपेक्षा साधर्मिक समझना चाहिए, अन्य अपेक्षाओ से नही ।

एक प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि परनिन्दा और पर को दोष देना दोष तो है किन्तु अदत्तादान के साथ उनका संबन्ध जोडना कैसे उपयुक्त हो सकता है ? अर्थात् जो परनिन्दा करता है और पर के साथ द्वेष करता है, वह अदत्तादानविरमण व्रत का पालन नही कर सकता और जो यह नही करता वही पालन कर सकता है, ऐसा क्यो कहा गया है ?

इस प्रश्न का समाधान आचार्य अभयदेव ने इस प्रकार किया है—

सामीजीवादत्त तित्थयरेण तहेव य गुरूहि ।

अर्थात् अदत्त चार प्रकार का है—स्वामि-अदत्त अर्थात् स्वामी के द्वारा विना दिया, जीव-अदत्त, तीर्थंकर-अदत्त और गुरु-अदत्त ।

निन्दा निन्दनीय व्यक्ति द्वारा तथा तीर्थंकर और गुरु द्वारा अननुज्ञात (अदत्त) है, इसी प्रकार दोष देना भी दूषणीय जीव एव तीर्थंकर-गुरु द्वारा अननुज्ञात है, अतएव इनका सेवन अननुज्ञात—अदत्त का सेवन करना है । इस प्रकार अदत्तादान-त्यागी को परनिन्दा और दूसरे को दोष लगाना या किसी पर द्वेष करना भी त्याज्य है ।

शेष सुगम है ।

आराधना का फल—

१३३—इम च परदव्वहरणवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय अत्तहिय पेच्चाभाविय आगमेसिभद्द सुद्ध णेयाउय अकुडिल अणुत्तर सव्वदुक्खपावाण विउवसमण ।

१३३—परकीय द्रव्य के हरण से विरमण (निवृत्ति) रूप इस अस्तेयव्रत की परिरक्षा

के लिए भगवान् तीर्थंकर देव ने यह प्रवचन समीचीन रूप से कहा है। यह प्रवचन आत्मा के लिए हितकारी है, आगामी भव मे शुभ फल प्रदान करने वाला और भविष्यत् मे कल्याणकारी है। यह प्रवचन शुद्ध है, न्याय-युक्ति-तर्क से सगत है, अकुटिल-मुक्ति का सरल मार्ग है, सर्वोत्तम है तथा समस्त दु खो और पापो को निश्शेष रूप से शान्त कर देने वाला है।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे अस्तेयव्रत सबधी भगवत्प्रवचन की महिमा बतलाई गई है। साथ ही व्रत के पालनकर्त्ता को प्राप्त होने वाले फल का भी निर्देश किया गया है। आशय स्पष्ट है।

अस्तेय व्रत की पॉच भावनाएँ—

१३४—तस्स इमा पच भावणाओ होंति परदव्व-हरण-वेरमण-परिरक्खणट्ठयाए।

१३४—परद्रव्यहरणविरमण (अदत्तादानत्याग) व्रत की पूरी तरह रक्षा करने के लिए पाँच भावनाएँ है, जो आगे कही जा रही है।

प्रथम भावना—निर्दोष उपाश्रय—

१३५—पढम—देवकुल-सभा-प्पवा-वसह-रुक्खमूल-आराम-कदरागर-गिरि-गुहा-कम्मतउज्जाण-जाणसाला-कुवियसाला-मडव-सुण्णघर-सुसाण-लेण-आवणे अण्णम्मि य एवमाइयम्मि दग-मट्टिय-बीज-हरिय-तसपाणअससत्ते अहाकडे फासुए विवित्ते पसत्थे उवस्सए होइ विहरियव्व।

आहाकम्मबहुले य जे से आसित्त-सम्मज्जिय-उवलित्त-सोहिय-छायण-दूमण-लिपण-अणुलिपण-जलण-भडचालण अतो बहिं च असजमो जत्थ वड्ढइ सजयाण अट्ठा वज्जियव्वो हु उवस्सओ से तारिसए सुत्तपडिकुट्ठे।

एव विवत्तवासवसहिसमिइजोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा णिच्च-अहिगरणकरणकारावण-पावकम्मविरओ दत्तमणुण्णाय उग्गहरुई।

१३५—पॉच भावनाओ मे से प्रथम भावना (विविक्त एव निर्दोष वसति का सेवन करना) है। वह इस प्रकार है—देवकुल—देवालय, सभा—विचार-विमर्श का स्थान अथवा व्याख्यानस्थान, प्रपा—प्याऊ, आवसथ—परिव्राजको के ठहरने का स्थान, वृक्षमूल, आराम—लतामण्डप आदि से युक्त, दम्पतियो के रमण करने योग्य बगीचा, कन्दरा—गुफा, आकर—खान, गिरिगुहा—पर्वत की गुफा, कर्म—जिसके अन्दर सुधा (चूना) आदि तैयार किया जाता है, उद्यान—फूल वाले वृक्षो से युक्त वाग, यानशाला—रथ आदि रखने की जगह, कुप्यशाला—घर का सामान रखने का स्थान, मण्डप—विवाह आदि के लिए या यज्ञादि के लिए बनाया गया मण्डप, शून्य घर, श्मशान, लयन—पहाड मे बना गृह तथा दुकान मे और इसी प्रकार के अन्य स्थानो मे जो भी सचित्त जल, मृत्तिका, बीज, दूब आदि हरित और चीटी-मकोडे आदि त्रस जीवो से रहित हो, जिसे गृहस्थ ने अपने लिए बनवाया हो, प्रासुक—निर्जीव हो, जो स्त्री, पशु एव नपु सक के ससर्ग से रहित हो और इस कारण जो प्रशस्त हो, ऐसे उपाश्रय मे साधु को विहरना चाहिए—ठहरना चाहिए।

(किस प्रकार के उपाश्रय—स्थान मे नही ठहरना चाहिए ? इसका उत्तर यह है—) साधुओ

के निमित्त जिसके लिए हिंसा की जाए, ऐसे आधाकर्म की बहुलता वाले, आसिक्त—जल के छिड़काव वाले, समार्जित—बुहारी से साफ किए हुए, उत्सिक्त—पानी से खूब सींचे हुए, शोभित—सजाए हुए, छादन—डाभ आदि से छाये हुए, दूमन—कलई आदि से पोते हुए, लिम्पन—गोबर आदि से लीपे हुए, अनुलिंपन—लीपे को फिर लीपा हो, ज्वलन—अग्नि जलाकर गर्म किये हुए या प्रकाशित किए हुए, भाण्डो—सामान को इधर-उधर हटाए हुए अर्थात् जिस साधु के लिए कोई सामान इधर-उधर किया गया हो और जिस स्थान के अन्दर या बाहर (समीप मे) जीवविराधना होती हो, ये सब जहाँ साधुओ के निमित्त से हो, वह स्थान—उपाश्रय माधुओ के लिए वर्जनीय है। ऐसा स्थान शास्त्र द्वारा निषिद्ध है।

इस प्रकार विविक्त—निर्दोप वास—स्थान मे वसतिरूप समिति के योग से भावित अन्त करण वाला मुनि सदैव दुर्गति के कारण पापकर्म के करने और करवाने से निवृत्त होता—बचता है तथा दत्त-अनुज्ञात अवग्रह मे रुचि वाला होता है।

द्वितीय भावना—निर्दोष सस्तारक—

१३६—बिइय—आराम-उज्जाण-काणण-वणप्पदेसभागे ज किंचि इक्कड च कठिणग च जतुगं च परामेरकुच्च-कुस-डब्भ-पलाल-मूयग-वल्लय-पुप्फ-फल-तय-प्पवाल-कद-मूल-तण-कट्ठ-सक्कराइ गिण्हइ सेज्जोवहिस्स अट्ठा ण कप्पए उग्गहे अदिण्णम्मि गिण्हिउ जे हणि हणि उग्गह अणुण्णविय गिण्हियव्व।

एव उग्गहसमिइजोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा णिच्च अहिगरण-करण-कारावण-पावकम्म-विरए दत्तमणुण्णाय उग्गहरुई।

१३६—दूसरी भावना निर्दोप सस्तारकग्रहण सबधी है। आराम, उद्यान, कानन—नगरसमीपवर्ती वन और वन—नगर से दूर का वनप्रदेश आदि स्थानो मे जो कुछ भी (अचित्त) इक्कड जाति का घास तथा कठिन—घास की एक जाति, जन्तुक—पानी मे उत्पन्न होने वाला घास, परा नामक घास, मेरा—मूज के तन्तु, कूर्च—कूची बनाने योग्य घास, कुश, डाभ, पलाल, मूयक नामक घास, वल्वज घास, पुष्प, फल, त्वचा, प्रवाल, कन्द, मूल, तृण, काष्ठ और शर्करा आदि द्रव्य सस्तारक रूप उपधि के लिए अथवा सस्तारक एव उपधि के लिए ग्रहण करता है तो इन उपाश्रय के भीतर की ग्राह्य वस्तुओ को दाता द्वारा दिये विना ग्रहण करना नही कल्पता। तात्पर्य यह है कि उपाश्रय की अनुज्ञा ले लेने पर भी उपाश्रय के भीतर की घास आदि लेना हो तो उनके लिए पृथक् रूप से अनुज्ञा प्राप्त करना चाहिए। उपाश्रय की अनुज्ञा प्राप्त कर लेने मात्र से उसमे रखी अन्य तृण आदि वस्तुओ के लेने की अनुज्ञा ले ली, ऐसा नही मानना चाहिए।

इस प्रकार अवग्रहसमिति के योग से भावित अन्त करण वाला साधु सदा दुर्गति के कारणभूत पाप-कर्म के करने और कराने से निवृत्त होता—बचता है और दत्त—अनुज्ञात अवग्रह की रुचि वाला होता है।

तृतीय भावना—शय्या-परिकर्म वर्जन—

१३७—तइय—पीढफलगसिज्जासथारगट्ठयाए रुक्खा ण छिदियव्वा, ण छेयणेण भेयणेण सेज्जा कारियव्वा, जस्सेव उवस्सए वसेज्ज सेज्ज तत्थेव गवेसिज्जा, ण य विसम सम करेज्जा, ण णिवाय-

पवायउस्सुगत्त, ण डसमसगेसु खुभियव्व, अग्गी धूमो ण कायव्वो, एव सजमबहुले सवरबहुले सवुड-बहुले समाहिबहुले धीरे काएण फासयतो सयय अज्झप्पज्झाणजुत्ते समिए एगे चरिज्ज धम्म ।

एव सेज्जासमिइजोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा णिच्च अहिगरण-करणकारावण-पावकम्म-विरए दत्तमणुण्णाय उग्गहरुई ।

१३७—तीसरी भावना शय्या-परिकर्मवर्जन है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—पीठ, फलक, शय्या और सस्तारक के लिए वृक्षो का छेदन नही करना चाहिए। वृक्षो के छेदन या भेदन से शय्या तैयार नही करवानी चाहिए। साधु जिसके उपाश्रय मे निवास करे—ठहरे, वही शय्या की गवेषणा करनी चाहिए। वहाँ की भूमि यदि विषम (ऊची-नीची) हो तो उसे सम न करे। पवनहीन स्थान को अधिक पवन वाला अथवा अधिक पवन वाले स्थान को पवनरहित—कम पवन वाला बनाने के लिए उत्सुक न हो—ऐसा करने की अभिलाषा भी न करे, डास—मच्छर आदि के विषय मे क्षुब्ध नही होना चाहिए और उन्हे हटाने के लिए धूम आदि नही करना चाहिए। इस प्रकार सयम की बहुलता—प्रधानता वाला, सवर की प्रधानता वाला, कषाय एव इन्द्रियो के निग्रह की प्रधानता वाला, अतएव समाधि की प्रधानता वाला धैर्यवान् मुनि काय से इस व्रत का पालन करता हुआ निरन्तर आत्मा के ध्यान मे निरत रहकर, समितियुक्त रह कर और एकाकी—रागद्वेष से रहित होकर धर्म का आचरण करे।

इस प्रकार शय्यासमिति के योग से भावित अन्तरात्मा वाला साधु सदा दुर्गति के कारणभूत पाप-कर्म से विरत होता है और दत्त—अनुज्ञात अवग्रह की रुचि वाला होता है।

चतुर्थ भावना—अनुज्ञात भक्तादि

१३८—चउत्थ—साहारण-पिंडपायलाभे सति भोत्तव्व सजएण समिय, ण सायसूपाहिय, ण खद्ध, ण वेगिय, ण तुरिय, ण चवल, ण साहस, ण य परस्स पीलाकरसावज्ज तह भोत्तव्व जह से तइयवय ण सीयइ। साहारणपिंडपायलाभे सुहुम अदिण्णादाणवयणियमविरमण ।

एव साहारणपिंडपायलाभे समिइजोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा णिच्च अहिगरण-करण-कारावण-पावकम्मविरए दत्तमणुण्णाय उग्गहरुई ।

१३८—चौथी भावना अनुज्ञातभक्तादि है। वह इस प्रकार है—सब साधुओ के लिए साधारण सम्मिलित आहार—पानी आदि मिलने पर साधु को सम्यक् प्रकार से—यतनापूर्वक खाना चाहिए। शाक और सूप की अधिकता वाला भोजन—सरस-स्वादिष्ट भोजन अधिक (या शीघ्रतापूर्वक) नही खाना चाहिए (क्योकि ऐसा करने से अन्य साधुओ को अप्रीति उत्पन्न होती है और वह भोजन अदत्त हो जाता है)। तथा वेगपूर्वक—जल्दी-जल्दी कवल निगलते हुए भी नही खाना चाहिए। त्वरा के साथ नही खाना चाहिए। चचलतापूर्वक नही खाना चाहिए और न विचारविहीन होकर खाना चाहिए। जो दूसरो को पीडाजनक हो ऐसा एव सदोष नही खाना चाहिए। साधु को इस रीति से भोजन करना चाहिए जिससे उसके तीसरे व्रत मे बाधा उपस्थित न हो। यह अदत्तादानविरमणव्रत का सूक्ष्म—अत्यन्त रक्षा करने योग्य नियम है।

के निमित्त जिसके लिए हिंसा की जाए, ऐसे आधाकम की वहुलता वाले, आसिक्त—जल के छिडकाव वाले, समार्जित—बुहारी से साफ किए हुए, उत्सिक्त—पानी से खूव सींचे हुए, शोभित—सजाए हुए, छादन—डाभ आदि से छाये हुए, दूमन—कलई आदि से पोते हुए, लिम्पन—गोवर आदि से लीपे हुए, अनुलिपन—लीपे को फिर लीपा हो, ज्वलन—अग्नि जलाकर गम किये हुए या प्रकाशित किए हुए, भाण्डो—सामान को इधर-उधर हटाए हुए अर्थात् जिस साधु के लिए कोई सामान इधर-उधर किया गया हो और जिस स्थान के अन्दर या वाहर (समीप मे) जीवविराधना होती हो, ये सव जहाँ साधुओ के निमित्त से हो, वह स्थान—उपाश्रय साधुओ के लिए वर्जनीय है। ऐसा स्थान शास्त्र द्वारा निषिद्ध है।

इस प्रकार विविक्त—निर्दोप वास—स्थान मे वसतिरूप समिति के योग से भावित अन्त करण वाला मुनि सदैव दुर्गति के कारण पापकर्म के करने और करवाने से निवृत्त होता—वचता है तथा दत्त-अनुज्ञात अवग्रह मे रुचि वाला होता है।

द्वितीय भावना—निर्दोष सस्तारक—

१३६—बिइय—आराम-उज्जाण-काणण-वणप्पदेसभागे ज किंचि इक्कड च कठिणग च जतुग च परामेरकुच्च-कुस-डब्भ-पलाल-मूयग-वल्लय-पुप्फ-फल-तय-प्पवाल-कद-मूल-तण-कट्ठ-सक्कराइ गिण्हइ सेज्जोवहिस्स अट्ठा ण कप्पए उग्गहे अदिण्णम्मि गिण्हिउ जे हणि हणि उग्गह अणुण्णविय गिण्हियव्व।

एव उग्गहसमिइजोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा णिच्च अहिगरण-करण-कारावण-पावकम्म-विरए दत्तमणुण्णाय उग्गहरुई।

१३६—दूसरी भावना निर्दोष सस्तारकग्रहण सबधी है। आराम, उद्यान, कानन—नगरसमीपवर्ती वन और वन—नगर से दूर का वनप्रदेश आदि स्थानो मे जो कुछ भी (अचित्त) इक्कड जाति का घास तथा कठिन—घास की एक जाति, जन्तुक—पानी मे उत्पन्न होने वाला घास, परा नामक घास, मेरा—मूज के तन्तु, कूर्च—कूची बनाने योग्य घास, कुश, डाभ, पलाल, मूयक नामक घास, वल्वज घास, पुष्प, फल, त्वचा, प्रवाल, कन्द, मूल, तृण, काष्ठ और शर्करा आदि द्रव्य सस्तारक रूप उपधि के लिए अथवा सस्तारक एव उपधि के लिए ग्रहण करता है तो इन उपाश्रय के भीतर की ग्राह्य वस्तुओ को दाता द्वारा दिये विना ग्रहण करना नही कल्पता। तात्पर्य यह है कि उपाश्रय की अनुज्ञा ले लेने पर भी उपाश्रय के भीतर की घास आदि लेना हो तो उनके लिए पृथक् रूप से अनुज्ञा प्राप्त करना चाहिए। उपाश्रय की अनुज्ञा प्राप्त कर लेने मात्र से उसमे रखी अन्य तृण आदि वस्तुओ के लेने की अनुज्ञा ले ली, ऐसा नही मानना चाहिए।

इस प्रकार अवग्रहसमिति के योग से भावित अन्त करण वाला साधु सदा दुर्गति के कारणभूत पाप-कर्म के करने और कराने से निवृत्त होता—वचता है और दत्त—अनुज्ञात अवग्रह की रुचि वाला होता है।

तृतीय भावना—शय्या-परिकर्म वर्जन—

१३७—तइय—पीढफलगसिज्जासथारगट्ठयाए रुक्खा ण छिंदियव्वा, ण छेयणेण भेयणेण सेज्जा कारियव्वा, जस्सेव उवस्सए वसेज्ज सेज्ज तत्थेव गवेसिज्जा, ण य विसम सम करेज्जा, ण णिवाय-

पवायउस्सुगत्त, ण डसमसगेसु खुभियव्व, अग्गी धूमो ण कायव्वो, एव सजमबहुले सवरबहुले सवुड-बहुले समाहिबहुले धीरे काएण फासयतो सयय अज्झप्पज्झाणजुत्ते समिए एगे चरिज्ज धम्म ।

एव सेज्जासमिइजोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा णिच्च अहिगरण-करणकारावण-पावकम्म-विरए दत्तमणुण्णाय उग्गहरुई ।

१३७—तीसरी भावना शय्या-परिकर्मवर्जन है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—पीठ, फलक, शय्या और सस्तारक के लिए वृक्षो का छेदन नही करना चाहिए। वृक्षों के छेदन या भेदन से शय्या तैयार नही करवानी चाहिए। साधु जिसके उपाश्रय मे निवास करे—ठहरे, वही शय्या की गवेषणा करनी चाहिए। वहाँ की भूमि यदि विषम (ऊँची-नीची) हो तो उसे सम न करे। पवनहीन स्थान को अधिक पवन वाला अथवा अधिक पवन वाले स्थान को पवनरहित—कम पवन वाला बनाने के लिए उत्सुक न हो—ऐसा करने की अभिलाषा भी न करे, डास—मच्छर आदि के विषय मे क्षुब्ध नही होना चाहिए और उन्हे हटाने के लिए धूम आदि नही करना चाहिए। इस प्रकार सयम की बहुलता—प्रधानता वाला, सवर की प्रधानता वाला, कषाय एव इन्द्रियो के निग्रह की प्रधानता वाला, अतएव समाधि की प्रधानता वाला धैर्यवान् मुनि काय से इस व्रत का पालन करता हुआ निरन्तर आत्मा के ध्यान मे निरत रहकर, समितियुक्त रह कर और एकाकी—रागद्वेष से रहित होकर धर्म का आचरण करे।

इस प्रकार शय्यासमिति के योग से भावित अन्तरात्मा वाला साधु सदा दुर्गति के कारणभूत पाप-कर्म से विरत होता है और दत्त—अनुज्ञात अवग्रह की रुचि वाला होता है।

चतुर्थ भावना—अनुज्ञात भक्तादि

१३८—चउत्थ—साहारण-पिंडपायलाभे सति भोत्तव्व सजएण समिय, ण सायसूपाहियं, ण खद्ध, ण वेगिय, ण तुरिय, ण चवल, ण साहस, ण य परस्स पीलाकरसावज्ज तह भोत्तव्व जह से तइयवय ण सीयइ। साहारणपिंडपायलाभे सुहुम अदिण्णादाणवयणियमवेरमण ।

एव साहारणपिंडपायलाभे समिइजोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा णिच्च अहिगरण-करण-कारावण-पावकम्मविरए दत्तमणुण्णाय उग्गहरुई ।

१३८—चौथी भावना अनुज्ञातभक्तादि है। वह इस प्रकार है—सब साधुओ के लिए साधारण सम्मिलित आहार—पानी आदि मिलने पर साधु को सम्यक् प्रकार से—यतनापूर्वक खाना चाहिए। शाक और सूप की अधिकता वाला भोजन—सरस-स्वादिष्ट भोजन अधिक (या शीघ्रतापूर्वक) नही खाना चाहिए (क्योकि ऐसा करने से अन्य साधुओ को अप्रीति उत्पन्न होती है और वह भोजन अदत्त हो जाता है)। तथा वेगपूर्वक—जल्दी-जल्दी कवल निगलते हुए भी नही खाना चाहिए। त्वरा के साथ नही खाना चाहिए। चचलतापूर्वक नही खाना चाहिए और न विचारविहीन होकर खाना चाहिए। जो दूसरो को पीडाजनक हो ऐसा एव सदोष नही खाना चाहिए। साधु को इस रीति से भोजन करना चाहिए जिससे उसके तीसरे व्रत मे बाधा उपस्थित न हो। यह अदत्तादानविरमणव्रत का सूक्ष्म—अत्यन्त रक्षा करने योग्य नियम है।

इस प्रकार सम्मिलित भोजन के लाभ मे समिति के योग से भावित अन्त करण वाला साधु सदा दुर्गतिहेतु पापकर्म से विरत होता है और दत्त एव अनुज्ञात अवग्रह की रुचि वाला होता है ।

पंचमी भावना—सार्धमिक-विनय

१३९—पचमग—साहम्मिए विणओ पउजियव्वो, उवगरणपारणासु विणओ पउजियव्वो, वायणपरियट्टणासु विणओ पउजियव्वो, दाणगहणपुच्छणासु विणओ पउजियव्वो, णिक्खमणपवेसणासु विणओ पउजियव्वो, अण्णेसु य एवमाइसु बहुसु कारणसएसु विणओ पउजियव्वो । विणओ वि तवो, तवो वि धम्मो तम्हा विणओ पउजियव्वो गुरुसु साहुसु तवस्सीसु य ।

एव विणएण भाविओ भवइ अतरप्पा णिच्च अहिगरण करण-कारावण-पावकम्मविरए दत्तमणुण्णाय उग्गहरुई ।

१३९—पाँचवी भावना सार्धमिक-विनय है । साधर्मिक के प्रति विनय का प्रयोग करना चाहिए । (रुग्णता आदि की स्थिति मे) उपकार और तपस्या की पारणा—पूर्ति मे विनय का प्रयोग करना चाहिए । वाचना अर्थात् सूत्रग्रहण मे और परिवर्त्तना अर्थात् गृहीत सूत्र की पुनरावृत्ति मे विनय का प्रयोग करना चाहिए । भिक्षा मे प्राप्त अन्न आदि अन्य साधुओ को देने मे तथा उनसे लेने मे और विस्मृत अथवा शकित सूत्रार्थ सम्बन्धी पृच्छा करने मे विनय का प्रयोग करना चाहिए । उपाश्रय से बाहर निकलते और उसमे प्रवेश करते समय विनय का प्रयोग करना चाहिए । इनके अतिरिक्त इसी प्रकार के अन्य संकडो कारणो मे (कार्यो के प्रसग मे) विनय का प्रयोग करना चाहिए । क्योकि विनय भी अपने आप मे तप है और तप भी धर्म है । अतएव विनय का आचरण करना चाहिए ।

विनय किनका करना चाहिए ?

गुरुजनो का साधुओ का और (तेला आदि) तप करने वाले तपस्वियो का ।

इस प्रकार विनय से युक्त अन्त करण वाला साधु अधिकरण—पाप के करने और करवाने से विरत तथा दत्त-अनुज्ञात अवग्रह मे रुचिवाला होता है । शेष पाठ का अर्थ पूर्ववत् समझ लेना चाहिए ।

विवेचन—तृतीय व्रत की पाँच भावनाएँ (सूत्राङ्क १३५ से १३९ तक) प्रतिपादित की गई हैं । प्रथम भावना मे निर्दोष उपाश्रय को ग्रहण करने का विधान किया गया है । आधुनिक काल मे उपाश्रय शब्द से एक विशिष्ट प्रकार के स्थान का बोध होता है और सर्वसाधरण मे वही अर्थ अधिक प्रचलित है । किन्तु वस्तुत जिस स्थान मे साधुजन ठहर जाते हैं, वही स्थान उपाश्रय कहलाता है । यहाँ ऐसे कतिपय स्थानो का उल्लेख किया गया है जिनमे साधु ठहरते थे । वे स्थान है—देवकुल—देवालय, सभाभवन, प्याऊ, मठ, वृक्षमूल, बाग-बगीचे, गुफा, खान, गिरिगुहा, कारखाने, उद्यान, यानशाला (रथादि रखने के स्थान), कुप्यशाला—घरगृहस्थी का सामान रखने की जगह, मण्डप, शून्यगृह, श्मशान, पर्वतगृह, दुकान आदि ।

इन या इस प्रकार से अन्य जिन स्थानो मे साधु निवास करे वह निर्दोष होना चाहिए। साधु के निमित्त से उसमे किसी प्रकार का झाडना-पोंछना, लीपना-पोतना आदि आरम्भ-समारम्भ न किया जाए।

द्वितीय भावना का आशय यह है कि निर्दोष उपाश्रय की अनुमति प्राप्त हो जाने पर भी उसमे रखे हुए घास, पयाल, आदि की साधु को आवश्यकता हो तो उसके लिए पृथक् रूप मे उसके स्वामी की अनुज्ञा प्राप्त करनी चाहिए। ऐसा नही मानना चाहिए कि उपाश्रय की अनुमति ले लेने से उसके भीतर की वस्तुओ की भी अनुमति प्राप्त कर ली। जो भी वस्तु ग्रहण करनी हो वह निर्दोष और दत्त ही होनी चाहिए।

तीसरी भावना शय्यापरिकर्मवर्जन है। इसका अभिप्राय है कि साधु के निमित्त से पीठ, फलक आदि बनवाने के लिए वृक्षो का छेदन-भेदन नही होना चाहिए। उपाश्रय मे ही शय्या की गवेषणा करनी चाहिए। वहाँ की भूमि विषम हो तो उसे समतल नही करना चाहिए। वायु अधिक आए या कम आए, इसके लिए उत्कठित होना नही चाहिए। उपाश्रय मे डास--मच्छर सताएँ तो चित्त मे क्षोभ उत्पन्न नही होने देना चाहिए—उस समय मे समभाव रहना चाहिए। डास—मच्छर भगाने के लिए आग या धूम का प्रयोग करना नही चाहिए आदि।

चौथी भावना का सम्बन्ध प्राप्त आहारादि के उपभोग के साथ है। साधु जब अन्य साधुओ के साथ आहार करने बैठे तो सरस आहार जल्दी-जल्दी न खाए, अन्य साधुओ को ठेस पहुँचे, इस प्रकार न खाए। साधारण अर्थात् अनेक साधुओ के लिए सम्मिलित भोजन का उपभोग समभाव-पूर्वक, अनासक्त रूप से करे।

पाँचवी भावना साधर्मिक विनय है। समान आचार-विचार वाले साधु, साधु के लिए साधर्मिक कहलाते हैं। बीमारी आदि की अवस्था मे अन्य के द्वारा जो उपकार किया जाता है, वह उपकरण है। उपकरण एव तपश्चर्या की पारणा के समय विनय का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् इच्छाकारादि देकर, जबर्दस्ती न करते हुए एकत्र या अनेकत्र गुरु की आज्ञा से भोजन करना चाहिए। वाचना, परिवर्तन एव पृच्छा के समय विनय-प्रयोग का आशय है वन्दनादि विधि करना। आहार के देते-लेते समय विनयप्रयोग का अर्थ है—गुरु की आज्ञा प्राप्त करके देना-लेना। उपाश्रय से बाहर निकलते और उपाश्रय मे प्रवेश करते समय विनयप्रयोग का अर्थ आवश्यकी और नैषेधिकी करना आदि है। अभिप्राय यह कि प्रत्येक क्रिया आगमादेश के अनुसार करना ही यहाँ विनयप्रयोग कहा गया है।

उपसहार

१४०—एवमिण सवरस्स दार सम्म सवरिय होइ, सुप्पणिहिय, एव जाव पचहि वि कारणेहि मण-वयण काय-परिरक्खिएहि णिच्च आमरणत च एस जोगो णेयव्वो धिइमया मइमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुण्णाओ।

एव तइयं सवरदार फासिय पालिय सोहिय तीरिय किट्टिय आराहिय आणाए अणुपालिय भवइ।

चतुर्थ अध्ययन : ब्रह्मचर्य

तृतीय सवरद्वार मे अदत्तादानविरमणव्रत का निरूपण किया गया है। उसका सम्यक् प्रकार से परिपालन ब्रह्मचर्य व्रत को धारण और पालन करने पर ही हो सकता है। अतएव अदत्तादानविरमण के अनन्तर ब्रह्मचर्य का निरूपण किया जा रहा है।

ब्रह्मचर्य की महिमा

१४१—जबू ! इत्तो य बभचेर उत्तम-तव-णियम-णाण-दसण-चरित्त-सम्मत्त-विणय-मूल, यम-नियम-गुणप्पहाणजुत्त, हिमवतमहततेयमत, पसत्थगभीरथिमियमज्झ, अज्जवसाहुजणाचरिय, मोक्खमग्ग, विसुद्धसिद्धिगइणिलय, सासयमव्वाबाहमपुणब्भव, पसत्थ, सोम, सुभ, सिवमयलमक्खयकर, जइवरसारक्खिय, सुचरिय, सुभासिय,[1] णवरि मुणिवरेहिं महापुरिसधीरसूरधम्मियधिइमताण य सया विसुद्ध, सव्व भव्वजणाणुचिण्ण, णिस्सकिय णिब्भय णित्तुस, णिरायास णिरुवलेव णिव्वुइघर णियमणिप्पकप तवसजममूलदलियणेम्म पचमहव्वयसुरक्खिय समिइगुत्तिगुत्त।

झाणवरकवाडसुकय[2] अज्झप्पदिण्णफलिह सण्णद्धो[3]च्छइयदुग्गइपह सुगइपहदेसग च लोगुत्तम च।

वयमिण पउमसरतलागपालिभूय महासगडअरगतु बभूय महाविडिमरुक्खखधभूय महाणगरपागारकवाडफलिहभूय रज्जुपिणिद्धो व इदकेऊ विसुद्धणेगगुणसपिणद्ध, जम्मि य भग्गम्मि होइ सहसा सव्व सभग्गमथियचुण्णियकुसल्लिय-पल्लट्ट-पडिय-खडिय-परिसडिय-विणासिय विणयसीलतवणियमगुणसमूह। त बभ भगवत।

१४१—हे जम्बू ! अदत्तादानविरमण के अनन्तर ब्रह्मचर्य व्रत है। यह ब्रह्मचर्य अनशन आदि तपो का, नियमो—उत्तरगुणो का, ज्ञान का, दर्शन का, चारित्र का, सम्यक्त्व का और विनय का मूल है। यह अहिंसा आदि यमो और गुणो मे प्रधान नियमो से युक्त है। यह हिमवान् पर्वत से भी महान् और तेजोवान् है। प्रशस्य है, गम्भीर है। इसकी विद्यमानता मे मनुष्य का अन्त करण स्थिर हो जाता है। यह सरलात्मा साधुजनो द्वारा आसेवित है और मोक्ष का मार्ग है। विशुद्ध—रागादिरहित निर्मल—सिद्धिगतिरूपी गृह वाला है—सिद्धि के गृह के समान है। शाश्वत एव अव्याबाध तथा पुनर्भव से रहित बनाने वाला है। यह प्रशस्त—उत्तम गुणो वाला, सौम्य—शुभ या सुखरूप है। शिव—सर्व प्रकार के उपद्रवो से रहित, अचल और अक्षय—कभी क्षीण न होने वाले पद (पर्याय—मोक्ष) को

---

१ पाठान्तर—'सुसाहिय'।

२ पाठान्तर—'सुकय रक्खण' है।

३ पाठान्तर—'सण्णद्धो' के स्थान 'सण्णद्धबद्धो' भी है।

प्रदान करने वाला है। उत्तम मुनियो द्वारा सुरक्षित है, सम्यक् प्रकार से आचरित है और उपदिष्ट है। श्रेष्ठ मुनियो—महापुरुषो द्वारा जो धीर, शूरवीर और धार्मिक धैर्यशाली है, सदा अर्थात् कुमार आदि अवस्थाओ मे भी विशुद्ध रूप से पाला गया है। यह कल्याण का कारण है। भव्यजनो द्वारा इसका आराधन—पालन किया गया है। यह शकारहित है अर्थात् ब्रह्मचारी पुरुप विपयो के प्रति निस्पृह होने से लोगो के लिए शकनीय नही होते—उन पर कोई शका नहीं करता। अशकनीय होने से ब्रह्मचारी निर्भीक रहता है—उसे किसी से भय नही होना हे। यह व्रत निस्सारता से रहित—शुद्ध तदुल के समान है। यह खेद से रहित और रागादि के लेप से रहित है। चित्त की शान्ति का स्थल है और नियमत अविचल है। यह तप और सयम का मूलाधार—नीव है। पाँच महाव्रतो मे विशेप रूप से सुरक्षित, पाँच समितियो और तीन गुप्तियो से गुप्न (रक्षित) है। रक्षा के लिए उत्तम ध्यान रूप सुनिर्मित कपाट वाला तथा अध्यात्म—सद्भावनामय चित्त ही (ध्यान—कपाट को दृढ करने के लिए) लगी हुई अर्गला—आगल वाला है। यह व्रत दुर्गति के मार्ग को रुद्ध एव आच्छादित कर देने वाला अर्थात् रोक देने वाला है और सद्गति के पथ को प्रदर्शित करने वाला है। यह ब्रह्मचर्यव्रत लोक मे उत्तम हैं।

यह व्रत कमलो से सुशोभित सर (स्वत वना तालाव) और तडाग (पुरुषो द्वारा निर्मित तालाव) के समान (मनोहर) धर्म की पाल के समान है, अर्थात् धर्म की रक्षा करने वाला है। किसी महाशकट के पहियो के आरो के लिए नाभि के समान है, अर्थात् धर्म-चारित्र का आधार है—ब्रह्मचर्य के सहारे ही क्षमा आदि धर्म टिके हुए हे। यह किसी विशाल वृक्ष के स्कन्ध के समान है, अर्थात् जैसे विशाल वृक्ष की शाखाएँ, प्रशाखाएँ, टहनियाँ, पत्ते, पुष्प, फल आदि का आधार स्कन्ध होता है, उसी प्रकार समस्त प्रकार के धर्मो का आधार ब्रह्मचर्य है। यह महानगर के प्राकार—परकोटा के कपाट की अर्गला के समान है। डोरी से वँधे इन्द्रध्वज के सदृश है। अनेक निर्मल गुणो से व्याप्त है। (यह ऐसा आधारभूत व्रत है) जिसके भग्न होने पर सहसा—एकदम सव विनय, शील, तप और गुणो का समूह फूटे घडे की तरह सभग्न हो जाता है, दही की तरह मथित हो जाता है, आटे की भाँति चूर्ण—चूरा-चूरा हो जाता है, काँटे लगे शरीर की तरह शल्ययुक्त हो जाता है, पर्वत से लुढकी शिला के समान लुढका हुआ—गिरा हुआ, चीरी या तोडी हुई लकडी की तरह खण्डित हो जाता है तथा दुरवस्था को प्राप्त और अग्नि द्वारा दग्ध होकर बिखरे काष्ठ के समान विनष्ट हो जाता है। वह ब्रह्मचर्य भगवान् है—अतिशयसम्पन्न है।

विवेचन—शास्त्रकार ने प्रस्तुत पाठ मे प्रभावशाली शब्दो मे ब्रह्मचर्य की महिमा का वास्तविक निरूपण किया है। उसे तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व एव विनय का मूल कहा है। इसका आशय यह है कि ब्रह्मचर्यनिष्ठ उत्तम पुरुष ही उत्तम तप आदि का पालन करने मे समर्थ हो सकता है, ब्रह्मचर्य के अभाव मे इन सब का उत्कृष्ट रूप से आराधन नही हो सकता। कहा है—

जइ ठाणी जइ मोणी, जइ झाणी वक्कली तपस्सी वा।
पत्थतो य अवभ, वभावि न रोयए मज्झ॥

तो पढिय तो गुणिय, तो मुणिय तो य चेइग्रो अप्पा ।
आवडियपेल्लियामंतिग्रोवि न कुणइ अकज्ज ॥[1]

अर्थात् भले कोई कायोत्सर्ग मे स्थित रहे, भले मौन धारण करके रहता हो, ध्यान मे मगन हो, छाल के कपडे धारण करता हो या तपस्वी हो, यदि वह अब्रह्मचर्य की अभिलाषा करता है तो मुझे नही सुहाता, फिर भले ही वह साक्षात् ब्रह्मा ही क्यो न हो।

शास्त्रादि का पढना, गुनना—मनन करना, ज्ञानी होना और आत्मा का बोध होना तभी सार्थक है जब विपत्ति आ पडने पर भी और सामने से आमत्रण मिलने पर भी मनुष्य अकार्य अर्थात् अब्रह्म सेवन न करे।

आशय यह है कि ब्रह्मचर्य की विद्यमानता मे ही तप, नियम आदि का निर्दोष रूप से पालन सभव है। जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित हो गया उसका समग्र आचार खण्डित हो जाता है। इस तथ्य पर मूल पाठ मे बहुत बल दिया गया है। जमीन पर पटका हुआ घडा जैसे फूट जाता है—किसी काम का नही रहता वैसे ही ब्रह्मचर्य के विनष्ट होने पर समग्र गुण नष्ट हो जाते है। ब्रह्मचर्य के भग होने पर अन्य समस्त गुण मथे हुए दही जैसे, पिसे हुए धान्य जैसे चूर्ण-विचूर्ण (चूरा-चूरा) हो जाते है। इत्यादि अनेक उदाहरणो से इस तथ्य को समझाया गया है।

जैसे कमलो से सुशोभित सरोवर की रक्षा पाली से होती है, उसी प्रकार धर्म की रक्षा ब्रह्मचर्य से होती है।

जैसे रथ आदि के चक्र मे लगे हुए आरो का मूल आधार उसकी नाभि है, नाभि के अभाव मे या उसके क्षतिग्रस्त हो जाने पर आरे टिक नही सकते। आरो के अभाव मे पहिये काम के नही रहते और पहियो के अभाव मे रथ गतिमान् नही हो सकता। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य के बिना धर्म या चारित्र भी अनुपयोगी सिद्ध होता है, वह इष्टसम्पादक नही बनता।

धर्म महानगर है। उसकी सुरक्षा के लिए व्रत नियम आदि का प्राकार खडा किया गया है। प्राकार मे फाटक होते हैं, दृढ कपाट होते है और कपाटो की मजबूती के लिए अर्गला होती है। अर्गला से द्वार सुदृढ हो जाता है और उसमे उपद्रवी लोग या शत्रु प्रवेश नही कर सकते। ब्रह्मचर्य वह अर्गला है जिसकी दृढता के कारण धर्म-नगर का चारित्ररूपी प्राकार ऐसा बन जाता है कि उसमे धर्मविरोधी तत्त्व—पाप का प्रवेश नही हो पाता।

इस प्रकार के अनेक दृष्टान्तो से ब्रह्मचर्य का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। पाठक सरलता से इसका आशय समझ सकते है।

मूल पाठ मे ब्रह्मचर्य के लिए **'सया विसुद्ध'** विशेषण का प्रयोग किया गया है। टीकाकार ने इसका अर्थ सदा अर्थात् 'कुमार आदि सभी अवस्थाओ मे' किया है। कुछ लोग कहते हैं कि—

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च।
तस्मात्पुत्रमुख दृष्ट्वा, पश्चाद्धर्म चरिष्यसि ॥

---

१ अभयदेवटीका, पृ १३२ (आगमोदय०)

अर्थात् निपूते—पुत्रहीन पुरुष को सद्गति प्राप्त नही होती। स्वर्ग तो कदापि मिल ही नही सकता। अतएव पुत्र का मुख देख कर—पहले पुत्र को जन्म देकर पश्चात् यतिधर्म का आचरण करना।

वस्तुत यह कथन किसी मोहग्रस्त पिता का अपने कुमार पुत्र को सन्यास ग्रहण करने से विरत करने के लिए है। 'चरिष्यसि' इस क्रियापद से यह आशय स्पष्ट रूप से ध्वनित होता है। यह किसी सम्प्रदाय या परम्परा का सामान्य विधान नही है, अन्यथा 'चरिष्यसि' के स्थान पर 'चरेत्' अथवा इसी अर्थ को प्रकट करने वाली कोई अन्य क्रिया होती।

इसके अतिरिक्त जिस परम्परा से इसका सम्बन्ध जोडा जाता है, उसी परम्परा मे यह भी मान्य किया गया है—

अनेकानि सहस्राणि, कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिव गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्॥

अर्थात् कुमार—अविवाहित ब्रह्मचारी सहस्रो की सख्या मे कुल—सन्तान (पुत्र आदि) उत्पन्न किए विना ही स्वर्ग मे गए है।

तात्पर्य यह है कि स्वर्गप्राप्ति के लिए पुत्र को जन्म देना आवश्यक नही है। स्वर्ग प्राप्ति यदि पुत्र उत्पन्न करने से होती हो तो वह बडी सस्ती, सुलभ और सुसाध्य हो जाए! फिर तो कोई विरला ही स्वर्ग से वचित रहे!

सभव है 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' यह प्रवाद उस समय प्रचलित हुआ हो जब श्राद्ध करने की प्रथा चालू हुई। उस समय भोजन-लोलुप लोगो ने यह प्रचार प्रारम्भ किया कि पुत्र अवश्य उत्पन्न करना चाहिए। पुत्र न होगा तो पितरो का श्राद्ध कौन करेगा! श्राद्ध नही किया जाएगा तो पितर भूखे-प्यासे रहेगे और श्राद्ध मे भोजन करने वालो को उत्तम खीर आदि से वचित रहना पडेगा।

किन्तु यह लोकप्रवाद मात्र है। मृतक जन अपने-अपने किये कर्म के अनुसार स्वर्ग-नरक आदि गतियाँ प्राप्त कर लेते हैं। अतएव श्राद्ध मे ब्राह्मणो को खिलाने-पिलाने का उनके सुख-दुःख पर किंचित् भी प्रभाव नही पडता।

ब्रह्मचर्य उत्तमोत्तम धर्म है और वह प्रत्येक अवस्था मे आचरणीय है। आर्हत परम्परा मे तथा भारतवर्ष की अन्य परम्पराओ मे भी ब्रह्मचर्य की असाधारण महिमा का गान किया गया है और अविवाहित महापुरुषो के प्रव्रज्या एव सन्यास ग्रहण करने के अगणित उदाहरण उपलब्ध है।

जिनमत मे अन्य व्रतो मे तो अपवाद भी स्वीकार किए गए है किन्तु ब्रह्मचर्य व्रत निरपवाद कहा गया है—

न वि किंचि अणुण्णाय,
पडिसिद्ध वावि जिणवरिंदेहि।
मोत्तु मेहुणभाव,
न त विना रागदोसेहि॥

अर्थात् जिनवरेन्द्र तीर्थंकरो ने मथुन के सिवाय न तो किसी बात को एकान्त रूप से अनुमत किया है और न एकान्तत किसी चीज का निषेध किया है—सभी विधि-निषेधो के साथ आवश्यक अपवाद जुडे है। कारण यह है कि मैथुन (तीव्र) राग-द्वेष अथवा राग रूप दोष के विना नही होता।

ब्रह्मचर्य की इस असामान्य महिमा के कारण ही—

देव-दाणव-गधव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बभयारिं नमसति, दुक्कर ज करेंति ते॥

अर्थात् जो महाभाग दुश्चर ब्रह्मचर्यव्रत का आचरण करते है, ऐसे उन ब्रह्मचारियो को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर भी नमस्कार करते है—देवगण भी उनके चरणो मे नतमस्तक होते है।

बत्तीस उपमाओ से मण्डित ब्रह्मचर्य—

१४२—त बभ भगवत १ गहगणणक्खत्ततारगाण वा जहा उडुवई।
२ मणिमुत्तसिलप्पवालरत्तरयणागराण च जहा समुद्दो।
३ वेरुलिओ चेव जहा मणीण।
४ जहा मउडो चेव भूसणाण।
५ वत्थाण चेव खोमजुयल।
६ अरविंद चेव पुप्फजेट्ठ।
७ गोसीस चेव चदणाण।
८ हिमवतो चेव ओसहीण।
९ सीतोदा चेव णिण्णगाण।
१०. उवहीसु जहा सयभूरमणो।
११ रुगयवरे चेव मडलियपव्वयाण पवरे।
१२ एरावण इव कु जराण।
१३ सीहोव्व जहा मियाण पवरे।
१४ पवगाण चेव वेणुदेवे।
१५ धरणो जहा पण्णगिंदराया।
१६ कप्पाण चेव बमलोए।
१७ सभासु य जहा भवे सुहम्मा।
१८ ठिइसु लवसत्तमव्व पवरा।
१९ दाणाण चेव अभयदाण।
२० किमिराउ चेव कबलाण।

२१ सघयणे चेव वज्जरिसहे ।

२२. सठाणे चेव समचउरसे ।

२३ झाणेसु य परमसुक्कज्झाण ।

२४ णाणेसु य परमकेवल तु पसिद्ध ।

२५. लेसासु य परमसुक्कलेस्सा ।

२६ तित्थयरे चेव जहा मुणीण ।

२७ वासेसु जहा महाविदेहे ।

२८ गिरिराया चेव मदरवरे ।

२९. वणेसु जहा णदणवण पवर ।

३० दुमेसु जहा जबू, सुदसणा विस्सुयजसा जीए णामेण य अय दीवो ।

३१. तुरगवई गयवई रहवई णरवई जह वीसुए चेव राया ।

३२ रहिए चेव जहा महारहगए ।

एवमणेगा गुणा अहीणा भवति एगम्मि बभचेरे । जम्मि य आराहियम्मि आराहिय वयमिण सव्व सील तवो य विणओ य सजमो य खती गुत्ती मुत्ती तहेव इहलोइय-पारलोइयजसे य कित्ती य पच्चओ य, तम्हा णिहुएण बभचेर चरियव्व सव्वओ विसुद्ध जावज्जीवाए जाव सेयट्ठिसजओ त्ति एव भणिय वय भगवया ।

१४७—ब्रह्मचर्य की बत्तीस उपमाएँ इस प्रकार है—

१ जैसे ग्रहगण, नक्षत्रो और तारागण मे चन्द्रमा प्रधान होता है उसी प्रकार समस्त व्रतो मे ब्रह्मचर्य प्रधान है ।

२ मणि, मुक्ता, शिला, प्रवाल और लाल (रत्न) की उत्पत्ति के स्थानो (खानो) मे समुद्र प्रधान है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य सर्व व्रतो का श्रेष्ठ उद्‌भवस्थान है ।

३ इसी प्रकार ब्रह्मचर्य मणियो मे वैडूर्यमणि के समान उत्तम है ।

४ आभूषणो मे मुकुट के समान है ।

५ समस्त प्रकार के वस्त्रो मे क्षौमयुगल—कपास के वस्त्रयुगल के सदृश है ।

६ पुष्पो मे श्रेष्ठ अरविन्द—कमलपुष्प के समान है ।

७ चन्दनो मे गोशीर्ष चन्दन के समान है ।

८ जैसे ओषधियो—चामत्कारिक वनस्पतियो का उत्पत्तिस्थान हिमवान् पर्वत है, उसी प्रकार आमर्शौषधि आदि (लब्धियो) की उत्पत्ति का स्थान ब्रह्मचर्य है ।

९ जैसे नदियो मे शीतोदा नदी प्रधान है, वैसे ही सब व्रतो मे ब्रह्मचर्य प्रधान है ।

१० समस्त समुद्रो मे स्वयभूरमण समुद्र जैसे महान् है, उसी प्रकार व्रतो मे ब्रह्मचर्य महत्त्वशाली है ।

११ जैसे माण्डलिक अर्थात् गोलाकार पर्वतो मे रुचकवर (तेरहवे द्वीप मे स्थित) पर्वत प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतो मे ब्रह्मचर्य प्रधान है ।

१२ इन्द्र का ऐरावण नामक गजराज जैसे सर्व गजराजो मे श्रेष्ठ है, उसी प्रकार सब व्रतो मे ब्रह्मचर्य है।

१३ ब्रह्मचर्य वन्य जन्तुओ मे सिंह के समान प्रधान है।

१४ ब्रह्मचर्य सुपर्णकुमार देवो मे वेणुदेव के समान श्रेष्ठ है।

१५ जैसे नागकुमार जाति के देवो मे धरणेन्द्र प्रधान है, उसी प्रकार सर्व व्रतो मे ब्रह्मचर्य प्रधान है।

१६ ब्रह्मचर्य कल्पो मे ब्रह्मलोक कल्प के समान उत्तम है, क्योकि प्रथम तो ब्रह्मलोक का क्षेत्र महान् है और फिर वहाँ का इन्द्र अत्यन्त शुभ परिणाम वाला होता है।

१७ जैसे उत्पादसभा, अभिषेकसभा, अलकारसभा, व्यवसायसभा और सुधर्मासभा, इन पाँचो मे सुधर्मासभा श्रेष्ठ है, उसी प्रकार व्रतो मे ब्रह्मचर्य है।

१८ जैसे स्थितियो मे लवसप्तमा—अनुत्तरविमानवासी देवो की स्थिति प्रधान है, उसी प्रकार व्रतो मे ब्रह्मचर्य प्रधान है।

१९ सब दानो मे अभयदान के समान ब्रह्मचर्य सब व्रतो मे श्रेष्ठ है।

२० ब्रह्मचर्य सब प्रकार के कम्बलो मे कृमिरागरक्त कम्बल के समान उत्तम है।

२१ सहननो मे वज्रर्षभनाराचसहनन के समान ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ है।

२२ सस्थानो मे चतुरस्रसस्थान के समान ब्रह्मचर्य समस्त व्रतो मे उत्तम है।

२३ ब्रह्मचर्य ध्यानो मे शुक्लध्यान के समान सर्वप्रधान है।

२४ समस्त ज्ञानो मे जैसे केवलज्ञान प्रधान है, उसी प्रकार सर्व व्रतो मे ब्रह्मचर्यव्रत प्रधान है।

२५ लेश्याओ मे परमशुक्ललेश्या जैसे सर्वोत्तम है, वैसे ही सब व्रतो मे ब्रह्मचर्यव्रत सर्वोत्तम है।

२६ ब्रह्मचर्यव्रत सब व्रतो मे इसी प्रकार उत्तम है, जैसे सब मुनियो मे तीर्थंकर उत्तम होते है।

२७ ब्रह्मचर्य सभी व्रतो मे वैसा ही श्रेष्ठ है, जैसे सब क्षेत्रो मे महाविदेहक्षेत्र उत्तम है।

२८ ब्रह्मचर्य, पर्वतो मे गिरिराज सुमेरु की भाँति सर्वोत्तम व्रत है।

२९ जैसे समस्त वनो मे नन्दनवन प्रधान है, उसी प्रकार समस्त व्रतो मे ब्रह्मचर्य प्रधान है।

३० जैसे समस्त वृक्षो मे सुदर्शन जम्बू विख्यात है, उसी प्रकार समस्त व्रतो मे ब्रह्मचर्य विख्यात है।

३१ जैसे अश्वाधिपति, गजाधिपति और रथाधिपति राजा विख्यात होता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्यव्रताधिपति विख्यात है।

३२ जैसे रथिको मे महारथी राजा श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार समस्त व्रतो मे ब्रह्मचर्यव्रत सर्वश्रेष्ठ है।

इस प्रकार एक ब्रह्मचर्य की आराधना करने पर अनेक गुण स्वत अधीन—प्राप्त हो जाते हैं। ब्रह्मचर्यव्रत के पालन करने पर निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या सम्बन्धी सम्पूर्ण व्रत अखण्ड रूप मे पालित हो जाते है, यथा—शील—समाधान, तप, विनय और सयम, क्षमा, गुप्ति, मुक्ति—निर्लोभता। ब्रह्मचर्यव्रत के प्रभाव से इहलोक और परलोक सम्बन्धी यश और कीर्ति प्राप्त होती है। यह विश्वास का कारण है अर्थात् ब्रह्मचारी पर सब का विश्वास होता है। अतएव एकाग्र—स्थिरचित्त से तीन करण और

तीन योग से विशुद्ध—सर्वथा निर्दोष ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए और वह भी जीवनपर्यन्त, मृत्यु के आगमन तक।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्यव्रत का कथन किया है।

विवेचन—इन वत्तीस उपमाओ द्वारा ब्रह्मचर्य की श्रेष्ठता स्थापित की गई है। आशय सुगम है।

महाव्रतो का मूल : ब्रह्मचर्य—

१४३—त च इम—

पच महव्वयसुव्वयमूल, समणमणाइलसाहुसुचिण्ण।
वेरविरामणपज्जवसाण, सव्वसमुद्दमहोदहितित्थ ॥१॥

१४३—भगवान् का वह कथन इस प्रकार का है—

यह ब्रह्मचर्यव्रत पाँच महाव्रतरूप शोभन व्रतो का मूल है, शुद्ध आचार या स्वभाव वाले मुनियो के द्वारा भावपूवक सम्यक् प्रकार से सेवन किया गया है, यह वैरभाव की निवृत्ति और उसका अन्त करने वाला है तथा समस्त समुद्रो मे स्वयभूरमण समुद्र के समान दुस्तर किन्तु तैरने का उपाय होने के कारण तीर्थस्वरूप है।

विवेचन—उल्लिखित गाथा मे ब्रह्मचर्य की महिमा प्रतिपादित की गई है। ब्रह्मचर्य पाँचो महाव्रतो का मूलाधार है, क्योकि इसके खण्डित होने पर सभी महाव्रतो का खण्डन हो जाता है और इसका पूर्णरूपेण पालन करने पर ही अन्य महाव्रतो का पालन सम्भव है।

जहाँ सम्पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन होता है, वहाँ वैर-विरोध का स्वत अन्त हो जाता है। यद्यपि इसके विशुद्ध पालन करने के लिए धैर्य, दृढता एव सयम की आवश्यकता होती है, अतीव सावधानी वरतनी पडती है तथापि इसका पालन करना अशक्य नही है। मुनियो ने इसका पालन किया है और भगवान् ने इसके पालन करने का उपाय भी वतलाया है। भव-सागर को पार करने के लिए यह महाव्रत तीर्थ के समान है।

गाथा मे प्रयुक्त **'पचमहव्वयसुव्वयमूल'** इस पद के अनेक अर्थ होते है, जो इस प्रकार है—(१) अहिसा, सत्य आदि महाव्रत नामक जो सुव्रत है, उनका मूल। (२) पाँच महाव्रतो वाले साधुओ के सुव्रतो—शोभन नियमो का मूल। (३) पाँच महाव्रतो का तथा सुव्रतो अर्थात् अणुव्रतो का मूल और (४) हे पचमहाव्रत ! अर्थात् हे पाँच महाव्रतो को धारण करने के कारण सुव्रत—शोभन व्रतवाले (शिष्य !) यह ब्रह्मचर्य मूल (व्रत) है।

१४४—तित्थयरेहि सुदेसियमग्ग, णरयतिरिच्छविवज्जियमग्ग।
सव्वपवित्तिसुणिम्मियसार, सिद्धिविमाणअवगुयदार ॥२॥

१४४—तीर्थंकर भगवन्तो ने ब्रह्मचर्य व्रत के पालन करने के मार्ग—उपाय—गुप्ति आदि, भलीभाँति वतलाए है। यह नरकगति और तिर्यञ्चगति के मार्ग को रोकने वाला है, अर्थात् ब्रह्मचर्य

आराधक को नरक-तिर्यचगति से बचाता है, सभी पवित्र अनुष्ठानो को सारयुक्त बनाने वाला तथा मुक्ति और वैमानिक देवगति के द्वार को खोलने वाला है ।

विवेचन—तीर्थंकर भगवान् ने ब्रह्मचर्यव्रत को निर्दोष पालने के लिए अनेक उपाय भी प्रदर्शित किए है और वे उपाय है गुप्ति आदि । नौ वाडो का भी इनमे समावेश होता है । इनके अभाव मे ब्रह्मचय की आराधना नही हो सकती ।

इस गाथा मे यह भी स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्मचर्य का निर्मल रूप से पालन करने वाला सिद्धि प्राप्त करता है । यदि उस के कर्म कुछ अवशेष रह गए हो तो वह वैमानिक देवो मे उत्पन्न होता है ।

१४५—देव-णरिंद-णमंसियपूयं, सव्वजगुत्तममंगलमग्गं ।
दुद्धरिसं गुणणायगमेक्कं, मोक्खपहस्स वडिंसगभूयं ॥३॥

१४५—देवेन्द्रो और नरेन्द्रो के द्वारा जो नमस्कृत है, अर्थात् देवेन्द्र और नरेन्द्र जिनको नमस्कार करते है, उन महापुरुषो के लिए भी ब्रह्मचर्य पूजनीय है । यह जगत् के सब मगलो का मार्ग—उपाय है अथवा प्रधान उपाय है । यह दुर्द्धर्ष है अर्थात् कोई इसका पराभव नही कर सकता या दुष्कर है । यह गुणो का अद्वितीय नायक है । अर्थात् ब्रह्मचर्य ही ऐसा साधन है जो अन्य सभी सद्गुणो की ओर आराधक को प्रेरित करता है ।

विवेचन—आशय स्पष्ट है । यहाँ ब्रह्मचर्य महाव्रत की महिमा प्रदर्शित की गई है । इस महिमा वर्णन से इस व्रत की महत्ता भलीभाँति विदित हो जाती है । आगे भी ब्रह्मचर्य का महत्त्व प्रदर्शित किया जा रहा है ।

ब्रह्मचर्यविघातक निमित्त—

१४६—जेण सुद्धचरिएण भवइ सुबंभणो सुसमणो सुसाहू स इसी स मुणी स संजए स एव भिक्खू जो सुद्धं चरइ बंभचेरं । इमं च रइ-राग-दोस-मोह-पवड्ढणकरं किंमज्झ-पमायदोसपासत्थ-सील-करणं अब्भंगणाणि य तेल्लमज्जणाणि य अभिक्खणं कक्ख-सीस-कर-चरण-वयण-धोवण-संबाहण-गाय-कम्म-परिमद्दणाणुलेवण-चुण्णवास-धुवण-सरीर-परिमंडण-बाउसिय-हसिय-भणिय-णट्ट-गीय-वाइय-णड-णट्टग-जल्ल-मल्ल-पेच्छणवेलंबग जाणि य सिंगारागाराणि य अण्णाणि य एवमाइयाणि तव-संजम-बंभचेर-घाओवघाइयाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं वज्जियव्वाइं सव्वकालं ।

१४६—ब्रह्मचर्य महाव्रत का निर्दोष परिपालन करने से सुब्राह्मण—यथार्थ नाम वाला, सुश्रमण—सच्चा तपस्वी और सुसाधु—निर्वाण साधक वास्तविक साधु कहा जाता है । जो शुद्ध ब्रह्मचर्य का आचरण करता है वही ऋषि अर्थात् यथार्थ तत्त्वद्रष्टा है, वही मुनि—तत्त्व का वास्तविक मनन करने वाला है, वही सयत—सयमवान् है और वही सच्चा भिक्षु—निर्दोष भिक्षाजीवी है ।

ब्रह्मचर्य का अनुपालन करने वाले पुरुष को इन आगे कहे जाने वाले व्यवहारो का त्याग करना चाहिए—रति—इन्द्रिय-विषयो के प्रति राग, राग—परिवारिक जनो के प्रति स्नेह, द्वेष और

तीन योग से विशुद्ध—सर्वथा निर्दोष ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए और वह भी जीवनपर्यन्त, मृत्यु के आगमन तक।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्यव्रत का कथन किया है।

विवेचन—इन बत्तीस उपमाओ द्वारा ब्रह्मचय की श्रेष्ठता स्थापित की गई है। आशय सुगम है।

महाव्रतों का मूल . ब्रह्मचर्य—

१४३—त च इम—

पच महव्वयसुव्वयमूल, समणमणाइलसाहुसुचिण्ण।
वेरविरामणपज्जवसाण, सव्वसमुद्दमहोदहितित्थ ॥१॥

१४३—भगवान् का वह कथन इस प्रकार का है—

यह ब्रह्मचर्यव्रत पाँच महाव्रतरूप शोभन व्रतो का मूल है, शुद्ध आचार या स्वभाव वाले मुनियो के द्वारा भावपूवक सम्यक् प्रकार से सेवन किया गया है, यह वैरभाव की निवृत्ति और उसका अन्त करने वाला है तथा समस्त समुद्रो मे स्वयभूरमण समुद्र के समान दुस्तर किन्तु तैरने का उपाय होने के कारण तीर्थस्वरूप है।

विवेचन—उल्लिखित गाथा मे ब्रह्मचर्य की महिमा प्रतिपादित की गई है। ब्रह्मचर्य पाँचो महाव्रतो का मूलाधार है, क्योकि इसके खण्डित होने पर सभी महाव्रतो का खण्डन हो जाता है और इसका पूर्णरूपेण पालन करने पर ही अन्य महाव्रतो का पालन मम्भव है।

जहाँ सम्पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन होता है, वहाँ वैर-विरोध का स्वत अन्त हो जाता है। यद्यपि इसके विशुद्ध पालन करने के लिए धैर्य, दृढता एव सयम की आवश्यकता होती है, अतीव सावधानी बरतनी पड़ती है तथापि इसका पालन करना अशक्य नही है। मुनियो ने इसका पालन किया है और भगवान् ने इसके पालन करने का उपाय भी बतलाया है। भव-सागर को पार करने के लिए यह महाव्रत तीर्थ के समान है।

गाथा मे प्रयुक्त **'पचमहव्वयसुव्वयमूल'** इस पद के अनेक अर्थ होते है, जो इस प्रकार है—(१) अहिंसा, सत्य आदि महाव्रत नामक जो सुव्रत है, उनका मूल। (२) पाँच महाव्रतो वाले साधुओ के सुव्रतो—शोभन नियमो का मूल। (३) पाँच महाव्रतो का तथा सुव्रतो अर्थात् अणुव्रतो का मूल और (४) हे पचमहाव्रत! अर्थात् हे पाँच महाव्रतो को धारण करने के कारण सुव्रत—शोभन व्रतवाले (शिष्य!) यह ब्रह्मचर्य मूल (व्रत) है।

१४४—तित्थयरेहि सुदेसियमग्ग, णरयतिरिच्छविवज्जियमग्ग।
सव्वपवित्तिसुणिम्मियसार, सिद्धिविमाणअवगुयदार ॥२॥

१४४—तीर्थकर भगवन्तो ने ब्रह्मचर्य व्रत के पालन करने के मार्ग—उपाय—गुप्ति आदि, भलीभाँति बतलाए है। यह नरकगति और तिर्यञ्चगति के मार्ग को रोकने वाला है, अर्थात् ब्रह्मचर्य

आराधक को नरक-तिर्यंचगति से बचाता है, सभी पवित्र अनुष्ठानों को सारयुक्त बनाने वाला तथा मुक्ति और वैमानिक देवगति के द्वार को खोलने वाला है।

विवेचन—तीर्थंकर भगवान् ने ब्रह्मचर्यव्रत को निर्दोष पालने के लिए अनेक उपाय भी प्रदर्शित किए हैं और वे उपाय हैं गुप्ति आदि। नौ वाड़ों का भी इनमें समावेश होता है। इनके अभाव में ब्रह्मचर्य की आराधना नहीं हो सकती।

इस गाथा में यह भी स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्मचर्य का निर्मल रूप से पालन करने वाला सिद्धि प्राप्त करता है। यदि उस के कर्म कुछ अवशेष रह गए हों तो वह वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है।

१४५—देव-णरिंद-णमंसियपूयं, सव्वजगुत्तममंगलमग्गं।
दुद्धरिसं गुणणायगमेक्कं, मोक्खपहस्स वडिंसगभूयं ॥३॥

१४५—देवेन्द्रों और नरेन्द्रों के द्वारा जो नमस्कृत हैं, अर्थात् देवेन्द्र और नरेन्द्र जिनको नमस्कार करते हैं, उन महापुरुषों के लिए भी ब्रह्मचर्य पूजनीय है। यह जगत् के सब मंगलों का मार्ग—उपाय है अथवा प्रधान उपाय है। यह दुर्द्धर्ष है अर्थात् कोई इसका पराभव नहीं कर सकता या दुष्कर है। यह गुणों का अद्वितीय नायक है। अर्थात् ब्रह्मचर्य ही ऐसा साधन है जो अन्य सभी सद्गुणों की ओर आराधक को प्रेरित करता है।

विवेचन—आशय स्पष्ट है। यहाँ ब्रह्मचर्य महाव्रत की महिमा प्रदर्शित की गई है। इस महिमा वर्णन से इस व्रत की महत्ता भलीभाँति विदित हो जाती है। आगे भी ब्रह्मचर्य का महत्त्व प्रदर्शित किया जा रहा है।

ब्रह्मचर्यविघातक निमित्त—

१४६—जेण सुद्धचरिएण भवइ सुबंभणो सुसमणो सुसाहू स इसी स मुणी स संजए स एव भिक्खू जो सुद्धं चरइ बंभचेरं। इमं च रइ-राग-दोस-मोह-पवड्ढणकरं किंमज्झ-पमायदोसपासत्थ-सील-करण अब्भंगणाणि य तेल्लमज्जणाणि य अभिक्खणं कक्ख-सीस-कर-चरण-वयण-धोवण-संबाहण-गाय-कम्म-परिमद्दणाणुलेवण-चुण्णवास-धूवण-सरीर-परिमंडण-बाउसिय-हसिय-भणिय-णट्ट-गीय-वाइय-णड-णट्टग-जल्ल-मल्ल-पेच्छणवेलंबग जाणि य सिंगारागाराणि य अण्णाणि य एवमाइयाणि तव-संजम-बंभचेर-घाओवघाइयाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं वज्जियव्वाइं सव्वकालं।

१४६—ब्रह्मचर्य महाव्रत का निर्दोष परिपालन करने से सुब्राह्मण—यथार्थ नाम वाला, सुश्रमण—सच्चा तपस्वी और सुसाधु—निर्वाण साधक वास्तविक साधु कहा जाता है। जो शुद्ध ब्रह्मचर्य का आचरण करता है वही ऋषि अर्थात् यथार्थ तत्त्वद्रष्टा है, वही मुनि—तत्त्व का वास्तविक मनन करने वाला है, वही संयत—संयमवान् है और वही सच्चा भिक्षु—निर्दोष भिक्षाजीवी है।

ब्रह्मचर्य का अनुपालन करने वाले पुरुष को इन आगे कहे जाने वाले व्यवहारों का त्याग करना चाहिए—रति—इन्द्रिय-विषयों के प्रति राग, राग—पारिवारिक जनों के प्रति स्नेह, द्वेष और

मोह—अज्ञान की वृद्धि करने वाला, निस्सार प्रमाददोष तथा पार्श्वस्थ—शिथिलाचारी साधुओं का शील—आचार, (जैसे निष्कारण शय्यातरपिण्ड का उपभोग आदि) और घृतादि की मालिश करना, तेल लगाकर स्नान करना, बार-बार बगल, शिर, हाथ, पैर और मुँह धोना, मर्दन करना पैर आदि दबाना—पगचम्पी करना, परिमर्दन करना—समग्र शरीर को मलना, विलेपन करना, चूर्णवास—सुगन्धित चूर्ण—पाउडर से शरीर को सुवासित करना, अगर आदि की धूप देना—शरीर को धूपयुक्त करना, शरीर को मण्डित करना—सुशोभन बनाना, बाकुशिक कर्म करना—नखों, केशों एवं वस्त्रों को संवारना आदि, हँसी-ठट्ठा करना विकारयुक्त भाषण करना, नाट्य, गीत, वादित्र, नटों, नृत्यकारकों और जल्लों—रस्से पर खेल दिखलाने वालों और मल्लों—कुश्तीबाजों का तमाशा देखना तथा इसी प्रकार की अन्य बातें जो शृंगार का आगार हैं—शृंगार के स्थान हैं और जिनसे तपश्चर्या, संयम एवं ब्रह्मचर्य का उपघात—आंशिक विनाश या घात—पूर्णतः विनाश होता है, ब्रह्मचर्य का आचरण करने वाले को सदैव के लिए त्याग देनी चाहिए।

ब्रह्मचर्य-रक्षक नियम—

१४७—भावियव्वो भवइ य अंतरप्पा इमेहिं तव-णियम-सील-जोगेहिं णिच्चकालं।

किं ते?

अण्हाणग-अदंतधावण-सेय-मल-जल्लधारणं मूणवय-केसलोय-खम-दम-अचेलग-खुप्पिवास-लाघव-सीउसिण-कट्ठसिज्जा-भूमिणिसिज्जा-परघरपवेस-लद्धावलद्ध-माणावमाण-णिंदण-दंसमसग-फास-णियम-तव-गुण-विणय-माइएहिं जहा से थिरतरगं होइ बंभचेरं।

इमं च अबंभचेर-विरमण-परिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चाभावियं आगमेसिभद्दं सुद्धं णेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्ख-पावाण विउसमणं।

१४७—इन त्याज्य व्यवहारों के वर्जन के साथ आगे कहे जाने वाले व्यापारों से अन्तरात्मा को भावित-वासित करना चाहिए।

वे व्यापार कौन-से हैं?

(वे ये हैं—) स्नान नहीं करना, दन्तधावन नहीं करना, स्वेद (पसीना) धारण करना, जमे हुए या इससे भिन्न मैल को धारण करना, मौनव्रत धारण करना, केशों का लुञ्चन करना, क्षमा, दम—इन्द्रियनिग्रह अचेलकता—वस्त्ररहित होना अथवा अल्प वस्त्र धारण करना, भूख-प्यास सहना, लाघव-उपधि अल्प रखना, सर्दी, गर्मी सहना, काष्ठ की शय्या, भूमिनिषद्या—जमीन पर आसन, परगृहप्रवेश—शय्या या भिक्षादि के लिए गृहस्थ के घर में जाना और प्राप्ति या अप्राप्ति (को समभाव से सहना), मान, अपमान, निन्दा एवं दंश-मशक का क्लेश सहन करना, नियम अर्थात् द्रव्यादि संबंधी अभिग्रह करना, तप तथा मूलगुण आदि एवं विनय (गुरुजनों के लिए अभ्युत्थान) आदि से अन्तःकरण को भावित करना चाहिए, जिससे ब्रह्मचर्यव्रत खूब स्थिर—दृढ हो।

अब्रह्मनिवृत्ति (ब्रह्मचर्य) व्रत की रक्षा के लिए भगवान् महावीर ने यह प्रवचन कहा है। यह प्रवचन परलोक में फलप्रदायक है, भविष्य में कल्याण का कारण है, शुद्ध है, न्याययुक्त है, कुटिलता से रहित है, सर्वोत्तम है और दुःखों और पापों को उपशान्त करने वाला है।

विवेचन—काम-वासना ऐसी प्रवल है कि तनिक-सी असावधानी होते ही मनुष्य के मन को विकृत कर देती है। यदि मनुष्य तत्काल न सम्भल गया तो वह उसके वशीभूत होकर दीर्घकालिक साधना से पतित हो जाता है और फिर न घर का न घाट का रहता है। उसकी साधना खोखली, निष्प्राण, दिखावटी या आडम्बरमात्र रह जाती है। ऐसा व्यक्ति अपने साध्य से दूर पड जाता है। उसका बाह्य कष्टसहन निरर्थक वन जाता है।

प्रस्तुत पाठो में अत्यन्त तेजस्वी एव प्रभावशाली शब्दो मे ब्रह्मचर्य की महिमा का गान किया गया है। यह महिमागान जहाँ उसकी श्रेष्ठता को प्रदर्शित करता है, वही उसकी दुराराध्यता का भी सूचक है। यही कारण है कि इसकी आराधना के लिए अनेकानेक विधि-निषेधो का दिग्दर्शन कराया गया है।

जिन-जिन कार्यो—व्यापारो से काम-राग के वीज अकुरित होने की सम्भावना हो सकती है, उन व्यवहारो से ब्रह्मचारी को सदैव वचते रहना चाहिए। ऐसे व्यवहार शास्त्रकार ने मूलपाठ मे गिना दिए हैं। शरीर की विभूषा यथा—मालिश—मर्दन करना, केशो और नाखूनो को सवारना, सुगधित वस्तुओ का उपयोग करना, स्नान करना, वारवार हाथो-पैरो-मुख आदि को धोना आदि देहाध्यास बढाने वाले व्यवहार हैं और इनसे वासना को उत्तेजित होने का अवसर मिलता है। अतएव तपस्वी को इन और इसी प्रकार के अन्य व्यापारो से सदा दूर ही रहना चाहिए।

इसी प्रकार नृत्य, नाटक, गीत, खेल, तमाशे आदि भी साधक की दृष्टि को अन्तर्मुख से बहिर्मुख बनाने वाले है। ऐसे प्रसगो पर मनोवृत्ति साधना से विमुख हो जाती है और वाहर के राग-रग मे डूब जाती है। अतएव साधक के लिए श्रेयस्कर यही है कि वह न ऐसे प्रसगो को दृष्टिगोचर होने दे और न साधना मे मलीनता आने दे।

सच्चे साधक को अपने उच्चतम साध्य पर—मुक्ति पर और उसके उपायो पर ही अपना सम्पूर्ण मनोयोग केन्द्रित करना चाहिए। उसे शारीरिक वासना से ऊपर उठा रहना चाहिए। जो शरीर-वासना से ऊपर उठ जाता है, उसे स्नान, दन्तधावन, देह के स्वच्छीकरण आदि की आवश्यकता नही रहती। 'ब्रह्मचारी सदा शुचि' इस कथन के अनुसार ब्रह्मचारी सदैव पवित्र होता है, उसे जल से पवित्र होने की आवश्यकता नही। स्नान काम के आठ अगो मे एक अग माना गया है। जैसे गाय भैस आदि पशु रूखा-सूखा, स्नेहहीन और परिमित आहार करते है, अतएव उनके दॉत विना धोये ही स्वच्छ रहते है, उसी प्रकार अन्त-प्रान्त और परिमित आहार करने वाले मुनि के दाँतो को भी धोने की आवश्यकता नही होती।

अभिप्राय यही है कि ब्रह्मचर्य के पूर्ण आराधक को शास्त्रोक्त सभी विधि-निषेधो का अन्त करण से, आत्मशोधन के उद्देश्य से पालन करना चाहिए। ऐसा करने पर ही उसका यह महाव्रत सुरक्षित रहता है। सुरक्षित ब्रह्मचर्य के अलौकिक तेज से साधक की समग्र साधना तेजोमय वन जाती है, उसकी आन्तरिक अद्भुत शक्तियाँ चमक उठती है और आत्मा तेज पुञ्ज वन जाता है। ऐसी स्थिति मे ही सुरेन्द्र, असुरेन्द्र और नागेन्द्र साधक के चरणो मे नतमस्तक होते है।

पॉच भावनाओ के रूप मे आगे भी ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के उपायो का प्ररूपण किया गया है।

मोह—अज्ञान की वृद्धि करने वाला, निस्सार प्रमाददोप तथा पार्श्वस्थ—शिथिलाचारी साधुओं का शील—आचार, (जैसे निष्कारण शय्यातरपिण्ड का उपभोग आदि) और घृतादि की मालिश करना, तेल लगाकर स्नान करना, बार-बार बगल, शिर, हाथ, पैर और मुँह धोना, मर्दन करना, पैर आदि दबाना—पगचम्पी करना, परिमर्दन करना—समग्र शरीर को मलना, विलेपन करना, चूर्णवास—सुगन्धित चूर्ण—पाउडर से शरीर को सुवासित करना, अगर आदि की धूप देना—शरीर को धूपयुक्त करना, शरीर को मण्डित करना—सुशोभन बनाना, बाकुशिक कर्म करना—नखों, केशों एवं वस्त्रों को सवारना आदि, हँसी-ठट्ठा करना विकारयुक्त भाषण करना, नाट्य, गीत, वादित्र, नटों, नृत्यकारकों और जल्लों—रस्से पर खेल दिखलाने वालों और मल्लों—कुश्तीबाजों का तमाशा देखना तथा इसी प्रकार की अन्य बातें जो शृंगार का आगार हैं—शृंगार के स्थान हैं और जिनसे तपश्चर्या, संयम एवं ब्रह्मचर्य का उपघात—आंशिक विनाश या घात—पूर्णत: विनाश होता है, ब्रह्मचर्य का आचरण करने वाले को सदैव के लिए त्याग देनी चाहिए।

ब्रह्मचर्य-रक्षक नियम—

१४७—भावियव्वो भवइ य अंतरप्पा इमेहिं तव-णियम-सील-जोगेहिं णिच्चकालं।

किं ते ?

अण्हाणग-अदंतधावण-सेय-मल-जल्लधारण मूणवय-केसलोय-खम-दम-अचेलग-खुप्पिवास-लाघव-सीउसिण-कट्ठसिज्जा-भूमिणिसिज्जा-परघरपवेस-लद्धावलद्ध-माणावमाण-णिंदण-दंसमसग-फास-णियम-तव-गुण-विणय-माइएहिं जहा से थिरतरगं होइ बंभचेरं।

इमं च अबंभचेर-विरमण-परिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चाभावियं आगमेसिभद्दं सुद्धं णेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्ख-पावाण विउसमणं।

१४७—इन त्याज्य व्यवहारों के वर्जन के साथ आगे कहे जाने वाले व्यापारों से अन्तरात्मा को भावित-वासित करना चाहिए।

वे व्यापार कौन-से हैं ?

(वे ये हैं—) स्नान नहीं करना, दन्तधावन नहीं करना, स्वेद (पसीना) धारण करना, जमे हुए या इससे भिन्न मैल को धारण करना, मौनव्रत धारण करना, केशों का लुञ्चन करना, क्षमा, दम—इन्द्रियनिग्रह, अचेलकता—वस्त्ररहित होना अथवा अल्प वस्त्र धारण करना, भूख-प्यास सहना, लाघव-उपधि अल्प रखना, सर्दी, गर्मी सहना, काष्ठ की शय्या, भूमिनिषद्या—जमीन पर आसन, परगृहप्रवेश—शय्या या भिक्षादि के लिए गृहस्थ के घर में जाना और प्राप्ति या अप्राप्ति (को समभाव से सहना), मान, अपमान, निन्दा एवं दंश-मशक का क्लेश सहन करना, नियम अर्थात् द्रव्यादि संबंधी अभिग्रह करना, तप तथा मूलगुण आदि एवं विनय (गुरुजनों के लिए अभ्युत्थान) आदि से अन्त:करण को भावित करना चाहिए, जिससे ब्रह्मचर्यव्रत खूब स्थिर—दृढ हो।

अब्रह्मनिवृत्ति (ब्रह्मचर्य) व्रत की रक्षा के लिए भगवान् महावीर ने यह प्रवचन कहा है। यह प्रवचन परलोक में फलप्रदायक है, भविष्य में कल्याण का कारण है, शुद्ध है, न्याययुक्त है, कुटिलता से रहित है, सर्वोत्तम है और दु:खों और पापों को उपशान्त करने वाला है।

विवेचन—काम-वासना ऐसी प्रवल है कि तनिक-सी असावधानी होते ही मनुष्य के मन को विकृत कर देती है। यदि मनुष्य तत्काल न सम्भल गया तो वह उसके वशीभूत होकर दीर्घकालिक साधना से पतित हो जाता है और फिर न घर का न घाट का रहता है। उसकी साधना खोखली, निष्प्राण, दिखावटी या आडम्वरमात्र रह जाती है। ऐसा व्यक्ति अपने साध्य से दूर पड जाता है। उसका वाह्य कष्टसहन निरर्थक वन जाता है।

प्रस्तुत पाठो में अत्यन्त तेजस्वी एव प्रभावशाली शब्दो मे ब्रह्मचर्य की महिमा का गान किया गया है। यह महिमागान जहाँ उसकी श्रेष्ठता को प्रदर्शित करता है, वही उसकी दुराराध्यता का भी सूचक है। यही कारण है कि इसकी आराधना के लिए अनेकानेक विधि-निषेधो का दिग्दर्शन कराया गया है।

जिन-जिन कार्यो – व्यापारो से काम-राग के वीज अकुरित होने की सम्भावना हो सकती है, उन व्यवहारो से ब्रह्मचारी को सदैव वचते रहना चाहिए। ऐसे व्यवहार शास्त्रकार ने मूलपाठ मे गिना दिए है। शरीर की विभूपा यथा—मालिश—मर्दन करना, केशो और नाखूनो को सवारना, सुगधित वस्तुओ का उपयोग करना, स्नान करना, वारवार हाथो-पैरो-मुख आदि को धोना आदि देहाध्यास बढाने वाले व्यवहार है और इसमे वासना को उत्तेजित होने का अवसर मिलता है। अतएव तपस्वी को इन और इसी प्रकार के अन्य व्यापारो से सदा दूर ही रहना चाहिए।

इसी प्रकार नृत्य, नाटक, गीत, खेल, तमाशे आदि भी साधक की दृष्टि को अन्तर्मुख मे बहिर्मुख बनाने वाले है। ऐसे प्रसगो पर मनोवृत्ति साधना से विमुख हो जाती है और वाहर के राग-रग मे डूब जाती है। अतएव साधक के लिए श्रेयस्कर यही है कि वह न ऐसे प्रसगो को दृष्टिगोचर होने दे और न साधना मे मलीनता आने दे।

सच्चे साधक को अपने उच्चतम साध्य पर—मुक्ति पर और उसके उपायो पर ही अपना सम्पूर्ण मनोयोग केन्द्रित करना चाहिए। उसे शारीरिक वासना से ऊपर उठा रहना चाहिए। जो शरीर-वासना से ऊपर उठ जाता है, उसे स्नान, दन्तधावन, देह के स्वच्छीकरण आदि की आवश्यकता नही रहती। 'ब्रह्मचारी सदा शुचि' इस कथन के अनुसार ब्रह्मचारी सदैव पवित्र होता है, उसे जल से पवित्र होने की आवश्यकता नही। स्नान काम के आठ अगो मे एक अग माना गया है। जैसे गाय भैस आदि पशु रूखा-सूखा, स्नेहहीन और परिमित आहार करते है, अतएव उनके दाँत विना धोये ही स्वच्छ रहते है, उसी प्रकार अन्त-प्रान्त और परिमित आहार करने वाले मुनि के दाँतो को भी धोने की आवश्यकता नही होती।

अभिप्राय यही है कि ब्रह्मचर्य के पूर्ण आराधक को शास्त्रोक्त सभी विधि-निषेधो का अन्त करण से, आत्मशोधन के उद्देश्य से पालन करना चाहिए। ऐसा करने पर ही उसका यह महाव्रत सुरक्षित रहता है। सुरक्षित ब्रह्मचर्य के अलौकिक तेज से साधक की समग्र साधना तेजोमय वन जाती है, उसकी आन्तरिक अद्भुत शक्तियाँ चमक उठती है और आत्मा तेज पुञ्ज वन जाता है। ऐसी स्थिति मे ही सुरेन्द्र, असुरेन्द्र और नागेन्द्र साधक के चरणो मे नतमस्तक होते है।

पाँच भावनाओ के रूप मे आगे भी ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के उपायो का प्ररूपण किया गया है।

ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाएँ

प्रथम भावना—विविक्त-शयनासन—

२४८—तस्स इमा पच भावणाओ चउत्थवयस्स होंति अबभचेरविरमणपरिरक्खणट्ठयाए—

पढम—सयणासण- घर-दुवार-अगण-आगास-गवक्ख-साल-अभिलोयण- पच्छवत्थुक- पसाहणग-ण्हाणिगावगासा, अवगासा जे य वेसियाण, अच्छति य जत्थ इत्थियाओ अभिक्खण मोहदोस-रइराग-वड्ढणीओ, कहिति य कहाओ बहुविहाओ, ते वि हु वज्जणिज्जा। इत्थि-ससत्त-सकिलिट्ठा, अण्णे वि य एवमाई अवगासा ते हु वज्जणिज्जा।

जत्थ मणोविब्भमो वा भगो वा भसणा [भसगो] वा अट्ट रुद्द च हुज्ज झाण त त वज्जेज्ज-ऽवज्जभीरू अणाययण अतपतवासी।

एवमससत्तवास-वसहीसमिइ-जोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा, आरयमण-विरयगामधम्मे जिइदिए बभचेरगुत्ते।

१४८—चतुर्थ अब्रह्मचर्यविरमण व्रत की रक्षा के लिए ये पाँच भावनाएँ हैं—

प्रथम भावना (उनमे से) **स्त्रीयुक्त स्थान का वर्जन**—प्रथम भावना इस प्रकार है—शय्या, आसन, गृहद्वार (घर का दरवाजा), आँगन, आकाश—ऊपर से खुला स्थान, गवाक्ष—झरोखा, शाला—सामान रखने का कमरा आदि स्थान, अभिलोकन—बैठ कर देखने का ऊँचा स्थान, पश्चाद्-गृह—पिछवाडा—पीछे का घर, प्रसाधनक—नहाने और शृ गार करने का स्थान, इत्यादि सब स्थान स्त्रीससक्त—नारी के ससर्ग वाले होने से वर्जनीय है।

इनके अतिरिक्त वेश्याओ के स्थान—अड्डे है और जहाँ स्त्रियाँ बैठती-उठती है और बार-बार मोह, द्वेष, कामराग और स्नेहराग की वृद्धि करने वाली नाना प्रकार की कथाएँ कहती हैं—बाते करती हैं, उनका भी ब्रह्मचारी को वर्जन करना चाहिए। ऐसे स्त्री के ससर्ग के कारण सक्लिष्ट—सक्लेशयुक्त अन्य जो भी स्थान हो, उनसे भी अलग रहना चाहिए, जैसे—जहाँ रहने से मन मे विभ्रम—चचलता उत्पन्न हो, ब्रह्मचर्य भग्न होता हो या उसका आशिकरूप से खण्डन होता हो, जहाँ रहने से आर्त्तध्यान—रौद्रध्यान होता हो, उन-उन अनायतनो—अयोग्य स्थानो का पाप-भीरु—ब्रह्मचारी—परित्याग करे। साधु तो ऐसे स्थान पर ठहरता है जो अन्त-प्रान्त हो अर्थात् इन्द्रियो के प्रतिकूल हो।

इस प्रकार असससक्तवास-वसति-समिति के अर्थात् स्त्रियो के ससर्ग से रहित स्थान का त्याग रूप समिति के योग से युक्त अन्त करण वाला, ब्रह्मचर्य की मर्यादा मे मन वाला तथा इन्द्रियो के विषय ग्रहण—स्वभाव से निवृत्त, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य से गुप्त—सुरक्षित होता है।

द्वितीय भावना—स्त्री-कथावर्जन—

१४९—बिइय—णारीजणस्स मज्झे ण कहियव्वा कहा—विचित्ता बिब्बोय-विलास-सपउत्ता हाससिगार-लोइयकहव्व मोहजणणी, ण आवाह-विवाह-वर-कहा, इत्थीण वा सुभग-दुब्भगकहा,

चउसट्ठि च महिलागुणा, ण वण्ण-देस-जाइ-कुल-रूव-णाम-णेवत्थ-परिजण-कहा इत्थियाण, अण्णा वि य एवमाइयाओ कहाओ सिंगार-कलुणाओ तव-संजम-बंभचेर-घाओवघाइयाओ अणुचरमाणेण बंभचेरं ण कहियव्वा, ण सुणियव्वा, ण चिंतियव्वा। एवं इत्थीकहाविरइसमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमण-विरयगामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते।

१४९—दूसरी भावना है स्त्रीकथावर्जन। इसका स्वरूप इस प्रकार है—नारीजनों के मध्य में अनेक प्रकार की कथा नहीं करनी चाहिए अर्थात् नाना प्रकार की बातें नहीं करनी चाहिए, जो बातें विव्वोक[1]—स्त्रियों की कामुक चेष्टाओं से और विलास[2]—स्मित, कटाक्ष आदि के वर्णन से युक्त हों, जो हास्यरस और शृंगाररस की प्रधानता वाली साधारण लोगों की कथा की तरह हों, जो मोह उत्पन्न करने वाली हों। इसी प्रकार द्विरागमन—गौने या विवाह सम्बन्धी बातें भी नहीं करनी चाहिए। स्त्रियों के सौभाग्य-दुर्भाग्य की भी चर्चा-वार्त्ता नहीं करनी चाहिए। महिलाओं के चौसठ गुणों (कलाओं), स्त्रियों के रंग-रूप, देश, जाति, कुल, रूप-सौन्दर्य, भेद-प्रभेद—पद्मिनी, चित्रणी, हस्तिनी, शंखिनी आदि प्रकार, पोशाक तथा परिजनों सम्बन्धी कथाएँ तथा इसी प्रकार की जो भी अन्य कथाएँ शृंगाररस से करुणता उत्पन्न करने वाली हों और जो तप, संयम तथा ब्रह्मचर्य का घात—उपघात करने वाली हों, ऐसी कथाएँ ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले साधुजनों को नहीं कहनी चाहिए। ऐसी कथाएँ—बातें उन्हें सुननी भी नहीं चाहिए और उनका मन में चिन्तन भी नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार स्त्रीकथाविरति-समिति के योग से भावित अन्तःकरण वाला, ब्रह्मचर्य में अनुरक्त चित्त वाला तथा इन्द्रिय विकार से विरत रहने वाला, जितेन्द्रिय साधु ब्रह्मचर्य से गुप्त—सुरक्षित रहता है।

तृतीय भावना—स्त्रियों के रूप-दर्शन का त्याग—

१५०—तइयं—णारीण हसिय-भणिय-चेट्ठिय-विप्पेक्खिय-गइ-विलास-कीलियं, विब्बोइय-णट्ट-गीय-वाइय-सरीर-संठाण-वण्ण-कर-चरण-णयण-लावण्ण-रूव-जोव्वण-पयोहरा-धर-वत्थालंकार-भूसणाणि य, गुज्झोकासियाइं, अण्णाणि य एवमाइयाइं तव-संजम-बंभचेर-घाओवघाइयाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं ण चक्खुसा, ण मणसा, ण वयसा पत्थेयव्वाइं पावकम्माइं। एवं इत्थीरूवविरइ-समिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमणविरयगामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते।

---

१ विव्वोक का लक्षण—

इष्टानामर्थानां प्राप्तावभिमानगर्वसम्भूतः।
स्त्रीणामनादरकृतो विव्वोको नाम विज्ञेयः॥ —अभय टीका पृ. १३९

२ विलास का स्वरूप—

स्थानासनगमनानां, हस्तभ्रूनेत्रकर्मणां चैव।
उत्पद्यते विशेषो यः श्लिष्टः स तु विलासः स्यात्॥ अभय टीका पृ. १३९

ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाएँ

प्रथम भावना—विविक्त-शयनासन—

२४८—तस्स इमा पच भावणाओ चउत्थवयस्स होंति अबभचेरविरमणपरिरक्खणट्टयाए—

पढम—सयणासण- घर-दुवार-अगण-आगास-गवक्ख-साल-अभिलोयण- पच्छवत्थुक- पसाहणग-ण्हाणिगावगासा, अवगासा जे य वेसियाण, अच्छति य जत्थ इत्थियाओ अभिक्खण मोहदोस-रइराग-वड्ढणीओ, कहिंति य कहाओ बहुविहाओ, ते वि हु वज्जणिज्जा। इत्थि-ससत्त-सकिलिट्ठा, अण्णे वि य एवमाई अवगासा ते हु वज्जणिज्जा।

जत्थ मणोविब्भमो वा भगो वा भसणा [भसगो] वा अट्ट रुद्द च हुज्ज झाण त त वज्जेज्ज-ऽवज्जभीरू अणाययण अतपतवासी।

एवमससत्तवास-वसहीसमिइ-जोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा, आरयमण-विरयगामधम्मे जिइदिए बभचेरगुत्ते।

१४८—चतुर्थ अब्रह्मचर्यविरमण व्रत की रक्षा के लिए ये पाँच भावनाएँ है—

प्रथम भावना (उनमे से) **स्त्रीयुक्त स्थान का वर्जन**—प्रथम भावना इस प्रकार है—शय्या, आसन, गृहद्वार (घर का दरवाजा), आँगन, आकाश—ऊपर से खुला स्थान, गवाक्ष—झरोखा, शाला—सामान रखने का कमरा आदि स्थान, अभिलोकन—बैठ कर देखने का ऊँचा स्थान, पश्चाद्-गृह—पिछवाडा—पीछे का घर, प्रसाधनक—नहाने और शृ गार करने का स्थान, इत्यादि सब स्थान स्त्रीससक्त—नारी के ससर्ग वाले होने से वर्जनीय है।

इनके अतिरिक्त वेश्याओ के स्थान—अड्डे है और जहाँ स्त्रियाँ बैठती-उठती हैं और बार-बार मोह, द्वेष, कामराग और स्नेहराग की वृद्धि करने वाली नाना प्रकार की कथाएँ कहती है—बाते करती है, उनका भी ब्रह्मचारी को वर्जन करना चाहिए। ऐसे स्त्री के ससर्ग के कारण सक्लिष्ट—सक्लेशयुक्त अन्य जो भी स्थान हो, उनसे भी अलग रहना चाहिए, जैसे—जहाँ रहने से मन मे विभ्रम—चचलता उत्पन्न हो, ब्रह्मचर्य भग्न होता हो या उसका आशिकरूप से खण्डन होता हो, जहाँ रहने से आर्त्तध्यान—रौद्रध्यान होता हो, उन-उन अनायतनो—अयोग्य स्थानो का पाप-भीरु—ब्रह्मचारी—परित्याग करे। साधु तो ऐसे स्थान पर ठहरता है जो अन्त-प्रान्त हो अर्थात् इन्द्रियो के प्रतिकूल हो।

इस प्रकार असससक्तवास-वसति-समिति के अर्थात् स्त्रियो के ससर्ग से रहित स्थान का त्याग रूप समिति के योग से युक्त अन्त करण वाला, ब्रह्मचर्य की मर्यादा मे मन वाला तथा इन्द्रियो के विषय ग्रहण—स्वभाव से निवृत्त, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य से गुप्त—सुरक्षित होता है।

द्वितीय भावना—स्त्री-कथावर्जन—

१४९—बिइय—णारीजणस्स मज्झे ण कहियव्वा कहा—विचित्ता विब्बोय-विलास-सपउत्ता हाससिंगार-लोइयकहव्व मोहजणणी, ण आवाह-विवाह-वर-कहा, इत्थीण वा सुभग-दुब्भगकहा,

वाले, रास गाने या रासलीला करने वाले, शुभाशुभ वतलाने वाले, लख—ऊँचे वाम पर खेल करने वाले, मख—चित्रमय पट्ट लेकर भिक्षा मागने वाले, तूण नामक वाद्य वजाने वाले, वीणा वजाने वाले, तालाचर—एक प्रकार के तमाशवीन—इन सव की क्रीडाएँ, गायकों के नाना प्रकार के मधुर ध्वनि वाले गीत एव मनोहर स्वर और इस प्रकार के अन्य विषय, जो तप, सयम और ब्रह्मचर्य का घात—उपघात करने वाले है, उन्हे ब्रह्मचर्यपालक श्रमण को देखना नही चाहिए, इन मे सम्बद्ध वार्त्तालाप नही करना चाहिए और पूर्वकाल मे जो देखे—सुने हो, उनका स्मरण भी नही करना चाहिए।

इस प्रकार पूर्वरत-पूर्वक्रीडितविरति—समिति के योग से भावित अन्त करण वाला, ब्रह्मचर्य मे अनुरक्त चित्तवाला, मैथुनविरत, जितेन्द्रिय साधु ब्रह्मचय से गुप्त—सुरक्षित होता है।

पचम भावना—स्निग्ध सरस भोजन-त्याग—

१५२—पचमग—आहार-पणीय-णिद्ध-भोयण-विवज्जए सजए सुसाहू व वगय-खीर-दहि-सप्पि-णवणीय-तेल्ल-गुल-खड-मच्छडिग-महु-मज्ज-मस-खज्जग-विगइ-परिचित्तकयाहारे ण दप्पण ण बहुसो ण णिइग ण सायसूपाहिय ण खद्ध, तहा भोत्तव्व जहा से जायामाया य भवइ, ण य भवइ विब्भमो ण भसणा य धम्मस्स। एव पणीयाहार-विरइ-समिइ-जोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा आरयमण-विरय-गामधम्मे जिइदिए बभचेरगुत्ते।

१५२—पाँचवी भावना—सरस आहार एव स्निग्ध-चिकनाई वाले भोजन का त्यागी सयम-शील सुसाधु दूध, दही, घी, मक्खन, तेल, गुड, खाड, मिसरी, मधु, मद्य, मास, खाद्यक—पकवान और विगय से रहित आहार करे। वह दर्पकारक—इन्द्रियो मे उत्तेजना उत्पन्न करने वाला आहार न करे। दिन मे बहुत बार न खाए और न प्रतिदिन लगातार खाए। न दाल और व्यजन की अधिकता वाला और न प्रभूत—प्रचुर भोजन करे। साधु उतना ही हित-मित आहार करे जितना उसकी सयम-यात्रा का निर्वाह करने के लिए आवश्यक हो, जिससे मन मे विभ्रम—चचलता उत्पन्न न हो और धर्म (ब्रह्मचर्यव्रत) से च्युत न हो।

इस प्रकार प्रणीत-आहार की विरति रूप समिति के योग से भावित अन्त करण वाला, ब्रह्मचर्य की आराधना मे अनुरक्त चित्त वाला और मैथुन से विरत साधु जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य से सुरक्षित होता है।

विवेचन—चतुर्थ सवरद्वार ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँच भावनाओ का उल्लिखित पाठो मे प्रतिपादन किया गया है।

पूर्व मे वतलाया जा चुका है कि ब्रह्मचर्यव्रत महान् है। उसकी महिमा अद्भुत और अलौकिक है। उसका प्रभाव अचिन्त्य और अकल्प्य है। वह सब प्रकार की ऋद्धियो और सिद्धियो का प्रदाता है। ब्रह्मचर्य के अखण्ड पालन से आत्मा की सुषुप्त शक्तियाँ जागृत हो जाती है और आत्मा सहज आन्तरिक तेज से जाज्वल्यमान वन जाता है। किन्तु इस महान् व्रत की जितनी अधिक महिमा है, उतना ही परिपूर्ण रूप में पालन करना भी कठिन है। उसका आगमोक्त रूप से सम्यक् प्रकार से पालन किया जा सके, इसी अभिप्राय से, साधको के पथप्रदर्शन के लिए उसकी पाँच भावनाएँ यहाँ प्रदर्शित की गई है। वे इस प्रकार हैं—

१५०—ब्रह्मचर्यव्रत की तीसरी भावना स्त्री के रूप को देखने के निषेध-स्वरूप है। वह इस प्रकार है—नारियो के हास्य को, विकारमय भाषण को, हाथ आदि की चेष्टाओ को, विप्रेक्षण—कटाक्षयुक्त निरीक्षण को, गति—चाल को, विलास और क्रीडा को, बिब्बोकित—अनुकूल—इष्ट वस्तु की प्राप्ति होने पर अभिमानपूर्वक किया गया तिरस्कार, नाट्य, नृत्य, गीत, वादित—वीणा आदि वाद्यो के वादन, शरीर की आकृति, गौर श्याम आदि वर्ण, हाथो, पैरो एव नेत्रो का लावण्य, रूप, यौवन, स्तन, अधर—ओष्ठ, वस्त्र, अलकार और भूषण—ललाट की बिन्दी आदि को तथा उसके गोपनीय अगो को, एव स्त्रीसम्बन्धी अन्य अगोपागो या चेष्टाओ को जिनसे ब्रह्मचर्य, तप तथा सयम का घात—उपघात होता है, उन्हे ब्रह्मचर्य का अनुपालन करने वाला मुनि न नेत्रो से देखे, न मन से सोचे और न वचन मे उनके सम्बन्ध मे कुछ बोले और न पापमय कार्यो की अभिलाषा करे।

इस प्रकार स्त्रीरूपविरति—समिति के योग से भावित अन्त करण वाला मुनि ब्रह्मचर्य मे अनुरक्त चित्त वाला, इन्द्रियविकार से विरत, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य मे गुप्त—सुरक्षित होता है।

चतुर्थ भावना—पूर्वभोग-चिन्तनत्याग—

१५१—चउत्थं—पुव्वरय-पुव्व-कीलिय-पुव्व-सगथगथ-सथुया जे ते आवाह-विवाह-चोल्लगेसु य तिहिसु जण्णेसु उस्सवेसु य सिगारागारचारुवेसाहिं हावभावपललिय-विक्खेव-विलास-सालिणीहिं अणुकूल-पेम्मिगाहिं सद्धि अणुभूया सयणसपओगा, उउसुहवरकुसुम-सुरभि-चदण-सुगधिवर-वास-धूव-सुहफरिस-वत्थ-भूसण-गुणोववेया, रमणिज्जाओज्जगेय-पउर-णड-णट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिग-वेलबग-कहग-पवग-लासग-आइक्खग-लख-मख-तूणइल्लतु ब-वीणिय-तालायर-पकरणाणि य बहूणि महुरसर-गीय-सुस्सराइ, अण्णाणि य एवमाइयाणि तव-सजम-बभचेर-घाओवघाइयाइ अणुचरमाणेण बभचेर ण ताइ समणेण लब्भा दट्ठु, ण कहेउ, ण वि सुमरिउ, जे एव पुव्वरय-पुव्वकीलिय-विरइ-समिइ-जोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा आरयमण-विरयगामधम्मे जिइदिए बभचेरगुत्ते।

१५१—(चौथी भावना मे पूर्वकाल मे भोगे भोगो के स्मरण के त्याग का विधान किया गया है।) वह इस प्रकार है—पहले (गृहस्थावस्था मे) किया गया रमण—विषयोपभोग, पूर्वकाल मे की गई क्रीडाएँ—द्यूत आदि क्रीडा, पूर्वकाल के सग्रन्थ—श्वसुरकुल—ससुराल सम्बन्धी जन, ग्रन्थ—साले आदि से सम्बन्धित जन, तथा सश्रुत—पूर्व काल के परिचित जन, इन सब का स्मरण नही करना चाहिए। इसके अतिरिक्त द्विरागमन, विवाह, चूडाकर्म—शिशु का मुण्डन तथा पर्वतिथियो मे, यज्ञो—नागपूजा आदि के अवसरो पर शृ गार के आगार जैसी सजी हुई, हाव—मुख की चेष्टा, भाव—चित्त के अभिप्राय, प्रललित—लालित्ययुक्त कटाक्ष, विक्षेप—ढीली चोटी, पत्रलेखा, आँखो मे अजन आदि शृ गार, विलास—हाथो, भौहो एव नेत्रो की विशेष प्रकार की चेष्टा—इन सब से सुशोभित, अनुकूल प्रेम वाली स्त्रियो के साथ अनुभव किए हुए शयन आदि विविध प्रकार के कामशास्त्रोक्त प्रयोग, ऋतु के अनुकूल सुख प्रदान करने वाले उत्तम पुष्पो का सौरभ एव चन्दन की सुगन्ध, चूर्ण किए हुए अन्य उत्तम वासद्रव्य, धूप, सुखद स्पर्श वाले वस्त्र, आभूषण—इनके गुणो से युक्त, रमणीय आतोद्य—वाद्यध्वनि, गायन, प्रचुर नट, नर्तक—नाचने वाले, जल्ल—रस्सी पर खेल दिखलाने वाले, मल्ल—कुश्तीबाज, मौष्टिक—मुक्केबाज, विडम्बक—विदूषक, कथा-कहानी सुनाने वाले, प्लवक—उछलने

वाले, रास गाने या रासलीला करने वाले, शुभाशुभ बतलाने वाले, लख—ऊँचे वास पर खेल करने वाले, मख—चित्रमय पट्ट लेकर भिक्षा मागने वाले, तूण नामक वाद्य वजाने वाले, वीणा वजाने वाले, तालाचर—एक प्रकार के तमाशवीन—इन सब की क्रीडाएँ, गायको के नाना प्रकार के मधुर ध्वनि वाले गीत एव मनोहर स्वर और इस प्रकार के अन्य विषय, जो तप, सयम और ब्रह्मचर्य का घात—उपघात करने वाले है, उन्हे ब्रह्मचर्यपालक श्रमण को देखना नही चाहिए, इन मे सम्बद्ध वार्त्तालाप नही करना चाहिए और पूर्वकाल मे जो देखे—सुने हो, उनका स्मरण भी नही करना चाहिए।

इस प्रकार पूर्वरत-पूर्वक्रीडितविरति—समिति के योग से भावित अन्त करण वाला, ब्रह्मचर्य मे अनुरक्त चित्तवाला, मैथुनविरत, जितेन्द्रिय साधु ब्रह्मचय मे गुप्त—सुरक्षित होना है।

पचम भावना—स्निग्ध सरस भोजन-त्याग—

१५२—पचमग—आहार-पणीय-णिद्ध-भोयण-विवज्जए सजए सुसाहू व वगय-खीर-दहि-सप्पि-णवणीय-तेल्ल-गुल-खड-मच्छडिग-महु-मज्ज-मस-खज्जग-विगइ-परिचित्तकयाहारे ण दप्पण ण बहुसो ण णिइग ण सायसूपाहिय ण खद्ध, तहा भोत्तव्व जहा से जायामाया य भवइ, ण य भवइ विब्भमो ण भसणा य धम्मस्स। एव पणीयाहार-विरइ-समिइ-जोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा आरयमण-विरय-गामधम्मे जिइदिए बभचेरगुत्ते।

१५२—पाँचवी भावना—सरस आहार एव स्निग्ध-चिकनाई वाले भोजन का त्यागी सयम-शील सुसाधु दूध, दही, घी, मक्खन, तेल, गुड, खाड, मिसरी, मधु, मद्य, मास, खाद्यक—पकवान और विगय से रहित आहार करे। वह दर्पकारक—इन्द्रियो में उत्तेजना उत्पन्न करने वाला आहार न करे। दिन मे बहुत बार न खाए और न प्रतिदिन लगातार खाए। न दाल और व्यजन की अधिकता वाला और न प्रभूत—प्रचुर भोजन करे। साधु उतना ही हित-मित आहार करे जितना उसकी सयम-यात्रा का निर्वाह करने के लिए आवश्यक हो, जिससे मन मे विभ्रम—चचलता उत्पन्न न हो और धर्म (ब्रह्मचर्यव्रत) से च्युत न हो।

इस प्रकार प्रणीत-आहार की विरति रूप समिति के योग से भावित अन्त करण वाला, ब्रह्मचर्य की आराधना मे अनुरक्त चित्त वाला और मैथुन से विरत साधु जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य से सुरक्षित होता है।

विवेचन—चतुर्थ सवरद्वार ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँच भावनाओ का उल्लिखित पाठो मे प्रतिपादन किया गया है।

पूर्व मे बतलाया जा चुका है कि ब्रह्मचर्यव्रत महान् है। उसकी महिमा अद्भुत और अलौकिक है। उसका प्रभाव अचिन्त्य और अकल्प्य है। वह सब प्रकार की ऋद्धियो और सिद्धियो का प्रदाता है। ब्रह्मचर्य के अखण्ड पालन से आत्मा की सुषुप्त शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं और आत्मा सहज आन्तरिक तेज से जाज्वल्यमान बन जाता है। किन्तु इस महान् व्रत की जितनी अधिक महिमा है, उतना ही परिपूर्ण रूप मे पालन करना भी कठिन है। उसका आगमोक्त रूप से सम्यक् प्रकार से पालन किया जा सके, इसी अभिप्राय से, साधको के पथप्रदर्शन के लिए उसकी पाँच भावनाएँ यहाँ प्रदर्शित की गई है। वे इस प्रकार है—

१ विविक्तशयनासन,
२ स्त्रीकथा का परित्याग,
३ स्त्रियो के रूपादि को देखने का परिवर्जन,
४ पूर्वकाल मे भुक्त भोगो के स्मरण से विरति,
५ सरस बलवर्द्धक आदि आहार का त्याग।

प्रथम भावना का आशय यह है कि ब्रह्मचारी को ऐसे स्थान मे नही रहना या टिकना चाहिये जहाँ नारी जाति का सामीप्य हो—ससर्ग हो, जहाँ स्त्रियाँ उठती-बैठती हो, बाते करती हो, और जहाँ वेश्याओ का सान्निध्य हो। ऐसे स्थान पर रहने से ब्रह्मचर्यव्रत के भग का खतरा रहता है, क्योंकि ऐसा स्थान चित्त मे चचलता उत्पन्न करने वाला है।

दूसरी भावना स्त्रीकथावर्जन है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचर्य के साधक को स्त्रियो के बीच बैठ कर वार्तालाप करने से बचना चाहिए। यही नही, स्त्रियो सम्बन्धी कामुक चेष्टाओ का, विलास, हास्य आदि का, स्त्रियो की वेशभूषा आदि का, उनके रूप-सौन्दर्य, जाति, कुल, भेद-प्रभेद का तथा विवाह आदि का वर्णन करने से भी बचना चाहिए। इस प्रकार की कथनी भी मोहजनक होती है। दूसरा कोई इस प्रकार की बाते करता हो तो उन्हे सुनना नही चाहिए और न ही ऐसे विषयो का मन मे चिन्तन करना चाहिए।

तीसरी भावना का सम्बन्ध मुख्यत चक्षुरिन्द्रिय के साथ है। जो दृश्य काम-राग को बढाने वाला हो, मोहजनक हो, आसक्ति जागृत करने वाला हो, ब्रह्मचारी उससे बचता रहे। स्त्रियो के हास्य, बोल-चाल, विलास, क्रीडा, नृत्य, शरीर, आकृति, रूप-रग, हाथ-पैर, नयन, लावण्य, यौवन आदि पर तथा उनके स्तन, गुह्य अग, वस्त्र, अलकार एव टीकी आदि भूषणो पर ब्रह्मचारी को दृष्टिपात नही करना चाहिए। जैसे सूर्य के बिम्ब पर दृष्टि पडते ही तत्काल उसे हटा लिया जाता है—टकटकी लगा कर नही देखा जाता, उसी प्रकार नारी पर दृष्टिपात हो जाए तो तत्क्षण उसे हटा लेना चाहिए। ऐसा करने से नेत्रो के द्वारा मन मे मोहभाव उत्पन्न नही होता। तात्पर्य यह है कि जो दृश्य तप, सयम और ब्रह्मचर्य को अशत अथवा पूर्णत विघात करने वाले हो, उनसे ब्रह्मचारी को सदैव बचते रहना चाहिए।

चौथी भावना मे पूर्व काल मे अर्थात् गृहस्थावस्था मे भोगे हुए भोगो के चिन्तन के वर्जन की प्ररेणा की गई है। बहुत स साधक ऐसे होते है जो गृहस्थदशा मे दाम्पत्यजीवन यापन करने के पश्चात् मुनिव्रत अगीकार करते है। उनके मस्तिष्क मे गृहस्थजीवन की घटनाओ के सस्कार या स्मरण सचित होते है। वे सस्कार यदि निमित्त पाकर उभर उठे तो चित्त को विभ्रान्त कर देते है, चित्त को विकृत बना देते है और कभी-कभी मुनि अपने कल्पना-लोक मे उसी पूर्वावस्था मे पहुँचा हुआ अनुभव करने लगता है। वह अपनी वर्त्तमान स्थिति को कुछ समय के लिए भूल जाता है। यह स्थिति उसके तप, सयम एव ब्रह्मचर्य का विघात करने वाली होती है। अतएव ब्रह्मचारी पुरुष को ऐसे प्रसगो से निरन्तर बचना चाहिए, जिनसे काम-वासना को जागृत होने का अवसर मिले।

पाँचवी भावना आहार सम्बन्धी है। ब्रह्मचर्य का आहार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। बलवर्द्धक, दर्पकारी—इन्द्रियोत्तेजक आहार ब्रह्मचर्य का विघातक है। जिह्वा इन्द्रिय पर जो पूरी तरह नियत्रण स्थापित कर पाता है, वही निरतिचार ब्रह्मव्रत का आराधन करने मे समर्थ होता है।

इसके विपरीत जिह्वालोलुप सरस, स्वादिष्ट एव पौष्टिक भोजन करने वाला इस व्रत का सम्यक् प्रकार के पालन नही कर सकता। अतएव इस भावना मे दूध, दही, घृत, नवनीत, तेल, गुड, खाड, मिस्री आदि के भोजन के त्याग का विधान किया गया है। मधु, मास एव मदिरा, ये महाविकृतियाँ है, इनका सर्वथा परित्याग तो अनिवार्य ही है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचारी पुरुष को ऐसा नीरस, रूखा-सूखा एव सात्त्विक भोजन ही करना चाहिए जो वासना के उद्रेक मे सहायक न बने और जिससे सयम का भलीभाँति निर्वाह भी हो जाए।

दर्पकारी भोजन के परित्याग के साथ शास्त्रकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि ब्रह्मचारी को अतिमात्रा मे (खद्ध—प्रचुर) और प्रतिदिन लगातार भी भोजन नही करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे कहा है -

जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे, समारुओ णोवसम उवेति।
एवेंदियग्गीवि पकामभोइणो, न बभयारिस्स हियाय कस्सइ ॥

अर्थात्—जैसे जगल मे प्रचुर ईंधन प्राप्त होने पर पवन की सहायता प्राप्त दावानल शान्त नही होता, उसी प्रकार प्रकामभोजी—खूब आहार करने वाले किसी भी ब्रह्मचारी की इन्द्रिय-अग्नि उसके लिए हितकर नही है अर्थात् वह उसके ब्रह्मचर्य की विघातक होती है।

इस प्रकार ब्रह्मचारी को हित-भोजन के साथ मित-भोजन ही करना चाहिए और वह भी लगातार प्रतिदिन नही करना चाहिए, अर्थात् बीच-बीच मे अनशनतप करके निराहार भी रहना चाहिए।

जो साधक इन भावनाओ का अनुपालन भलीभाँति करता है, उसका ब्रह्मचर्यव्रत अक्षुण्ण रह सकता है।

यहाँ एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। आगम पुरुष की प्रधानता को लक्ष्य मे रखकर विरचित होते है। इस कारण यहाँ ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्रीससर्ग, स्त्रीकथा, स्त्री के अगोपागो के निरीक्षण आदि के वर्जन का विधान किया गया है। किन्तु नारी साधिका—ब्रह्मचारिणी के लिए पुरुषससर्ग, पुरुषकथा आदि का वर्जन समझ लेना चाहिए। नपुसको की चेष्टाओ का अवलोकन ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी दोनो के लिए समान रूप से वर्जित है।

उपसंहार—

१५३—एवमिण सवरस्स दार सम्म सवरिय होइ सुप्पणिहिय इमेहि पचहि वि कारणेहि मण-वयण-काय-परिरक्खिएहि। णिच्च आमरणत च एसो जोगो णेयव्वो धिइमया मइमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असकिलिट्ठो सव्वजिणमणुण्णाओ।

एव चउत्थ सवरदार फासिय पालिय सोहिय तीरिय किट्टिय आराहिय आणाए अणुपालिय भवइ। एव णायमुणिणा भगवया पण्णविय परूविय पसिद्ध सिद्ध सिद्धवरसासणमिण आघविय सुदेसिय पसत्थ। त्तिबेमि ॥

॥ चउत्थ सवरदार समत्त ॥

१ विविक्तशयनासन,
२ स्त्रीकथा का परित्याग,
३ स्त्रियो के रूपादि को देखने का परिवर्जन,
४ पूर्वकाल मे भुक्त भोगो के स्मरण से विरति,
५ सरस वलवर्द्धक आदि आहार का त्याग।

प्रथम भावना का आशय यह है कि ब्रह्मचारी को ऐसे स्थान मे नही रहना या टिकना चाहिये जहाँ नारी जाति का सामीप्य हो—ससर्ग हो, जहाँ स्त्रियाँ उठती-बैठती हो, बाते करती हो, और जहाँ वेश्याओ का सान्निध्य हो। ऐसे स्थान पर रहने से ब्रह्मचर्यव्रत के भग का खतरा रहता है, क्योकि ऐसा स्थान चित्त मे चचलता उत्पन्न करने वाला है।

दूसरी भावना स्त्रीकथावर्जन है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचर्य के साधक को स्त्रियो के बीच बैठ कर वार्तालाप करने से बचना चाहिए। यही नही, स्त्रियो सम्बन्धी कामुक चेष्टाओ का, विलास, हास्य आदि का, स्त्रियो की वेशभूषा आदि का, उनके रूप-सौन्दर्य, जाति, कुल, भेद-प्रभेद का तथा विवाह आदि का वर्णन करने से भी बचना चाहिए। इस प्रकार की कथनी भी मोहजनक होती है। दूसरा कोई इस प्रकार की बाते करता हो तो उन्हे सुनना नही चाहिए और न ही ऐसे विषयो का मन मे चिन्तन करना चाहिए।

तीसरी भावना का सम्बन्ध मुख्यत चक्षुरिन्द्रिय के साथ है। जो दृश्य काम-राग को बढाने वाला हो, मोहजनक हो, आसक्ति जागृत करने वाला हो, ब्रह्मचारी उससे बचता रहे। स्त्रियो के हास्य, बोल-चाल, विलास, क्रीडा, नृत्य, शरीर, आकृति, रूप-रग, हाथ-पैर, नयन, लावण्य, यौवन आदि पर तथा उनके स्तन, गुह्य अग, वस्त्र, अलकार एव टीकी आदि भूषणो पर ब्रह्मचारी को दृष्टिपात नही करना चाहिए। जैसे सूर्य के बिम्ब पर दृष्टि पडते ही तत्काल उसे हटा लिया जाता है—टकटकी लगा कर नही देखा जाता, उसी प्रकार नारी पर दृष्टिपात हो जाए तो तत्क्षण उसे हटा लेना चाहिए। ऐसा करने से नेत्रो के द्वारा मन मे मोहभाव उत्पन्न नही होता। तात्पर्य यह है कि जो दृश्य तप, सयम और ब्रह्मचर्य को अशत अथवा पूर्णत विघात करने वाले हो, उनसे ब्रह्मचारी को सदैव बचते रहना चाहिए।

चौथी भावना मे पूर्व काल मे अर्थात् गृहस्थावस्था मे भोगे हुए भोगो के चिन्तन के वर्जन की प्रेरणा की गई है। बहुत स साधक ऐसे होते है जो गृहस्थदशा मे दाम्पत्यजीवन यापन करने के पश्चात् मुनिव्रत अगीकार करते है। उनके मस्तिष्क मे गृहस्थजीवन की घटनाओ के सस्कार या स्मरण सचित होते है। वे सस्कार यदि निमित्त पाकर उभर उठे तो चित्त को विभ्रान्त कर देते है, चित्त को विकृत बना देते है और कभी-कभी मुनि अपने कल्पना-लोक मे उसी पूर्वावस्था मे पहुँचा हुआ अनुभव करने लगता है। वह अपनी वर्त्तमान स्थिति को कुछ समय के लिए भूल जाता है। यह स्थिति उसके तप, सयम एव ब्रह्मचर्य का विघात करने वाली होती है। अतएव ब्रह्मचारी पुरुष को ऐसे प्रसगो से निरन्तर बचना चाहिए, जिनसे काम-वासना को जागृत होने का अवसर मिले।

पाँचवी भावना आहार सम्बन्धी है। ब्रह्मचर्य का आहार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। बलवर्द्धक, दर्पकारी—इन्द्रियोत्तेजक आहार ब्रह्मचर्य का विघातक है। जिह्वा इन्द्रिय पर जो पूरी तरह नियत्रण स्थापित कर पाता है, वही निरतिचार ब्रह्मव्रत का आराधन करने मे समर्थ होता है।

इसके विपरीत जिह्वालोलुप सरस, स्वादिष्ट एव पौष्टिक भोजन करने वाला इस व्रत का सम्यक् प्रकार के पालन नही कर सकता। अतएव इस भावना मे दूध, दही, घृत, नवनीत, तेल, गुड, खाड, मिस्री आदि के भोजन के त्याग का विधान किया गया है। मधु, मास एव मदिरा, ये महाविकृतियाँ है, इनका सर्वथा परित्याग तो अनिवार्य ही है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचारी पुरुष को ऐसा नीरस, रूखा-सूखा एव सात्त्विक भोजन ही करना चाहिए जो वासना के उद्रेक मे सहायक न बने और जिससे सयम का भलीभाँति निर्वाह भी हो जाए।

दर्पकारी भोजन के परित्याग के साथ शास्त्रकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि ब्रह्मचारी को अतिमात्रा मे (खद्ध—प्रचुर) और प्रतिदिन लगातार भी भोजन नही करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे कहा है -

जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे, समारुओ णोवसम उवेति।
एवेंदियग्गीवि पकामभोइणो, न बभयारिस्स हियाय कस्सइ॥

अर्थात्—जैसे जगल मे प्रचुर ईधन प्राप्त होने पर पवन की सहायता प्राप्त दावानल शान्त नही होता, उसी प्रकार प्रकामभोजी—खूब आहार करने वाले किसी भी ब्रह्मचारी की इन्द्रिय-अग्नि उसके लिए हितकर नही है अर्थात् वह उसके ब्रह्मचर्य की विघातक होती है।

इस प्रकार ब्रह्मचारी को हित-भोजन के साथ मित-भोजन ही करना चाहिए और वह भी लगातार प्रतिदिन नही करना चाहिए, अर्थात् बीच-बीच मे अनशनतप करके निराहार भी रहना चाहिए।

जो साधक इन भावनाओ का अनुपालन भलीभाँति करता है, उसका ब्रह्मचर्यव्रत अक्षुण्ण रह सकता है।

यहाँ एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। आगम पुरुष की प्रधानता को लक्ष्य मे रखकर विरचित होते है। इस कारण यहाँ ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्रीससर्ग, स्त्रीकथा, स्त्री के अगोपागो के निरीक्षण आदि के वर्जन का विधान किया गया है। किन्तु नारी साधिका—ब्रह्मचारिणी के लिए पुरुषससर्ग, पुरुषकथा आदि का वर्जन समझ लेना चाहिए। नपु सको की चेष्टाओ का अवलोकन ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी दोनो के लिए समान रूप से वर्जित है।

उपसंहार—

१५३—एवमिण सवरस्स दार सम्म सवरिय होइ सुप्पणिहिय इमेहि पचहि वि कारणेहि मण-वयण-काय-परिरक्खिएहि। णिच्च आमरणत च एसो जोगो णेयव्वो धिइमया मइमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असकिलिट्ठो सव्वजिणमणुण्णाओ।

एव चउत्थ सवरदार फासिय पालिय सोहिय तीरिय किट्टिय आराहिय आणाए अणुपालिय भवइ। एव णायमुणिणा भगवया पण्णविय परूविय पसिद्ध सिद्ध सिद्धवरसासणमिण आघविय सुदेसिय पसत्थ। त्तिबेमि॥

॥ चउत्थ सवरदार समत्त॥

पञ्चम अध्ययन परिग्रहत्याग

सूत्रक्रम के अनुसार ब्रह्मचर्यसंवर के पश्चात् अपरिग्रहसंवर का प्रतिपादन क्रमप्राप्त है अथवा इससे पूर्व मैथुनविरमण का कथन किया गया है, वह सर्वथा परिग्रह का त्याग करने पर ही संभव है, अतएव अब परिग्रहविरमणरूप संवर का निरूपण किया जा रहा है। उसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है –

उत्क्षेप—

१५४—जंबू ! अपरिग्गहसंवुडे य समणे आरंभ-परिग्गहाओ विरए, विरए कोह-माण-माया-लोहा।

एगे असंजमे।

दो चेव रागदोसा।

तिण्णि य दंडा, गारवा य, गुत्तीओ तिण्णि, तिण्णि य विराहणाओ।

चत्तारि कसाया झाण-सण्णा-विकहा तहा य हुंति चउरो।

पंच य किरियाओ समिइ-इंदिय-महव्वयाइं च।

छज्जीवणिकाया, छच्च लेसाओ।

सत्त भया।

अट्ठ य मया।

णव चेव य बंभचेर-वयगुत्ती।

दसप्पगारे य समणधम्मे।

एगारस य उवासगाणं।

बारस य भिक्खुपडिमा।

तेरस किरियाठाणा य।

चउद्दस भूयगामा।

पण्णरस परमाहम्मिया।

गाहा सोलसया।

सत्तरस असंजमे।

अट्ठारस अबंभे।

एगुणवीसइ णायज्झयणा।

वीसं असमाहिट्ठाणा।

एगवीसा य सबला य।

बावीस परिसहा य।
तेवीसए सूयगडज्झयणा।
चउवीसविहा देवा।
पणवीसाए भावणा।
छव्वीसा दसाकप्पववहाराण उद्देसणकाला।
सत्तावीसा अणगारगुणा।
अट्ठावीसा आयारकप्पा।
एगुणतीसा पावसुया।
तीस मोहणीयट्ठाणा।
एगतीसाए सिद्धाइगुणा।
बत्तीसा य जोगसग्गहे।
तित्तीसा आसायणा।

एक्काइय करित्ता एगुत्तरियाए वुड्ढीए तीसाओ जाव उ भवे तिगाहिया विरइपणिहीसु य एवमाइसु बहुसु ठाणेसु जिणपसत्थेसु अवितहेसु सासयभावेसु अवट्ठिएसु सक कख णिराकरित्ता सद्दहए सासण भगवओ अणियाणे अगारवे अलुद्धे अमूढमणवयणकायगुत्ते।

१५४ — श्री सुधर्मा स्वामी ने अपने प्रधान अन्तेवासी जम्बू को सबोधन करते हुए कहा— हे जम्बू! जो मूर्च्छा—ममत्वभाव से रहित है, इन्द्रियसवर तथा कषायसवर से युक्त है एव आरभ-परिग्रह से तथा क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित है, वही श्रमण या साधु होता है।

१ अविरति रूप एक स्वभाव के कारण अथवा भेद की विवक्षा न करने पर असयम सामान्य रूप से एक है।

२ इसी प्रकार सक्षेप विवक्षा से बन्धन दो प्रकार के हैं— रागबन्धन और द्वेषबन्धन।

३ दण्ड तीन हैं— मनोदण्ड, वचनदण्ड, कायदण्ड। गौरव तीन प्रकार के हैं—ऋद्धिगौरव, रसगौरव, सातागौरव। गुप्ति तीन प्रकार की हैं— मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति। विराधना तीन प्रकार की है— ज्ञान की विराधना, दर्शन की विराधना और चारित्र की विराधना।

४ कषाय चार हैं— क्रोध, मान, माया, लोभ। ध्यान चार हैं— आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान। सज्ञा चार प्रकार की है—आहारसज्ञा, भयसज्ञा, मैथुनसज्ञा, परिग्रहसज्ञा। विकथा चार प्रकार की है—स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा और देशकथा।

५ क्रियाएँ पाँच हैं—कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणा-तिपातिकी। समितियाँ पाँच हैं—ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान-निक्षेपणसमिति और परिष्ठापनिकासमिति। इन्द्रियाँ पाँच हैं—स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय। महाव्रत पाँच हैं—अहिंसामहाव्रत, सत्यमहाव्रत, अस्तेयमहाव्रत, ब्रह्मचर्यमहाव्रत और

६ जीवनिकाय अर्थात् ससारी जीवो के छह समूह-वर्ग है—(१) पृथ्वीकाय (२) अप्काय (३) तेजस्काय (४) वायुकाय (५) वनस्पतिकाय और (६) त्रसकाय।

लेश्याएँ छह है—(१) कृष्णलेश्या (२) नीललेश्या (३) कापोतलेश्या (४) पीतलेश्या (५) पद्मलेश्या (६) शुक्ललेश्या।

७ भय सात प्रकार के है—(१) इहलोकभय (२) परलोकभय (३) आदानभय (४) अकस्मात् भय (५) आजीविकाभय (६) अपयशभय और (७) मृत्युभय।

८ मद आठ हैं—(१) जातिमद (२) कुलमद (३) बलमद (४) रूपमद (५) तपमद (६) लाभमद (७) श्रुतमद (८) ऐश्वर्यमद।

९ ब्रह्मचर्य-गुप्तियाँ नौ है—(१) विविक्तशयनासनसेवन (२) स्त्रीकथावर्जन (३) स्त्री-युक्त आसन का परिहार (४) स्त्री के रूपादि के दर्शन का त्याग (५) स्त्रियो के श्रृंगारमय, करुण तथा हास्य आदि सम्बन्धी शब्दो के श्रवण का परिवर्जन (६) पूर्वकाल मे भोगे हुए भोगो के स्मरण का वर्जन (७) प्रणीत आहार का त्याग (८) प्रभूत—अति आहार का त्याग और (९) शारीरिक विभूषा का त्याग।

१० श्रमणधर्म दस है—(१) क्षान्ति (२) मुक्ति—निर्लोभता (३) आर्जव—निष्कपटता-सरलता (४) मार्दव—मृदुता-नम्रता (५) लाघव—उपधि की अल्पता (६) सत्य (७) सयम (८) तप (९) त्याग और (१०) ब्रह्मचर्य।

११ श्रमणोपासक की प्रतिमाएँ ग्यारह है—(१) दर्शनप्रतिमा (२) व्रतप्रतिमा (३) सामायिक प्रतिमा (४) पौषधप्रतिमा (५) कायोत्सर्गप्रतिमा (६) ब्रह्मचर्यप्रतिमा (७) सचित्तत्यागप्रतिमा (८) आरम्भत्यागप्रतिमा (९) प्रेष्यप्रयोगत्यागप्रतिमा (१०) उद्दिष्टत्यागप्रतिमा और (११) श्रमणभूतप्रतिमा।

१२ भिक्षु-प्रतिमाएँ बारह है। वे इस प्रकार है—

मासाई सत्तता पढमा बिय तिय सत्त राइदिणा।
अहराइ एगराई भिक्खू पडिमाण बारसग॥

अर्थात् एकमासिकी, द्विमासिकी, त्रिमासिकी से लेकर सप्तमासिकी तक की सात प्रतिमाएँ, सात-सात अहोरात्र की आठवी, नौवी और दसमी, एक अहोरात्र की ग्यारहवी और एक रात्रि की बारहवी प्रतिमा। विशेष विवरण दशाश्रुतस्कन्धसूत्र से जानना चाहिए।

१३ क्रियास्थान तेरह है, जो इस प्रकार है—

अट्ठाऽणट्ठाहिंसाऽकम्हा दिट्ठी य मोसऽदिन्ने य।
अज्झप्पमाणमित्ते मायालोभेरिया वहिया॥

अर्थात्—(१) अर्थदण्ड (२) अनर्थदण्ड (३) हिंसादण्ड (४) अकस्मात्दण्ड (५) दृष्टि-विपर्यासदण्ड (६) मृषावाद (७) अदत्तादानदण्ड (८) अध्यात्मदण्ड (९) मानदण्ड (१०) मित्रद्वेष-दण्ड (११) मायादण्ड (१२) लोभदण्ड और (१३) ऐर्यापथिकदण्ड।

इनका विशेष विवेचन सूत्रकृताग आदि सूत्रो से जान लेना चाहिए।

१४ भूतग्राम अर्थात् जीवो के समूह चौदह है, जो इस प्रकार है— (१) सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक (२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक (३) बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक (४) बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तक (५) द्वीन्द्रिय पर्याप्तक (६) द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक (७-८) त्रीन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक (९-१०) चतुरिन्द्रय पर्याप्तक-अपर्याप्तक (११-१२) पचेन्द्रिय असज्ञी पर्याप्तक-अपर्याप्तक (१३-१४) पचेन्द्रिय सज्ञी पर्याप्तक और अपर्याप्तक।

१५ नारक जीवो को, तीसरे नरक तक जाकर नानाविध पीडा देने वाले असुरकुमार देव परमाधार्मिक कहलाते हैं। वे पन्द्रह प्रकार के है— (१) अम्ब (२) अम्बरीष (३) श्याम (४) शबल (५) रौद्र (६) उपरौद्र (७) काल (८) महाकाल (९) असिपत्र (१०) धनु (११) कुभ (१२) वालुक (१३) वैतरणिक (१४) खरस्वर और (१५) महाघोष। इनके द्वारा उत्पन्न की जाने वाली यातनाओ का वर्णन प्रथम आस्रवद्वार मे आ गया है।

१६ गाथाषोडशक— सूत्रकृतागसूत्र के वे सोलह अध्ययन जिनमे गाथा नामक अध्ययन सोलहवाँ है। उनके नाम ये है— (१) समय (२) वैतालीय (३) उपसर्गपरिज्ञा (४) स्त्रीपरिज्ञा (५) नरकविभक्ति (६) वीरस्तुति (७) कुशीलपरिभाषित (८) वीर्य (९) धर्म (१०) समाधि (११) मार्ग (१२) समवसरण (१३) याथातथ्य (१४) ग्रन्थ (१५) यमकीय और (१६) गाथा।

१७ असयम—(१) पृथ्वीकाय-असयम (२) अप्काय-असयम (३) तेजस्काय-असयम (४) वायुकाय-असयम (५) वनस्पतिकाय-असयम (६) द्वीन्द्रिय-असयम (७) त्रीन्द्रिय-असयम (८) चतुरिन्द्रिय-असयम (९) पञ्चेन्द्रिय-असयम (१०) अजीव-असयम (११) प्रेक्षा-असयम (१२) उपेक्षा-असयम (१३) अपहृत्य (प्रतिष्ठापन) असयम (१४) अप्रमार्जन-असयम (१५) मन-असयम (१६) वचन-असयम और (१७) काय-असयम।

पृथ्वीकाय आदि नौ प्रकार के जीवो की यतना न करना, इनका आरभ करना और मूल्यवान् वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि अजीव वस्तुओ को ग्रहण करना, जीव-अजीव-असयम है। धर्मोपकरणो की यथाकाल यथाविधि प्रतिलेखना न करना प्रेक्षा-असयम है। सयम-कार्यो मे प्रवृत्ति न करना और असयमयुक्त कार्य मे प्रवृत्ति करना उपेक्षा-असयम है। मल-मूत्र आदि का शास्त्रोक्त विधि के अनुसार प्रतिष्ठापन न करना—त्यागना अपहृत्य-प्रतिष्ठापन-असयम है। वस्त्र-पात्र आदि उपधि का विधिपूर्वक प्रमार्जन नही करना अप्रमार्जन-असयम है। मन को प्रशस्त चिन्तन मे नही लगाना या अप्रशस्त चिन्तन मे लगाना मानसिक-असयम है। अप्रशस्त या मिथ्या अथवा अर्ध मिथ्या वाणी का प्रयोग करना वचन-असयम है और काय से सावद्य व्यापार करना काय-असयम है।

१८ अब्रह्म— अब्रह्मचर्य के अठारह प्रकार ये है—

ओरालिय च दिव्व, मण-वय-कायाण करण-जोगेहिं।
अणुमोयण - कारावण - करणेणट्ठारसाऽबभ ॥

अर्थात्— औदारिक शरीर द्वारा मन, वाणी और काय से अब्रह्मचर्य का सेवन करना, कराना और अनुमोदना तथा इसी प्रकार वैक्रिय शरीर द्वारा मन, वचन, काय से अब्रह्म का सेवन करना, कराना और अनुमोदन करना। दोनो के सम्मिलित भेद अठारह है।

१९ ज्ञात-अध्ययन—ज्ञाताधर्मकथा नामक अग के १९ अध्ययन इस प्रकार हैं—(१) उत्क्षिप्त (२) सघाट (३) अण्ड (४) कूर्म (५) शैलकऋषि (६) तुम्ब (७) रोहिणी (८) मल्ली (९) माकन्दी (१०) चन्द्रिका (११) दवदव (इस नाम के वृक्षो का उदाहरण) (१२) उदक (१३) मण्डूक (१४) तेतलि (१५) नन्दिफल (१६) अपरकका (१७) आकीर्ण (१८) सुषमा और (१९) पुण्डरीक।

२० असमाधिस्थान इस प्रकार है—(१) द्रुतचारित्व—सयम की उपेक्षा करके जल्दी-जल्दी चलना (२) अप्रमार्जित-चारित्व—भूमि का प्रमार्जन किए विना उठना, वैठना, चलना आदि। (३) दुष्प्रमार्जित-चारित्व—विधिपूर्वक भूमि आदि का प्रमार्जन न करना (४) अतिरिक्त शय्यासनिकत्व—मर्यादा से अधिक आसन या शय्या-उपाश्रयस्थान ग्रहण करना (५) रात्निकपरिभाषित्व—अपने से बडे आचार्यादि का विनय न करना, अविनय करना (६) स्थविरोपघातित्व-दीक्षा, आयु और श्रुत से स्थविर मुनियो के चित्त को किसी व्यवहार से व्यथा पहुँचाना (७) भूतोपघातित्व—जीवो का घात करना (८) सज्वलनता—बात-बातमे क्रोध करना या ईर्षा की अग्नि से जलना (९) क्रोधनता-क्रोधशील होना (१०) पृष्ठिमासकता—पीठ पीछे किसी की निन्दा करना (११) अभीक्ष्णमवधारकता—वारवार निश्चयकारी भाषा का प्रयोग करना (१२) नये-नये कलह उत्पन्न करना, (१३) शान्त हो चुके पुराने कलह को नये सिरे से जागृत करना (१४) सचित्तरज वाले हाथ पैर वाले दाता से आहार लेना। (१५) निषिद्धकाल मे स्वाध्याय करना (१६) कलहोत्पादक कार्य करना, वातें करना या उनमे भाग लेना (१७) रात्रि मे ऊँचे स्वर से वोलना, शास्त्रपाठ करना (१८) झझाकरत्व—गण, सघ या गच्छ मे फूट उत्पन्न करने या मानसिक पीडा उत्पन्न करने वाले वचन वोलना (१९) सूर्योदय से सूर्यास्त तक भोजन करते रहना (२०) एषणासमिति के अनुसार आहार की गवेषणा आदि न करना और दोष बतलाने पर झगडना।

२१, शबलदोष— चारित्र को कलुषित करने वाले दोष शबलदोष कहे गए है। वे इक्कीस है, जो सक्षेप मे इस प्रकार है— (१) हस्तकर्म करना (२) अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार रूप मे मैथुनसेवन करना (३) अतिक्रमादिरूप से रात्रि मे भोजन करना (४) आधाकर्म—दूषित आहार करना (५) शय्यातर के आहार का सेवन करना (६) उद्दिष्ट, क्रीत आदि दोषो वाला आहार करना (७) त्यागे हुए अशन आदि का उपयोग करना (८) छह महीने के भीतर एक गण का त्याग कर दूसरे गण मे जाना (९) एक मास मे तीन बार नाभिप्रमाण जल मे अवगाहन करना (१०) एक मास मे तीन वार मायाचार करना (११) राजपिण्ड का सेवन करना (१२) इरादापूर्वक प्राणियो की हिंसा करना (१३) इरादापूर्वक मृषावाद करना (१४) इरादापूर्वक अदत्तादान करना (१५) जान-बूझ कर सचित्त भूमि पर कायोत्सर्ग करना (१६) जान-बूझ कर गीली, सरजस्क भूमि पर, सचित्त शिला पर या घुन वाले काष्ठ पर सोना-बैठना (१७) बीजो तथा जीवो से युक्त अन्य किसी स्थान पर बैठना (१८) जान-बूझ कर कन्दमूल खाना (१९) एक वर्ष मे दस वार नाभिप्रमाण जल मे अवगाहन करना (२०) एक वर्ष मे दस बार माया का सेवन करना और (२१) वारवार सचित्त जल से लिप्त हाथ आदि से आहारादि ग्रहण करना।

२२ परीषह— सयम-जीवन मे होने वाले कष्ट, जिन्हे समभावपूर्वक सहन करके साधु कर्मो की विशिष्ट निर्जरा करता है। ये बाईस परीषह इस प्रकार है—

खुहा पिवासा सीउण्ह दसा चेलऽरई-त्थिओ।
चरिया निसीहिया सेज्जा, अक्कोसा वह जायणा॥

अलाभ-रोग-तणफासा, मल-सक्कार परीसहा ।
पण्णा अण्णाण सम्मत्त, इय बावीस परीसहा ॥

अर्थात् (१) क्षुधा (भूख) (२) पिपासा—प्यास (३) शीत—ठड (४) उष्ण (गर्मी) (५) दश-मशक (डास-मच्छरो द्वारा सताया जाना) (६) अचेल (निर्वस्त्रता या अल्प एव फटे-पुराने वस्त्रो का कष्ट) (७) अरति—सयम मे अरुचि (८) स्त्री (९) चर्या (१०) निषद्या (११) शय्या—उपाश्रय (१२) आक्रोश (१३) वध—मारा-पीटा जाना (१४) याचना (१५) अलाभ—लेने की इच्छा होने पर भी आहार आदि आवश्यक वस्तु का न मिलना (१६) रोग (१७) तृणस्पर्श—ककर-काटा आदि की चुभन (१८) जल्ल—मल को सहन करना (१९) सत्कार-पुरस्कार—आदर होने पर अहकार और अनादर की अवस्था मे विषाद होना (२२) प्रज्ञा—विशिष्ट बुद्धि का अभिमान (२१) अज्ञान—विशिष्ट ज्ञान के अभाव मे खेद का अनुभव और (२२) अदर्शन ।

इन बाईस परीषहो पर विजय प्राप्त करने वाला सयमी विशिष्ट निर्जरा का भागी होता है ।

२३ सूत्रकृताग-अध्ययन—प्रथम श्रुतस्कन्ध के पूर्वलिखित सोलह अध्ययन और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन मिल कर तेईस होते है । द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन ये है—(१) पुण्डरीक (२) क्रियास्थान (३) आहारपरिज्ञा (४) प्रत्याख्यानक्रिया (५) अनगारश्रुत (६) आर्द्र-कुमार और (७) नालन्दा ।

२४ चार निकाय के देवो के चौबीस अवान्तर भेद है—१० भवनवासी, ८ वाणव्यन्तर, ५ ज्योतिष्क और सामान्यत १ वैमानिक । मतान्तर से मूलपाठ मे आए 'देव' शब्द से देवाधिदेव अर्थात् तीर्थकर समझना चाहिए, जिनकी सख्या चौवीस प्रसिद्ध है ।

२५ भावना—एक-एक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ होने से पाँचो की सम्मिलित पच्चीस भावनाएँ हैं ।

२६ उद्देश—दशाश्रुतस्कन्ध के १०, बृहत्कल्प के ६ और व्यवहारसूत्र के १० उद्देशक मिलकर छब्वीस है ।

२७ गुण अर्थात् साधु के मूलगुण सत्ताईस है—५ महाव्रत, ५ इन्द्रियनिग्रह, ४ क्रोधादि कषायो का परिहार, भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य, क्षमा, विरागता, मन का, वचन का और काय का निरोध, ज्ञानसम्पन्नता, दर्शनसम्पन्नता, चारित्रसम्पन्नता, वेदनादि सहन और मारणान्तिक उपसर्ग का सहन । अन्य विवक्षा से व्रतषट्क (पाँच महाव्रत और रात्रिभोजन-त्याग), पाँच इन्द्रियनिग्रह, भावसत्य, करणसत्य, क्षमा, विरागता, मनोनिरोध, वचननिरोध, कायनिरोध, छह कायो की रक्षा, योगयुक्तता, वेदनाध्यास (परीषहसहन) और मारणान्तिक सलेखना, इस प्रकार २७ गुण अनगार के होते है ।[1]

---

१ वयछक्क ६ इदियाण निग्गहो ११ भाव-करणसच्च च १३ ।
खमया १४ विरागयावि य १५ मणमाईण निरोहो य १८ ॥
कायाण छक्क २४ जोगम्मि जुत्तया २५ वेयणाहियासणया २६ ।
तह मरणते सलेहणा य २७, एए-ऽणगारगुणा ॥ —अभय टीका, पृ १४५

२८ प्रकल्प—आचार प्रकल्प २८ है। यहाँ आचार का अर्थ है—आचारांगसूत्र के दोनो श्रुतस्कन्धो के अध्ययन, जिनकी सख्या पच्चीस है और प्रकल्प का अर्थ है—निशीथसूत्र के तीन अध्ययन—उद्घातिक, अनुद्घातिक और आरोपणा। ये सब मिलकर २८ हैं।

२९ पापश्रुतप्रसग के २९ भेद इस प्रकार है—(१) भौम (२) उत्पात (३) स्वप्न (४) अन्तरिक्ष (५) अग (६) स्वर (७) लक्षण (८) व्यजन। इन आठ प्रकार के निमित्तशास्त्रो के सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के भेद से २४ भेद हो जाते है। इनमे विकथानुयोग, विद्यानुयोग, मन्त्रानुयोग, योगानुयोग और अन्यतीर्थिक प्रवृत्तानुयोग—इन पाँच को सम्मिलित करने पर पापश्रुत के उनतीस भेद होते है। मतान्तर से अन्तिम पाँच पापश्रुतो के स्थान पर गन्धर्व, नाट्य, वास्तु, चिकित्सा और धनुर्वेद का उल्लेख मिलता है।[1] इनका विवरण अन्यत्र देख लेना चाहिए।

३० मोहनीय—अर्थात् मोहनीयकर्म के बन्धन के तीस स्थान—कारण इस प्रकार हैं—(१) जल मे डूबाकर त्रस जीवो का घात करना (२) हाथ आदि से मुख, नाक आदि बन्द करके मारना (३) गीले चमडे की पट्टी कस कर मस्तक कर बाँध कर मारना (४) मस्तक पर मुद्गर आदि का प्रहार करके मारना (५) श्रेष्ठ पुरुष की हत्या करना (६) शक्ति होने पर भी दुष्ट परिणाम के कारण रोगी की सेवा न करना (७) तपस्वी साधक को बलात् धर्मभ्रष्ट करना (८) अन्य के सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग रूप शुद्ध परिणामो को विपरीत रूप मे परिणत करके उसका अपकार करना (९) जिनेन्द्र भगवान् की निन्दा करना (१०) आचार्य—उपाध्याय की निन्दा करना (११) ज्ञानदान आदि से उपकारक आचार्य आदि का उपकार न मानना एव उनका यथोचित सम्मान न करना (१२) पुन पुन राजा के प्रयाण के दिन आदि का कथन करना (१३) वशीकरणादि का प्रयोग करना (१४) परित्यक्त भोगो की कामना करना (१५) बहुश्रुत न होने पर भी अपने को बहुश्रुत कहना (१६) तपस्वी न होकर भी अपने को तपस्वी के रूप मे विख्यात करना (१७) बहुत जनो को बढिया मकान आदि मे बद करके आग लगाकर मार डालना (१८) अपने पाप को पराये सिर मढना (१९) मायाजाल रच कर जनसाधारण को ठगना (२०) अशुभ परिणामवश सत्य को भी सभा मे—बहुत लोगो के समक्ष—असत्य कहना (२१) बारबार कलह—लडाई-झगडा करना (२२) विश्वास मे लेकर दूसरे का धन हडप जाना (२३) विश्वास उत्पन्न कर परकीय स्त्री को अपनी ओर आकृष्ट करना—लुभाना (२४) कुमार—अविवाहित न होने पर भी अपने को कुमार कहना (२५) अब्रह्मचारी होकर भी अपने को ब्रह्मचारी कहना (२६) जिसकी सहायता से वैभव प्राप्त किया उसी उपकारी के द्रव्य पर लोलुपता करना (२७) जिसके निमित्त से ख्याति अर्जित की उसी के काम मे विघ्न डालना (२८) राजा, सेनापति अथवा इसी प्रकार के किसी राष्ट्रपुरुष का वध करना (२९) देवादि का साक्षात्कार न होने पर भी साक्षात्कार—दिखाई देने की बात कहना और (३०) देवो की अवज्ञा करते हुए स्वय को देव कहना। इन कारणो से मोहनीयकर्म का बन्ध होता है।

---

१ टीकाकार ने पापश्रुत की गणना के लिए यह गाथा उद्धृत की है—

अट्ठ गनिमित्ताइ दिव्वुप्पायतलिक्ख भोम च।
अग सर लक्खण वजण च तिविह पुणोक्केक्क ॥
सुत्त वित्ती तह वत्तिय च पावसुयमउणतीसविह।
गधव्व नट्ट वत्थु आउ धणुवेयसजुत्त।

—अभय टीका पृ १४५

३१ सिद्धादिगुण—सिद्ध भगवान् मे आदि से अर्थात् सिद्धावस्था के प्रथम समय से ही उत्पन्न होने वाले या विद्यमान रहने वाले गुण सिद्धादिगुण कहलाते है अथवा 'सिद्धाइगुण' पद का अर्थ 'सिद्धातिगुण' होता है, जिसका तात्पर्य है—सिद्धो के आत्यन्तिक गुण। ये इकतीस है—(१-५) मतिज्ञानावरणीय आदि पाँच प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय (६-१४) नौ प्रकार के दर्शनावरण का क्षय (१५-१६) सातावेदनीय-असातावेदनीय का क्षय (१७) दर्शनमोहनीय का क्षय (१८) चारित्रमोहनीय का क्षय (१९-२२) चार प्रकार के आयुष्यकर्म का क्षय (२३-२४) दो प्रकार के गोत्रकर्म का क्षय (२५-२६) शुभनामकर्म और अशुभनामकर्म का क्षय (२७-३१) पाँच प्रकार के अन्तराय कम का क्षय ।

प्रकारान्तर से इकतीस गुण इस प्रकार है—पाँच सस्थानो, पाँच वर्णो, पाँच रसो, दो गन्धो, आठ स्पर्शो और तीन वेदो (स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुसकवेद) से रहित होने के कारण २८ गुण तथा अकायता, असगता और अरूपित्व, ये तीन गुण सम्मिलित कर देने पर सब ३१ गुण होते हे ।

३२ योगसग्रह—मन, वचन और काय की प्रशस्त प्रवृत्तियो का सग्रह योगसग्रह कहलाता है। यह बत्तीस प्रकार का है—(१) आलोचना—आचार्यादि के समक्ष शिष्य द्वारा अपने दोष को यथार्थ रूप से निष्कपट भाव से प्रकट करना। (२) निरपलाप—शिष्य द्वारा प्रकट किए हुए दोषो को आचार्यादि किसी अन्य के समक्ष प्रकट न करे। (३) आपत्ति आ पडने पर भी धर्म मे दृढता रखना (४) विना किसी का सहारा लिये तपश्चर्या करना (५) आचार्यादि से सूत्र और उसके अर्थ आदि को ग्रहण करना (६) शरीर का शृंगार न करना (७) अपनी तपश्चर्या या उग्र क्रिया को प्रकाशित न करना (८) निर्लोभ होना (९) कष्ट-सहिष्णु होना—परीषहा को समभाव से सहन करना (१०) आर्जव—सरलता—निष्कपटभाव होना (११) शुचिता—सत्य होना (१२) दृष्टि सम्यक् रखना (१३) समाधि—चित्त को समाहित रखना (१४) पाँच प्रकार के आचार का पालन करना (१५) विनीत होकर रहना (१६) धैर्यवान् होना—धर्मपालन मे दीनता का भाव न उत्पन्न होने देना (१७) सवेगयुक्त रहना (१८) प्रणिधि अर्थात् मायाचार न करना (१९) समीचीन आचार-व्यवहार करना (२०) सवर—ऐसा आचरण करना जिससे कर्मो का आस्रव रुक जाए (२१) आत्मदोषो-पसहार—अपने मे उत्पन्न होने वाले दोषो का निरोध करना (२२) काम-भोगो से विरत रहना (२३) मूल गुणो सबधी प्रत्याख्यान करना (२४) उत्तर गुणो से सबधित प्रत्याख्यान करना—विविध प्रकार के नियमो को अगीकार करना (२५) व्युत्सर्ग—शरीर, उपधि तथा कषायादि का उत्सर्ग करना-त्यागना (२६) प्रमाद का परिहार करना (२७) प्रतिक्षण समाचारी का पालन करना (२८) ध्यान-रूप सवर की साधना करना (२९) मारणान्तिक कष्ट के अवसर पर भी चित्त मे क्षोभ न होना (३०) विषयासक्ति से बचे रहना (३१) अगीकृत प्रायश्चित्त का निर्वाह करना या दोष होने पर प्रायश्चित्त लेना और (३२) मृत्यु का अवसर सन्निकट आने पर सलेखना करके अन्तिम आराधना करना ।

३३ आशातनाएँ निम्नलिखित है—

(१) शैक्ष—नवदीक्षित या अल्प दीक्षापर्याय वाले साधु का रात्निक-अधिक दीक्षापर्याय वाले साधु के अति निकट होकर गमन करना।

(२) शैक्ष का रात्निक साधु के आगे—आगे गमन करना ।

(३) शैक्ष का रात्निक के साथ बराबरी से चलना ।
(४) शैक्ष का रात्निक के आगे खडा होना ।
(५) शैक्ष का रात्निक के साथ बराबरी से खडा होना ।
(६) शैक्ष का रात्निक के अति निकट खडा होना ।
(७) शैक्ष का रात्निक साधु के आगे बैठना ।
(८) शैक्ष का रात्निक के साथ बराबरी से बैठना ।
(९) शैक्ष का रात्निक के अति समीप बैठना ।

(१०) शैक्ष, रात्निक के साथ स्थंडिलभूमि जाए और रात्निक से पहले ही शौच—शुद्धि कर ले ।

(११) शैक्ष, रात्निक के साथ विचारभूमि या विहारभूमि जाए और रात्निक से पहले ही आलोचना कर ले ।

(१२) कोई मनुष्य दर्शनादि के लिए आया हो और रात्निक के बात करने से पहले ही शैक्ष द्वारा बात करना ।

(१३) रात्रि मे रात्निक के पुकारने पर जागता हुआ भी न बोले ।
(१४) आहारादि लाकर पहले अन्य साधु के समक्ष आलोचना करे, बाद मे रात्निक के समक्ष ।
(१५) आहारादि लाकर पहले अन्य साधु को और बाद मे रात्निक साधु को दिखलाना ।
(१६) आहारादि के लिए पहले अन्य साधुओ को निमंत्रित करना और बाद मे रत्नाधिक को ।
(१७) रत्नाधिक से पूछे बिना अन्य साधुओ को आहारादि देना ।

(१८) रात्निक साधु के साथ आहार करते समय मनोज्ञ, सरस वस्तु अधिक एव जल्दी-जल्दी खाए ।

(१९) रत्नाधिक के पुकारने पर उनकी बात अनसुनी करना ।
(२०) रत्नाधिक के कुछ कहने पर अपने स्थान पर बैठे-बैठे सुनना और उत्तर देना ।
(२१) रत्नाधिक के कुछ कहने पर 'क्या कहा ?' इस प्रकार पूछना ।
(२२) रत्नाधिक के प्रति 'तू, तुम' ऐसे तुच्छतापूर्ण शब्दो का व्यवहार करना ।
(२३) रत्नाधिक के प्रति कठोर शब्दो का प्रयोग करे, उद्दण्डतापूर्वक बोले, अधिक बोले ।
(२४) 'जी हाँ' आदि शब्दो द्वारा रात्निक की धर्मकथा का अनुमोदन न करना ।

(२५) धर्मकथा के समय रात्निक को टोकना, 'आपको स्मरण नही' इस प्रकार के शब्द कहना ।

(२६) धर्मकथा कहते समय रात्निक को 'बस करो' इत्यादि कह कर कथा समाप्त करने के लिए कहना ।

(२७) धर्मकथा के अवसर पर परिषद् को भग करने का प्रयत्न करे ।

(२८) रात्निक साधु धर्मोपदेश कर रहे हो, सभा—श्रोतृगण उठे न हो, तब दूसरी-तीसरी बार वही कथा कहना ।

(२९) रात्निक धर्मोपदेश कर रहे हो तब उनकी कथा का काट करना या बीच मे स्वय बोलने लगना ।

(३०) रात्निक साधु की शय्या या आसन को पैर से ठुकराना ।
(३१) रत्नाधिक के समान—बराबरी पर आसन पर बैठना ।

(३२) रत्नाधिक के आसन से ऊँचे आसन पर बैठना।
(३३) रत्नाधिक के कुछ कहने पर अपने आसन पर बैठे-बैठे ही उत्तर देना।

इन आशातनाओ से मोक्षमार्ग की विराधना होती है, अतएव ये वर्जनीय है।

३२ सुरेन्द्र बत्तीस है—भवनपतियो के २०, वैमानिको के १० तथा ज्योतिष्को के दो—चन्द्रमा और सूर्य। (इनमे एक नरेन्द्र अर्थात् चक्रवर्त्ती को सम्मिलित कर देने से ३३ सख्या की पूर्त्ति हो जाती है।[1])

(उल्लिखित) एक से प्रारम्भ करके तीन अधिक तीस अर्थात् तेतीस सख्या हो जाती है। इन सब सख्या वाले पदार्थो मे तथा इसी प्रकार के अन्य पदार्थो मे, जो जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित है तथा शाश्वत अवस्थित और सत्य है, किसी प्रकार की शका या काक्षा न करके हिंसा आदि से निवृत्ति करनी चाहिए एव विशिष्ट एकाग्रता धारण करनी चाहिए। इस प्रकार निदान—नियाणा से रहित होकर, ऋद्धि आदि के गौरव-अभिमान से दूर रह कर, अलुब्ध-निर्लोभ होकर तथा मूढता त्याग कर जो अपने मन, वचन और काय को सवृत करता हुआ श्रद्धा करता है, वही वास्तव मे साधु है।

विवेचन—मूल पाठ स्पष्ट है और आवश्यकतानुसार उसका विवेचन अर्थ मे साथ ही कर दिया गया है। इस पाठ का आशय यही है कि वीतराग देव ने जो भी हेय, उपादेय या ज्ञेय तत्त्वो का प्रतिपादन किया है, वे सब सत्य है, उनमे शका-काक्षा करने का कोई कारण नही है। अतएव हेय को त्याग कर, उपादेय को ग्रहण करके और ज्ञेय को जान कर विवेक पूर्वक—अमूढभाव से प्रवृत्ति करनी चाहिए। साधु को इन्द्रादि पद की या भविष्य के भोगादि की अकाक्षा से रहित, निरभिमान, अलोलुप और सवरमय मन, वचन, काय वाला होना चाहिए।

धर्म-वृक्ष का रूपक—

१५५—जो सो वीरवर-वयण-विरइ-पवित्थरबहुविहप्पयारो सम्मत्त-विसुद्धमूलो धिइकदो विणयवेइओ णिग्गय-तेल्लोक्क-विउलजस-णिविड-पीण-पवरसुजायखधो पचमहव्वय-विसालसालो भावणतयत-ज्झाण-सुहजोग-णाणपल्लववरकुरधरो बहुगुणकुसुमसमिद्धो सील-सुगधो अणण्हवफलो पुणो य मोक्खवरबीजसारो मंदरगिरि-सिहर-चूलिआ इव इमस्स मोक्खवर-मुत्तिमग्गस्स सिहरभूओ सवर-वर-पायवो चरिम सवरदार।

१५५—श्रीवीरवर—महावीर भगवान् के वचन—आदेश से की गई परिग्रहनिवृत्ति के विस्तार से यह सवरवर-पादप अर्थात् अपरिग्रह नामक अन्तिम सवरद्वार बहुत प्रकार का है। सम्यग्दर्शन इसका विशुद्ध—निर्दोष मूल है। धृति-चित्त की स्थिरता इसका कन्द है। विनय इसकी

---

१ 'तित्तीसा आसायणा' के पश्चात् 'सुरिंदा' पाठ आया है। टीकाकार अभयदेव और देवविमलसूरि को भी यही पाठक्रम अभीष्ट है। सुरेन्द्रो की सख्या बत्तीस बतलाई गई है। तेतीस के बाद बत्तीससख्यक सुरेन्द्रो का कथन असगत मान कर किसी-किसी सस्करण मे 'सुरिंदा' आसातनाओ से पहले रख दिया है और किसी ने 'नरेन्द्र' को सुरेन्द्रो के साथ जोड कर तेतीस की सख्या की पूर्त्ति की है। बत्तीस सुरेन्द्रो मे भवनपतियो के इन्द्रो की गणना की गई है, पर व्यन्तरेन्द्र नही गिने गए। —तत्त्व केवलिगम्य है।

वेदिका—चारो ओर का परिकर है। तीनो लोको मे फैला हुआ विपुल यश इसका सघन, महान् और सुनिर्मित स्कन्ध (तना) है। पाँच महाव्रत इसकी विशाल शाखाएँ है। अनित्यता, अशरणता आदि भावनाएँ इस सवरवृक्ष की त्वचा है। धर्मध्यान, शुभयोग तथा ज्ञान रूपी पल्लवो के अकुरो को यह धारण करने वाला है। बहुसख्यक उत्तरगुण रूपी फूलो से यह समृद्ध है। यह शील के सौरभ से सम्पन्न है और वह सौरभ ऐहिक फल की वाछा से रहित सत्प्रवृत्तिरूप है। यह सवरवृक्ष अनास्रव-कर्मास्रव के निरोध रूप फलो वाला है। मोक्ष ही इसका उत्तम बीजसार-मीजी है। यह मेरु पर्वत के शिखर पर चूलिका के समान मोक्ष—कर्मक्षय के निर्लोभतास्वरूप मार्ग का शिखर है। इस प्रकार का अपरिग्रह रूप उत्तम सवरद्वार रूपी जो वृक्ष है, वह अन्तिम सवरद्वार है।

विवेचन—अपरिग्रह पाँच सवरद्वारो मे अन्तिम सवरद्वार है। सूत्रकार ने इस सवरद्वार को वृक्ष का रूपक देकर आलकारिक भाषा मे सुन्दर रूप से वर्णित किया है। वर्णन का आशय मूलार्थ से ही समझा जा सकता है।

अकल्पनीय-अनाचरणीय—

१५६—जत्थ ण कप्पइ गामागर-णगर-खेड-कब्बड-मडब-दोणमुह-पट्टणासमगय च किंचि अप्प वा बहु वा अणु वा थूल वा तसथावरकायदव्वजाय मणसा वि परिघेत्तु, ण हिरण्णसुवण्णखेत्तवत्थु, ण दासी-दास-भयग-पेस-हय-गय-गवेलग व, ण जाण-जुग्ग-सयणासणाइ, ण छत्तग, ण कु डिया, ण उवाणहा, ण पेहुण-वीयण-तालियटगा, ण यावि अय-तउय-तब-सीसग-कस-रयय-जायरूव-मणिमुत्ताहार-पुडग-सख-दत-मणि-सिंग-सेल-काय-वरचेल-चम्मपत्ताइ महरिहाइ, परस्स अज्झोववाय-लोहजणणाइं परियड्ढेउ गुणवओ, ण यावि पुप्फ-फल-कद-मूलाइयाइ सणसत्तरसाइ सव्वधण्णाइ तिहि वि जोगेहि परिघेत्तु ओसह-भेसज्ज-भोयणट्ठयाए संजएण।

किं कारण ?

अपरिमियणाणदसणधरेहिं सील-गुण-विणय-तव-सजमणायगेहिं तित्थयरेहिं सव्वजगज्जीव-वच्छलेहि तिलोयमहिएहिं जिणवरिंदेहि एस जोणी जगमाण दिट्ठा। ण कप्पइ जोणिसमुच्छेओ त्ति तेण वज्जति समणसीहा।

१५६—ग्राम, आकर, नगर, खेड, कर्वट, मडब, द्रोणमुख, पत्तन अथवा आश्रम मे रहा हुआ कोई भी पदार्थ हो, चाहे वह अल्प मूल्य वाला हो या बहुमूल्य हो, प्रमाण मे छोटा हो अथवा बडा हो, वह भले त्रसकाय—शख आदि हो या स्थावरकाय—रत्न आदि हो, उस द्रव्यसमूह को मन से भी ग्रहण करना नही कल्पता, अर्थात् उसे ग्रहण करने की इच्छा करना भी योग्य नही है। चादी, सोना, क्षेत्र (खुली भूमि), वास्तु (मकान-दुकान आदि) भी ग्रहण करना नही कल्पता। दासी, दास, भृत्य—नियत वृत्ति पाने वाला सेवक, प्रेष्य—सदेश ले जाने वाला सेवक, घोडा, हाथी, बैल आदि भी ग्रहण करना नही कल्पता। यान—रथ, गाडी आदि, युग्य—डोली आदि, शयन आदि और छत्र-छाता आदि भी ग्रहण करना नही कल्पता, न कमण्डलु, न जूता, न मोरपीछी, न वीजना-पखा और तालवृन्त—ताड का पखा—ग्रहण करना कल्पता है। लोहा, रागा, ताबा, सीसा, कासा, चादी, सोना,

(३२) रत्नाधिक के आसन से ऊँचे आसन पर बैठना।
(३३) रत्नाधिक के कुछ कहने पर अपने आसन पर बैठे-बैठे ही उत्तर देना।

इन आशातनाओ से मोक्षमार्ग की विराधना होती है, अतएव ये वर्जनीय है।

३२ सुरेन्द्र बत्तीस है—भवनपतियो के २०, वैमानिको के १० तथा ज्योतिष्को के दो—चन्द्रमा और सूर्य। (इनमे एक नरेन्द्र अर्थात् चक्रवर्त्ती को सम्मिलित कर देने से ३३ सख्या की पूर्ति हो जाती है।[1])

(उल्लिखित) एक से प्रारम्भ करके तीन अधिक तीस अर्थात् तेतीस सख्या हो जाती है। इन सब सख्या वाले पदार्थो मे तथा इसी प्रकार के अन्य पदार्थो मे, जो जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित है तथा शाश्वत अवस्थित और सत्य है, किसी प्रकार की शका या काक्षा न करके हिंसा आदि से निवृत्ति करनी चाहिए एव विशिष्ट एकाग्रता धारण करनी चाहिए। इस प्रकार निदान—नियाणा से रहित होकर, ऋद्धि आदि के गौरव-अभिमान से दूर रह कर, अलुब्ध-निर्लोभ होकर तथा मूढता त्याग कर जो अपने मन, वचन और काय को सवृत करता हुआ श्रद्धा करता है, वही वास्तव मे साधु है।

विवेचन—मूल पाठ स्पष्ट है और आवश्यकतानुसार उसका विवेचन अर्थ मे साथ ही कर दिया गया है। इस पाठ का आशय यही है कि वीतराग देव ने जो भी हेय, उपादेय या ज्ञेय तत्त्वो का प्रतिपादन किया है, वे सब सत्य है, उनमे शका-काक्षा करने का कोई कारण नही है। अतएव हेय को त्याग कर, उपादेय को ग्रहण करके और ज्ञेय को जान कर विवेक पूर्वक—अमूढभाव से प्रवृत्ति करनी चाहिए। साधु को इन्द्रादि पद की या भविष्य के भोगादि की अकाक्षा से रहित, निरभिमान, अलोलुप और सवरमय मन, वचन, काय वाला होना चाहिए।

धर्म-वृक्ष का रूपक—

१५५—जो सो वीरवर-वयण-विरइ-पवित्थरबहुविहप्पयारो सम्मत्त-विसुद्धमूलो धिइकदो विणयवेइओ णिग्गय-तेल्लोक्क-विउलजस-णिविड-पीण-पवरसुजायखधो पचमहव्वय-विसालसालो भावणतयत-ज्झाण-सुहजोग-णाणपल्लववरकुरधरो बहुगुणकुसुमसमिद्धो सील-सुगधो अणण्हवफलो पुणो य मोक्खवरबीजसारो मंदरगिरि-सिहर-चूलिआ इव इमस्स मोक्खवर-मुत्तिमग्गस्स सिहरभूओ सवर-वर-पायवो चरिम सवरदार।

१५५—श्रीवीरवर—महावीर भगवान् के वचन—आदेश से की गई परिग्रहनिवृत्ति के विस्तार से यह सवरवर-पादप अर्थात् अपरिग्रह नामक अन्तिम सवरद्वार बहुत प्रकार का है। सम्यग्दर्शन इसका विशुद्ध—निर्दोष मूल है। धृति-चित्त की स्थिरता इसका कन्द है। विनय इसकी

१ 'तित्तीसा आसायणा' के पश्चात् 'सुरिंदा' पाठ आया है। टीकाकार अभयदेव और देवविमलसूरि को भी यही पाठक्रम अभीष्ट है। सुरेन्द्रो की सख्या बत्तीस बतलाई गई है। तेतीस के बाद बत्तीससख्यक सुरेन्द्रो का कथन असगत मान कर किसी-किसी सस्करण मे 'सुरिंदा' आसातनाओ से पहले रख दिया है और किसी ने 'नरेन्द्र' को सुरेन्द्रो के साथ जोड कर तेतीस की सख्या की पूर्ति की है। बत्तीस सुरेन्द्रो मे भवनपतियो के इन्द्रो की गणना की गई है, पर व्यन्तरेन्द्र नही गिने गए। —तत्त्व केवलिगम्य है।

वेदिका—चारो ओर का परिकर है। तीनो लोको मे फैला हुआ विपुल यश इसका सघन, महान् और सुनिर्मित स्कन्ध (तना) है। पाँच महाव्रत इसकी विशाल शाखाएँ हैं। अनित्यता, अशरणता आदि भावनाएँ इस सवरवृक्ष की त्वचा है। धर्मध्यान, शुभयोग तथा ज्ञान रूपी पल्लवो के अकुरो को यह धारण करने वाला है। बहुसख्यक उत्तरगुण रूपी फूलो से यह समृद्ध है। यह शील के सौरभ से सम्पन्न है और वह सौरभ ऐहिक फल की वाछा से रहित सत्प्रवृत्तिरूप है। यह सवरवृक्ष अनास्रव-कर्मास्रव के निरोध रूप फलो वाला है। मोक्ष ही इसका उत्तम बीजसार-मीजी है। यह मेरु पर्वत के शिखर पर चूलिका के समान मोक्ष—कर्मक्षय के निर्लोभतास्वरूप मार्ग का शिखर है। इस प्रकार का अपरिग्रह रूप उत्तम सवरद्वार रूपी जो वृक्ष है, वह अन्तिम सवरद्वार है।

विवेचन—अपरिग्रह पाँच सवरद्वारो मे अन्तिम सवरद्वार है। सूत्रकार ने इस सवरद्वार को वृक्ष का रूपक देकर आलकारिक भाषा मे सुन्दर रूप से वर्णित किया है। वर्णन का आशय मूलार्थ से ही समझा जा सकता है।

अकल्पनीय-अनाचरणीय—

१५६—जत्थ ण कप्पइ गामागर-णगर-खेड-कब्बड-मडब-दोणमुह-पट्टणासमगय च किंचि अप्पं वा बहु वा अणु वा थूलं वा तसथावरकायदव्वजाय मणसा वि परिघेत्तु, ण हिरण्णसुवण्णखेत्तवत्थु, ण दासी-दास-भयग-पेस-हय-गय-गवेलग व, ण जाण-जुग्ग-सयणासणाइ, ण छत्तग, ण कु डिया, ण उवाणहा, ण पेहुण-वीयण-तालियंटगा, ण यावि अय-तउय-तब-सीसग-कस-रयय-जायरूव-मणिमुत्ताहार-पुडग-सख-दत-मणि-सिंग-सेल-काय-वरचेल-चम्मपत्ताइ महरिहाइ, परस्स अज्झोववाय-लोहजणणाइं परियड्ढेउ गुणवओ, ण यावि पुप्फ-फल-कद-मूलाइयाइ सणसत्तरसाइं सव्वधण्णाइ तिहि वि जोगेहि परिघेत्तु ओसह-भेसज्ज-भोयणट्ठयाए सजएण।

किं कारण ?

अपरिमियणाणदसणधरेहि सील-गुण-विणय-तव-सजमणायगेहि तित्थयरेहि सव्वजगज्जीव-वच्छलेहि तिलोयमहिएहि जिणवरिंदेहि एस जोणी जगमाण दिट्ठा। ण कप्पइ जोणिसमुच्छेओ त्ति तेण वज्जति समणसीहा।

१५६—ग्राम, आकर, नगर, खेड, कर्बट, मडब, द्रोणमुख, पत्तन अथवा आश्रम मे रहा हुआ कोई भी पदार्थ हो, चाहे वह अल्प मूल्य वाला हो या बहुमूल्य हो, प्रमाण मे छोटा हो अथवा बडा हो, वह भले त्रसकाय—शख आदि हो या स्थावरकाय—रत्न आदि हो, उस द्रव्यसमूह को मन से भी ग्रहण करना नही कल्पता, अर्थात् उसे ग्रहण करने की इच्छा करना भी योग्य नही है। चादी, सोना, क्षेत्र (खुली भूमि), वास्तु (मकान-दुकान आदि) भी ग्रहण करना नही कल्पता। दासी, दास, भृत्य—नियत वृत्ति पाने वाला सेवक, प्रेष्य—सदेश ले जाने वाला सेवक, घोडा, हाथी, बैल आदि भी ग्रहण करना नहीं कल्पता। यान—रथ, गाडी आदि, युग्य—डोली आदि, शयन आदि और छत्र-छाता आदि भी ग्रहण करना नही कल्पता, न कमण्डलु, न जूता, न मोरपीछी, न बीजना-पखा और तालवृन्त—ताड का पखा—ग्रहण करना कल्पता है। लोहा, रागा, ताबा, सीसा, कासा, चादी, सोना,

मणि और मोती का आधार सीपसम्पुट, शख, उत्तम दात, सीग, शैल-पाषाण (या पाठान्तर के अनुसार लेस अर्थात् श्लेष द्रव्य), उत्तम काच, वस्त्र और चर्मपात्र—इन सब को भी ग्रहण करना नही कल्पता। ये सब मूल्यवान् पदार्थ दूसरे के मन मे ग्रहण करने की तीव्र आकाक्षा उत्पन्न करते है, आसक्तिजनक हैं, इन्हे सभालने और बढाने की इच्छा उत्पन्न करते है, अर्थात् किसी स्थान पर पूर्वोक्त पडे पदार्थ देख कर दूसरे लोग इन्हे उठा लेने की अभिलाषा करते है, उनके चित्त मे इनके प्रति मूर्च्छाभाव उत्पन्न होता है, वे इनकी रक्षा और वृद्धि करना चाहते है, किन्तु साधु को नही कल्पता कि वह इन्हे ग्रहण करे। इसी प्रकार पुष्प, फल, कन्द, मूल आदि तथा सन जिनमे सत्तरहवाँ है, ऐसे समस्त धान्यो को भी परिग्रहत्यागी साधु औषध, भैजष्य या भोजन के लिए त्रियोग—मन, वचन, काय से ग्रहण न करे।

नही ग्रहण करने का क्या कारण है ?

अपरिमित – अनन्त ज्ञान और दर्शन के धारक, शील—चित्त की शान्ति, गुण—अहिसा आदि, विनय, तप और सयम के नायक, जगत् के समस्त प्राणियो पर वात्सल्य धारण करने वाले, त्रिलोक-पूजनीय, तीर्थंकर जिनेन्द्र देवो ने अपने केवलज्ञान से देखा है कि ये पुष्प, फल आदि त्रस जीवो की योनि—उत्पत्तिस्थान है। योनि का उच्छेद—विनाश करना योग्य नही है। इसी कारण श्रमणसिंह—उत्तम मुनि पुष्प, फल आदि का परिवर्जन करते है।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे स्पष्ट किया गया है कि ग्राम, आकर, नगर, निगम आदि किसी भी वस्ती मे कोई भी वस्तु पडी हो तो अपरिग्रही साधु को उसे ग्रहण नही करना चाहिए। इतना ही नही, साधु का मन इस प्रकार सधा हुआ होना चाहिए कि उसे ऐसे किसी पदार्थ को ग्रहण करने की इच्छा ही न हो। ग्रहण न करना एक बात है, वह साधारण साधना का फल है, किन्तु ग्रहण करने की अभिलाषा ही उत्पन्न न होना उच्च साधना का फल है। मुनि का मन इतना समभावी, मूर्च्छा-विहीन एव नियन्त्रित रहे कि वह किसी भी वस्तु को कही भी पडी देख कर न ललचाए। जो स्वर्ण, रजत, मणि, मोती आदि बहुमूल्य वस्तुएँ अथवा अल्प मूल्य होने पर भी सुखकर—आरामदेह वस्तुएँ दूसरे को मन मे लालच उत्पन्न करती हैं, मुनि उन्हे उपेक्षा की दृष्टि से देखे। उसे ऐसी वस्तुओ को ग्रहण करने की अभिलाषा ही न हो।

फिर सचित्त पुष्प, फल, कन्द, मूल आदि पदार्थ तो त्रस जीवो की उत्पत्ति के स्थान है और योनि को विध्वस्त करना मुनि को कल्पता नही है। इस कारण ऐसे पदार्थो के ग्रहण से वह सदैव वचता है।

सन्निधि-त्याग—

१५७—ज पि य ओयणकुम्मास-गज-तप्पण-मथु-भुज्जिय-पलल-सूव-सक्कुलि-वेढिम-वरसरक-चुण्ण-कोसग-पिंड- सिहरिणि-वट्ट-मोयग-खीर- दहि- सप्पि-णवणीय-तेल्ल-गुड- खड-मच्छडिय- महु-मज्ज-मस-खज्जग-वजण-विहिमाइय पणीय उवस्सए परघरे व रण्णे ण कप्पइ त वि सण्णिहिं काउ सुविहियाण।

१५७—और जो भी ओदन—कूर, कुल्माष—उडद या थोडे उवाले मू ग आदि गज—एक

प्रकार का भोज्य पदार्थ, तर्पण—सत्तू, मथु—वोर आदि का चूर्ण-आटा, भूजी हुई धानी—लाई, पलल—तिल के फूलो का पिष्ट, सूप—दाल, शष्कुली—तिलपपडी, वेष्टिम—जलेवी, इमरती आदि, वरसरक नामक भोज्य वस्तु, चूर्णकोश—खाद्य विशेष, गुड आदि का पिण्ड, शिखरिणी—दही मे शक्कर आदि मिला कर बनाया गया भोज्य-श्रीखड, वट्ट—वडा, मोदक—लड्डू, दूध, दही, घी, मक्खन, तेल, खाजा, गुड, खाँड, मिश्री, मधु, मद्य, मास और अनेक प्रकार के व्यजन—शाक, छाछ आदि वस्तुओ का उपाश्रय मे, अन्य किसी के घर मे अथवा अटवी मे सुविहित—परिग्रहत्यागी, शोभन आचार वाले साधुओ को सचय करना नही कल्पता है।

विवेचन— उल्लिखित पाठ मे खाद्य पदार्थो का नामोल्लेख किया गया है। तथापि सुविहित साधु को इनका सचय करके रखना नही कल्पता है। कहा है—

बिडमुब्भेइय लोण, तेल्ल सप्पि च फाणिय।
ण ते सन्निहिमिच्छति, नायपुत्तवए रया ॥

अर्थात् सभी प्रकार के नमक, तेल, घृत, तिल-पपडी आदि किसी भी प्रकार के खाद्य पदार्थ का वे साधु सग्रह नही करते जो ज्ञातपुत्र—भगवान् महावीर के वचनो मे रत है।

सचय करने वाले साधु को शास्त्रकार गृहस्थ की कोटि मे रखते है। सचय करना गृहस्थ का कार्य है, साधु का नही। साधु तो पक्षी के समान वृत्ति वाले होते है। उन्हे यह चिन्ता नही होती कि कल आहार प्राप्त होगा अथवा नही! कौन जाने कल आहार मिलेगा अथवा नही, ऐसी चिन्ता से ही सग्रह किया जाता है, किन्तु साधु तो लाभ-अलाभ मे समभाव वाला होता है। अलाभ की स्थिति को वह तपश्चर्यारूप लाभ का कारण मानकर लेशमात्र भी खेद का अनुभव नही करता। सग्रहवृत्ति से अन्य भी अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होने की सभावना रहती है। एक ही वार मे पर्याप्त से अधिक आहार लाने से प्रमादवृत्ति आ सकती है। सरस आहार अधिक लाकर रख लेने से लोलुपता उत्पन्न हो सकती है, आदि। अतएव साधु को किसी भी भोज्य वस्तु का सग्रह न करने का प्रतिपादन यहाँ किया गया है। परिग्रह-त्यागी मुनि के लिए यह सर्वथा अनिवार्य है।

१५८—ज पि य उद्दिट्ठ-ठविय-रइयग-पज्जवजाय पकिण्ण पाउयरण-पामिच्च मीसगजाय कीयगड पाहुड च दाणट्ठपुण्णपगड समणवणीमगट्ठयाए वा कय पच्छाकम्म पुरेकम्म णिइकम्म मक्खिय अइरित्त मोहर चेव सयगाहमाहड मट्टिउवलित्त, अच्छेज्ज चेव अणीसट्ठ ज त तिहिसु जण्णेसु उस्सवेसु य अतो वा बहिं वा होज्ज समणट्ठयाए ठवियं हिंसासावज्जसपउत्त ण कप्पइ त पि य परिघेत्तु।

१५८— इसके अतिरिक्त जो आहार औद्देशिक हो, स्थापित हो, रचित हो, पर्यवजात हो, प्रकीर्ण, प्रादुष्करण, प्रामित्य, मिश्रजात, क्रीतकृत, प्राभृत दोष वाला हो, जो दान के लिए या पुण्य के लिए वनाया गया हो, जो पाँच प्रकार के श्रमणो अथवा भिखारियो को देने के लिए तैयार किया गया हो, जो पश्चात्कर्म अथवा पुर कर्म दोष से दूषित हो, जो नित्यकर्म-दूषित हो, जो म्रक्षित, अतिरिक्त मौखर, स्वयग्राह अथवा आहृत हो, मृत्तिकोपलिप्त, आच्छेद्य, अनिसृष्ट हो अथवा जो आहार मदनत्रयोदशी आदि विशिष्ट तिथियो मे यज्ञ और महोत्सवो मे, उपाश्रय के भीतर या वाहर साधुओ को देने के लिए रक्खा हो, जो हिंसा-सावद्य दोष से युक्त हो, ऐसा भी आहार साधु को लेना नही कल्पता है।

विवेचन— पूर्व पाठ मे बतलाया गया था कि आहार की सन्निधि करना अर्थात् सचय करना अपरिग्रही साधु को नही कल्पता, क्योकि सचय परिग्रह है और यह अपरिग्रह धर्म से विपरीत है। प्रकृत पाठ मे प्रतिपादित किया गया है कि भले ही सचय के लिए न हो, तत्काल उपयोग के लिए हो, तथापि सूत्र मे उल्लिखित दोषो मे से किसी भी दोष से दूषित हो तो भी वह आहार, मुनि के लिए ग्राह्य नही है। इन दोषो का अर्थ इस प्रकार है—

उद्दिष्ट— सामान्यत किसी भी साधु के लिए बनाया गया।

स्थापित— साधु के लिए रख छोडा गया।

रचित— साधु के निमित्त मोदक आदि को तपा कर पुन मोदक आदि के रूप मे तैयार किया गया।

पर्यवजात—साधु को उद्देश्य करके एक अवस्था से दूसरी अवस्था मे बदला हुआ।

प्रकीर्ण— धरती पर गिराते या टपकाते हुए दिया जाने वाला आहार।

प्रादुष्करण—अन्धेरे मे रक्खे आहार को प्रकाश करके देना।

प्रामित्य— साधु के निमित्त उधार लिया गया आहार।

मिश्रजात—साधु और गृहस्थ या अपने लिए सम्मिलित बनाया हुआ आहार।

क्रीतकृत— साधु के लिए खरीद कर बनाया गया।

प्राभृत—साधु के निमित्त अग्नि मे ईंधन डालकर उसे प्रज्वलित करके अथवा ईंधन निकाल कर अग्नि मन्द करके दिया गया आहार।

दानार्थ— दान के लिए बनाया गया।

पुण्यार्थ— पुण्य के लिए बनाया गया।

श्रमणार्थ— श्रमण पाच प्रकार के माने गए है— (१) निर्ग्रन्थ (२) शाक्य—बौद्धमतानुयायी (३) तापस— तपस्या की विशेषता वाले (४) गेरुक— गेरुआ वस्त्र धारण करने वाले और (५) आजीविक—गोशालक के अनुयायी। इन श्रमणो के लिए बनाया गया आहार श्रमणार्थ कहलाता है।

वनीपकार्थ— भिखारियो के अर्थ बनाया गया। टीकाकार ने वनीपक का पर्यायवाची शब्द 'तर्कु क' लिखा है।

पश्चात्कर्म— दान के पश्चात् वर्त्तन धोना आदि सावद्य क्रिया वाला आहार।

पुर कर्म— दान से पूर्व हाथ धोना आदि सावद्य कर्म वाला आहार।

नित्यकर्म— सदाव्रत की तरह जहाँ सदैव साधुओ को आहार दिया जाता हो अथवा प्रतिदिन एक घर से लिया जाने वाला आहार।

म्रक्षित— सचित्त जल आदि से लिप्त हाथ अथवा पात्र से दिया जाने वाला आहार।

अतिरिक्त— प्रमाण से अधिक।

मौखर्य— वाचालता— अधिक बोलकर प्राप्त किया जाने वाला।

स्वयग्राह— स्वय अपने हाथ से लिया जाने वाला।

आहृत— अपने गाँव या घर से साधु के समक्ष लाया गया।

मृत्तिकालिप्त—मिट्टी आदि से लिप्त।

आच्छेद्य—निर्बल से छीन कर दिया जाने वाला।

अनिसृष्ट—अनेको के स्वामित्व की वस्तु उन सब की अनुमति के विना दी जाए ।

उल्लिखित आहार सम्बन्धी दोषो मे से अनेक दोष उद्‌गम-उत्पादना सबधी दोषो मे गर्भित है । तथापि अधिक स्पष्टता के लिए यहाँ उनका भी निर्देश कर दिया गया है । पूर्वोक्त दोषो मे मे किसी भी दोष से युक्त आहार सुविहित साधुओ के लिए कल्पनीय नही होता ।

कल्पनीय भिक्षा—

१५९—अह् केरिसय पुणाइ कप्पइ ? ज त एक्कारस-पिंडवायसुद्ध किणण-हणण-पयण-कय-कारियाणुमोयण-णवकोडीहिं सुपरिसुद्ध, दसहि य दोसेहि विप्पमुक्क उग्गम-उप्पायणेसणाए सुद्ध, ववगय-चुयचवियचत्त-देह च फासुय ववगय-सजोग-मणिगाल विगयधूम छट्ठाण-णिमित्त छक्काय-परिरक्खणट्ठा हणिं हणिं फासुएण भिक्खेण वट्टियव्व ।

१५९—प्रश्न—तो फिर किस प्रकार का आहार साधु के लिए ग्रहण करने योग्य है ?

उत्तर—जो आहारादि एकादश पिण्डपात से शुद्ध हो, अर्थात् आचारागसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पिण्डैषणा नामक प्रथम अध्ययन के ग्यारह उद्देशको मे प्ररूपित दोषो से रहित हो, जो खरीदना, हनन करना—हिंसा करना और पकाना, इन तीन क्रियाओ से कृत, कारित और अनुमोदन से निष्पन्न नौ कोटियो से पूर्ण रूप से शुद्ध हो, जो एषणा के दस दोषो से रहित हो, जो उद्‌गम और उत्पादना रूपएषणा अर्थात् गवेषणा और ग्रहणषणा रूप एषणादोष से रहित हो, जो सामान्य रूप से निर्जीव हुए, जीवन से च्युत हो गया हो, आयुक्षय के कारण जीवनक्रियाओ से रहित हो, शरीरोपचय से रहित हो, अतएव जो प्रासुक—अचेतन हो चुका हो, जो आहार सयोग और अगार नामक मण्डल-दोष से रहित हो, जो आहार की प्रशसारूप धूम-दोष से रहित हो, जो छह कारणो मे से किसी कारण से ग्रहण किया गया हो और छह कायो की रक्षा के लिए स्वीकृत किया गया हो, ऐसे प्रासुक आहारादि से प्रतिदिन—सदा निर्वाह करना चाहिए ।

विवेचन—पूर्व मे बतलाया गया था कि किन-किन दोष वाली भिक्षा साधु के लिए ग्राह्य नही है । यह वक्तव्य भिक्षा सम्बन्धी निषेधपक्ष को मुख्यतया प्रतिपादित करता है । किन्तु जब तक निषेध के साथ विधिपक्ष को प्रदर्शित न किया जाए तब तक सामान्य साधक के लिए स्पष्ट मार्गदर्शन नही होता । अतएव यहाँ भिक्षा के विधिपक्ष का निरूपण किया गया है । यह निरूपण प्रश्न और उत्तर के रूप मे है ।

प्रश्न किया गया है कि यदि साधुओ को अमुक-अमुक दोष वाली भिक्षा ग्रहण नही करनी चाहिए तो कैसी भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए ?

उत्तर है—आचारागसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पिण्डैषणा नामक अध्ययन के ग्यारह उद्देशको मे कथित समस्त दोषो से रहित भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए । इन उद्देशको मे आहार सम्बन्धी समस्त दोषो का कथन समाविष्ट हो जाता है । इस शास्त्र मे भी उनका निरूपण किया जा चुका है । अतएव यहाँ पुन उल्लेख करना अनावश्यक है ।

नवकोटिविशुद्ध आहार—साधु के निमित्त खरीदी गई, खरीदवाई गई और खरीद के लिए

अनुमोदित की गई, इसी प्रकार हिंसा करने, कराने और अनुमोदन करने से तैयार की गई, और पकाना, पकवाना तथा पकाने की अनुमोदना करने से निष्पन्न हुई भिक्षा अग्राह्य है। इनसे रहित भिक्षा ग्राह्य है।

एषणा एव मडल सम्बन्धी दोषो का वर्णन पहले किया जा चुका है।

आहारग्रहण के छह निमित्त—साधु शरीरपोषण अथवा रसनेन्द्रिय के आनन्द के अर्थ आहार ग्रहण नही करते। शास्त्र मे छह कारणो मे से कोई एक या अनेक कारण उपस्थित होने पर आहार ग्रहण करने का विधान किया गया है, जो इस प्रकार है—

वेयण-वेयावच्चे ईरियट्ठाए य सजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए छट्ठ पुण धम्मचिंताए॥

अर्थात्—(१) क्षुधावेदनीय कर्म की उपशान्ति के लिए (२) वैयावृत्य (आचार्यादि गुरुजनो की सेवा) का सामर्थ्य बना रहे, इस प्रयोजन के लिए (३) ईर्यासमिति का सम्यक् प्रकार से पालन करने के लिए (४) सयम का पालन करने के लिए (५) प्राणरक्षा—जीवननिर्वाह के लिए और (६) धर्मचिन्तन के लिए (आहार करना चाहिए)।

छह काय—पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर और द्वीन्द्रियादि त्रस, ये छह काय है। समस्त ससारवर्त्ती जीव इन छह भेदो मे गर्भित हो जाते है। अतएव षट्काय की रक्षा का अर्थ है—समस्त सासारिक जीवो की रक्षा। इन की रक्षा के लिए और रक्षा करते हुए आहार कल्पनीय होता है।

१६०—ज पि य समणस्स सुविहियस्स उ रोगायके बहुप्पकारंमि समुप्पण्णे वायाहिक-पित्त-सिंभ-अइरित्तकुविय-तहसण्णिवायजाए व उदयपत्ते उज्जल-बल-विउल (तिउल) कक्खडपगाढदुक्खे असुभकडुयफरुसे चडफलविवागे महब्भये जीवियतकरणे सव्वसरीरपरितावणकरे ण कप्पइ तारिसे वि तह अप्पणो परस्स वा ओसहभेसज्जं भत्तपाणं च तं पि सण्णिहिकयं।

१६०—सुविहित—आगमानुकूल चारित्र का परिपालन करने वाले साधु को यदि अनेक प्रकार के ज्वर आदि रोग और आतक—जीवन को सकट या कठिनाई मे डालने वाली व्याधि उत्पन्न हो जाए, वात, पित्त या कफ का अतिशय प्रकोप हो जाए, अथवा सन्निपात—उक्त दो या तीनो दोषो का एक साथ प्रकोप हो जाए और इसके कारण उज्ज्वल अर्थात् सुख के लेशमात्र से रहित, प्रबल, विपुल—दीर्घकाल तक भोगने योग्य (या त्रितुल—तीनो योगो को तोलने वाले—कष्टमय बना देने वाले), कर्कश—अनिष्ट एव प्रगाढ अर्थात् अत्यन्त तीव्र दु ख उत्पन्न हो जाए और वह दु ख अशुभ या कटुक द्रव्य के समान असुख—अनिष्ट रूप हो, परुष—कठोर हो, दु खमय दारुण फल वाला हो, महान् भय उत्पन्न करने वाला हो, जीवन का अन्त करने वाला और समग्र शरीर मे परिताप उत्पन्न करने वाला हो, तो ऐसा दु ख उत्पन्न होने की स्थिति मे भी स्वय अपने लिए अथवा दूसरे साधु के लिए औषध, भैषज्य, आहार तथा पानी का सचय करके रखना नही कल्पता है।

विवेचन—पूर्ववर्त्ती पाठ मे सामान्य अवस्था मे लोलुपता आदि के कारण आहारादि के सचय करने का निषेध किया गया था और प्रस्तुत पाठ मे रोगादि की अवस्था मे भी सन्निधि करने का निषेध किया गया है। यहाँ रोग के अनेक विशेषणो द्वारा उसकी तीव्रतमता प्रदर्शित की गई है। कहा

गया है कि रोग अथवा आतक इतना उग्र हो कि लेशमात्र भी चैन न लेने दे, बहुत बलशाली हो, थोडे समय के लिए नही वरन् दीर्घ काल पर्यन्त भोगने योग्य हो, अतीव कर्कश हो, तन और मन को भीषण व्यथा पहुँचाने वाला हो, यहाँ तक कि जीवन का अन्त करने वाला भी क्यो न हो, तथापि साधु को ऐसी घोरतर अवस्था मे आहार-पानी और औषध-भैषज्य का कदापि सग्रह नही करना चाहिए। सग्रह परिग्रह है और अपरिग्रही साधु के जीवन मे सग्रह को कोई स्थान नही है।

साधु के उपकरण—

१६१—ज पि य समणस्स सुविहियस्स उ पडिग्गहधारिस्स भवइ भायण-भडोवहिउवगरण पडिग्गहो पायबधण पायकेसरिया पायठवण च पडलाइ तिण्णेव, रयत्ताण च गोच्छओ, तिण्णेव य पच्छागा, रयहरण-चोलपट्टग-मुहणतगमाईय। एय पि य सजमस्स उववूहणट्ठयाए वायायव-दस-मसग-सीय-परिरक्खणट्ठयाए उवगरण रागदोसरहिय परिहरियव्वं, सजएण णिच्च पडिलेहण-पप्फोडण-पमज्जणाए अहो य राओ य अप्पमत्तेण होइ सयय णिक्खिवियव्व च गिण्हियव्वं च भायण-भडोवहि-उवगरण।

१६१—पात्रधारी सुविहित साधु के पास जो भी पात्र, मृत्तिका के भाड, उपधि और उपकरण होते है, जैसे—पात्र, पात्रबन्धन, पात्रकेसरिका, पात्रस्थापनिका, पटल, रजस्त्राण, गोच्छक, तीन प्रच्छाद, रजोहरण, चोलपट्टक, मुखानन्तक—मुखवस्त्रिका, ये सब भी सयम की वृद्धि के लिए होते है तथा वात—प्रतिकूल वायु, ताप, धूप, डास-मच्छर और शीत से रक्षण—बचाव के लिए है। इन सब उपकरणो को राग और द्वेष से रहित होकर साधु को धारण करने चाहिए अर्थात् रखना चाहिए। सदा इनका प्रतिलेखन—देखना, प्रस्फोटन—झाडना और प्रमार्जन—पोछना चाहिए। दिन मे और रात्रि मे सतत—निरन्तर अप्रमत्त रह कर भाजन, भाण्ड, उपधि और उपकरणो को रखना और ग्रहण करना चाहिए।

विवेचन—प्रकृत पाठ मे 'पडिग्गहधारिस्स' इस विशेषण पद से यह सूचित किया गया है कि विशिष्ट जिनकल्पी साधु के नही किन्तु पात्रधारी स्थविरकल्पी साधु के उपकरणो का यहाँ उल्लेख किया गया है। ये उपकरण सयम की वृद्धि और प्रतिकूल परिस्थितियो मे से शरीर की रक्षा के लिए ही ग्रहण किए जाते है, यह भी इस पाठ से स्पष्ट है। इनका-अर्थ इस प्रकार है—

पतद्ग्रह—पात्र—आहारादि के लिए काष्ठ, मृत्तिका या तुम्बे के पात्र।
पात्रबन्धन—पात्रो को बाँधने का वस्त्र।
पात्रकेसरिका—पोछने का वस्त्रखण्ड।
पात्रस्थापन—जिस पर पात्र रक्खे जाएँ।
पटल—पात्र ढँकने के लिए तीन वस्त्र।
रजस्त्राण—पात्रो को लपेटने का वस्त्र।
गोच्छक—पात्रादि के प्रमार्जन के लिए पू जनी।
प्रच्छाद—ओढने के वस्त्र (तीन)।
रजोहरण—ओघा।

चोलपट्टक—कमर मे पहनने का वस्त्र ।

मुखानन्तक—मुखवस्त्रिका ।

ये उपकरण सयम-निर्वाह के अर्थ ही साधु ग्रहण करते और उपयोग मे लाते है, ममत्व से प्रेरित होकर नही, अतएव ये परिग्रह मे सम्मिलित नही है । आगम मे उल्लेख है—

जपि वत्थ व पाय वा, कबल पायपु छण ।
तपि सजम-लज्जट्ठा, धारति परिहरति य ।।
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इग्र वुत्त महेसिणा ।।

तात्पय यह है कि मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोञ्छन आदि उपकरण ग्रहण करते है, वे मात्र सयम एव लज्जा के लिए ही ग्रहण करते है और उनका परिभोग करते है । भगवान् महावीर ने उन उपकरणो को परिग्रह नही कहा है । क्योकि परिग्रह तो मूर्च्छा-ममता है । महर्षि प्रभु महावीर का यह कथन है ।

इस आगम-कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गृहीत उपकरणो के प्रति यदि ममत्वभाव उत्पन्न हो जाए तो वही उपकरण परिग्रह बन जाते है । इस भाव को प्रकट करने के लिए प्रस्तुत पाठ मे भी **रागदोसरहिय परिहरितव्व** अर्थात् राग और द्वेष से रहित होकर उपयोग करना चाहिए, यह उल्लेख कर दिया गया है ।

निर्ग्रन्थो का आन्तरिक स्वरूप—

१६२—एव से सजए विमुत्ते निस्सगे निप्परिग्गहरुई निम्ममे निण्णेहबधणे सव्वपावविरए वासीचदणसमाणकप्पे समतिणमणिमुत्तालेट्ठुकचणे समे य माणावमाणणाए समियरए समियरागदोसे समिए समिइसु सम्मदिट्ठी समे य जे सव्वपाणभूएसु से हु समणे, सुयधारए उज्जुए सजए सुसाहू, सरण सव्वभूयाण सव्वजगवच्छले सच्चभासए य ससारतट्ठिए य ससारसमुच्छिण्णे सयय मरणाणुपारए, पारगे य सव्वेसि ससयाण पवयणमायाहि अट्ठहि अट्ठकम्म-गठी-विमोयगे, अट्ठमय-महणे ससमयकुसले य भवइ सुहदुहणिव्विसेसे अब्भितरबाहिरम्मि सया तवोवहाणम्मि सुट्ठुज्जुए खते दते य हियणिरए ईरिया-समिए भासासमिए एसणासमिए आयाण-भड-मत्त-णिक्खेवणा-समिए उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्ल-परिट्ठावणियासमिए मणगुत्ते वयगुत्ते कायगुत्ते गुत्तिदिए गुत्तबभयारी चाई लज्जू धण्णे तवस्सी खतिखमे जिइदिए सोहिए अणियाणे अबहिल्लेस्से अममे अकिचणे छिण्णगथे निरुवलेवे ।

१६२—इस प्रकार के आचार का परिपालन करने के कारण वह साधु सयमवान्, विमुक्त—धन-धान्यादि का त्यागी, नि सग—आसक्ति से रहित, निष्परिग्रहरुचि—अपरिग्रह मे रुचि वाला, निर्मम—ममता से रहित, नि स्नेहबन्धन—स्नेह के वन्धन से मुक्त, सर्वपापविरत—समस्त पापो से निवृत्त, वासी-चन्दनकल्प अर्थात् उपकारक और अपकारक के प्रति समान भावना वाला, तृण, मणि, मुक्ता और मिट्टी के ढेले को समान मानने वाला अर्थात् अल्पमूल्य या बहुमूल्य पदार्थो की समान रूप से उपेक्षा करने वाला, सन्मान और अपमान मे समता का धारक, शमितरज—पाप रूपी रज को

उपशान्त करने वाला या शमितरत—विषय सम्बन्धी रति को उपशान्त करने वाला अथवा शमितरय—उत्सुकता को शान्त कर देने वाला, राग-द्वेष को शान्त करने वाला, ईर्या आदि पाँच समितियो से युक्त, सम्यग्दृष्टि और समस्त प्राणो—द्वीन्द्रियादि त्रस प्राणियो और भूतो—एकेन्द्रिय स्थावरो पर समभाव धारण करने वाला होता है। वही वास्तव मे साधु है।

वह साधु श्रुत का धारक, ऋजु—निष्कपट—सरल अथवा उद्युक्त—प्रमादहीन और सयमी है। वह साधु समस्त प्राणियो के लिए शरणभूत होता है, समस्त जगद्वर्त्ती जीवो का वत्सल—हितैषी होता है। वह सत्यभाषी, ससार—जन्म-मरण के अन्त मे स्थित, ससार-भवपरम्परा का उच्छेद—अन्त करने वाला, सदा के लिए (बाल) मरण आदि का पारगामी और सब सशयो का पारगामी—छेत्ता होता है। पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचनमाताओ के द्वारा आठ कर्मो की *ग्रन्थि* को खोलने वाला—अष्ट कर्मो को नष्ट करने वाला, जातिमद, कुलमद आदि आठ मदो का मथन करने वाला एव स्वसमय—स्वकीय सिद्धान्त मे निष्णात होता है। वह सुख-दु ख मे विशेषता रहित अर्थात् सुख मे हर्ष और दु ख मे शोक से अतीत होता है—दोनो अवस्थाओ मे समान रहता है। आभ्यन्तर और बाह्य तप रूप उपधान मे सम्यक् प्रकार से उद्यत रहता है, क्षमावान्, इन्द्रियविजेता, स्वकीय और परकीय हित मे निरत, ईर्यासमिति से सम्पन्न, भाषासमिति से सम्पन्न, एषणासमिति से सम्पन्न, आदान-भाण्ड-मात्र-निक्षपणसमिति से सम्पन्न और मल-मूत्र-श्लेष्म-सघान—नासिकामल-जल्ल—शरीरमल आदि के प्रतिष्ठापन की समिति से युक्त, मनोगुप्ति से, वचनगुप्ति से और कायगुप्ति से युक्त, विषयो की ओर उन्मुख इन्द्रियो का गोपन करने वाला, ब्रह्मचर्य की गुप्ति से युक्त, समस्त प्रकार के सग का त्यागी, रज्जु के समान सरल, तपस्वी, क्षमागुण के कारण सहनशील, जितेन्द्रिय, सद्गुणो से शोभित या शोधित, निदान से रहित, चित्तवृत्ति को सयम की परिधि से बाहर न जाने देने वाला, ममत्व से विहीन, अकिंचन—सम्पूर्ण रूप से निर्द्रव्य, स्नेहबन्धन को काटने वाला और कर्म के उपलेप से रहित होता है।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ मे साधु के आन्तरिक जीवन का अत्यन्त सुन्दर एव भव्य चित्र अकित किया गया है। साधु के समग्र आचार को यहाँ सार के रूप मे समाविष्ट कर दिया गया है। पाठ मे पदो का अर्थ प्राय सुगम है। कुछ विशिष्ट पदो का तात्पर्य इस प्रकार है—

खतिखमे—साधु अनिष्ट प्रसगो को, वध-बन्धन आदि उपसर्गो या परीषहो को सहन करता है, किन्तु असमर्थता अथवा विवशता के कारण नही। उसमे क्षमा की वृत्ति इतनी प्रबल होती है अर्थात् ऐसी सहनशीलता होती है कि वह प्रतीकार करने मे पूर्णरूपेण समर्थ होकर भी अनिष्ट प्रसगो को विशिष्ट कर्मनिर्जरा के हेतु सह लेता है।

आभ्यन्तर-बाह्य तप उपधान—टीकाकार अभयदेवसूरि के अनुसार आन्तरिक शरीर अर्थात् कार्मणशरीर को सन्तप्त—विनष्ट करने वाला प्रायश्चित्त आदि षड्विध तप आभ्यन्तर तप कहलाता है और बाह्य शरीर अर्थात् औदारिक शरीर को तपाने वाला अनशन आदि छह प्रकार का तप बाह्य तप कहलाता है।

'छिन्नगथे' के स्थान पर टीकाकार ने **'छिन्नसोए'** पाठान्तर का उल्लेख किया है। इसका अर्थ **छिन्नशोक** अर्थात् शोक को छेदन कर देने वाला—किसी भी स्थिति मे शोक का अनुभव न करने

वाला अथवा छिन्नश्रोत अर्थात् स्रोतो को स्थगित कर देने वाला है। श्रोत दो प्रकार के है—द्रव्यश्रोत और भावश्रोत। नदी आदि का प्रवाह द्रव्यश्रोत है और ससार-समुद्र मे गिराने वाला अशुभ लोक-व्यवहार भावश्रोत है।

निरुपलेप—का आशय है—कर्म-लेप से रहित। किन्तु मुनि कर्मलेप से रहित नही होते। सिद्ध भगवान् ही कर्म-लेप से रहित होते है। ऐसी स्थिति मे यहाँ मुनि के लिए 'निरुपलेप' विशेषण का प्रयोग किस अभिप्राय से किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर टीका मे दिया गया है—'भाविनि भूतवदुपचारमाश्रित्योच्यते' अर्थात् ऐसा साधक भविष्य मे कर्मलेप से रहित होगा ही, अतएव भावी अर्थ मे भूतकाल का उपचार करके इस विशेषण का प्रयोग किया गया है।

निर्ग्रन्थो की ३१ उपमाएँ—

१६३—सुविमलवरकसभायण व मुक्कतोए।
सखे विव णिरजणे, विगयरागदोसमोहे।
कुम्मो विव इदिएसु गुत्ते।
जच्चकचणग व जायरूवे।
पोक्खरपत्त व णिरुवलेवे।
चदो विव सोमभावयाए।
सूरो व्व दित्ततेए।
अचले जह मदरे गिरिवरे।
अक्खोभे सागरो व्व थिमिए।
पुढवी व्व सव्वफाससहे।
तवसा च्चिय भासरासि-छण्णिव्व जायतेए।
जलियहुयासणे विव तेयसा जलते।
गोसीस चदण विव सीयले सुगधे य।
हरयो विव समियभावे।
उग्घसियसुणिम्मल व आयसमडलतल पागडभावेण सुद्धभावे।
सोडीरे कु जरोव्व।
वसभेव्व जायथामे।
सीहेव्व जहा मियाहिवे होइ दुप्पधरिसे।
सारयसलिल व सुद्धहियए।
भारडे चेव अप्पमत्ते।
खग्गिविसाण व एगजाए।
खाणु चेव उड्ढकाए।

सुण्णागारेव्व अप्पडिकम्मे ।

सुण्णागारावणस्सतो णिवायसरणप्पदीवज्झाणमिव णिप्पकंपे ।

जहा खुरो चेव एगधारे ।

जहा अही चेव एगदिट्ठी ।

आगास चेव णिरालंबे ।

विहगे विव सव्वओ विप्पमुक्के ।

कयपरणिलए जहा चेव उरए ।

अप्पडिबद्धे अणिलोव्व ।

जीवो व्व अपडिहयगई ।

१६३—मुनि आगे कही जाने वाली उपमाओ से मण्डित होता है—

(१) कासे का अत्यन्त निर्मल उत्तम पात्र जैसे जल के सम्पर्क से मुक्त रहता है, वैसे ही साधु रागादि के बन्ध से मुक्त होता है।

(२) शख के समान निरजन अर्थात् रागादि के कालुष्य से रहित, अतएव राग, द्वेष और मोह से रहित होता है।

(३) कूर्म—कच्छप की तरह इन्द्रियो का गोपन करने वाला।

(४) उत्तम शुद्ध स्वर्ण के समान शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त।

(५) कमल के पत्ते के सदृश निर्लेप।

(६) सौम्य—शीतल स्वभाव के कारण चन्द्रमा के समान।

(७) सूर्य के समान तपस्तेज से देदीप्यमान।

(८) गिरिवर मेरु के समान अचल—परीषह आदि मे अडिग।

(९) सागर के समान क्षोभरहित एव स्थिर।

(१०) पृथ्वी के समान समस्त अनुकूल एव प्रतिकूल स्पर्शो को सहन करने वाला।

(११) तपश्चर्या के तेज से अन्तरग मे ऐसा दीप्त जैसे भस्मराशि से आच्छादित अग्नि हो।

(१२) प्रज्वलित अग्नि के सदृश तेजस्विता से देदीप्यमान।

(१३) गोशीर्ष चन्दन की तरह शीतल और अपने शील के सौरभ से युक्त।

(१४) ह्रद—(पवन के न होने पर) सरोवर के समान प्रशान्तभाव वाला।

(१५) अच्छी तरह घिस कर चमकाए हुए निर्मल दर्पणतल के समान स्वच्छ, प्रकट रूप से मायारहित होने के कारण अतीव निर्मल जीवन वाला—शुद्ध भाव वाला।

(१६) कर्म-शत्रुओ को पराजित करने मे गजराज की तरह शूरवीर।

(१७) वृषभ की तरह अगीकृत व्रत-भार का निर्वाह करने वाला।

(१८) मृगाधिपति सिह के समान परीषहादि से अजेय।

(१९) शरत्कालीन जल के सदृश स्वच्छ हृदय वाला।

(२०) भारण्ड पक्षी के समान अप्रमत्त—सदा सजग।

(२१) गेंडे के सीग के समान अकेला—अन्य की सहायता की अपेक्षा न रखने वाला।

(२२) स्थाणु (ठूंठ) की भाँति ऊर्ध्वकाय—कायोत्सर्ग मे स्थित ।

(२३) शून्यगृह के समान अप्रतिकर्म, अर्थात् जैसे सुनसान पडे घर को कोई मजाता-सवारता नही, उसी प्रकार शरीर की माज-सज्जा से रहित ।

(२४) वायुरहित घर मे स्थित प्रदीप की तरह विविध उपसर्ग होने पर भी शुभ ध्यान मे निश्चल रहने वाला ।

(२५) छुरे की तरह एक धार वाला, अर्थात् एक उत्सर्गमार्ग मे ही प्रवृत्ति करने वाला ।

(२६) सर्प के समान एकदृष्टि वाला, अर्थात् सर्प जैसे अपने लक्ष्य पर ही नजर रखता है, उसी प्रकार मोक्षसाधना की ओर ही एकमात्र दृष्टि रखने वाला ।

(२७) आकाश के समान किसी का सहारा न लेनेवाला—स्वावलम्वी ।

(२८) पक्षी के सदृश विप्रमुक्त—पूर्ण निष्परिग्रह ।

(२९) सर्प के समान दूसरो के लिए निर्मित स्थान मे रहने वाला ।

(३०) वायु के समान अप्रतिबद्ध—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के प्रतिबन्ध से मुक्त ।

(३१) देहविहीन जीव के ममान बेरोकटोक (अप्रतिहत) गति वाला—स्वेच्छापूर्वक यत्र-तत्र विचरण करने वाला ।

विवेचन—इन उपमाओ के द्वारा भी साधुजीवन की विशिष्टता, उज्ज्वलता, सयम के प्रति निश्चलता, स्वावलम्बिता, अप्रमत्तता, स्थिरता, लक्ष्य के प्रति निरन्तर सजगता, आन्तरिक शुचिता, देह के प्रति अनासक्तता, सयमनिर्वाह सबधी क्षमता आदि का प्रतिपादन किया गया है । इन उपमाओ द्वारा फलित आशय स्पष्ट है । आगे भी मुनिजीवन की विशेषताओ का उल्लेख किया जा रहा है ।

पूर्व मे प्रतिपादित किया गया कि साधु अप्रतिबद्धविहारी होता है । विहार के विषय मे वह किसी बन्धन से बँधा नही होता । अतएव यहाँ उसके विहार के सम्बन्ध मे स्पष्ट उल्लेख करते हुए कतिपय अन्य गुणो पर प्रकाश डाला जा रहा है—

१६४—गामे गामे एगराय णयरे णयरे य पचराय दूइज्जते य जिइदिए जियपरीसहे णिब्भओ विऊ सच्चित्ता-चित्त-मीसगेहिं दव्वेहिं विराय गए, सचयाओ विरए, मुत्ते, लहुए, णिरवकखे, जीविय-मरणासविप्पमुक्के णिस्सधि णिव्वण चरित्त धीरे काएण फासयते सयय अज्झप्पज्झाणजुत्ते, णिहुए, एगे चरेज्ज धम्म ।

इम च परिग्गहवेरमण-परिरक्खणट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय अत्तहिय पेच्चाभाविय आगमेसिभद्द सुद्ध णेयाउय अकुडिल अणुत्तर सव्वदुक्खपावाण विउवसमण ।

१६४—(मुनि) प्रत्येक ग्राम मे एक रात्रि और प्रत्येक नगर मे पाँच रात्रि तक विचरता—रहता है, क्योकि वह जितेन्द्रिय होता है, परीषहो को जीतने वाला, निर्भय, विद्वान्—गीतार्थ, सचित्त-सजीव, अचित्त—निर्जीव और मिश्र—आभूषणयुक्त दास आदि मिश्रित द्रव्यो मे वैराग्ययुक्त होता है, वस्तुओ का सचय करने से विरत होता है, मुक्त—निर्लोभवृत्ति वाला, लघु अर्थात् तीनो प्रकार क गौरव से रहित और परिग्रह के भार से रहित होता है । जीवन और मरण की आशा—आकाक्षा से

सर्वथा मुक्त रहता है, चारित्र-परिणाम के विच्छेद से रहित होता है, अर्थात् उसका चारित्र-परिणाम निरन्तर विद्यमान रहता है, कभी भग्न नही होता। वह निरतिचार—निर्दोष चारित्र का धैर्यपूर्वक शारीरिक क्रिया द्वारा पालन करता है। ऐसा मुनि सदा अध्यात्मध्यान मे निरत, उपशान्त भाव तथा एकाकी—सहायकरहित अथवा रागादि से असपृक्त होकर धर्म का आचरण करे।

परिग्रहविरमणव्रत के परिरक्षण के हेतु भगवान् ने यह प्रवचन—उपदेश कहा है। यह प्रवचन आत्मा के लिए हितकारी है, आगामी भवो मे उत्तम फल देने वाला है और भविष्य मे कल्याण करने वाला है। यह शुद्ध, न्याययुक्त, अकुटिल, सर्वोत्कृष्ट और समस्त दु खो तथा पापो को सर्वथा शान्त करने वाला है।

विवेचन—प्रकृत पाठ स्पष्ट और सुबोध है। केवल एक ही बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है। मुनि को ग्राम मे एक रात और नगर मे पाँच रात तक टिकने का जो कथन यहाँ किया गया है, उसके विषय मे टीकाकार ने लिखा है—

'एतच्च भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्नसाध्वपेक्षया सूत्रमवगन्तव्यम्।

—प्र व्या आगमोदय पृ १५८

इसका आशय यह है कि यह सूत्र अर्थात् विधान उस साधु के लिए जानना चाहिए जिसने भिक्षुप्रतिमा अगीकार की हो। अर्थात् सब सामान्य साधुओ के लिए यह विधान नही है।

अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनाएँ

प्रथम भावना—श्रोत्रेन्द्रिय-सयम—

१६५—तस्स इमा पच भावणाओ चरिमस्स वयस्स होंति परिग्गहवेरमण-परिरक्खणट्ठयाए।

पढम—सोइदिएण सोच्चा सद्दाइ मणुण्णभद्दगाइ।

किं ते ?

वरमुरय-मुइग-पणव-दद्दुर-कच्छभि-वीणा-विपची-वल्लयि- वद्धीसग-सुघोस-णदि-सूसरपरिवाइणी-वस-तूणग-पव्वग-तती-तल-ताल-तुडिय-णिग्घोसगीय-वाइयाइ। णड-णट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिग-वेलबग-कहग-पवग-लासग-आइक्खग-लख-मख-तूणइल्ल-तु बवीणिय-तालायर-पकरणाणि य, बहूणि महुरसरगीय-सुस्सराइ कची-मेहला-कलाव-पतरग-पहेरग-पायजालग-घटिय-खिखिणि-रयणोरुजालिय-छुद्दिय-णेउर-चलण-मालिय-कणग-णियल-जालग-भूसण-सद्दाणि, लीलचकम्ममाणाणुदीरियाइ तरुणीजण-हसिय-भणिय-कलरिभिय-मजुलाइ गुणवयणाणि व बहूणि महुरजण-भासियाइ अण्णेसु य एवमाइएसु सद्देसु मणुण्णभद्दएसु ण तेसु समणेण सज्जियव्व, ण रज्जियव्व ण गिज्झियव्व, ण मुज्झियव्व, ण विणिग्घाय आवज्जियव्व, ण लुभियव्वं, ण तुसियव्व, ण हसियव्व, ण सइ च मइ च तत्थ कुज्जा।

पुणरवि सोइदिएण सोच्चा सद्दाइ अमणुण्णपावगाइ—

किं ते ?

अक्कोस-फरुस-खिसण-अवमाणण- तज्जण-णिब्भछण-दित्तवयण- तासण-उक्कूजिय- रुण्ण-रडिय-

कद्दिय-णिग्घुट्ठरसिय-कलुण-विलवियाइ अण्णेसु य एवमाइएसु सद्देसु अमणुण्ण-पावएसु ण तेसु समणेण रूसियव्व, ण हीलियव्व, ण णिंदियव्व, ण खिंसियव्वं, ण छिंदियव्व, ण भिंदियव्वं, ण वहेयव्व, ण दुगु छावत्तियाए लब्भा उप्पाएउ, एव सोइंदिय-भावणा-भाविओ भवइ अतरप्पा मणुण्णाऽमणुण्ण-सुब्भिदुब्भि-राग दोसप्पणिहियप्पा साहू मणवयणकायगुत्ते सवुडे पणिहिइंदिए चरेज्ज धम्म ।

१६५—परिग्रहविरमणव्रत अथवा अपरिग्रहसवर की रक्षा के लिए अन्तिम व्रत अर्थात् अपरिग्रहमहाव्रत की पाँच भावनाएँ है। उनमे से प्रथम भावना (श्रोत्रेन्द्रियसयम)इस प्रकार है—

श्रोत्रेन्द्रिय मे, मन के अनुकूल होने के कारण भद्र—सुहावने प्रतीत होने वाले शब्दो को सुन कर (साधु को राग नही करना चाहिए)।

(प्रश्न—) वे शब्द कौन-से, किस प्रकार के है ?

(उत्तर—) उत्तम मुरज—महामर्दल, मृदग, पणव—छोटा पटह, दर्दु र—एक प्रकार का वह वाद्य जो चमडे से मढे मुख वाला और कलश जैसा होता है, कच्छभी—वाद्यविशेष, वीणा, विपची और वल्लकी (विशेष प्रकार की वीणाएँ), वद्धीसक—वाद्यविशेष, सुघोषा नामक एक प्रकार का घटा, नन्दी—बारह प्रकार के बाजो का निर्घोष, सूसरपरिवादिनी—एक प्रकार की वीणा, वश—बासुरी, तूणक एव पर्वक नामक वाद्य, तत्री—एक विशेष प्रकार की वीणा, तल—हस्ततल, ताल—कास्य-ताल, इन सब बाजो के नाद को (सुन कर) तथा नट, नर्तक, जल्ल—बास या रस्सी के ऊपर खेल दिखलाने वाले, मल्ल, मुष्टिमल्ल, विडम्बक—विदूषक, कथक—कथा कहने वाले, प्लवक—उछलने वाले, रास गाने वाले आदि द्वारा किये जाने वाले नाना प्रकार की मधुर ध्वनि से युक्त सुस्वर गीतो को (सुन कर) तथा करधनी—कदोरा, मेखला (विशिष्ट प्रकार की करधनी), कलापक—गले का एक आभूषण, प्रतरक और प्रहेरक नामक आभूषण, पादजालक—नूपुर आदि आभरणो के एव घण्टिका—घुघरू, खिखिनी—छोटी घटियो वाला आभरण, रत्लोरुजालक—रत्नो का जघा का आभूषण, क्षुद्रिका नामक आभूषण, नेउर—नूपुर, चरणमालिका तथा कनकनिगड नामक पैरो के आभूषण और जालक नामक आभूषण, इन सब की ध्वनि—आवाज को (सुन कर) तथा लीलापूर्वक चलती हुई स्त्रियो की चाल से उत्पन्न (ध्वनि को) एव तरुणी रमणियो के हास्य की, बोलो की तथा स्वर-घोलनायुक्त मधुर तथा सुन्दर आवाज को (सुन कर) और स्नेही जनो द्वारा भाषित प्रशसा-वचनो को एव इसी प्रकार के मनोज्ञ एव सुहावने वचनो को (सुन कर) उनमे साधु को आसक्त नही होना चाहिए, राग नही करना चाहिए, गृद्धि—अप्राप्ति की अवस्था मे उनकी प्राप्ति की आकाक्षा नही करनी चाहिए, मुग्ध नही होना चाहिए, उनके लिए स्व-पर का परिहनन नही करना चाहिए, लुब्ध नही होना चाहिए, तुष्ट—प्राप्ति होने पर प्रसन्न नही होना चाहिए, हँसना नही चाहिए, ऐसे शब्दो का स्मरण और विचार भी नही करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त श्रोत्रेन्द्रिय के लिये अमनोज्ञ—मन मे अप्रीतिजनक एव पापक—अभद्र शब्दो को सुनकर रोष (द्वेष) नही करना चाहिए।

(प्र) वे शब्द—कौन से—किस प्रकार के है ?

(उ) आक्रोश—तू मर जा इत्यादि वचन, परुष—अरे मूर्ख, इत्यादि वचन, खिसना—

निन्दा, अपमान, तर्जना—भयजनक वचन निर्भर्त्सना—सामने से हट जा, इत्यादि वचन दीप्त—क्रोधयुक्त वचन, त्रास जनक वचन, उत्कूजित—अस्पष्ट उच्च ध्वनि, रुदनध्वनि, रटित—धाड मार कर रोने, क्रन्दन—वियोगजनित विलाप आदि की ध्वनि, निर्घुष्ट—निर्घोषरूप ध्वनि, रसित—जानवर के समान चीत्कार, करुणाजनक शब्द तथा विलाप के शब्द—इन सब शब्दो मे तथा इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ एव पापक—अभद्र शब्दो मे साधु को रोष नही करना चाहिए, उनकी हीलना नही करनी चाहिए, निन्दा नही करनी चाहिए, जनसमूह के समक्ष उन्हे बुरा नही कहना चाहिए, अमनोज्ञ शब्द उत्पन्न करने वाली वस्तु का छेदन नही करना चाहिए, भेदन—टुकडे नही करने चाहिए, उसे नष्ट नही करना चाहिए। अपने अथवा दूसरे के हृदय मे जुगुप्सा उत्पन्न नही करनी चाहिए।

इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय (सयम) की भावना से भावित अन्त करण वाला साधु मनोज्ञ एव अमनोज्ञरूप शुभ-अशुभ शब्दो मे राग-द्वेष के सवर वाला, मन-वचन और काय का गोपन करने वाला, सवरयुक्त एव गुप्तेन्द्रिय—इन्द्रियो का गोपन-कर्त्ता होकर धर्म का आचरण करे।

द्वितीय भावना—चक्षुरिन्द्रिय-संवर—

१६६—बिइय—चक्खुइदिएण पासिय रूवाणि मणुण्णाइ भद्दगाइ, सचित्ताचित्तमीसगाइ कट्ठे पोत्थे य चित्तकम्मे लेप्पकम्मे सेले य दतकम्मे य पचहि वण्णेहि अणेगसठाणसठियाइ, गठिम-वेढिम-पूरिम-सघाइमाणि य मल्लाइ बहुविहाणि य अहिय णयणमणसुहयराइ, वणसडे पव्वए य गामागर-णयराणि य खुद्दिय-पुक्खरिणि-वावी-दीहिय-गुजालिय-सरसरपतिय-सायर-बिल-पतिय-खाइय-णई-सर-तलाग-वप्पिणी-फुल्लुप्पल-पउमपरिमडियाभिरामे अणेगसउणगण-मिहुण-वियरिए वरमडव-विविह-भवण-तोरण-चेइय-देवकुल-सभा-प्पवा-वसह-सुकयसयणासण- सीय-रह-सयड-जाण-जुग्ग-सदण-णरणारि-गणे य सोमपडिरूव-दरिसणिज्जे अलकिय-विभूसिए पुव्वकयतवप्पभाव-सोहग्गसपउत्ते णड-णट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिय-वेलंबग- कहग-पवग-लासग-आइक्खग-लख-मख-तूणइल्ल-तुबवीणिय-तालायर-पकर-णाणि य बहूणि सुकरणाणि अण्णेसु य एवमाइएसु रूवेसु मणुण्णभद्दएसु ण तेसु समणेण सज्जियव्व, ण रज्जियव्व जाव ण सइं च मइं च तत्थ कुज्जा।

पुणरवि चक्खिदिएण पासिय रूवाइ अमणुण्णपावगाइ—

किं ते?

गडि-कोढिक-कुणि- उयरि-कच्छुल्ल- पइल्ल-कुज्ज- पगुल-वामण- अधिल्लग-एगचक्खु- विणिहय-सप्पिसल्लग-वाहिरोगपीलिय, विगयाणि मयगकलेवराणि सकिमिणकुहिय च दव्वरासिं, अण्णेसु य एवमाइएसु अमणुण्ण-पावगेसु ण तेसु समणेण रूसियव्व जाव ण दुगु छावत्तिया वि लब्भा उप्पाएउ, एव चक्खिदियभावणाभाविओ भवइ अतरप्पा जाव चरेज्ज धम्म।

द्वितीय भावना चक्षुरिन्द्रिय का सवर है। वह इस प्रकार है—

चक्षुरिन्द्रिय से मनोज्ञ—मन को अनुकूल प्रतीत होने वाले एव भद्र—सुन्दर सचित्त द्रव्य, अचित्त द्रव्य और मिश्र—सचित्ताचित्त द्रव्य के रूपो को देख कर (राग नही करना चाहिए)। वे रूप चाहे काष्ठ

पर हो, वस्त्र पर हो, चित्र-लिखित हो, मिट्टी आदि के लेप से वनाए गए हो, पाषण पर अकित हो, हाथीदात आदि पर हो, पाँच वर्ण के और नाना प्रकार के आकार वाले हो, गूथ कर माला आदि की तरह बनाए गए हो, वेप्टन से, चपडी आदि भर कर अथवा सघात से—फूल आदि की तरह एक-दूसरे को मिलाकर बनाए गए हो, अनेक प्रकार की मालाओ के रूप हो और वे नयनो तथा मन को अत्यन्त आनन्द प्रदान करने वाले हो (तथापि उन्हे देख कर राग नही उत्पन्न होने देना चाहिए।)

इसी प्रकार वनखण्ड, पर्वत, ग्राम, आकर, नगर तथा विकसित नील कमलो एव (श्वेतादि) कमलो से सुशोभित और मनोहर तथा जिनमे अनेक हस, सारस आदि पक्षियो के युगल विचरण कर रहे हो, ऐसे छोटे जलाशय, गोलाकार वावडी, चौकोर वावडी, दीर्घिका—लम्बी वावडी, नहर, सरोवरो की कतार, सागर, विलपक्ति, लोहे आदि की खानो मे खोदे हुए गडहो की पक्ति, खाई, नदी, सर—विना खोदे प्राकृतिक रूप से वने जलाशय, तडाग—तालाव, पानी की क्यारी (आदि को देख कर) अथवा उत्तम मण्डप, विविध प्रकार के भवन, तोरण, चैत्य—स्मारक, देवालय, सभा—लोगो के बैठने के स्थानविशेष, प्याऊ, आवसथ—परिव्राजको के आश्रम, सुनिर्मित शयन—पलग आदि, सिंहासन आदि आसन, शिविका—पालकी, रथ, गाडी, यान, युग्य—यानविशेष, स्यन्दन—घु घरूदार रथ या साग्रामिक रथ और नर-नारियो का समूह, ये सब वस्तुएँ यदि सौम्य हो, आकर्षक रूप वाली दर्शनीय हो, आभूषणो से अलकृत और सुन्दर वस्त्रो से विभूषित हो, पूर्व मे की हुई तपस्या के प्रभाव से सौभाग्य को प्राप्त हो तो (इन्हे देखकर) तथा नट, नर्तक, जल्ल, मल्ल, मौष्टिक, विदूषक, कथावाचक, प्लवक, रास करने वाले व वार्त्ता कहने वाले, चित्रपट लेकर भिक्षा मागने वाले, वास पर खेल करने वाले, तूणइल्ल—तूणा बजाने वाले,तूम्बे की वीणा बजाने वाले एव तालाचरो के विविध प्रयोग देख कर तथा बहुत से करतवो को देखकर (आसक्त नही होना चाहिए)। इस प्रकार के अन्य मनोज्ञ तथा सुहावने रूपो मे साधु को आसक्त नही होना चाहिए, अनुरक्त नही होना चाहिए, यावत् उनका स्मरण और विचार भी नही करना चाहिए।

इसके सिवाय चक्षुरिन्द्रिय से अमनोज्ञ और पापकारी रूपो को देखकर (रोष नही करना चाहिए)।

(प्र) वे (अमनोज्ञ रूप) कौन-से है ?

(उ) वात, पित्त, कफ और सन्निपात से होने वाले गडरोग वाले को, अठारह प्रकार के कुष्ठ रोग वाले को, कुणि—कुट—टोटे को, जलोदर के रोगी को, खुजली वाले को, श्लीपद रोग के रोगी को, लगडे को, वामन—बौने को, जन्मान्ध को, एकचक्षु(काणे) को, विनिहत चक्षु को—जन्म के पश्चात् जिसकी एक या दोनो आँखे नष्ट हो गई हो, पिशाचग्रस्त को अथवा पीठ से सरक कर चलने वाले को, विशिष्ट चित्तपीडा रूप व्याधि या रोग से पीडित को (इनमे से किसी को देखकर) तथा विकृत मृतक-कलेवरो को या विलबिलाते कीडो से युक्त सडी-गली द्रव्यराशि को देखकर अथवा इनके सिवाय इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ और पापकारी रूपो को देखकर श्रमण को उन रूपो के प्रति रुष्ट नही होना चाहिए, यावत् अवहीलना आदि नही करनी चाहिए और मन मे जुगुप्सा—घृणा भी नही उत्पन्न होने देना चाहिए।

इस प्रकार चक्षुरिन्द्रियसवर रूप भावना से भावित अन्त करण वाला होकर मुनि यावत् धर्म का आचरण करे।

तीसरी भावना—घ्राणेन्द्रिय-संयम—

१६७—तइयं—घाणिदिएण अग्घाइय गंधाइं मणुण्णभद्दगाइं—

किं ते ?

जलय-थलय-सरस-पुप्फ-फल-पाणभोयण-कुट्ठ-तगर-पत्त-चोय-दमणग-मरुय-एलारस-पिक्क-मसि-गोसीस-सरस-चंदण-कप्पूर-लवंग-अगर-कुंकुम-कक्कोल-उसीर-सेयचंदण-सुगंधसारंग-जुत्तिवर-धूववासे उउय-पिंडिम-णिहारिमगंधिएसु अण्णेसु य एवमाइएसु गंधेसु मणुण्णभद्दएसु ण तेसु समणेण सज्जियव्वं जाव ण सइं च मइं च तत्थ कुज्जा।

पुणरवि घाणिदिएण अग्घाइय गंधाइं अमणुण्णपावगाइं—

किं ते ?

अहिमड-अस्समड-हत्थिमड-गोमड-विग-सुणग-सियाल-मणुय-मज्जार-सीह-दीविय-मयकुहिय-विणट्ठकिविण-बहुदुरभिगंधेसु अण्णेसु य एवमाइएसु गंधेसु अमणुण्ण-पावगेसु ण तेसु समणेण रूसियव्वं जाव पणिहियइंदिए चरेज्ज धम्मं।

१६७—घ्राणेन्द्रिय से मनोज्ञ और सुहावना गंध सूंघ कर (रागादि नहीं करना चाहिए)।

(प्र०) वे सुगन्ध क्या—कैसे हैं ?

(उ०) जल और स्थल में उत्पन्न होने वाले सरस पुष्प, फल, पान, भोजन, उत्पलकुष्ठ, नगर, तमालपत्र, चोय—सुगंधित त्वचा, दमनक (एक विशेष प्रकार का फूल)— मरुआ, एलारस—इलायची का रस, पका हुआ मासी नामक सुगंध वाला द्रव्य—जटामासी, सरस गोशीर्ष चन्दन, कपूर, लवंग, अगर, कुंकुम, कक्कोल—गोलाकार सुगंधित फलविशेष, उशीर—खस, श्वेत चन्दन, श्रीखण्ड आदि द्रव्यों के संयोग से बनी श्रेष्ठ धूप की सुगन्ध को सूंघकर (रागभाव नहीं धारण करना चाहिए) तथा भिन्न-भिन्न ऋतुओं में उत्पन्न होने वाले कालोचित सुगन्ध वाले एवं दूर-दूर तक फैलने वाली सुगन्ध से युक्त द्रव्यों में और इसी प्रकार की मनोहर, नासिका को प्रिय लगने वाली सुगन्ध के विषय में मुनि को आसक्त नहीं होना चाहिए, यावत् अनुरागादि नहीं करना चाहिए। उनका स्मरण और विचार भी नहीं करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त घ्राणेन्द्रिय से अमनोज्ञ और असुहावने गंधों को सूंघकर (रोष आदि नहीं करना चाहिए)।

वे दुर्गन्ध कौन-से है ?

मरा हुआ सर्प, मृत घोड़ा, मृत हाथी, मृत गाय तथा भेड़िया, कुत्ता, मनुष्य, बिल्ली, शृगाल, सिंह और चीता आदि के मृतक सड़े-गले कलेवरों की, जिसमें कीड़े बिलबिला रहे हों दूर-दूर तक बदबू फैलाने वाली गन्ध में तथा इसी प्रकार के और भी अमनोज्ञ और असुहावनी दुर्गन्धों के विषय में साधु को रोष नहीं करना चाहिए यावत् इन्द्रियों को वशीभूत करके धर्म का आचरण करना चाहिए।

चतुर्थ भावना—रसनेन्द्रिय-सयम—

१६८—चउत्थ—जिंभिदिएण साइय रसाणि मणुण्णभद्दगाइ।

किं ते ?

उग्गाहिमविविहपाण-भोयण-गुलकय-खडकय-तेल्ल-घयकय-भक्खेसु-बहुविहेसु लवणरससजुत्तेसु महुमस-बहुप्पगारमज्जिय- णिट्ठाणगदालियब- सेहब-दुद्ध- दहि-सरय-मज्ज- वरवारुणी-सीहु-काविसायण-सायट्ठारस-बहुप्पगारेसु भोयणेसु य मणुण्ण-वण्ण-गध-रस-फास-बहुदव्वसभिएसु अण्णेसु य एवमाइएसु रसेसु मणुण्णभद्दएसु ण तेसु समणेण सज्जियव्व जाव ण सइ च मइ च तत्थ कुज्जा।

पुणरवि जिंभिदिएण साइय रसाइ अमुण्णपावगाइ—

कि ते ?

अरस-विरस-सीय-लुक्ख-णिज्जप्प-पाण-भोयणाइ दोसीण-वावण्ण-कुहिय-पूइय अमणुण्ण-विणट्ठ-प्पसूय-बहुदुब्भिगधियाइ तित्त-कडुय-कसाय-अबिल-रस-लिंडणीरसाइ, अण्णेसु य एवमाइएसु रसेसु अमणुण्ण-पावगेसु ण तेसु समणेण रूसियव्व जाव चरेज्ज धम्म।

१६८—रसना-इन्द्रिय से मनोज्ञ एव सुहावने रसो का आस्वादन करके (उनमे आसक्त नही होना चाहिए)।

(प्र) वे रस क्या-कैसे है ?

(उ) घी—तैल आदि मे डुबा कर पकाए हुए खाजा आदि पकवान, विविध प्रकार के पानक—द्राक्षापान आदि, गुड या शक्कर के वनाए हुए, तेल अथवा घी से बने हुए मालपूवा आदि वस्तुओ मे, जो अनेक प्रकार के नमकीन आदि रसो से युक्त हो, मधु, मास, बहुत प्रकार की मज्जिका, बहुत व्यय करके बनाया गया, दालिकाम्ल—खट्टी दाल, सैन्धाम्ल—रायता आदि, दूध, दही, सरक, मद्य, उत्तम प्रकार की वारुणी, सीधु तथा पिशायन नामक मदिराएँ, अठारह प्रकार के शाक वाले ऐसे अनेक प्रकार के मनोज्ञ वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से युक्त अनेक द्रव्यो से निर्मित भोजन मे तथा इसी प्रकार के अन्य मनोज्ञ एव सुहावने—लुभावने रसो मे साधु को आसक्त नही होना चाहिए, यावत् उनका स्मरण तथा विचार भी नही करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त जिह्वा-इन्द्रिय से अमनोज्ञ और असुहावने रसो का आस्वाद करके (रोष आदि नही करना चाहिए)।

(प्र) वे अमनोज्ञ रस कौन-से हैं ?

(उ) अरस—हीग आदि के सस्कार से रहित होने के कारण रसहीन, विरस—पुराना होने से विगतरस, ठण्डे, रूखे—विना चिकनाई के, निर्वाह के अयोग्य भोजन-पानी को तथा रात-वासी, व्यापन्न—रग बदले हुए, सडे हुए, अपवित्र होने के कारण अमनोज्ञ अथवा अत्यन्त विकृत हो चुकने के कारण जिनसे दुर्गन्ध निकल रही हो ऐसे तिक्त, कटु, कसैले, खट्टे, शेवाल-रहित पुराने पानी के समान एव नीरस पदार्थो मे तथा इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ तथा अशुभ रसो मे साधु को रोष धारण नही करना चाहिए यावत् सयतेन्द्रिय होकर धर्म का आचरण करना चाहिए।

पचम भावना—स्पर्शनेन्द्रिय-संयम—

१६९—पचमग—फासिदिएण फासिय फासाइ मणुण्णभद्दगाइ—

किं ते ?

दग-मडव- हार- सेयचदण- सीयल-विमल- जल- विविहकुसुम- सत्थर- ओसीर-मुत्तिय- मुणाल-दोसिणा-पेहुणउक्खेवग-तालियट-वीयणग-जणियसुहसीयले य पवणे गिम्हकाले सुहफासाणि य बहूणि सयणाणि आसणाणि य पाउरणगुणे य सिसिरकाले अगारपयावणा य आयवणिद्धमउयसीय-उसिण-लहुआ य जे उउसुहफासा अगसुह-णिव्वुइगरा ते अण्णेसु य एवमाइएसु फासेसु मणुण्णभद्दगेसु ण तेसु समणेण सज्जियव्व, ण रज्जियव्व, ण गिज्झियव्व, ण मुज्झियव्व, ण विणिग्घाय आवज्जियव्व, ण लुब्भियव्व, ण अज्झोववज्जियव्व, ण तूसियव्व, ण हसियव्व, ण सइ च मइ च तत्थ कुज्जा ।

पुणरवि फासिदिएण फासिय फासाइ अमणुण्णपावगाइ—

किं ते ?

अणेगवह-बध-तालणकण-अइभारारोवणए, अगभजण-सूईणखप्पवेस-गायपच्छणण-लक्खारस-खार-तेल्ल-कलकलत-तउय- सीसग-काल-लोहसिचण- हडिबधण -रज्जुणिगल-सकल- हत्थडुय-कु भिपाग-दहण-सीहपुच्छण-उब्बधण-सूलभेय-गयचलणमलण-करचरण-कण्ण-णासोट्ठ-सीसच्छेयण जिब्भच्छेयण-वसण-णयण-हियय-दतभजण- जोत्तलय-कसप्पहार- पाय-पण्हि-जाणु-पत्थर- णिवाय-पीलण- कविकच्छु-अगणि-विच्छुयडक्क-वायातव-दसमसग-णिवाए दुट्ठणिसज्जदुण्णिसीहिय-दुब्भि-कक्खड-गुरु-सीय-उसिण-लुक्खेसु बहुविहेसु अण्णेसु य एवमाइएसु फासेसु अमणुण्णपावगेसु ण तेसु समणेण रूसियव्व, ण हीलियव्व, ण णिंदियव्व, ण गरहियव्व, ण खिसियव्व, ण छिदियव्व, ण भिदियव्व, ण वहेयव्व, ण दुगछावत्तियव्व च लब्भा उप्पाएउ ।

एव फासिदियभावणाभाविओ भवइ अतरप्पा, मणुण्णामणुण्ण-सुब्भि-दुब्भिरागदोसपणिहियप्पा साहू मणवयणकायगुत्ते सवुडेण पणिहिइदिए चरिज्ज धम्म ।

१६९—स्पर्शनेन्द्रिय मे मनोज्ञ और सुहावने स्पर्शो को छूकर (रागभाव नही धारण करना चाहिए) ।

(प्र) वे मनोज्ञ स्पर्श कौन-से है ?

(उ) जलमण्डप—झरने वाले मण्डप, हार, श्वेत चन्दन, शीतल निर्मल जल, विविध पुष्पो की शय्या—फूलो की सेज, खसखस, मोती, पद्मनाल, चन्द्रमा की चाँदनी तथा मोर-पिच्छी, तालवृन्त—ताड का पखा, वीजना से की गई सुखद शीतल पवन मे, ग्रीष्मकाल मे सुखद स्पर्श वाले अनेक प्रकार के शयनो और आसनो मे, शिशिरकाल—शीतकाल मे आवरण गुण वाले अर्थात् ठण्ड से बचाने वाले वस्त्रादि मे, अगारो मे शरीर को तपाने, धूप, स्निग्ध—तेलादि पदार्थ, कोमल और शीतल, गर्म और हल्के—जो ऋतु के अनुकूल सुखप्रद स्पर्श वाले हो, शरीर को सुख और मन को आनन्द देने वाले हो, ऐसे सब स्पर्शो मे तथा इसी प्रकार के अन्य मनोज्ञ और सुहावने स्पर्शो मे श्रमण को आसक्त नही होना चाहिए, अनुरक्त नही होना चाहिए, गृद्ध नही होना चाहिए—उन्हे प्राप्त करने

की अभिलाषा नही करनी चाहिए, मुग्ध नही होना चाहिए, और स्व-परहित का विघात नही करना चाहिए, लुब्ध नही होना चाहिए, तल्लीनचित्त नही होना चाहिए, उनमे सन्तोषानुभूति नही करनी चाहिए, हँसना नही चाहिए, यहाँ तक कि उनका स्मरण और विचार भी नही करना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त स्पर्शनेन्द्रिय से अमनोज्ञ एव पापक—असुहावने स्पर्शो को छूकर (रुष्ट-द्विष्ट नही होना चाहिए ।)

(प्र) वे स्पर्श कौन-से है ?

(उ) वध बन्धन, ताडन—थप्पड आदि का प्रहार, अकन—तपाई हुई सलाई आदि से शरीर को दागना, अधिक भार का लादा जाना, अग-भग होना या किया जाना, शरीर मे सुई या नख का चुभाया जाना, अग की हीनता होना, लाख के रस, नमकीन (क्षार) तैल, उबलते शीशे या कृष्णवर्ण लोहे से शरीर का सीचा जाना, काष्ठ के खोडे मे डाला जाना, डोरी के निगड बन्धन से बाँधा जाना, हथकडियाँ पहनाई जाना, कु भी मे पकाना, अग्नि से जलाया जाना, शेफत्रोटन लिगच्छेद, बाँध कर ऊपर से लटकाना, शूली पर चढाया जाना, हाथी के पैर से कुचला जाना, हाथ-पैर-कान-नाक-होठ और शिर मे छेद किया जाना, जीभ का बाहर खीचा जाना, अण्डकोश-नेत्र-हृदय-दात या आत का मोडा जाना, गाडी मे जोता जाना, बेत या चाबुक द्वारा प्रहार किया जाना, एडी, घुटना या पाषाण का अग पर आघात होना, यत्र मे पीला जाना, कपिकच्छू– अत्यन्त खुजली होना अथवा खुजली उत्पन्न करने वाले फल—करेच का स्पर्श होना, अग्नि का स्पर्श, विच्छू के डक का, वायु का, धूप का या डास-मच्छरो का स्पर्श होना, दुष्ट—दोषयुक्त—कष्टजनक आसन, स्वाध्यायभूमि मे तथा दुर्गन्धमय, कर्कश, भारी, शीत, उष्ण एव रूक्ष आदि अनेक प्रकार के स्पर्शो मे और इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ स्पर्शो मे साधु को रुष्ट नही होना चाहिए, उनकी हीलना नही करनी चाहिए, निन्दा और गर्हा नही करनी चाहिए, खिसना नही करनी चाहिए, अशुभ स्पर्श वाले द्रव्य का छेदन-भेदन नही करना चाहिए, स्व-पर का हनन नही करना चाहिए। स्व-पर मे घृणावृत्ति भी उत्पन्न नही करनी चाहिए ।

इस प्रकार स्पर्शनेन्द्रियसवर की भावना से भावित अन्त करण वाला, मनोज्ञ और अमनोज्ञ, अनुकूल और प्रतिकूल स्पर्शो की प्राप्ति होने पर राग-द्वेषवृत्ति का सवरण करने वाला साधु मन, वचन और काय से गुप्त होता है । इस भाँति साधु सवृतेन्द्रिय होकर धर्म का आचरण करे ।

पंचम सवरद्वार का उपसहार—

१७०—एवमिण सवरस्स दार सम्म सवरिय होइ सुप्पणिहिय इमेहिं पर्चाहं पि कारणेहि मणवयकायपरिरक्खिएहिं । णिच्च आमरणत च एस जोगो णेयव्वो धिइमया मइमया, अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुण्णाओ ।

एव पचम सवरदार फासिय पालिय सोहिय तीरिय किट्टिय अणुपालिय आणाए आराहिय भवइ[1] । एव णायमुणिणा भगवया पण्णविय परूविय पसिद्ध सिद्ध सिद्धवरसासणमिण आघविय सुदेसिय पसत्थ । त्ति बेमि ।

।। पचम सवरदार समत्त ।।

---

१ वाचनान्तर मे उपलब्ध पाठ इस प्रकार है—"**एयाणि पचावि सुव्वय-महव्वयाणि लोगधिइकरणाणि, सुयसागर-देसियाणि सजमसीलव्वयसच्चज्जवमयाणि णरयतिरियदेवमणुयगइविवज्जयाणि सव्वजिणसासणाणि कम्मरय-वियारयाणि भवसयविमोयगाणि दुक्खसयविणासगाणि सुक्खसयपवत्तयाणि कापुरिसदुरुत्तराणि सप्पुरिसजण-तीरियाणि णिव्वाणगमणजाणाणि कहियाणि सग्गपवायगाणि पचावि महव्वयाणि कहियाणि ।**"

१७०—इस (पूर्वोक्त) प्रकार से यह पाँचवा संवरद्वार—अपरिग्रह सम्यक् प्रकार से मन, वचन और काय से परिरक्षित पाँच भावना रूप कारणो से संवृत किया जाए तो सुरक्षित होता है। धैर्यवान् और विवेकवान् साधु को यह योग जीवनपर्यन्त निरन्तर पालनीय है। यह आस्रव को रोकने वाला, निर्मल, मिथ्यात्व आदि छिद्रो से रहित होने के कारण अपरिस्रावी, संक्लेशहीन, शुद्ध और समस्त तीर्थंकरो द्वारा अनुज्ञात है। इस प्रकार यह पाँचवाँ संवरद्वार शरीर द्वारा स्पृष्ट, पालित, अतिचार-रहित शुद्ध किया हुआ, परिपूर्णता पर पहुँचाया हुआ, वचन द्वारा कीर्तित किया हुआ, अनुपालित तथा तीर्थंकरो की आज्ञा के अनुसार आराधित होता है।

ज्ञातमुनि भगवान् ने ऐसा प्रतिपादन किया है। युक्तिपूर्वक समझाया है। यह प्रसिद्ध, सिद्ध और भवस्थ सिद्धो—अरिहन्तो का उत्तम शासन कहा गया है, समीचीन रूप मे उपदिष्ट है।

यह प्रशस्त संवरद्वार पूर्ण हुआ। ऐसा मै (सुधर्मा) कहता हूँ।

विवेचन—उल्लिखित सूत्रो मे अपरिग्रह महाव्रत रूप संवर की पाँच भावनाओ का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। वे भावनाएँ इस प्रकार है—(१) श्रोत्रेन्द्रियसंवर (२) चक्षुरिन्द्रियसंवर (३) घ्राणेन्द्रियसंवर (४) रसनेन्द्रियसंवर और (५) स्पर्शनेन्द्रियसंवर।

शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श, ये इन्द्रियो के विषय है। प्रत्येक विषय अनुभूति की दृष्टि से दो प्रकार का है—मनोज्ञ और अमनोज्ञ।

प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को ग्रहण करती है तब वह विषय सामान्यरूप ही होता है। किन्तु उस ग्रहण के साथ ही आत्मा मे विद्यमान संज्ञा उसमे प्रियता या अप्रियता का रंग घोल देती है। जो विषय प्रिय प्रतीत होता है वह मनोज्ञ कहलाता है और जो अप्रिय अनुभूत होता है वह अमनोज्ञ प्रतीत होता है।

वस्तुत मनोज्ञता अथवा अमनोज्ञता विषय मे स्थित नही है, वह प्राणी की कल्पना द्वारा आरोपित है। उदाहरणार्थ शब्द को ही लीजिए। कोई भी शब्द अपने स्वभाव से प्रिय अथवा अप्रिय नही है। हमारी मनोवृत्ति अथवा संज्ञा ही उसमे यह विभेद उत्पन्न करती है और किसी शब्द को प्रिय—मनोज्ञ और किसी को अप्रिय—अमनोज्ञ मान लेती है। मनोवृत्ति ने जिस शब्द को प्रिय स्वीकार कर लिया उसे श्रवण करने से रागवृत्ति उत्पन्न हो जाती है और जिसे अप्रिय मान लिया उसके प्रति द्वेषभावना जाग उठती है। यही कारण है कि प्रत्येक मनुष्य को कोई भी एक शब्द सर्वदा एक-सा प्रतीत नही होता। एक परिस्थिति मे जो शब्द अप्रिय—अमनोज्ञ प्रतीत होता है और जिसे सुन कर क्रोध भडक उठता है, आदमी मरने-मारने को उद्यत हो जाता है, वही शब्द दूसरी परिस्थिति मे ऐसा कोई प्रभाव उत्पन्न नही करता, प्रत्युत हर्ष और प्रमोद का जनक भी बन जाता है। गाली सुन कर मनुष्य आगबबूला हो जाता है परन्तु ससुराल की गालियाँ मीठी लगती है। तात्पर्य यह है कि एक ही शब्द विभिन्न व्यक्तियो के मन पर और विभिन्न परिस्थितियो मे एक ही व्यक्ति के मन मे अलग-अलग प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करता है। इस विभिन्न प्रभावजनकता से स्पष्ट हो जाता है कि प्रभावजनन की मूल शक्ति शब्दनिष्ठ नही, किन्तु मनोवृत्तिनिष्ठ है।

इस वस्तुतत्त्व को भलीभाँति नही समझने वाले और शब्द को ही इष्ट-अनिष्ट मान लेने वाले शब्दश्रवण करके राग अथवा द्वेष के वशीभूत हो जाते है। राग-द्वेष के कारण नवीन कर्मों

का बन्ध करते है और आत्मा को मलीन बनाते हैं। इससे अन्य अनेक अनर्थ भी उत्पन्न होते है। शब्दो के कारण हुए भीषण अनर्थो के उदाहरण पुराणो और इतिहास मे भरे पड़े है। द्रौपदी के एक वाक्य ने महाभारत जैसे विनाशक महायुद्ध की भूमिका निर्मित कर दी।

तत्त्वज्ञानी जन पारमार्थिक वस्तुस्वरूप के ज्ञाता होते है। वे अपनी मनोवृत्ति पर नियन्त्रण रखते है। वे शब्द को शब्द ही मानते है। उसमे प्रियता या अप्रियता का आरोप नही करते, न किसी शब्द को गाली मान कर रुष्ट होते है, न स्तुति मान कर तुष्ट होते है। यही श्रोत्रेन्द्रियसवर है। आचाराग मे कहा है—

न सक्का ण सोउ सद्दा, सोत्तविसयमागया।
राग-दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥

अर्थात् कर्ण-कुहर मे प्रविष्ट शब्दो को न सुनना तो शक्य नही है— वे सुनने मे आये विना रह नही सकते, किन्तु उनको सुनने से उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष से भिक्षु को बचना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि श्रोत्रेन्द्रिय को बन्द करके रखना सभव नही है। दूसरो के द्वारा बोले हुए शब्द श्रोत्रगोचर होगे ही। किन्तु साधक सन्त उनमे मनोज्ञता अथवा अमनोज्ञता का आरोप न होने दे—अपनी मनोवृत्ति को इस प्रकार अपने अधीन कर रक्खे कि वह उन शब्दो पर प्रियता या अप्रियता का रग न चढने दे। ऐसा करने वाला सन्त पुरुष श्रोत्रेन्द्रियसवरशील कहलाता है।

जो तथ्य श्रोत्रेन्द्रिय के विषयभूत शब्दो के विषय मे है, वही चक्षुरिन्द्रिय आदि के विषय रूपादि मे समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार पाँचो इन्द्रियो के सवर से सम्पन्न और मन, वचन, काय से गुप्त होकर ही साधु को धर्म का आचरण करना चाहिए। मूल पाठ मे आये कतिपय शब्दो का स्पष्टीकरण इस भाँति है—

नन्दी—बारह प्रकार के वाद्यो की ध्वनि नन्दी कहलाती है। वे वाद्य इस भाँति है—

भभा मउद मद्दल हुडुक्क तिलिमा य करड कसाला।
काहल वीणा वसो सखो पणवओ य बारसमो॥

अर्थात् (१) भभा (२) मउद (३) मद्दल (४) हुडुक्क (५) तिलिमा (६) करड (७) कसाल (८) काहल (९) वीणा (१०) वस (११) सख और (१२) पणव।

कुष्ठ—कोढ नामक रोग प्रसिद्ध है। उनके यहाँ अठारह प्रकार बतलाए गए है। इनमे सात महाकोढ और ग्यारह साधारण—क्षुद्र कोढ माने गए है। टीकाकार लिखते है कि सात महाकुष्ठ समग्र धातुओ मे प्रविष्ट हो जाते है, अतएव असाध्य होते है। महाकुष्ठो के नाम है—(१) अरुण (२) उदुम्बर (३) रिश्यजिह्व (४) करकपाल (५) काकन (६) पौण्डरीक (७) दद्रू। ग्यारह क्षुद्रकुष्ठो के नाम है—(१) स्थूलमारुक्क (२) महाकुष्ठ (३) एककुष्ठ (४) चर्मदल (५) विसर्प (६) परिसर्प (७) विचर्चिका (८) सिध्म (९) किटिभ (१०) पामा और शतारुका।[1] विशिष्ट जिज्ञासुओ को आयुर्वेदग्रन्थो से इनका स्वरूप समझ लेना चाहिए।

१—अभय टीका पृ १६१

उत्थानिका–पाठान्तर

कतिपय प्रतियो मे निम्नलिखित पाठ 'जबू !' इस सम्बोधन से पूर्व पाया जाता है। यह पाठ प्राय वही है जो अन्य आगमो में पूर्वभूमिका के रूप मे आता है, किन्तु प्रस्तुत पाठान्तर मे प्रश्न-व्याकरण के दो श्रुतस्कन्ध प्रतिपादित किए गए है, जव कि मूल पाठ मे, अन्त मे एक ही श्रुतस्कन्ध बतलाया गया है। यह विरोधी कथन क्या इस तथ्य का सूचक है कि प्राचीन मूल प्रश्नव्याकरण मे दो श्रुतस्कन्ध थे और उसका विच्छेद हो जाने के पश्चात् उसकी स्थानपूर्ति के लिए विरचित अथवा उसके लुप्त होने से बचे इस भाग मे एक ही श्रुतस्कन्ध है? मगर दोनो श्रुतस्कन्धो के नाम वही आस्रवद्वार और सवरद्वार गिनाए गए है। अतएव यह सभावना भी सदिग्ध बनती हे और अधिक चिन्तन-अन्वेषण मागती है। जो हो, पाठ इस प्रकार है—

तेण कालेण तेण समएण चम्पा नाम नयरी होत्था, पुण्णभद्दे चेइए, वणसडे, असोगवरपायवे, पुढविसिलापट्टए।

तत्थ ण चम्पाए नयरीए कोणिए नाम राया होत्था, धारिणी देवी।

तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तेवासी अज्जसुहम्मे नाम थेरे जाइ-सपण्णे कुल-सपण्णे बलसपण्णे रूवसपण्णे विणयसपण्णे नाणसपण्णे दसणसपण्णे चरित्तसपण्णे लज्जा-सपण्णे लाघवसपण्णे ओयसी तेयसी वच्चसी जससी जियकोहे जियमाणे जियमाए जियलोभे जियइदिए जियपरीसहे जीवियास-मरणभय-विप्पमुक्के तवप्पहाणे गुणप्पहाणे मुत्तिप्पहाणे विज्जप्पहाणे मतप्पहाणे बभप्पहाणे वयप्पहाणे नयप्पहाणे नियमप्पहाणे सच्चपहाणे सोयप्पहाणे नाणप्पहाणे दसणप्पहाणे चरित्तप्पहाणे चोद्दसपुव्वी चउनाणोवगए पर्चाहि अणगारसएहिं सद्धि सपरिवुडे पुव्वाणुपुव्वि चरमाणे गामाणुगाम दूइज्जमाणे जेणेव चम्पा नयरी तेणेव उवागच्छइ जाव अहापडिरूव उग्गह उग्गिण्हित्ता सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरति।

तेण कालेणं तेण समएण अज्जसुहम्मस्स अतेवासी अज्जजबू नाम अणगारे कासवगोत्तेण सत्तुस्सेहे जाव सखित्तविउलतेउलेस्से अज्जसुहम्मस्स थेरस्स अदूर-सामते उड्ढ जाणू जाव सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरइ।

तए ण से अज्जजबू जायसड्ढे जायससए जायकोउहल्ले, उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नससए उप्पन्न-कोउहल्ले, समुप्पन्नसड्ढे समुप्पन्नससए समुप्पन्नकोउहल्ले उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठित्ता जेणेव सुहम्मे थेरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अज्जसुहम्म थेर तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिण करेइ, करित्ता वदइ नमसइ (नमसित्ता) नाइदूरे विणएण पजलिपुडे पज्जुवासमाणे एव वयासी—

'जइ ण भते! समणेण भगवया महावीरेण जाव सपत्तेण णवमस्स अगस्स अणुत्तरोववाइय-दमाण अयमट्ठे पण्णत्ते, दसमस्स ण अगस्स पण्हावागरणाण समणेण जाव सपत्तेण के अट्ठे पण्णत्ते?'

'जबू! दसमस्स अगस्स समणेण जाव सपत्तेण दो सुयक्खधा पण्णत्ता—आसवदारा य सवरदारा य।'

'पढमस्स ण भते ! सुयक्खधस्स समणेण जाव सपत्तेण कइ अज्झयणा पण्णत्ता ?'

'जबू ! पढमस्स सुयक्खधस्स समणेण जाव सपत्तेण पच अज्झयणा पण्णत्ता ।'

'दोच्चस्स ण भते ! सुयक्खधस्स ? एव चेव ।'

'एएसि ण भते ! अण्हय-सवराण समणेण जाव सपत्तेण के अट्ठे पण्णत्ते ?'

तते ण अज्जसुहम्मे थेरे जबूनामेण अणगारेण एव वुत्ते समाणे जबू अणगार एव वयासी—'जबू ! इणमो—' इत्यादि ।

साराश—उस काल, उस समय चम्पा नगरी थी । उसके बाहर पूर्णभद्र चैत्य था , वनखण्ड था । उसमे उत्तम अशोकवृक्ष था । वहाँ पृथ्वीशिलापट्टक था ।

चम्पा नगरी का राजा कोणिक था और उसकी पटरानी का नाम धारिणी था ।

उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी स्थविर आर्य सुधर्मा थे । वे जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, बलसम्पन्न, रूपसम्पन्न, विनयसम्पन्न, ज्ञानसम्पन्न, दशनसम्पन्न, चारित्र-सम्पन्न, लज्जासम्पन्न, लाघवसम्पन्न, ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी, यशस्वी, क्रोध-मान-माया-लोभ-विजेता, निद्रा, इन्द्रियो और परीषहो के विजेता, जीवन की कामना और मरण की भीति से विमुक्त, तपप्रधान, गुणप्रधान, मुक्तिप्रधान, विद्याप्रधान, मन्त्रप्रधान, ब्रह्मप्रधान, व्रतप्रधान, नयप्रधान, नियमप्रधान, सत्यप्रधान, शौचप्रधान, ज्ञान-दर्शन-चारित्रप्रधान, चतुर्दश पूर्वो के वेत्ता, चार ज्ञानो से सम्पन्न, पाँच सौ अनगारो से परिवृत्त, पूर्वानुपूर्वी से चलते, ग्राम-ग्राम विचरते चम्पा नगरी मे पधारे । सयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए ठहरे ।

उस काल, उस समय, आर्य सुधर्मा के शिष्य आर्य जम्बू साथ थे । वे काश्यपगोत्रीय थे । उनका शरीर सात हाथ ऊँचा था (यावत्) उन्होने अपनी विपुल तेजोलेश्या को अपने मे ही सक्षिप्त—समा रक्खा था । वे आर्य सुधर्मा से न अधिक दूर और न अधिक समीप, घुटने ऊपर करके और नतमस्तक होकर सयम एव तपश्चर्या से आत्मा को भावित कर रहे थे ।

एक बार आर्य जम्बू के मन मे जिज्ञासा उत्पन्न हुई और वे आर्य सुधर्मा के निकट पहुँचे । आर्य सुधर्मा की तीन वार प्रदक्षिणा की, उन्हे वन्दन-स्तवन किया, नमस्कार किया । फिर विनयपूर्वक दोनो हाथ जोडकर—अजलि करके, पर्युपासना करते हुए बोले—

(प्रश्न)—भते ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने नौवे अग अनुत्तरौपपातिक दशा का यह (जो मैं सुन चुका हूँ) अर्थ कहा है तो दसवे अग प्रश्नव्याकरण का क्या अर्थ कहा है ?

(उत्तर)—जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने दसवे अग के दो श्रुतस्कन्ध कहे है—आस्रव-द्वार और सवरद्वार । प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पाँच-पॉच अध्ययन प्ररूपित किए है ।

(प्रश्न)—भते ! श्रमण भगवान् ने आस्रव और सवर का क्या अर्थ कहा है ?

तब आर्य सुधर्मा ने जम्बू अनगार को इस प्रकार कहा— ।

□□

कथाएँ

सीता—

मिथिला नगरी के राजा जनक थे। उनकी रानी का नाम विदेहा था। उनके एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्र का नाम भामडल और पुत्री का नाम जानकी-सीता था। सीता अत्यन्त रूपवती और समस्त कलाओ मे पारगत थी। जब वह विवाहयोग्य हुई तो राजा जनक ने स्वयवरमडप बनवाया और देश-विदेशो के राजाओ, राजकुमारो और विद्याधरो को स्वयवर के लिए आमन्त्रित किया। राजा जनक ने प्रतिज्ञा की थी कि जो स्वयवरमडप मे स्थापित देवाधिष्ठित धनुष की प्रत्यचा चढा देगा, उसी के गले मे सीता वरमाला डालेगी।

ठीक समय पर राजा, राजकुमार और विद्याधर आ पहुँचे। अयोध्यापति राजा दशरथ के पुत्र रामचन्द्र भी अपने छोटे भाई लक्ष्मण के साथ उस स्वयवर मे आये। महाराजा जनक ने सभी समागत राजाओ को सम्बोधित करते हुये कहा—'महानुभावो! आपने मेरे आमत्रण पर यहाँ पधारने का कष्ट किया है, इसके लिए धन्यवाद! मेरी यह प्रतिज्ञा है कि जो वीर इस धनुष को चढा देगा, उसी के गले मे सीता वरमाला डालेगी।'

यह सुनकर सभी समागत राजा, राजकुमार, और विद्याधर बहुत प्रसन्न हुए, सब को अपनी सफलता की आशा थी। सब विद्याधरो और राजाओ ने बारी-बारी से अपनी ताकत आजमाई, लेकिन धनुष किसी से टस से मस नही हुआ।

राजा जनक ने निराश होकर खेदपूर्वक जब सभी क्षत्रियो को फटकारा कि क्या यह पृथ्वी वीरशून्य हो गई है! तभी लक्ष्मण के कहने पर रामचन्द्रजी उस धनुष को चढाने के लिए उठे। सभी राजा आदि आश्चर्यचकित थे। रामचन्द्रजी ने धनुष के पास पहुँचकर पचपरमेष्ठी का ध्यान किया। धनुष का अधिष्ठायक देव उसके प्रभाव से शान्त हो गया, तभी श्री रामचन्द्रजी ने सबके देखते ही देखते क्षणभर मे धनुष को उठा लिया और झट से उस पर बाण चढा दिया, सभी ने जयनाद किया। सीता ने श्रीरामचन्द्रजी के गले मे वरमाला डाल दी। विधिपूर्वक दोनो का पाणिग्रहण हो गया। विवाह के बाद श्रीरामचन्द्रजी सीता को लेकर अयोध्या आये। सारी अयोध्या मे खुशियाँ मनाई गई। अनेक मगलाचार हुए। इस तरह कुछ समय आनन्दोल्लास मे व्यतीत हुआ।

एक दिन राजा दशरथ के मन मे इच्छा हुई कि रामचन्द्र को राज्याभिषिक्त करके मैं अब त्यागी मुनि बन जाऊँ। परन्तु होनहार बलवान् है। जब रामचन्द्रजी की विमाता कैकेयी ने यह सुना तो सोचा कि राजा अगर दीक्षा लेगे तो मेरा पुत्र भरत भी साथ ही दीक्षा ले लेगा। अत भरत को दीक्षा देने से रोकने के लिए उसने राजा दशरथ को युद्ध मे अपने द्वारा की हुई सहायता के फलस्वरूप

प्राप्त और सुरक्षित रखे हुये वर को इस समय मागना उचित समझा। महारानी कैकेयी ने राजा दशरथ से अपने पुत्र भरत को राज्य देने का वर माँगा। महाराजा दशरथ को अपनी प्रतिज्ञानुसार यह वरदान स्वीकार करना पडा। फलत श्रीरामचन्द्रजी ने अपने पिता की आज्ञा का पालन करने और भरत को राज्य का अधिकारी बनाने के लिए सीता और लक्ष्मण के साथ वनगमन किया। वन मे भ्रमण करते हुए वे दण्डकारण्य पहुँचे और वहाँ पर्णकुटी बना कर रहने लगे।

एक दिन लक्ष्मणजी घूमते-घूमते उस वन के एक ऐसे प्रदेश मे पहुँचे, जहाँ खरदूषण का पुत्र शम्बूक बासो के बीहड मे एक वृक्ष से पैर बाधकर औंधा लटका चन्द्रहासखड्ग की एक विद्या सिद्ध कर रहा था। परन्तु उसको विद्या सिद्ध न हो सकी। एक दिन लक्ष्मण ने आकाश मे अधर लटकते हुये चमचमाते चन्द्रहासखड्ग को कुतूहलवश हाथ मे उठा लिया और उसका चमत्कार देखने की इच्छा से उसे बासो के बीहड पर चला दिया। सयोगवश खरदूषण और चन्द्रनखा के पुत्र तथा रावण के भानजे शम्बूककुमार को वह तलवार जा लगी। वासो के साथ-साथ उनका भी सिर कट गया। जब लक्ष्मणजी को यह पता चला तो उन्हे बडा पश्चात्ताप हुआ। उन्होने रामचन्द्रजी के पास जाकर सारा वृत्तान्त सुनाया। उन्हे भी बडा दु ख हुआ। वे समझ गये कि लक्ष्मण ने एक बहुत बडी विपत्ति को बुला लिया है। जब शम्बूककुमार के मार डाले जाने का समाचार उसकी माता चन्द्रनखा को मालूम हुआ तो वह क्रोध से आगबबूला हो उठी और पुत्रघातक से बदला लेने के लिये उस पर्णकुटी पर आ पहुँची, जहाँ राम-लक्ष्मण बैठे हुए थे। वह आई तो थी बदला लेने, परन्तु वहाँ वह श्री राम-लक्ष्मण के दिव्य रूप को देखकर उन पर मोहित हो गई। उसने विद्या के प्रभाव से सुन्दरी युवती का रूप बना लिया और कामज्वर से पीडित होकर एक बार राम से तो दूसरी बार लक्ष्मण से कामाग्नि शात करने की प्राथना की। मगर स्वदारसतोषी, परस्त्रीत्यागी राम-लक्ष्मण ने उसकी यह जघन्य प्रार्थना ठुकरा दी। पुत्र के वध करने और अपनी अनुचित प्रार्थना के ठुकरा देने के कारण चन्द्रनखा का रोष दुगुना भभक उठा। वह सीधी अपने पति खरदूषण के पास आई और पुत्रवध का सारा हाल कह सुनाया। सुनते ही खरदूषण अपनी कोपज्वाला से दग्ध होकर वैर का बदला लेने हेतु सदल-बल दडकारण्य मे पहुँचा। जब राम-लक्ष्मण को यह पता चला कि खरदूषण लडने के लिये आया है तो लक्ष्मण उसका सामना करने पहुँचे। दोनो मे युद्ध छिड गया। उधर लकाधीश रावण को जब अपने भानजे के वध का समाचार मिला तो वह भी लकापुरी से आकाश-मार्ग द्वारा दण्डकवन मे पहुँचा। आकाश से ही वह टकटकी लगाकर बहुत देर तक सीता को देखता रहा। सीता को देखकर रावण का अन्त करण कामबाण से व्यथित हो गया। उसकी विवेकबुद्धि और धर्मसज्ञा लुप्त हो गई। अपने उज्ज्वल कुल के कलकित होने की परवाह न करके दुर्गतिगमन का भय छोडकर उसने किसी भी तरह से सीता का हरण करने की ठान ली। सन्निपात के रोगी के समान कामोन्मत्त रावण सीता को प्राप्त करने के उपाय सोचने लगा। उसे एक उपाय सूझा। उसने अपनी विद्या के प्रभाव से जहाँ लक्ष्मण सग्राम कर रहा था, उस ओर जोर से सिंहनाद की ध्वनि की। राम यह सुनकर चिन्ता मे पडे कि लक्ष्मण भारी विपत्ति मे फँसा है, अत उसने मुझे बुलाने को यह पूर्वसकेतित सिंहनाद किया है। इसलिए वे सीता को अकेली छोडकर तुरन्त लक्ष्मण की सहायता के लिये चल पडे। परस्त्रीलपट रावण इस अवसर की प्रतीक्षा मे था ही। उसने मायावी साधु का वेश बनाया और दान लेने के बहाने अकेली सीता के पास पहुँचा। ज्यो ही सीता बाहर आई त्यो ही जबरन उसका अपहरण करके अपने विमान मे बैठा लिया और आकाश-मार्ग

से लका की ओर चल दिया । सीता का विलाप और रुदन सुन कर रास्ते मे जटायु पक्षी ने विमान को रोकने का भरसक प्रयत्न किया । लेकिन उसके पख काटकर उसे नीचे गिरा दिया और सीता को लेकर झटपट लका पहुँचा । वहाँ उसे अशोकवाटिका मे रखा । रावण ने सीता को अनेक प्रलोभन देकर और भय बताकर अपने अनुकूल बनाने की भरसक चेष्टाएँ की, लेकिन सीता किसी भी तरह से उसके वश मे न हुई । आखिर उसने विद्याप्रभाव से श्रीराम का कटा हुआ सिर भी बताया और कहा कि अब रामचन्द्र तो इस ससार मे नही रहे, तू मुझे स्वीकार कर ले । लेकिन सीता ने उसकी एक न मानी । उसने श्रीराम के सिवाय अपने मन मे और किसी पुरुष को स्थान न दिया । रावण को भी उसने अनुकूल-प्रतिकूल अनेक वचनो से उस अधर्मकृत्य से हटने के लिये समझाया, पर वह अपने हठ पर अडा रहा ।

उधर श्रीराम, लक्ष्मण के पास पहुँचे तो लक्ष्मण ने पूछा—'भाई ! आप माता सीता को पर्णकुटी मे अकेली छोडकर यहाँ कैसे आ गए ?' राम ने सिहनाद को मायाजाल समझा और तत्काल अपनी पर्णकुटी मे वापस लौटे । वहाँ देखा तो सीता गायब । सीता को न पाकर श्रीराम उसके वियोग से व्याकुल होकर मूर्च्छित हो गए, भूमि पर गिर पडे । इतने मे लक्ष्मण भी युद्ध मे विजय पाकर वापिस लौटे तो अपने बडे भैया की यह दशा और सीता का अपहरण जानकर अत्यन्त दुखित हुए । लक्ष्मण के द्वारा शीतोपचार से राम होश मे आए । फिर दोनो भाई वहाँ से सीता की खोज मे चल पडे । मार्ग मे उन्हे ऋष्यमूक पर्वत पर वानरवशी राजा सुग्रीव और हनुमान आदि विद्याधर मिले । उनसे पता लगा कि 'इसी रास्ते से आकाशमार्ग से विमान द्वारा रावण सीता को हरण करके ले गया है । उसके मुख से 'हा राम' शब्द सुनाई दे रहा था इसलिए मालूम होता है, वह सीता ही होगी ।' अत दोनो भाई निश्चय करके सुग्रीव, हनुमान आदि वानरवशी तथा सीता के भाई भामडल आदि विद्याधरो की सहायता से सेना लेकर लका पहुँचे । युद्ध से व्यर्थ मे जनसहार न हो, इसलिये पहले श्री राम ने रावण के पास दूत भेज कर कहलाया कि सीता को हमे आदरपूर्वक सौप दो और अपने अपराध के लिये क्षमायाचना करो तो हम बिना सग्राम किये वापस लौट जाएँगे, लेकिन रावण की मृत्यु निकट थी । उसे विभीषण, मन्दोदरी आदि हितैषियो ने भी बहुत समझाया, किन्तु उसने किसी की एक न मानी । आखिर युद्ध की दुन्दुभि बजी । घोर सग्राम हुआ । दोनो ओर के अगणित मनुष्य मौत के मेहमान बने । अधर्मी रावण के पक्ष के बडे-बडे योद्धा रण मे खेत रहे । आखिर रावण रणक्षेत्र मे आया । रावण तीन खण्ड का अधिनायक प्रतिनारायण था । उससे युद्ध करने की शक्ति राम और लक्ष्मण के सिवाय किसी मे न थी । यद्यपि हनुमान आदि अजेय योद्धा राम की सेना मे थे, तथापि रावण के सामने टिकने की और विजय पाने की ताकत नारायण के अतिरिक्त दूसरे मे नही थी । अत रावण के सामने जो भी योद्धा आए, उन सबको वह परास्त करता रहा, उनमे से कई तो रणचडी की भेट भी चढ गए । रामचन्द्रजी की सेना मे हाहाकार मच गया । राम ने लक्ष्मण को ही समर्थ जान कर रावण से युद्ध करने का आदेश दिया । दोनो ओर से शस्त्रप्रहार होने लगे । लक्ष्मण ने रावण के चलाये हुये सभी शस्त्रो को निष्फल करके उन्हे भूमि पर गिरा दिया । अन्त मे क्रोधवश रावण ने अन्तिम अस्त्र के रूप मे अपना चक्र लक्ष्मण पर चलाया, लेकिन वह लक्ष्मण की तीन प्रदक्षिणा देकर लक्ष्मण के ही दाहिने हाथ मे जा कर ठहर गया । रावण हताश हो गया ।

अन्तत लक्ष्मणजी ने वह चक्र सभाला और ज्यो ही उसे घुमाकर रावण पर चलाया, त्यो ही रावण का सिर कटकर भूमि पर आ गिरा । रावण यमलोक का अतिथि बन गया ।

द्रौपदी—

काम्पिल्यपुर मे द्रुपद नाम का राजा था, उनकी रानी का नाम चुलनी था। उसके एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्र का नाम धृष्टद्युम्न और पुत्री का नाम था द्रौपदी। उसके विवाहयोग्य होने पर राजा द्रुपद ने योग्य वर चुनने के लिए स्वयवरमडप की रचना करवाई तथा सभी देशो के राजा महाराजाओ को स्वयवर के लिये आमन्त्रित किया। हस्तिनागपुर के राजा पाण्डु के पाँचो पुत्र—युधिष्ठिर अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव भी उस स्वयवर-मडप मे पहुँचे। मडप मे उपस्थित सभी राजाओ और राजपुत्रो को सम्बोधित करते हुए द्रुपद राजा ने प्रतिज्ञा की घोषणा की 'यह जो सामने वेधयन्त्र लगाया गया है, उसके द्वारा तीव्र गति से घूमती हुई ऊपर यत्रस्थ मछली का प्रतिबिम्ब नीचे रखी हुई कडाही के तेल मे भी घूम रहा है। जो वीर नीचे प्रतिबिम्ब को देखते हुये धनुष मे उस मछली का (लक्ष्य का) वेध कर देगा, उसी के गले मे द्रौपदी वरमाला डालेगी।'

उपस्थित सभी राजाओ ने अपना-अपना हस्तकौशल दिखाया, लेकिन कोई भी मत्स्यवेध करने मे सफल न हो सका। अन्त मे पाडवो की बारी आई। अपने बडे भाई युधिष्ठिर की आज्ञा मिलने पर धनुर्विद्याविशारद अर्जुन ने अपना गाडीव धनुष उठाया और तत्काल लक्ष्य-वेध कर दिया। अपने कार्य मे सफल होते ही अर्जुन के जयनाद से सभामडप गूज उठा। राजा द्रुपद ने भी अत्यन्त हर्षित होकर द्रौपदी को अर्जुन के गले मे वरमाला डालने की आज्ञा दी। द्रौपदी अपनी दासी के साथ मडप मे उपस्थित थी। वह अर्जुन के गले मे ही माला डालने जा रही थी, किन्तु पूर्वकृत निदान के प्रभाव से दैवयोगात् वह माला पाँचो भाइयो के गले मे जा पडी। इस प्रकार पूर्वकृत-कर्मानुसार द्रौपदी के युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम आदि पाँच पति कहलाए।

एक समय पाण्डु राजा राजसभा के सिंहासन पर बैठे थे। उनके पास ही कुन्ती महारानी बैठी थी और युधिष्ठिर आदि पाँचो भाई भी बैठे हुये थे। द्रौपदी भी वही थी। तभी आकाश से उतर कर देवर्षि नारद सभा मे आए। राजा आदि ने तुरत खडे होकर नारद-ऋषि का आदर-सम्मान किया। लेकिन द्रौपदी किसी कारणवश उनका उचित सम्मान न कर सकी। इस पर नारदजी का पारा गर्म हो गया। उन्होने द्रौपदी द्वारा किये हुए इस अपमान का बदला लेने की ठान ली। उन्होने सोचा—"द्रौपदी को अपने रूप पर बडा गर्व है। इसके इस गर्व को चूर-चूर न कर दिखाऊँ तो मेरा नाम नारद ही क्या?"

वे इस दृढसकल्पानुसार मन ही मन द्रौपदी को नीचा दिखाने की योजना बनाकर वहाँ से चल दिये। देश-देशान्तर घूमते हुये नारदजी धातकीखण्ड के दक्षिणार्ध भरतक्षेत्र की राजधानी अमरकका नगरी मे पहुँचे। वहाँ के राजा पद्मनाभ ने नारदजी को अपनी राजसभा मे आये देखकर उनका बहुत आदर-सत्कार किया, कुशलक्षेम पूछने के बाद राजा ने नारदजी से पूछा—"ऋषिवर! आप की सर्वत्र अबाधित गति है। आपको किसी भी जगह जाने की रोक-टोक नही है। इसलिये यह बताइये कि सुन्दरियो से भरे मेरे अन्त पुर जैसा और कही कोई अन्त पुर आपने देखा है?"

यह सुनकर नारदजी हँस पडे और बोले—"राजन्! तू अपनी नारियो के सौन्दर्य का वृथा गर्व करता है। तेरे अन्त पुर मे द्रौपदी सरीखी कोई सुन्दरी नही है। सच कहूँ तो, द्रौपदी के पैर के अगूठे की बराबरी भी ये नही कर सकती।"

यह वात सुनते ही विषयविलासानुरागी राजा पद्मनाभ के चित्त मे द्रौपदी के प्रति अनुराग का अकुर पैदा हो गया। उसे द्रौपदी के बिना एक क्षण भी वर्षो के समान सतापकारी मालूम होने लगा। उसने तत्क्षण पूर्व-सगतिक देवता को आराधना की। स्मरण करते ही देव प्रकट हुआ। राजा ने अपना मनोरथ पूर्ण कर देने की वात उससे कही।

अपने महल मे सोई हुई द्रौपदी को देव ने शय्या सहित उठा कर पद्मनाभ नृप के क्रीडोद्यान मे ला रखा। जागते ही द्रौपदी अपने को अपरिचित प्रदेश मे पाकर घवरा उठी। वह मन ही मन पचपरमेष्ठी का स्मरण करने लगी। इतने मे राजा पद्मनाभ ने आकर उससे प्रेमयाचना की, अपने वैभव एव सुख-सुविधाओ आदि का भी प्रलोभन दिया। नीतिकुशल द्रौपदी ने सोचा—'इस समय यह पापात्मा कामान्ध हो रहा है। अगर मैने साफ इन्कार कर दिया तो विवेकशून्य होने से शायद यह मेरा शीलभग करने को उद्यत हो जाए। अत फिलहाल अच्छा यही है कि उसे भी बुरा न लगे और मेरा शील भी सुरक्षित रहे।' ऐसा सोच कर द्रौपदी ने पद्मनाभ से कहा—'राजन्! आप मुझे छह महीने की अवधि इस पर सोचने के लिये दीजिये। उसके वाद आपकी जैसी इच्छा हो करना।' उसने वात मजूर कर ली। इसके वाद द्रौपदी अनशन आदि तपश्चर्या करती हुई सदा पचपरमेष्ठी के ध्यान मे लीन रहने लगी।

पाडवो की माता कुन्ती द्रौपदीहरण के समाचार लेकर हस्तिनापुर से द्वारिका पहुँची और श्रीकृष्ण से द्रौपदी का पता लगाने और लाने का आग्रह किया। इसी समय कलहप्रिय नारदऋषि भी वहाँ आ धमके। श्रीकृष्ण ने उनसे पूछा—"मुने! आपकी सर्वत्र अवाधित गति है। अढाई द्वीप मे ऐसा कोई स्थान नही है, जहाँ आपका गमन न होता हो। अत आपने कही द्रौपदी को देखा हो तो कृपया बतलाइये।"

नारदजी बोले—"जनार्दन! धातकीखण्ड मे अमरकका नाम की राजधानी है। वहाँ के राजा पद्मनाभ के क्रीडोद्यान के महल मे मैने द्रौपदी जैसी एक स्त्री को देखा तो है।"

नारदजी से द्रौपदी का पता मालूम होते ही श्रीकृष्णजी पाचो पाडवो को साथ लेकर अमरकका की ओर रवाना हुए। रास्ते मे लवणसमुद्र था, जिसको पार करना उनके बूते की वात नही थी। तव श्रीकृष्णजी ने तेला (तीन उपवास) करके लवणसमुद्र के अधिष्ठायक देव की आराधना की। देव प्रसन्न होकर श्रीकृष्णजी के सामने उपस्थित हुआ। श्रीकृष्णजी के कथनानुसार समुद्र मे उसने रास्ता वना दिया। फलत श्रीकृष्णजी पाचो पाडवो को साथ लिये राजधानी अमरकका नगरी मे पहुँचे और एक उद्यान मे ठहर कर अपने सारथी के द्वारा पद्मनाभ को सूचित कराया।

पद्मनाभ अपनी सेना लेकर युद्ध के लिये आ डटा। दोनो ओर से युद्ध प्रारम्भ होने की दुन्दुभि वज उठी। वहुत देर तक दोनो मे जम कर युद्ध हुआ। पद्मनाभ ने जव पाडवो को परास्त कर दिया तव श्रीकृष्ण स्वय युद्ध के मैदान मे आ डटे और उन्होने अपना पाचजन्य शख वजाया। पाचजन्य का भीषण नाद सुनते ही पद्मनाभ की तिहाई सेना तो भाग खडी हुई, एक तिहाई सेना को उन्होने सारग– गाडीव धनुष की प्रत्यचा की टकार से मूर्च्छित कर दिया। शेष बची हुई तिहाई सेना और पद्मनाभ अपने प्राणो को वचाने के लिये दुर्ग मे जा घुसे। श्रीकृष्ण ने नरसिंह का रूप

वनाया और नगरी के द्वार, कोट और अटारियो को अपने पजो की मार मे भूमिसात कर दिया। बडे-बडे विशाल भवनो और प्रासादो के शिखर गिरा दिये। सारी राजधानी (नगरी) मे हाहाकार मच गया। पद्मनाभ राजा भय से कापने लगा और श्रीकृष्ण के चरणो मे आ गिरा तथा आदर-पूर्वक द्रौपदी को उन्हे सौप दिया। श्रीकृष्णजी ने उसे क्षमा किया और अभयदान दिया।

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण द्रौपदी और पाचो पाडवो को लेकर जयध्वनि एव आनन्दोल्लास के साथ द्वारिका पहुँचे।

इस प्रकार राजा पद्मनाभ की कामवासना—मैथुन-सज्ञा—के कारण महाभारत काल मे द्रौपदी के लिये भयकर सग्राम हुआ।

रुक्मिणी—

कुडिनपुर नगरी के राजा भीष्म के दो सतान थी—एक पुत्र और एक पुत्री। पुत्र का नाम रुक्मी था और पुत्री का नाम था—रुक्मिणी।

एक दिन घूमते-घामते नारदजी द्वारिका पहुँचे और श्रीकृष्ण की राजसभा मे प्रविष्ट हुए। उनके आते ही श्रीकृष्ण अपने आसन से उठकर नारदजी के सम्मुख गए और प्रणाम करके उन्हे विनयपूर्वक आसन पर बिठाया। नारदजी ने कुशलमगल पूछ कर श्रीकृष्ण के अन्त पुर मे गमन किया। वहाँ सत्यभामा अपने गृहकार्य मे व्यस्त थी। अत वह नारदजी की आवभगत भलीभाति न कर सकी। नारदजी ने उसे अपना अपमान समझा और गुस्से मे आ कर प्रतिज्ञा की—"इस सत्य-भामा पर सौत लाकर यदि मैं अपने अपमान का मजा न चखा दूँ तो मेरा नाम नारद ही क्या ?"

तत्काल वे वहाँ से रवाना हुये और कुडिनपुर के राजा भीष्म की राजसभा मे पहुँचे। राजा भीष्म और उनके पुत्र रुक्म ने उनको बहुत सम्मान दिया, फिर उन्होने हाथ जोड कर आगमन का प्रयोजन पूछा। नारदजी ने कहा—"हम भगवद्-भजन करते हुये भगवद्भक्तो के यहाँ घूमते-घामते पहुँच जाते है।" इधर-उधर की बाते करने के पश्चात् नारदजी अन्त पुर मे पहुँचे। रानियो ने उनका सविनय सत्कार किया। रुक्मिणी ने भी उनके चरणो मे प्रणाम किया। नारदजी ने उसे आशीर्वाद दिया—"कृष्ण की पटरानी हो।" इस पर रुक्मिणी की बुआ ने साश्चर्य पूछा—"मुनिवर ! आपने इसे यह आशीर्वाद कैसे दिया ? और श्रीकृष्ण कौन हैं ? उनमे क्या-क्या गुण है ?" इस प्रकार पूछने पर नारदजी ने श्रीकृष्ण के वैभव और गुणो का वर्णन करके रुक्मिणी के मन मे कृष्ण के प्रति अनुराग पैदा कर दिया। नारदजी भी अपनी सफलता की सम्भावना से हर्षित हो उठे। नारदजी ने यहाँ से चल कर पहाड की चोटी पर एकान्त मे बैठ कर एक पट पर रुक्मिणी का सुन्दर चित्र बनाया। उसे लेकर वे श्रीकृष्ण के पास पहुँचे और उन्हे वह दिखाया। चित्र इतना सजीव था कि श्रीकृष्ण देखते ही भावविभोर हो गए और रुक्मिणी के प्रति उनका आकर्षण जाग उठा। वे पूछने लगे—"नारदजी ! यह बताइये, यह कोई देवी है, किन्नरी है ? या मानुषी ? यदि यह मानुषी है तो वह पुरुष धन्य है, जिसे इसके करस्पर्श का अधिकार प्राप्त होगा।"

नारदजी मुसकरा कर वोले—"कृष्ण ! वह धन्य पुरुष तो तुम ही हो।" नारदजी ने सारी

घटना आद्योपान्त कह सुनाई। तदनन्तर श्रीकृष्ण ने राजा भीष्म से रुक्मिणी के लिये याचना की। राजा भीष्म तो इससे सहमत हो गए, लेकिन रुक्मी इसके विपरीत था। उसने इन्कार कर दिया कि, "मै तो शिशुपाल के लिये अपनी बहन को देने का सकल्प कर चुका हूँ।" रुक्मी ने श्रीकृष्ण के निवेदन पर कोई ध्यान नही दिया और माता-पिता की अनुमति की भी परवाह नही की। उसने सबकी बात को ठुकरा कर शिशुपाल राजकुमार के साथ अपनी बहन रुक्मिणी के विवाह का निश्चय कर लिया। शिशुपाल को वह बडा प्रतापी और तेजस्वी तथा भू-मडल मे बेजोड बलवान् मानता था। रुक्मी ने शिशुपाल के साथ अपनी बहिन की शादी की तिथि निश्चित कर ली। शिशुपाल भी बडी भारी बरात ले कर सजधज के साथ विवाह के लिये कु डिनपुर की ओर चल पडा। अपने नगर से निकलते ही उसे अमगलसूचक शकुन हुए, किन्तु शिशुपाल ने कोई परवाह न की। वह विवाह के लिये चल ही दिया। कु डिनपुर पहुँचकर नगर के बाहर वह एक उद्यान मे ठहरा। उधर रुक्मिणी नारदजी से आशीर्वाद प्राप्त कर और श्रीकृष्ण के गुण सुन कर उनसे प्रभावित हो गई थी। फलत मन ही मन उन्हे पति रूप मे स्वीकृत कर चुकी थी। वह यह सुनकर अत्यन्त दु खी हुई कि भाई रुक्मी ने उसकी व पिताजी की इच्छा के विरुद्ध हठ करके शिशुपाल को विवाह के लिये बुला लिया है और वह बारात सहित उद्यान मे आ भी पहुँचा है। रुक्मिणी को उसकी बुआ बहुत प्यार करती थी। उसने रुक्मिणी को दु खित और सकटग्रस्त देखकर उसे आश्वासन दिया और श्रीकृष्णजी को एक पत्र लिखा—"जनार्दन! रुक्मिणी के लिये इस समय तुम्हारे सिवाय कोई शरण नही है। यह तुम्हारे प्रति अनुरक्त है और अहर्निश तुम्हारा ही ध्यान करती है। उसने यह सकल्प कर लिया है कि कृष्ण के सिवाय ससार के सभी पुरुष मेरे लिये पिता या भाई के समान है। अत तुम ही एकमात्र इसके प्राणनाथ हो! यदि तुमने समय पर आने की कृपा न की तो रुक्मिणी को इस ससार मे नही पाओगे और एक निरपराध अबला की हत्या का अपराध आपके सिर लगेगा। अत इस पत्र के मिलते ही प्रस्थान करके निश्चित समय से पहले ही रुक्मिणी को दर्शन दे।"

इस आशय का करुण एव जोशीला पत्र लिख कर बुआ ने एक शीघ्रगामी दूत द्वारा श्रीकृष्णजी के पास द्वारिका भेजा। दूत पवनवेग के समान द्वारिका पहुँचा और वह पत्र श्रीकृष्ण के हाथ मे दिया। पत्र पढते ही श्रीकृष्ण को हर्ष से रोमाच हो उठा और क्रोध से उनकी भुजाएँ फडक उठी। वे अपने आसन से उठे और अपने साथ बलदेव को लेकर शीघ्र कु डिनपुर पहुँचे। वहाँ नगर के बाहर गुप्तरूप से एक बगीचे मे ठहरे। उन्होने अपने आने की एव स्थान की सूचना गुप्तचर द्वारा रुक्मिणी और उसकी बुआ को दे दी। वे दोनो इस सूचना को पाकर अतीव हर्षित हुई।

रुक्मिणी के विवाह मे कोई अडचन पैदा न हो, इसके लिये रुक्मी और शिशुपाल ने नगर के चारो ओर सभी दरवाजो पर कडा पहरा लगा दिया था। नगर के बाहर और भीतर सुरक्षा का भी पूरा प्रबन्ध कर रखा था। लेकिन होनहार कुछ और ही थी।

रुक्मिणी की बुआ इस पेचीदा समस्या को देख कर उलझन मे पड गई। आखिर उसे एक विचार सूझा। उसने श्रीकृष्णजी को उसी समय पत्र द्वारा सूचित किया—"हम रुक्मिणी को साथ लेकर कामदेव की पूजा के बहाने कामदेव के मन्दिर मे आ रही है और यही उपयुक्त अवसर है—'रुक्मिणी के हरण का। इसलिए आप इस स्थान पर सुसज्जित रहे।

पत्र पाते ही श्रीकृष्ण ने तदनुसार सब तैयारी कर ली। ठीक समय पर पूजा की सामग्री से सुसज्जित थालो को लिये मगलगीत गाती हुई रुक्मिणी अपनी सखियो के साथ महल से निकली। नगर के द्वार पर राजा शिशुपाल के पहरेदारो ने यह कह कर रोक दिया कि—"ठहरो! राजा की आज्ञा किसी को बाहर जाने देने की नही है।" रुक्मिणी की सखियो ने उनसे कहा—"हमारी सखी शिशुपाल की शुभकामना के लिये कामदेव की पूजा करने जा रही है। तुम इस मगलकार्य मे क्यो विघ्न डाल रहे हो? खबरदार! यदि तुम इस शुभकार्य मे बाधा डालोगे तो इसका बुरा परिणाम तुम्हे भोगना पडेगा। तुम कैसे स्वामिभक्त हो कि अपने स्वामी के हित मे बाधा डालते हो!" द्वाररक्षको ने यह सुन कर खुशी से उन्हे बाहर जाने दिया। रुक्मिणी अपनी सखियो और बुआ सहित आनन्दोल्लास के साथ कामदेवमन्दिर मे पहुँची। परन्तु वहाँ किसी को न देखकर व्याकुल हो गई।

उसने आर्त्त स्वर मे प्रार्थना की। श्रीकृष्ण और बलदेव दोनो एक ओर छिपे रुक्मिणी को भक्ति और अनुराग देख रहे थे। यह सब देख-सुन कर वे सहसा रुक्मिणी के सामने आ उपस्थित हुए। लज्जा के मारे रुक्मिणी सिकुड गई और पीपल के पत्तो के समान थर-थर कापने लगी। श्रीकृष्ण को चुपचाप खडे देख बलदेवजी ने कहा—"कृष्ण! तुम बुत-से खडे क्या देख रहे हो! क्या लज्जावती ललना प्रथम दर्शन मे अपने मुँह से कुछ बोल सकती है?"

इतना सुनते ही कृष्ण ने कहा—"आओ प्रिये! चिरकाल से तुम्हारे वियोग मे दुखित कृष्ण यही है।" यो कह कर रुक्मिणी का हाथ पकड कर उसे सुसज्जित रथ मे बैठा लिया। कुडिनपुर के बाहर रथ के पहुँचते ही उन्होने पाचजन्य शख का नाद किया, जिससे नागरिक एव सैनिक काप उठे।

इधर रुक्मिणी की सखियो ने शोर मचाया कि रुक्मिणी का हरण हो गया है। इसके बाद श्रीकृष्ण ने जोर से ललकारते हुए कहा—'ए शिशुपाल! मैं द्वारिकापति कृष्ण तेरे आनन्द की केन्द्र रुक्मिणी को ले जा रहा हूँ। अगर तुझ मे कुछ भी सामर्थ्य हो तो छुडा ले।' इस ललकार को सुनकर शिशुपाल और रुक्मी के कान खडे हुए। वे दोनो क्रोधावेश मे अपनी-अपनी सेना लेकर सग्राम करने के लिए रणागण मे उपस्थित हुए। मगर श्रीकृष्ण और बलदेव दोनो भाइयो ने सारी सेना को कुछ ही देर मे परास्त कर दिया। शिशुपाल को उन्होने जीवनदान दिया। शिशुपाल हार कर लज्जा से मुँह नीचा किए वापिस लौट गया। रुक्मी की सेना तितर-बितर हो गई और उसकी दशा भी बडी दयनीय हो गई। अपने भाई को दयनीय दशा मे देखकर रुक्मिणी ने प्रार्थना की—मेरे भैया को प्राणदान दिया जाय। श्रीकृष्ण ने हस कर कहा—'ऐसा ही होगा।' रुक्मी को उन्होने पकड कर रथ के पीछे बाध रखा था, रुक्मिणी के कहने पर छोड दिया। दोनो वीर बलराम और श्रीकृष्ण विजयश्री सहित रुक्मिणी को लेकर अपनी राजधानी द्वारिका मे आए और वही श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी के साथ विधिवत् विवाह किया।

पद्मावती—

भारतवर्ष मे अरिष्ट नामक नगर था। वहाँ बलदेव के मामा हिरण्यनाभ राज्य करते थे। उनके पद्मावती नाम की एक कन्या थी। सयानी होने पर राजा ने उसके स्वयवर के लिये बलराम और कृष्ण आदि तथा अन्य सब राजाओ को आमत्रित किया। स्वयवर का निमत्रण पाकर बलराम और श्रीकृष्ण तथा दूसरे अनेक राजकुमार अरिष्टनगर पहुँचे।

हिरण्यनाभ के एक वडे भाई थे—रैवत । उनके रैवती, रामा, सीमा और वन्धुमती नाम की चार कन्याएँ थी । रैवत ने सामारिक मोहजाल को छोड कर स्व-पर-कल्याण के हेतु अपने पिता के साथ ही वाईसवे तीर्थकर श्रीअरिष्टनेमि के चरणो मे जैनेन्द्री मुनिदीक्षा धारण कर ली थी । वे दीक्षा लेने से पहले अपनी उक्त चारो पुत्रियो का विवाह वलराम के साथ करने के लिए कह गए थे ।

इधर पद्मावती के स्वयवर मे वडे-वडे राजा महाराजा आए हुए थे । वे सव युद्धकुशल और तेजस्वी थे । पद्मावनी ने उन सव राजाओ को छोडकर श्रीकृष्ण के गले मे वरमाला डाल दी । इससे नीतिपालक सज्जन राजा तो अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहने लगे—"विचारशील कन्या ने योग्य वर चुना है ।" किन्तु जो दुर्बुद्धि अविवेकी और अभिमानी थे, वे अपने वल और ऐश्वर्य के मद मे आकर श्रीकृष्ण से युद्ध करने को प्रस्तुत हो गए । उन्होने वहाँ उपस्थित राजाओ को भडकाया—"ओ क्षत्रियवीर राजकुमारो ! तुम्हारे देखते ही देखते यह ग्वाला स्त्री-रत्न ले जा रहा है । उत्तम वस्तु राजाओ के ही भोगने योग्य होती है । अत देखते क्या हो ! उठो, सव मिल कर इससे लडो और यह कन्या-रत्न छुडा लो ।" इस प्रकार उत्तेजित किए गए अविवेकी राजा मिल कर श्रीकृष्ण से लडने लगे । घोर युद्ध छिड गया । श्रीकृष्ण और वलराम सिहनाद करते हुए निर्भीक होकर शत्रुराजाओ से युद्ध करने लगे । वे जिधर पहुँचते उधर ही रणक्षेत्र योद्धाओ से खाली हो जाता । रणभूमि मे खलवली और भगदड मच गई । जल्दी भागो, प्राण वचाओ ! ये मनुष्य नहीं, कोई देव या दानव प्रतीत होते है । ये तो हमे शस्त्र चलाने का अवसर ही नही देते । अभी यहाँ और पलक मारते ही और कही पहुँच जाते है । इम प्रकार भय और आतक से विह्वल होकर चिल्लाते हुए वहुत से प्राण वचा कर भागे । जो थोडे से अभिमानी वहाँ डटे रहे, वे यमलोक पहुँचा दिये गए । इस प्रकार वहुत शीघ्र ही उन्हे अनीति का फल मिल गया, वहाँ शान्ति हो गई ।

अन्त मे रैवती, रामा आदि (हिरण्यनाभ के बडे भाई रैवत की) चारो कन्याओ का विवाह बडी धूमधाम से बलरामजी के साथ हुआ और पद्मावती का श्रीकृष्णजी के साथ । इस तरह वैवाहिक मगलकार्य सम्पन्न होने पर वलराम और श्रीकृष्ण अपनी पत्नियो को साथ लेकर द्वारिका नगरी मे पहुँचे । जहाँ पर अनेक प्रकार के आनन्दोत्सव मनाये गए ।

तारा

किष्किन्धा नगर मे वानरवशी विद्याधर आदित्य राज्य करता था । उसके दो पुत्र थे—वाली और सुग्रीव । एक दिन अवसर देख कर बाली ने अपने छोटे भाई सुग्रीव को अपना राज्य सौप दिया और स्वय मुनि-दीक्षा लेकर घोर तपस्या करने लगा । उसने चार घातिकर्मो का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया और सिद्ध, बुद्ध, मुक्त वन कर मोक्ष प्राप्त किया ।

सुग्रीव की पत्नी का नाम तारा था । वह अत्यन्त रूपवती और पतिव्रता थी । एक दिन खेचराधिपति साहसगति नाम का विद्याधर तारा का रूप-लावण्य देख उस पर आसक्त हो गया । वह तारा को पाने के लिये विद्या के वल से सुग्रीव का रूप बनाकर तारा के महल मे पहुँच गया । तारा ने कुछ चिह्नो से जान लिया कि मेरे पति का वनावटी रूप धारण करके यह कोई विद्याधर आया है । अत यह वात उसने अपने पुत्रो से तथा जाम्बवान आदि मत्रियो से कही । वे भी दोनो सुग्रीव को देखकर विस्मय मे पड गए । उन्हे भी असली और नकली सुग्रीव का पता न चला, अतएव उन्होने

दोनो सुग्रीवो को नगरी से बाहर निकाल दिया। दोनो मे घोर युद्ध हुआ, लेकिन हार-जीत किसी की भी न हुई। नकली सुग्रीव को किसी भी सूरत से हटते न देख कर असली सुग्रीव विद्याधरो के राजा महाबली हनुमानजी के पास आया और उन्हे सारा हाल कहा। हनुमानजी वहाँ आए, किन्तु दोनो सुग्रीवो मे कुछ भी अन्तर न जान सकने के कारण कुछ भी समाधान न कर सके और अपने नगर को वापिस लौट गए।

असली सुग्रीव निराश होकर श्रीरामचन्द्रजी की शरण मे पहुँचा। उस समय रामचन्द्रजी पाताललका के खरदूषण से सबधित राज्य कि सुव्यवथा कर रहे थे। सुग्रीव उनके पास जब पहुँचा और उसने अपनी दु खकथा उन्हे सुनाई तो श्रीराम ने उसे आश्वासन दिया कि "मै तुम्हारी विपत्ति दूर करूँगा।' उसे अत्यन्त व्याकुल देख कर श्रीराम और लक्ष्मण ने उसके साथ प्रस्थान कर दिया।

वे दोनो किष्किन्धा के बाहर ठहर गए और असली सुग्रीव से पूछने लगे—"वह नकली सुग्रीव कहाँ है? तुम उसे ललकारो और भिड जाओ उसके साथ।" असली सुग्रीव द्वारा ललकारते ही युद्धरसिक नकली सुग्रीव भी रथ पर चढ कर लडाई के लिये युद्ध के मैदान मे आ डटा। दोनो मे बहुत देर तक जम कर युद्ध होता रहा पर हार या जीत दोनो मे से किसी की भी न हुई। राम भी दोनो सुग्रीवो का अन्तर न जान सके। नकली सुग्रीव से असली सुग्रीव बुरी तरह परेशान हो गया। अत निराश होकर वह पुन श्रीराम के पास आकर कहने लगा—"देव! आपके होते मेरी ऐसी दुर्दशा हुई। आप स्वय मेरी सहायता करे।" राम ने उससे कहा—"तुम भेदसूचक ऐसा कोई चिह्न धारण कर लो और उससे पुन युद्ध करो। मैं अवश्य ही उसे अपने किए का फल चखाऊगा।"

असली सुग्रीव ने वैसा ही किया। जब दोनो का युद्ध हो रहा था तो श्रीराम ने कृत्रिम सुग्रीव को पहिचान कर बाण से उसका वही काम तमाम कर दिया। इससे सुग्रीव प्रसन्न होकर श्रीराम और लक्ष्मण को स्वागतपूर्वक किष्किन्धा ले गया। वहाँ उनका बहुत ही सत्कार-सम्मान किया। सुग्रीव अब अपनी पत्नी तारा के साथ आनन्द से रहने लगा।

इस प्रकार राम और लक्ष्मण की सहायता से सुग्रीव ने तारा को प्राप्त किया और जीवन भर उनका उपकार मानता रहा।

काचना

काचना के लिये भी सग्राम हुआ था, लेकिन उसकी कथा अप्रसिद्ध होने से यहाँ नही दी जा रही है। कई टीकाकार मगधसम्राट् श्रेणिक की चिलणा रानी को ही 'काचना' कहते हैं। अस्तु, जो भी हो, काचना भी युद्ध की निमित्त बनी है।

रक्तसुभद्रा

सुभद्रा श्रीकृष्ण की बहन थी। वह पाडुपुत्र अर्जुन के प्रति रक्त-आसक्त थी, इसलिये उसका नाम 'रक्तसुभद्रा' पड गया। एक दिन वह अत्यन्त मुग्ध होकर अर्जुन के पास चली आई। श्रीकृष्ण को जब इस बात का पता चला तो उन्होने सुभद्रा को वापस लौटा लाने के लिये सेना भेजी। सेना को युद्ध के लिये आती देख कर अर्जुन किंकर्तव्यविमूढ होकर सोचने लगा—श्रीकृष्णजी के

खिलाफ युद्ध कैसे करूँ ? वे मेरे आत्मीयजन है और युद्ध नही करूँगा तो सुभद्रा के साथ हुआ प्रेमबन्धन टूट जाएगा। इस प्रकार दुविधा मे पडे हुए अर्जुन को सुभद्रा ने क्षत्रियोचित कर्त्तव्य के लिये प्रोत्साहित किया। अर्जुन ने अपना गाडीव धनुष उठाया और श्रीकृष्णजी द्वारा भेजी हुई सेना से लडने के लिये आ पहुँचा। दोनो मे जम कर युद्ध हुआ। अर्जुन के अमोघ बाणो की वर्षा से श्रीकृष्णजी की सेना तितर-बितर हो गई। विजय अर्जुन की हुई। अन्ततोगत्वा सुभद्रा ने वीर अर्जुन के गले मे वरमाला डाल दी, दोनो का पाणिग्रहण हो गया। इसी वीरागना सुभद्रा की कुक्षि से वीर अभिमन्यु का जन्म हुआ, जिसने अपनी नववधू का मोह छोड कर छोटी उम्र मे ही महाभारत के युद्ध मे वीरोचित क्षत्रियकर्त्तव्य बजाया और वही वीरगति को पाकर इतिहास मे अमर हो गया। सचमुच वीर माता ही वीर पुत्र को पैदा करती है।

मतलब यह है कि रक्तसुभद्रा को प्राप्त करने के लिये अर्जुन ने श्रीकृष्ण सरीखे आत्मीय जन के विरुद्ध भी युद्ध किया।

अहिन्निका

अहिन्निका की कथा अप्रसिद्ध होने से उस पर प्रकाश डालना अशक्य है। कई लोग 'अहिन्नियाए' पद के बदले 'अहिल्लियाए' मानते है। उसका अर्थ होता है—अहिल्या के लिये हुआ सग्राम। अगर यह अर्थ हो तो वैष्णव रामायण मे उक्त 'अहिल्या' की कथा इस प्रकार है—अहिल्या गौतमऋषि की पत्नी थी। वह बडी सुन्दर और धर्मपरायणा स्त्री थी। इन्द्र उसका रूप देख कर मोहित हो गया। एक दिन गौतमऋषि बाहर गए हुए थे। इन्द्र ने उचित अवसर जान कर गौतमऋषि का रूप बनाया और छलपूर्वक अहिल्या के पास पहुँच कर सयोग की इच्छा प्रकट की। निर्दोष अहिल्या ने अपना पति जानकर कोई आनाकानी न की। इन्द्र अनाचार सेवन करके चला गया। जब गौतमऋषि आए तो उन्हे इस वृत्तान्त का पता चला। उन्होने इन्द्र को शाप दिया कि—तेरे एक हजार भग हो जाएँ। वैसा ही हुआ। बाद मे, इन्द्र के बहुत स्तुति करने पर ऋषि ने उन भगो के स्थान पर एक हजार नेत्र बना दिए। परन्तु अहिल्या पत्थर की तरह निश्चेष्ट होकर तपस्या मे लीन हो गई। वह एक ही जगह गुमसुम होकर पडी रहती। एक बार श्रीराम विचरण करते-करते आश्रम के पास से गुजरे तो उनके चरणो का स्पर्श होते ही वह जाग्रत होकर उठ खडी हुई। ऋषि ने भी प्रसन्न होकर उसे पुन अपना लिया।

सुवर्णगुटिका

सिन्धु-सौवीर देश मे वीतभय नामक एक पत्तन था। वहाँ उदयन राजा राज्य करता था। उसकी महारानी का नाम पद्मावती था। उसकी देवदत्ता नामक एक दासी थी। एक बार देश-देशान्तर मे भ्रमण करता हुआ एक परदेशी यात्री उस नगर मे आ गया। राजा ने उसे मन्दिर के निकट धर्मस्थान मे ठहराया। कर्मयोग से वह वहाँ रोगग्रस्त हो गया। रुग्णावस्था मे इस दासी ने उसकी बहुत सेवा की। फलत आगन्तुक ने प्रसन्न होकर इस दासी को सर्वकामना पूर्ण करने वाली १०० गोलिया दे दी और उनकी महत्ता एव प्रयोग करने की विधि भी बतला दी। प्रथम तो स्त्री-जाति, फिर दासी। भला दासी को उन गोलियो का सदुपयोग करने की बात कैसे सूझती ? उस बदसूरत दासी ने सोचा—"क्यो नही, मै एक गोली खा कर सुन्दर बन जाऊ!" उसने आजमाने के लिये एक गोली मुँह मे डाल ली। गोली के प्रभाव मे वह दासी सोने के समान रूप वाली—खूबसूरत

बन गई। तब से उसका नाम सुवर्णगुटिका प्रसिद्ध हो गया। वह नवयुवती तो थी ही। एक दिन बैठे-बैठे उसके मन मे विचार आया—"मुझे सुन्दर रूप तो मिला, लेकिन बिना पति के सुन्दर रूप भी किस काम का? पर किसे पति बनाऊँ? राजा को तो बनाना ठीक नही, क्योकि एक तो यह बूढा है, दूसरे, यह मेरे लिये पितातुल्य है। अत किसी नवयुवक को ही पति बनाना चाहिये। सोचते-सोचते उसकी दृष्टि मे उज्जयिनी का राजा चन्द्रप्रद्योत जचा। फिर क्या था? उसने मन मे चन्द्रप्रद्योत का चिन्तन करके दूसरी गोली निगल ली। गोली के अधिष्ठाता देव के प्रभाव से उज्जयिनी-नृप चन्द्रप्रद्योत को स्वप्न मे दासी का दर्शन हुआ। फलत सुवर्णगुटिका से मिलने के लिये वह आतुर हो गया। वह शीघ्र ही गधगज नामक उत्तम हाथी पर सवार होकर वीतभय नगर मे पहुँचा। सुवर्णगुटिका तो उससे मिलने के लिये पहले से ही तैयार बैठी थी। चन्द्रप्रद्योत के कहते ही वह उसके साथ चल दी।

प्रात काल राजा उदयन उठा और नित्य-नियमानुसार अश्वशाला आदि का निरीक्षण करता हुआ हस्तिशाला मे आ पहुँचा। वहाँ सब हाथियो का मद सूखा हुआ देखा तो वह आश्चर्य मे पड गया। तलाश करते-करते राजा को एक गजरत्न के मूत्र की गन्ध आ गई। राजा ने शीघ्र ही जान लिया कि यहाँ गधहस्ती आया है। उसी के गन्ध से हाथियो का मद सूख गया। ऐसा गधहस्ती सिवाय चन्द्रप्रद्योत के और किसी के पास नही है। फिर राजा ने यह भी सुना कि सुवर्णगुटिका दासी भी गायब है। अत राजा को पक्का शक हो गया कि चन्द्रप्रद्योत राजा ही दासी को भगा ले गया है। राजा उदयन ने रोषवश उज्जयिनी पर चढाई करने का विचार कर लिया। परन्तु मत्रियो ने समझाया—"महाराज! चन्द्रप्रद्योत कोई साधारण राजा नही है। वह बडा बहादुर और तेजस्वी है। केवल एक दासी के लिये उससे शत्रुता करना बुद्धिमानी नही है।" परन्तु राजा उनकी बातो से सहमत न हुआ और चढाई करने को तैयार हो गया। राजा ने कहा—"अन्यायी, अत्याचारी और उद्दण्ड को दण्ड देना मेरा कर्त्तव्य है।" अन्त मे यह निश्चय हुआ कि 'दस मित्र राजाओ को ससैन्य साथ लेकर उज्जयिनी पर चढाई की जाए।' ऐसा ही हुआ। अपनी अपनी सेना लेकर दस राजा उदयन नृप के दल मे शामिल हुए। अन्तत महाराज उदयन ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया। बडी मुश्किल से उज्जयिनी के पास पहुँचे। चन्द्रप्रद्योत यह समाचार सुनते ही विशाल सेना लेकर युद्ध करने के लिये मैदान मे आ डटा। दोनो मे घमासान युद्ध हुआ। राजा चन्द्रप्रद्योत का हाथी तीव्रगति से मडलाकार घूमता हुआ विरोधी सेना को कुचल रहा था। उसके मद के गध से ही विरोधी सेना के हाथी भाग खडे हुए। अत उदयन की सेना मे कोलाहल मच गया। यह देख कर रथारूढ उदयन ने गधहस्ती के पैर मे खीच कर तीक्ष्ण बाण मारा। हाथी वही धराशायी हो गया और उस पर सवार चन्द्रप्रद्योत भी नीचे आ गिरा। अत सब राजाओ ने मिलकर उसे जीते-जी पकड लिया। राजा उदयन ने उसके ललाट पर 'दासीपति' शब्द अकित करा अन्तत उसे क्षमा कर दिया।

सचमुच सुवर्णगुटिका के लिये जो युद्ध हुआ, वह परस्त्रीगामी कामी चन्द्रप्रद्योत राजा की रागासक्ति के कारण हुआ।

रोहिणी

अरिष्टपुर मे रुधिर नामक राजा राज्य करता था, उसकी रानी का नाम सुमित्रा था। उसके एक पुत्री थी। उसका नाम था—रोहिणी। रोहिणी अत्यन्त रूपवती थी, उसके सौन्दर्य की बात सर्वत्र

फैल गई थी । इसलिये अनेक राजा-महाराजाओ ने रुधिर राजा से उसकी याचना की थी । राजा बडे असमजस मे पड गया कि वह किसको अपनी कन्या दे, किसको न दे ? अन्ततोगत्वा उसने रोहिणी के योग्य वर का चुनाव करने के लिये स्वयवर रचने का निश्चय किया । रोहिणी पहले से ही वसुदेवजी के गुणो पर मुग्ध थी । वसुदेवजी भी रोहिणी को चाहते थे । वसुदेवजी उन दिनो गुप्तरूप से देशाटन के लिये भ्रमण कर रहे थे । राजा रुधिर की ओर से स्वयवर की आमन्त्रणपत्रिकाएँ जरासध आदि सब राजाओ को पहुँच चुकी थी । फलत जरासध आदि अनेक राजा स्वयवर मे उपस्थित हुए । वसुदेवजी भी स्वयवर का समाचार पाकर वहाँ आ पहुँचे । वसुदेवजी ने देखा कि उन बडे-बडे राजाओ के समीप बैठने से मेरे मनोरथ मे विघ्न पडेगा, अत मृदग बजाने वालो के बीच मे वैसा ही वेष बनाकर बैठ गए । वसुदेवजी मृदग बजाने मे बडे निपुण थे । वे मृदग बजाने लगे । नियत समय पर स्वयवर का कार्य प्रारम्भ हुआ । ज्योतिषी के द्वारा शुभमुहूर्त की सूचना पाते ही राजा रुधिर ने रोहिणी (कन्या) को स्वयवर मे प्रवेश कराया । रूपराशि रोहिणी ने अपनी हसगामिनी गति एव नूपुर की झकार से तमाम राजाओ को आकर्षित कर लिया । सबके सब टकटकी लगाकर उसकी ओर देख रहे थे । रोहिणी धीरे-धीरे अपनी दासी के पीछे-पीछे चल रही थी । सब राजाओ के गुणो और विशेषताओ से परिचित दासी क्रमश प्रत्येक राजा के पास जाकर उसके नाम, देश, ऐश्वर्य, गुण और विशेषता का स्पष्ट वर्णन करती जाती थी । इस प्रकार दासी द्वारा समुद्रविजय, जरासध आदि तमाम राजाओ का परिचय पाने के बाद उन्हे स्वीकार न कर रोहिणी जब आगे बढ गई तो वासुदेवजी हर्षित होकर मृदग बजाने लगे । मृदग की सुरीली आवाज मे ही उन्होने यह व्यक्त किया—

'मुग्धमृगनयनयुगले ! शीघ्रमिहागच्छ मैव चिरयस्व ।
कुलविक्रमगुणशालिनि ! त्वदर्थमहमिहागतो यदिह ॥'

अर्थात्—हे मुग्धमृगनयने ! अब झटपट यहाँ आ जाओ । देर मत करो । हे कुलीनता और पराक्रम के गुणो से सुशोभित सुन्दरी ! मैं तुम्हारे लिये ही यहाँ (मृदगवादको की पक्ति मे) आकर बैठा हूँ ।

मृदगवादक के वेष मे वसुदेव के द्वारा मृदग से ध्वनित उक्त आशय को सुन कर रोहिणी हर्ष के मारे पुलकित हो उठी । जैसे निर्धन को धन मिलने पर वह आनन्दित हो जाता है, वैसे ही निराश रोहिणी भी आनन्दविभोर हो गई और शीघ्र ही वसुदेवजी के पास जाकर उनके गले मे वरमाला डाल दी ।

एक साधारण मृदग बजाने वाले के गले मे वरमाला डालते देख कर सभी राजा, राजकुमार विक्षुब्ध हो उठे । सारे स्वयवरमडप मे शोर मच गया । सभी राजा चिल्लाने लगे—"बडा अनर्थ हो गया ! इस कन्या ने कुल की रीति-नीति पर पानी फेर दिया । इसने इतने तेजस्वी, सुन्दर और पराक्रमी राजकुमारो को ठुकरा कर और न्यायमर्यादा को तोडकर एक नीच वादक के गले मे वरमाला डाल दी ! यदि इसका वादक के साथ अनुचित सबध या गुप्त-प्रेम था तो राजा रुधिर ने स्वयवर रचाकर क्षत्रिय कुमारो को आमन्त्रित करने का नाटक क्यो रचा ! यह तो हमारा सरासर अपमान है ।" इस प्रकार के अनेक आक्षेप-विक्षेपो से उन्होने राजा को परेशान कर दिया । राजा रुधिर किकर्त्तव्यविमूढ और आश्चर्यचकित होकर सोचने लगा—विचार-

शील, नीतिनिपुण और पवित्र विचार की होते हुए भी, पता नही रोहिणी ने इन सब राजाओ को छोड कर एक नीच व्यक्ति का वरण क्यो किया ? रोहिणी ऐसा अज्ञानपूर्ण कृत्य नही कर सकती। फिर रोहिणी ने यह अनर्थ क्यो किया ? अपने पिता को इसी उधेडबुन मे पडे देख कर रोहिणी ने सोचा कि 'मैं लज्जा छोडकर पिताजी को इनका (अपने पति का) परिचय कैसे दूं ?' वसुदेवजी ने अपनी प्रिया का मनोभाव जान लिया। इधर जब सारे राजा लोग कुपित होकर अपने दल-बलसहित वसुदेवजी से युद्ध करने के लिये तैयार हो गए, तब वसुदेवजी ने भी सबको ललकारा—

"क्षत्रियवीरो ! क्या आपकी वीरता इसी मे है कि आप स्वयवर-मर्यादा का भग कर अनीति-पथ का अनुकरण करे ? स्वयवर के नियमानुसार जब कन्या ने अपने मनोनीत वर को स्वीकार कर लिया है, तब आप लोग क्यो अडचन डाल रहे है ? राजा लोग न्याय-नीति के रक्षक होते है, नाशक नही। आप समझदार है, इतने मे ही सब समझ जाइये।"

इस नीतिसगत बात को सुनकर न्याय-नीतिपरायण सज्जन राजा तो झटपट समझ गए और उन्होने युद्ध से अपना हाथ खीच लिया। वे सोचने लगे कि इस बात मे अवश्य कोई न कोई रहस्य है। इस प्रकार की निर्भीक और गभीर वाणी किसी साधारण व्यक्ति की नहीं हो सकती। लेकिन कुछ दुर्जन और अडियल राजा अपने दुराग्रह पर अडे रहे। जब वसुदेवजी ने देखा कि अब सामनीति से काम नही चलेगा, ऐसे दुर्जन तो दण्डनीति—दमननीति से ही समझेंगे, तो उन्होने कहा, "तुम्हे वीरता का अभिमान है तो आ जाओ मैदान मे ! अभी सब को मजा चखा दू गा।"

वसुदेवजी के इन वचनो ने जले पर नमक छिडकने का काम किया। सभी दुर्जन राजा उत्ते-जित होकर एक साथ वसुदेवजी पर टूट पडे और शस्त्र-अस्त्रो से प्रहार करने लगे। अकेले रणशूर वसुदेवजी ने उनके समस्त शस्त्रास्त्रो को विफल कर सब राजाओ पर विजय प्राप्त की।

राजा रुधिर भी वसुदेवजी के पराक्रम से तथा बाद मे उनके वश का परिचय पाकर मुग्ध हो गया। हर्षित हो कर उसने वसुदेवजी के साथ रोहिणी का विवाह कर दिया। प्राप्त हुए प्रचुर दहेज एव रोहिणी को साथ लेकर वसुदेवजी अपने नगर को लौटे। इसी के गर्भ से भविष्य मे बलदेवजी का जन्म हुआ, जो श्रीकृष्णजी के बडे भाई थे।

इसी तरह किन्नरी, सुरूपा और विद्युन्मती के लिये भी युद्ध हुआ। ये तीनो अप्रसिद्ध है। कई लोग विद्युन्मती को एक दासी बतलाते है, जो कोणिक राजा से सम्बन्धित थी और उसके लिये युद्ध हुआ था। इसी प्रकार किन्नरी भी चित्रसेन राजा से सम्बन्धित मानी जाती है, जिसके लिए राजा चित्रसेन के साथ युद्ध हुआ था। जो भी हो, ससार मे ज्ञात-अज्ञात, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध अगणित महिलाओ के निमित्त से भयकर युद्ध हुए है।

□□

फैल गई थी। इसलिये अनेक राजा-महाराजाओ ने रुधिर राजा से उसकी याचना की थी। राजा बडे असमजस मे पड गया कि वह किसको अपनी कन्या दे, किसको न दे ? अन्ततोगत्वा उसने रोहिणी के योग्य वर का चुनाव करने के लिये स्वयवर रचने का निश्चय किया। रोहिणी पहले से ही वसुदेवजी के गुणो पर मुग्ध थी। वसुदेवजी भी रोहिणी को चाहते थे। वसुदेवजी उन दिनो गुप्तरूप से देशाटन के लिये भ्रमण कर रहे थे। राजा रुधिर की ओर से स्वयवर की आमत्रणपत्रिकाएँ जरासध आदि सब राजाओ को पहुँच चुकी थी। फलत जरासध आदि अनेक राजा स्वयवर मे उपस्थित हुए। वसुदेवजी भी स्वयवर का समाचार पाकर वहाँ आ पहुँचे। वसुदेवजी ने देखा कि उन बडे-बडे राजाओ के समीप बैठने से मेरे मनोरथ मे विघ्न पडेगा, अत मृदग बजाने वालो के बीच मे वैसा ही वेष बनाकर बैठ गए। वसुदेवजी मृदग बजाने मे बडे निपुण थे। वे मृदग बजाने लगे। नियत समय पर स्वयवर का कार्य प्रारम्भ हुआ। ज्योतिषी के द्वारा शुभमुहूर्त की सूचना पाते ही राजा रुधिर ने रोहिणी (कन्या) को स्वयवर मे प्रवेश कराया। रूपराशि रोहिणी ने अपनी हसगामिनी गति एव नूपुर की झकार से तमाम राजाओ को आकर्षित कर लिया। सबके सब टकटकी लगाकर उसकी ओर देख रहे थे। रोहिणी धीरे-धीरे अपनी दासी के पीछे-पीछे चल रही थी। सब राजाओ के गुणो और विशेषताओ से परिचित दासी क्रमश प्रत्येक राजा के पास जाकर उसके नाम, देश, ऐश्वर्य, गुण और विशेषता का स्पष्ट वर्णन करती जाती थी। इस प्रकार दासी द्वारा समुद्रविजय, जरासध आदि तमाम राजाओ का परिचय पाने के बाद उन्हे स्वीकार न कर रोहिणी जब आगे बढ गई तो वासुदेवजी हर्षित होकर मृदग बजाने लगे। मृदग की सुरीली आवाज मे ही उन्होने यह व्यक्त किया—

'मुग्धमृगनयनयुगले ! शीघ्रमिहागच्छ मैव चिरयस्व।
कुलविक्रमगुणशालिनि ! त्वदर्थमहमिहागतो यदिह॥'

अर्थात्—हे मुग्धमृगनयने ! अब झटपट यहाँ आ जाओ। देर मत करो। हे कुलीनता और पराक्रम के गुणो से सुशोभित सुन्दरी ! मैं तुम्हारे लिये ही यहाँ (मृदगवादको की पक्ति मे) आकर बैठा हूँ।

मृदगवादक के वेष मे वसुदेव के द्वारा मृदग से ध्वनित उक्त आशय को सुन कर रोहिणी हर्ष के मारे पुलकित हो उठी। जैसे निर्धन को धन मिलने पर वह आनन्दित हो जाता है, वैसे ही निराश रोहिणी भी आनन्दविभोर हो गई और शीघ्र ही वसुदेवजी के पास जाकर उनके गले मे वरमाला डाल दी।

एक साधारण मृदग बजाने वाले के गले मे वरमाला डालते देख कर सभी राजा, राजकुमार विक्षुब्ध हो उठे। सारे स्वयवरमडप मे शोर मच गया। सभी राजा चिल्लाने लगे—"बडा अनर्थ हो गया ! इस कन्या ने कुल की रीति-नीति पर पानी फेर दिया। इसने इतने तेजस्वी, सुन्दर और पराक्रमी राजकुमारो को ठुकरा कर और न्यायमर्यादा को तोडकर एक नीच वादक के गले मे वरमाला डाल दी ! यदि इसका वादक के साथ अनुचित सबध या गुप्त-प्रेम था तो राजा रुधिर ने स्वयवर रचाकर क्षत्रिय कुमारो को आमन्त्रित करने का नाटक क्यो रचा ! यह तो हमारा सरासर अपमान है।" इस प्रकार के अनेक आक्षेप-विक्षेपो से उन्होने राजा को परेशान कर दिया। राजा रुधिर किंकर्त्तव्यविमूढ और आश्चर्यचकित होकर सोचने लगा—विचार-

शील, नीतिनिपुण और पवित्र विचार की होते हुए भी, पता नही रोहिणी ने इन सब राजाओं को छोड कर एक नीच व्यक्ति का वरण क्यो किया ? रोहिणी ऐसा अज्ञानपूर्ण कृत्य नही कर सकती। फिर रोहिणी ने यह अनर्थ क्यो किया ? अपने पिता को इसी उधेडबुन मे पडे देख कर रोहिणी ने सोचा कि 'मैं लज्जा छोडकर पिताजी को इनका (अपने पति का) परिचय कैसे दू ?' वसुदेवजी ने अपनी प्रिया का मनोभाव जान लिया। इधर जब सारे राजा लोग कुपित होकर अपने दल-बलसहित वसुदेवजी से युद्ध करने के लिये तैयार हो गए, तब वसुदेवजी ने भी सबको ललकारा—

"क्षत्रियवीरो ! क्या आपकी वीरता इसी मे है कि आप स्वयवर-मर्यादा का भग कर अनीति-पथ का अनुकरण करे ? स्वयवर के नियमानुसार जब कन्या ने अपने मनोनीत वर को स्वीकार कर लिया है, तब आप लोग क्यो अडचन डाल रहे है ? राजा लोग न्याय-नीति के रक्षक होते हैं, नाशक नही। आप समझदार है, इतने मे ही सब समझ जाइये।"

इस नीतिसगत बात को सुनकर न्याय-नीतिपरायण सज्जन राजा तो झटपट समझ गए और उन्होने युद्ध से अपना हाथ खींच लिया। वे सोचने लगे कि इस बात मे अवश्य कोई न कोई रहस्य है। इस प्रकार की निर्भीक और गभीर वाणी किसी साधारण व्यक्ति की नही हो सकती। लेकिन कुछ दुर्जन और अडियल राजा अपने दुराग्रह पर अडे रहे। जब वसुदेवजी ने देखा कि अब सामनीति से काम नही चलेगा, ऐसे दुर्जन तो दण्डनीति—दमननीति से ही समझेंगे, तो उन्होने कहा, "तुम्हे वीरता का अभिमान है तो आ जाओ मैदान मे ! अभी सब को मजा चखा दू गा।"

वसुदेवजी के इन वचनो ने जले पर नमक छिडकने का काम किया। सभी दुर्जन राजा उत्तेजित होकर एक साथ वसुदेवजी पर टूट पडे और शस्त्र-अस्त्रो से प्रहार करने लगे। अकेले रणशूर वसुदेवजी ने उनके समस्त शस्त्रास्त्रो को विफल कर सब राजाओ पर विजय प्राप्त की।

राजा रुधिर भी वसुदेवजी के पराक्रम से तथा बाद मे उनके वश का परिचय पाकर मुग्ध हो गया। हर्षित हो कर उसने वसुदेवजी के साथ रोहिणी का विवाह कर दिया। प्राप्त हुए प्रचुर दहेज एव रोहिणी को साथ लेकर वसुदेवजी अपने नगर को लौटे। इसी के गर्भ से भविष्य मे बलदेवजी का जन्म हुआ, जो श्रीकृष्णजी के बडे भाई थे।

इसी तरह किन्नरी, सुरूपा और विद्युन्मती के लिये भी युद्ध हुआ। ये तीनो अप्रसिद्ध है। कई लोग विद्युन्मती को एक दासी बतलाते है, जो कोणिक राजा से सम्बन्धित थी और उसके लिये युद्ध हुआ था। इसी प्रकार किन्नरी भी चित्रसेन राजा से सम्बन्धित मानी जाती है, जिसके लिए राजा चित्रसेन के साथ युद्ध हुआ था। जो भी हो, ससार मे ज्ञात-अज्ञात, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध अगणित महिलाओ के निमित्त से भयकर युद्ध हुए है।

□□

विशिष्ट शब्दों ए ं ना ों ा कोश

		पृष्ठ
अकारको	अकर्त्ता—क्रिया न करने वाला	६२
अकिच्च	अकृत्य—हिंसा का एक नाम	६
अकिरिया	अक्रिया	५५
अकुस	अकुश	१३२
अगम्मगामी	बहिन-बेटी आदि के साथ गमन करने वाला	६८
अगर	सुगन्धित द्रव्यविशेष	२५७
अगार	घर	२२
अगुत्ती	अगुप्ति—परिग्रह का २३ वा नाम	१४३
अचक्खुमे	अचाक्षुष —आख से नही दिखने वाला	२०
अच्छभल्ल	रीछ—भालू	१३
अच्छरा	अप्सरा—देवागना	११५
अज्झप्पज्झाण	अध्यात्मध्यान	२०८
अजणकसेल	अजनक पर्वत	१४६
अट्टालग	अट्टालिका—अटारी	२१
अट्ट	आर्त्त	२२२
अट्ठकम्म	ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म	२४८
अट्ठमयमहणे	आठ मदो का मथन करने वाला	२४८
अट्ठावय	अष्टापद—पशुविशेष	१३२
अट्ठि	अस्थि—हड्डी	१६
अडवी	जगल	४१
अडग	अडा	५६
अडज	अडे से उत्पन्न होने वाला	१३८
अणकर	हिंसा का एक नाम	६
अणक्क (क्ख)	देशविशेष	२५
अणज्ज	अनार्य	५१
अणत्थको	अनर्थकारी—परिग्रह का एक नाम	१४३
अणत्थो	” ”	१४३
अणवदग्ग	अनन्त	१३८

अण्हय	आस्रव	५
अणासवो	अनास्रव—अहिंसा का एक नाम	१६१
अणाह	अनाथ	१९
अणिल	वायु	२०
अणिहुय	अस्थिर	१३
अत्ताणे	अत्राण—त्राण से रहित	१९
अत्थसत्थ	अर्थशास्त्र, राजनीति	१४८
अत्थालिय	अर्थालीक—धनसम्बन्धी असत्य	६९
अत	आत	१६
अध	आन्ध्र——आन्ध्र प्रदेश	२५
अद्धचद	अर्धचन्द्र के आकार की खिडकी या सोपान	२२
अप्पसुह	अल्पसुख—सुख से शून्य	१४९
अबितिज्जओ	अद्वितीय—असहाय	१९३
अभिज्जा	आसक्ति	१४८
अयगर	अजगर	१४
अरविंद	कमल	२१७
अरास	मानवजातिविशेष	२५
अलिय	अलीक—मिथ्या	५१
अवकोडकबधन	पीठ पीछे हाथ बाँधना	३२
अवज्ज	अवद्य—पाप	२२४
अवधिका	उधेई—दीमक	४४
अविभाव	अज्ञात बन्धु	१३
अवीसभो	अविश्रम्भ—हिंसा का एक नाम	९
अस्समड	मृत घोडे का कलेवर	२३७
असि	तलवार	२९
असिवण	तलवार की धार के समान पत्तो वाले वृक्षो का वन	३६
असजओ	सयम-रहित—हिंसा का एक नाम	९
असजम	असयम	९
असतोस	असन्तोष—परिग्रह का एक नाम	१४३
अहरगइ	अधोगति, कुगति	६९
अहिमड	अहिमृत—साप का कलेवर	२३७
अहिसधि	अभिप्राय	७१
आगमेसिभद्द	आगामी काल मे कल्याणकारी	२५२
आगर	खान	९३
आडा	आडपक्षी	१५
आतोज्ज	वाजे	२२

उप्पाय	उत्पात पर्वत	१४६
उद्	उद्देश	७५
उदरि	जलोदर वाला	२५५
उद्दवणा	उपद्रवण-हिंसा का ६ वा नाम	६
उब्भिय	भूमि को फोडकर उत्पन्न होने वाला जीव	१३८
उम्मी	ऊर्मि—लहर	६१
उम्मूलणा	उन्मूलना—हिंसा का दूसरा नाम	६
उरग	पेट के बल से चलने वाला सर्प-विशेष	१४
उरब्भ	मेढा	१३
उवहिया	ठगाई करने वाला ठग	५३
उवकरण	परिग्रह का एक नाम	१४३
उवचयो	उपचय, परिग्रह का चतुर्थ नाम	१४३
उवाणहा	जूता	२४१
उस्सओ	उच्छ्रय-भाव की उन्नति, अहिंसा का ४५ वाँ नाम	१६२
उसीर	उशीर—सुगन्धित द्रव्य	२५७
एगचक्खु	काणा	४७
एगेंदिए	एक इन्द्रिय वाला जीव	४५
एणीयारा	मृग पकडने के लिये हिरणी लेकर फिरने वाले	२४
एरावण	ऐरावत—इन्द्र का हाथी	२१७
एलारस	इलायची का रस	२५७
ओदण	चावल-भात	२४२
ओवाय	अवपात—पर्वतविशेप	१४६
ओसह	औषध	१५६
कक्क	कपट	५३
कक्कणा	असत्य का एक नाम	५१
कच्छभ	कछुआ	१३
कच्छभी	वाद्य—बाजाविशेष	२५३
कच्छुल्ल	खुजली के रोग वाला	२५५
कडगमद्दण	कटकमर्दन—हिंसा का १५ वा नाम	६
कडुय	कडुआ	६
कढिणगं	कठिण-तृणविशेष	२०८
कणग	सोना	२००
कणगनियल	सोने का बना गहनाविशेष	२५३
कणवीर	कनेर	६६
कण्ण	कान	१६
कन्दु	लोही—भूजने का एक पात्र	३२

कन्नालिय	कन्या सम्बन्धी झूठ	९६
कप्पणि	कैंची	३७
कप्पड	कोडा	९६
कपिंजलक	कपिंजल पक्षी	१५
कब्बड	खराब नगर	१४१
कमडलु	कुण्डी, कमण्डलु	१३२
कम्मत	कारखाना, जहाँ चूना आदि तैयार किया जाता है	२०७
कम्मकर	सेवक	७४
कयली	केला	१३२
करक	करक पक्षी	१५
करभ	ऊंट	१३
करवत्त	करवत	२९
करिसण	कृषि	२१
कलस	कलश, घट	१३२
कलाओ	कलाएँ	१४८
कलाय	कलाद—सुनार	५३
कल्लाण	कल्याणकारी—अहिंसा का २९ वा नाम	१६१
कलिकरडो	कलह की पेटी, परिग्रह का १९ वा नाम	१४३
कवड	कपट	५१
कविल	कपिल पक्षी	१५
कवोल	कबूतर	१५
कवोल	कपोल, गाल	१३२
कस	चमडे का चाबुक	४१
कहक	कथा करने वाला	२५५
काउदर	काकोदर—एक प्रकार का साँप	१४
काणा	काणे	४७
कादम्बक	हस विशेष	१५
कापुरिस	कायर मनुष्य	१६०
कायगुत्ते	कायगुप्त	२४८
कारडग	कारडक पक्षी	१५
कारुइज्जा	छीपे—शिलूरी	५३
कालोदधि	कालोदधि समुद्र	१४६
काहावण	कार्षापण—एक प्रकार का सिक्का	५३
कित्ती	कीर्ति—अहिंसा का ५ वा नाम	१६१
किन्नर	किन्नर देव, वाद्यविशेष	११५
किन्नरी	महिलाविशेष का नाम	१३७

किमिय	कृमि—कीडे	४५
किरिया	प्रशस्त या अप्रशस्त कार्य	५५
किरियाठाण	क्रियास्थान	१२६
कीड	कीडा	१७७
कीर	तोता	१५
कुक्कुड	मुर्गा	१५
कुकूलाऽनल	कोयले की आग	२६
कुच्च	कूची बनाने योग्य घास	२०८
कुडिल	कुटिल—टेढा	५३
कुड्ड	कुड्य—दीवाल	२८
कुणी	कर से हीन	२५५
कुद्दाल	कुदाल	४६
कुद्ध	क्रोधी	१६२
कुम्म	कछुवा	११७
कुम्मास	उडद	२४२
कुरग	हिरण	१३
कुलकोडी	कुलकोटि	४३
कुलल	कुलल पक्षी	१५
कुलक्ख	कुलक्ष—पक्षी की एक जाति, एक देश	२५
कुलिंगी	कुतीर्थी	५३
कुलिय	विशेष प्रकार का हल—बखर	२२
कुलीकोस	कुटीक्रोश पक्षी	१५
कुत्तितसाला	तृण आदि रखने का घर	२०७
कुस	कुश—तृण विशेष	११७
कुसघयण	कमजोर अस्थिबध वाला	४७
कुसठिया	खराब आकार वाले	४७
कुहण	कुहण देश	२५
कुहड	कूष्माण्ड—देवविशेष	६२
कूडतुल	झूठा तोलने वाले	५३
कूडमाणी	झूठा माप करने वाले	५३
कूरकम्मा	क्रूर कर्म करने वाले	२४
कूरिकड	चोरी का एक नाम	८४
कूव	कूआ	२१
केकय	केकय देश	-२५
केवलीणठाण	केवलियो का स्थान—अहिंसा का ३६ वा नाम	१६१
केर्मरिमुहविप्फारगा	सिंह का मुह फाडने वाले	१२२

कोइल	कोकिल	१३२
कोकन्तिय	लोमडी	१३
कोट्टवलिकरण	वलिदान का एक प्रकार	३२
कोढिक	कुष्ठ रोगी	२५५
कोणालग	कोणालक पक्षी	१५
कोरग	कोरग पक्षी	१५
कोल	कोल—चूहे के समान जीव	१३
कोल-सुणक	बडा सूअर	१३
कोसिकार-कीडो	रेशम का कीडा	१०४
कक	कक पक्षी	३८
कचणक	काञ्चनक पर्वत	१४६
कचणा	कचना, एक नारी	१३७
कची	काञ्ची—कन्दोरा	२५३
कु डिया	कुण्डी कमण्डलु	२४१
कती	कान्ति-चमक, अहिंसा का ६ ठा नाम	१६१
कदमूलाई	कन्दमूल	२४१
कस	कास्य, कासे का पात्र	२००
कु कुम	कु कुम	२५७
कु च	क्रौंच पक्षी	१५
कु जर	हाथी	११७
कु ट	खराव हाथ वाला, टोंटा	४७
कु डल	कुण्डलाकार पर्वत	१४६
कु त (कोत)	भाला, अस्त्रविशेष	३७
कु थु	कुन्थु-जीवविशेष	४४
कोकणग	कोकण देश	२५
कोत	भाला	३७
कोच	क्रौंच देश	२५
खग	पक्षी	१५
खग्ग	खड्ग-गेंडा	१३
खग्ग	खड्ग-तलवार	८६
खढ	जल्दी, शीघ्र	२०६
खर	गधा	१३
खस	खस देश	२५
खहयर	खेचर-पक्षी	१५
खाडहिल	गिलहरी	१४
खाति(इ)य	खाई	२१

खासिय	खासिक देश	२५
खील	खील	२२
खुज्ज	कुबडा	४७
खुट्टिय	तलाई	१५५
खुर	छुरा	२९
खुहिय	भूखा	१६५
खेड	खेडा—छोटा गाव	९३
खेलोसहि	एक प्रकार की लब्धि	१६७
खेव	चोरी	८४
खडरक्ख	चु गी लेने वाला अथवा कोतवाल	५३
खड	खाड—शक्कर	२५८
खती	क्षान्ति—अहिसा का १३ वा नाम	१६१
खध	स्कन्ध	५३
खिंखिणी	पायल, आभूषणविशेष	२५३
गडि	गडमाला	२५५
गय	हाथी	१३
गयकुल	हाथियो का झुण्ड	७१
गया	गदा—अस्त्रविशेष	८९
गरल	अन्य वस्तु मे मिला विष	२४
गरुल	गरुड पक्षी	१५
गरुलवूह	गरुडव्यूह	८६
गवय	रोझ—नीली गौ	१३
गवालिय	गाय सम्बन्धी झूठ	६९
गहियगहणा	गिरवी रखने वाले—गिरवी का माल हजम करने वाले	५३
गागर	घडा	११७
गाम	ग्राम	९३
गाय (काय)	एक म्लेच्छ जाति	२५
गालणा	हिंसा का एक नाम	९
गिद्द	गीध	३८
गाह	ग्राह—जल जन्तु	१३
गिलाण	वीमार	२०४
गुज्झ	अब्रह्म का एक नाम	११३
गुत्ती	गुप्ति	२२६
गुणाण विराहणत्ति	गुणो की विराधना—हिसा का ३० वा नाम	९
गुरुतप्पओ	गुरुपत्नीगामी	६८
गुल (ड)	गुड	२४२

गोउर	गोपुर—नगर का मुख्य द्वार	२१
गोकण्ण	दो खुर वाला चौपाया जानवर	१३
गोच्छुम्रो	पू जनी	२४७
गोड	गौड देश	२५
गोण	गाय बैल	१३
गोणस	विना फण का साप	१४
गोध	गोधा	१४
गोमड	गाय का कलेवर	२५७
गोमिय	अधिकारीविशेप	६४
गोहा	गोधा	७१
गोसीससरसचदन	गोशीर्ष नामक शीतल चन्दन	२५७
गडूलय	गिंडोला, जन्तुविशेष	४५
गथिभेदग	गाठ काटने वाला	८६
गध	गध	२५७
गधमादण	पर्वतविशेष	१८४
गधहारग	गन्धहारक देश (कन्धार)	२५
घत्थ	ग्रस्त—जकडा हुआ	१४६
घय	घी	२५८
घर	घर—गृह	२१
घायणा	हिंसा का छट्ठा नाम	६
घीरोली	घरमे रहने वाली गोह	१४
घूय	घूक—उल्लू	६४
घटिय	घटिका-घुघरू	२५३
चउक्क	चौक	९८
चउम्मुह	चारो ओर द्वार वाली इमारत	९८
चउरग	चकोर पक्षी	१५
चउरिंदिए	चार इन्द्रिय वाला जीव	४३
चक्क	चक्र—चक्रव्यूह	८७
चक्कवट्टी	चक्रवर्ती	५५
चक्कवाग	चक्रवाक, चकवा	१५
चक्खुसे	चाक्षुष—आख से देखने योग्य	२०
चच्चर	चार से अधिक मार्गो का सगम	९८
चडग	चिडिया	१५
चडगर	समूह	८९
चमर	चमरी गाय	१३
चम्म	चमडा	१६

चम्मट्ठिल	चमगादर	१५
चम्मपत्र	चर्मपात्र	२४१
चम्मेट्ठ	चमडे से मढा पत्थर	८९
चय	वस्तुओ की ढेरी, परिग्रह का तीसरा भेद	१४३
चरत	अब्रह्मचर्य का एक नाम	११३
चरिया	नगर और कोट के मध्य का मार्ग	२१
चलण	चरण—पैर	१३२
चलणमालिय	आभूषणविशेष	२५३
चवल	चपल	१२३
चाई	त्यागी	२४८
चाडुयार	खुशामदी	५३
चाणूर	चाणूर मल्ल	१२२
चारक	बन्दीखाना	९६
चार	गुप्त दूत	५३
चाव	धनुष	८९
चास	चाश पक्षी	१५
चिक्खल्ल	कीचड	२९
चित्त	चित्रकूट पर्वत	१४६
चित्तसभा	चित्रसभा	२१
चिइ	भित्ति आदि का बनाना	२१
चिइका	चिता	९४
चिल्लल	चीता या दो खुर वाला पशुविशेष	१३
चीण	चीन देश	२५
चिलाय	चिलात देशवासी	२५
चीरल्ल	चील	१५
चूलिया	चूलिका	२५
चेइय	चैत्य	२१
चोक्ख	चोक्ष—अहिंसा का ५४ वा नाम	१६२
चोरिक्क	चोरी	८४
चोलपट्टक	चोलपट्टा, साधु के पहनने का वस्त्र	१८०
चगेरी	फूलो की डाली या वाद्यविशेष	२२
चडो	उद्धत—प्राणवध का विशेषण	६
चदनक	कौडी	४५
चदसालिय	अटारी	२२
चुचुया	चुचुक	२५
छगल	बकरे की एक जाति	१३

जीवजीवक	चकोर पक्षी	१५
जुय	युग, जूवा	२२
जूयकरा	जुआरी	५३
जूव	यूप	१३२
जोगसगहे	योगसग्रह	२३१
जोग्ग	दो हाथ का यानविशेष—युग्य	२२
जोणी	योनि—जन्मस्थान	२४१
जत	यन्त्र	२२
जतुग	पानी मे पैदा होने वाला तृणविशेष	२०८
जबुय	शृगाल	६४
जबू	सुधर्मा गणधर के शिष्य	५
जभग	जृम्भक—देवविशेष	१८४
झय	ध्वज	८९
झस	जल-जन्तु	१३
झाण	ध्यान	२१८
ठिति	स्थिति, अहिंसा का २२ वा नाम	१६१
डब्भ	डाभ—तृणविशेष	२०८
डमर	सग्राम	७५
डाइणी	डाकिन	६४
डोव	डोव जाति	२५
डोविलग	डोविलक देश	२५
डसमसग	डास-मच्छर	२०९
ढेणियालग	ढेणिकालग—एक प्रकार का पक्षी	१५
ढिक	ढक पक्षी	१५
णउल	नकुल	१४
णक्क	नाक	१६
णग	पर्वत	११७
णगर	नगर	११७
णत्थिवाइणो	नास्तिवादी—नास्तिक	५४
णयण	नेत्र	१६
णह	नख	१६
णिक्खेव	धरोहर	६९
णित्तुस	सारयुक्त-असारतारहित	२१३
णियडि	माया	१४१
णिवाय	पवनरहित	२०८
णिव्वाण	अहिंसा का एक नाम	१६१

छत्त	छत्र	१३२
छरुप्पगय	एक कला	१४८
छविच्छेओ	हिंसा का २१ वा नाम	६
छीरल	वाहुओ से चलने वाला जीव	१४
छुद्दिय	आभरणविशेष	२५३
जक्ख	यक्ष—देवविशेष	६२
जग	यकृत—पेट के दाहिनी तरफ रहने वाली मासग्रन्थि	१६
जच्च	उत्तम जातीय	१३२
जणवय	देश	६३
जत(य)न	यजन अभयदान—अहिंसा का ४८ वा नाम	१६२
जदिच्छाए	यदृच्छा	६५
जन्नो	यज्ञ, अहिंसा का ४६ वा नाम	१६२
जमपुरिस	यमपुरुष—परमाधर्मी देव	२६
जमकवर	यमकवर पर्वत	१४६
जराउय	जरायुज—जड के साथ उत्पन्न होने वाला जीव	१३८
जरासधमाणमहणा	जरासन्ध राजा के मान को मथने वाले	१२२
जलगए	जल मे रहने वाले कीडे आदि	१६
जलमए	जलकाय के जीव	१६
जलयर	जलचर	२६
जल्ल	जल्लदेश या डोरी पर खेलने वाला	२५
जल्लोसहि	एक प्रकार की लब्धि	१६७
जलूय	जलूका, जौक	४५
जव	जौ-जव	११७
जवण	यवन लोग	२५
जहण	जघन, जघा	१३२
जाइ	जाति, जन्म	५३
जाण	यान	२२
जाणसाला	यानशाला, वाहन आदि रखने का घर	२२
जारिसओ	जैसा	५
जाल	ज्वाला	२६
जालक	जालिया	२२
जाहक	काटो से ढका हुआ शरीर वाला जन्तु	१४
जिणेहि	जिनेन्द्रदेवो द्वारा	१५
जीवनिकाया	जीवनिकाय	२३१
जीवियतकरणो	हिंसा का २२ वा नाम	६

जीवजीवक	चकोर पक्षी	१५
जुय	युग, जूवा	२२
जूयकरा	जुआरी	५३
जूव	यूप	१३२
जोगसगहे	योगसग्रह	२३१
जोग्ग	दो हाथ का यानविशेष—युग्य	२२
जोणी	योनि—जन्मस्थान	२४१
जत	यन्त्र	२२
जतुग	पानी मे पैदा होने वाला तृणविशेष	२०८
जबुय	शृगाल	६४
जबू	सुधर्मा गणधर के शिष्य	५
जभग	जृम्भक—देवविशेष	१८४
झय	ध्वज	८६
झस	जल-जन्तु	१३
झाण	ध्यान	२१८
ठिति	स्थिति, अहिंसा का २२ वा नाम	१६१
डब्भ	डाभ—तृणविशेष	२०८
डमर	सग्राम	७५
डाइणी	डाकिन	६४
डोंव	डोंव जाति	२५
डोंविलग	डोंविलक देश	२५
डसमसग	डास-मच्छर	२०६
ढेणियालग	ढेणिकालग—एक प्रकार का पक्षी	१५
ढिक	ढक पक्षी	१५
णउल	नकुल	१४
णक्क	नाक	१६
णग	पर्वत	११७
णगर	नगर	११७
णत्थिवाइणो	नास्तिवादी—नास्तिक	५४
णयण	नेत्र	१६
णह	नख	१६
णिक्खेव	धरोहर	६६
णित्तुस	सारयुक्त-असारतारहित	२१३
णियडि	माया	१४१
णिवाय	पवनरहित	२०८
णिव्वाण	अहिंसा का एक नाम	१६१

णिव्वुई	अहिंसा का एक नाम	१६१
णिव्वुइघर	मोक्ष	२१३
ण्हण	सौभाग्यस्नान	७५
ण्हारूणि	स्नायु	१६
णिग्घिणो	घृणारहित	४८
णिज्जवणा	णिज्जूहग-द्वारशाखा	२२
णिस्सेणि	निस्सरणी	२२
णिस्सद	सार	५
णिस्ससो	नृशस, क्रूर	४८
णेउर	नूपूर	११७
णदमाणक	नदीमुख	१५
णगल	हल	२२
तउय	त्रपु	२४१
तक्कर	चोर	६६
तण्हा	तृष्णा—परिग्रह का २७ वा नाम	१४३
तत	वीणा आदि वाद्य	२२
तत्तिय	सताप	७४
तप्पण	सत्तू	२४२
तय	त्वचा	२४०
तरच्छ	जगली पशु	१३
तलताल	वाद्यविशेष	२५३
तलवर	मस्तक पर स्वर्णपट्टधारक राजपुरुष	१४६
तलाग	तालाब	२१
तव	तप	२२२
तस	त्रस जीव	१३८
ताय	तात	३४
तारा	तारा	१३७
तालयट	ताल पत्र के पखे	११७
तित्त	तीता रस	२५८
तित्ती	तृप्ति—अहिंसा का १० वा नाम	१६१
तित्तिय	तित्तिक देश	२५
तित्तिर	तीतर पक्षी	१५
तिमि	बडे मत्स्य	१३
तिमिसधयार	घोर अन्धकार	१५४
तिमिंगिल	बहुत बडे मत्स्य	१३
तिरिय	तिर्यञ्च	३६

दिलिवेढय	जलीय जन्तुविशेष	१३
दीविय	चीता	१३
दीविय	एक प्रकार की चिडिया	१५
दीहिया	बावडी	२४
दुकय	दुष्कृत	६२
दुग्गइप्पवाओ	हिंसा का एक नाम	६
दुद्ध	दुग्ध	२५८
दुहण	द्रुघन—वृक्षो को गिराने वाला मुद्‌गर द्रुहना	८६
देवई (की)	देवकी रानी	१२२
देवकुल	देवमन्दिर	२१
दोणमुह	जलमार्ग और स्थलमार्ग दोनो से जाने योग्य नगर	६३
दोणि	छोटी नौका	२२
दोवई	द्रौपदी	१३७
दोहग्ग	दुर्भाग्य	१३२
दतट्ठा	दात के लिए	१६
दसण	सामान्य बोध, श्रद्धागुण	११५
दसमसग	डास-मच्छर	२२२
धणित	अत्यर्थ	६२
धत्तरिट्ठग	धार्तराष्ट्र—हस विशेष	१५
धमण	भैस आदि के देह मे हवा भरना	४२
धमणि	नाडी	१६
धिती	धृति—अहिंसा का २८ वा नाम	१६१
धूम	धूम—आहारसबधी एक दोष	२४५
नक्क	जलजन्तु विशेप	१३
नगरगोत्तिय	नगररक्षक	५३
नट्टक	नर्तक	२५५
नड	नट	२५५
नह	नख	१६
नाराय	लोहे का बाण	३७
निक्किओ	निष्क्रिय	६२
निगड	लोहे की बेडी	१६
निगम	वणिको का निवासस्थान	६३
निग्गुणो	निर्गुण	६२
निच्चो	नित्य	६२
निज्जवणा	हिंसा का २८ वा नाम	६
नत्थिकवादिणो	नास्तिकवादी	५४

निम्मलतर	खूव स्वच्छ, अहिंसा का ६० वा नाम	१६१
नि (णि) यडि	कपट-मायाचार	१३६
निव्वाण	निर्वाण-मोक्ष, अहिंसा का एक नाम	१६१
निव्वुइ	निवृत्ति, शान्ति	७७
निहाण	निधान, परिग्रह का ८ वा नाम	१४३
नू(णू)म	नूम-ढक्कन	५१
नेउर	नूपुर	२५३
नेरइय	नरक के जीव	३५
नेहुर	नेहुर देश	२५
नदा	समृद्धिदायक, अहिंसा का २४ वा नाम	१६१
नदि	वाद्यविशेष	२५३
पइभय	प्रतिभय	२६
पइल्ल	श्लीपद-फीलपाव	२५५
पउम	पद्म-कमल, पद्मव्यूह	३५, ८६
पउमावई	पद्मावती रानी	१३७
पएणीयारा	विशेप रूप से हिरनिओ को मारने के लिये फिरने वाले	२४
पक्कणिय	पक्कणिक देश	२५
पच्चक्खाण	प्रत्याख्यान	५५
पच्छाय	ढँकने का वस्त्र	२४७
पज्जत्त	पर्याप्त-पर्याप्ति की पूर्णता वाले जीव	२६
पट्टण	पाटन	६३
पट्टिस	प्रहरणविशेष	८६
पडगार	जुलाहा	५३
पडिग्गहो	पात्र	२४७
पडिवधो	प्रतिबन्ध—बाह्य पदार्थो मे स्नेहबन्ध होना, परिग्रह का १२वा नाम	१४३
पडिलेहण	प्रतिलेखना	२४७
पडिसीसग	कृत्रिम शिर	७५
पडिसुआ	प्रतिध्वनि	३५
पणव	वाद्यविशेष	२५३
पण्हव	पह्लव देश	२५
पत्तरक	भूषणविशेष	२५३
पत्तेयसरीर	प्रत्येक शरीर, ऐसे जीव जिनके एक शरीर का स्वामी एक ही हो	२०
पभामा	प्रभासा-अतिशय दीप्ति वाली, अहिंसा का ५७वा नाम	१६२
पमया	प्रमदा—स्त्री	१३२
पमोओ	प्रमोद, अहिंसा का २३वा नाम	१६१

पेहुण	मोरपिच्छी	२२
पोक्कण	जाति विशेप पोक्कण देश	२५
पोक्खरणी	पुष्करिणी, चौकोनी वावडी	२१
पोयसत्था	नौका के व्यापारी	३५
पोयघाया	पक्षियो के वच्चो का घात करने वाले	२४
पोयय	पोतज—एक जीव विशेप	१३८
पोसह	पौषध—एक विशिष्ट व्रत	५४
पगुला	पगु	४७
फलक	पाट—विस्तर-कुर्सी आदि	२२
फलिहा	परिघ—आगल	२२
फासुय	प्रासुक—निर्जीव	२०७
फोफस	फुप्फुस—देह का एक अग विशेप	१६
वउस	एक देशविशेप	२५
वक	बगुला	१५
वप्प	बाप—पिता	३४
बव्वर	एक अनार्य जाति	२५
वरहिण	मयूर	१५
बलदेव	बलदेव	५५
बलाका	वगुली	१५
वहलीय	वहलीक देशवासी	२५
वहिर	वहरा	४७
वादर	वादर नाम-कर्म वाले	२०
विल्लल	विल्वल देश	२५
वीहणग	भयानक	३१
वुद्धी	बुद्धि, अहिंसा का १६ वा नाम	१६१
वेलवक	विडम्वक	२५५
वेदिए	दो इन्द्रिय वाला	४५
वोही	वोधि, अहिंसा का १६ वा नाम	१६१
वजुल	वजुल पक्षी	१५
वभचेर	ब्रह्मचर्य	२१३
भग	योनि	११७
भट्ठभज्जणाणि	भाड मे चने के जैसे भू जना	३२
भडग	भडक जाति	२५
भडा	सैनिक	६०

भद्दा	भद्रा-कल्याणकारी, अहिंसा का २५ वा नाम	१६१
भमर	भवरा	१६
भयग	नौकर	७४
भयकरो	हिंसा का २३ वा नाम	६
भरह	भरत क्षेत्र	११७
भवण	भवन	२१
भाइल्लगा	सेवक	७४
भायण	पात्र	२१
भारो	भार—आत्मा को भारी करने वाला, परिग्रह का १७ वा नाम	१४३
भावणा	भावना	१७७
भाविओ	भावित—सस्कार वाला	१७७
भास	भाव पक्षी	१५
भासासमित	भाषासमिति वाला	२४८
भिक्खुपडिमा	साधु की पडिमा (प्रतिज्ञा)	२३१
भिगारग	भिंगारक पक्षी	१५
भुज्जिय	भू जे हुए धानी	२४२
भुयगीसर	शेषनाग	१२८
भूमिघर	भूमिगृह—तलघर	२१
भूयगामा	जीवो के समूह	२३१
भेयणिट्ठवंग	भेदनिष्ठापन—हिंसा का एक नाम	६
भेसज्ज	भेषज	२४१
भोमालिय	भूमि सम्बन्धी झूठ	६६
मडोवगरण	मिट्टी के भाड	२१
भिंडिमाल	भिंडिपाल	८६
मइय	मतिक—खेत जोतने के बाद ढेला फोडने का मोटा काष्ठ	२२
मउड	मुकुट	८६
मउलि	फण वाले सर्प	१४
मगर	मगरमच्छ	१३
मच्चू	मृत्यु, हिंसा का एक नाम	६
मच्छवधा	मछली पकडने वाले	२४
मच्छी	मक्खी	४३
मच्छडी	मिश्री	२४२
मज्ज	मद्य	२४२
मज्जण	मज्जन-मर्दन	२२१
मज्जार	बिल्ली	१३
मडव	जिसके नजदीक कोई वस्ती न हो ऐसी बस्ती	६२

मणगुत्ते	मनोगुप्त	२४८
मणपज्जवनाणी	मन पर्यवज्ञानी	१६७
मणि	चन्द्रकान्त आदि	२००
मत्थुलिंग	मस्तुलिंग	१६
मयणसाल	मैना	१५
मधु	शहद	२४२
मम्मण	अस्पष्ट उच्चारण करने वाला	४७
मय	मद	२३१
मयूर	मोर	१५
मरहट्ठ	महाराष्ट्र देश	२५
मरुय	मरुआ	२५७
मरूया	मरुक देश	२५
मलय	मलय देश	२५
मल्ल	पहलवान	२५३
मसग	मशक, मच्छर	४३
महप्पा	महात्मा	७७
महव्वय	महाव्रत	२२०
महाकुंभि	बडी कुंभी	३२
महापह	राजमार्ग	९८
महासउणिपूतनारिपु	महाशकुनि और पूतना के शत्रु	१२२
महार्दि	अपरिमित याचना वाला, परिग्रह का १४ वा नाम	१४३
महिच्छा	तीव्र इच्छा, परिग्रह का एक नाम	१४३
महिस	भैंसा	१३
महुकरी	मधुमक्खी	१६
महुकोसए	मधु के छत्ते	७२
महुघाय	मधु लेने वाला	२४
महुर	महुर देश	२५
महेसी	महर्षि	५
महोरग	बडा सर्प	१४
माढि	ढाल	८९
माणुसोत्तर	मनुषोत्तर पर्वत	१४६
माया	माया—कपट	५१
मायामोसो	माया-मृषा	५१
मारणा	हिंसा का ७ वा नाम	९
मारुय	मारुत—वायु	४५
मालव	मालव देश	२५

मास	माष देश	२५
मित्तकलत्त	मित्र की पत्नी	६८
मिच्छद्दिट्ठी	मिथ्यादृष्टि वाला	१५६
मिलक्खुजाई	म्लेच्छजातीय	२५
मिय	मृग	१३
मुइग	मृदङ्ग	२५३
मुगुस	मगूस-भुजपरिसर्प जन्तुविशेष	१४
मुट्ठिअ	मौष्टिक देश	२५
मुट्ठिय	मौष्टिक मल्ल	२५३
मुत्त	मोती	२००
मुद्ध	मूर्धा—मस्तक	१२८
मुम्मुर	अग्नि के कण	२६
मुरय	मर्दल	२५३
मुरु ड	मुरु ड देश	२५
मुसल	मूसल	१२३
मुसढि	प्रहरणविशेष—भुशुडी	२२
मुहणतक (पोत्तिय)	मुखवस्त्रिका	१८०
महती	महती—महिता—सम्पन्न, अहिंसा का १५ वा नाम	१६१
मूक	गूगा	४७
मूयक	एक प्रकार का तृण	२०८
मूलकम्म	गर्भपात आदि मूल कर्म	७३
मूसल	खाडने का उपकरण	२२
मेयणी	पृथ्वी	१३२
मेय	मेद—धातु	१६
मेत्त	मेद देश	२५
मेर	मू ज के तन्तु	२०८
मेहला	मेखला	२५३
मोक्ख	मोक्ष	२१३
मेहुण	मैथुन	१३५
मोग्गर	मुद्गर	३७
मोट्ठिय	मुष्टिप्रमाण पत्थर	८६
मोयग	मोदक	२४२
मोस	मिथ्या	५१
मोह	मोह—अब्रह्म का एक नाम	११३
मगल	मङ्गलकारी, अहिंसा का ३० वाँ नाम	१६१
मडक	मण्डप-रावटी	२२

वप्पणि	पानी की नाली	२१
वप्पिणि	बावडी	२१
वम्म	कवच	८६
वय	व्रत	२१३
वयगुत्ते	वचनगुप्त	२४८
वयरामय	वज्रमय	२८
वरत्त	चमड़े की डोडी	९६
वरहिण	मयूर	७२
वराय	वराक—वेचारे	१५
वराहि	दृष्टिविप-सर्प	१४
वल्लकी (यी)	वीणा	२५३
वल्लय	वल्वज	२०८
वल्लर	खेतविशेष	२४
ववसाओ	व्यवसाय, अहिंसा का ४४ वा नाम	१६२
वव्वर	वर्वर देश	७५
वसहि	उपाश्रय—साधु के ठहरने का स्थान	२०७
वसा	चरबी	१६
वसीकरण	वशीकरण	७३
वहण	नौका	२२
वहणा	हिंसा का ८ वा नाम	६
वाउप्पिय	भुजपरिसर्पविशेष	१४
वाउरिय	जाल लेकर घूमने वाले	२४
वाणियगा	वणिक लोग	५३
वानर	वन्दर	१३
वानरकुल	वन्दर जाति	७१
वामण	छोटेशरीर वाला	४७
वामलोकवादी	लोकविरुद्ध—विपरीत वोलने वाला	५४
वायर	बादर—स्थूल	१३८
वायस	कौवा	१५
वाल	वाल	१६
वालरज्जुय	वाल की रस्सी	९६
वावि	कमल रहित या गोल वावडी	२१
वासहर	वर्षधर हिमवान् आदि पर्वत	१४६
वासि	वसूला	३७
वासुदेवा	वासुदेव	५५
वाहण	गाडी आदि	२२

वाहा	व्याध	२४
विउलमई	विपुलमति—ज्ञानविशेष	१६७
विकप्प	एक तरह का महल	२१
विकहा	विकथा	२३१
विग	भेडिया, व्याघ्र	१३
विगला	अगहीन	४७
विचित्त	विचित्रकूट पर्वत	१४६
विच्छुय	बिच्छू	२६
विडव	शाखाग्र	१४१
विडग	कबूतरो का घर	२२
विणासो	विनाश, हिंसा का २७ वा नाम	६
विण्हुमय	विष्णुमय	६२
वितत	ढोल आदि वाद्य	२२
वितत (वियय) पक्खि	वितत पक्षी	१५
विद्धि	वृद्धि, अहिंसा का २१ वा नाम	१६१
विप्पोसहिपत्त	एक विशिष्ट लब्धि का धारक	१६७
विपची	वीणा	११७
विभूती	विभूति, अहिंसा का ३२ वा नाम	१६१
विभग	मैथुन का एक नाम	११३
विमुत्ती	विमुक्ति—अहिंसा का १२ वा नाम	१६१
विमल	विमल—अहिंसा का ५८ वा नाम	१६२
वियग्घ	व्याघ्र	१३
विराहणा	विराधना	११३
विस	विष	१६
विसाण	हाथी का दात	१६
विसिट्ठदिट्ठि	विशिष्टदृष्टि, अहिंसा का २८ वा नाम	१६१
विसुद्धी	विशुद्धि, अहिंसा का २६ वा नाम	१६१
विहग	पक्षीविशेष	१५
विहार	मठ	२२
वीसत्थछिद्दघाई	विश्वासी का अवसर देखकर घात करने वाला	६५
वीसासो	विश्वास, अहिंसा का ५१ वा नाम	१६२
वीसुय	विश्रुत—प्रसिद्ध	२१८
वेजयन्ती	विजयपताका	८६
वेढिम	वेष्टिम—जलेबी	२४२
वेतिय	वेदिका, चबूतरा	२१
वेयत्थी	वेदविहित अनुष्ठान के अर्थी	२३

सरड	गिरगिट नामक जीवविशेष	१८
सरण	शरण—स्थलविशेष	७१
सरब	जन्तुविशेष	१४
सल्लय	जीवविशेष	७१
ससमय	स्वसमय—स्वकीय सिद्धान्त	२४८
ससय	शशक—खरगोश	१३, ७१
साउणिया	पक्षीमार—व्याध	२४
साल	शाखा—वृक्ष की डाली	१४१
साली	शाली धान्य विशेष	७४
साहसिय	साहसी—विना फल सोचे काम करने वाला	५३
साहारणसरीर	साधारण शरीर (जीव विशेष)	२०
सिद्धाति (इ) गुणा	सिद्धो के गुण	२३७
सिद्धावासो	सिद्धावास, अहिंसा का ३४वा नाम	१६१
सिप्प	शिल्पकला	१४८
सियाल	शृगाल	१३
सिरियदलग	श्रीकन्दलक	१३
सिलप्पवाल	शिलाप्रवाल	२००
सिव	शिव—उपद्रव रहित, अहिंसा का ३७वा नाम	१६१
सिहरि	शिखरी नामक पर्वत	१४६
सिहरिणि	दही और शक्कर से बना पेयविशेष—श्रीखड	२४२
सीमागार	एक प्रकार का ग्राह	१३
सीया	सीता	१३७
सीया	शिबिका—बडी पालकी	२२
सील	शील, अहिंसा का ३९वा नाम	१६१
सीलपरिघरो	शीलपरिग्रह, अहिंसा का ४१वा नाम	१६१
सीसक	सीसा	२४१
सीह	सिंह	१३
सीहल	सिहल देश	२५
सूइ	व्यूहविशेष	८७
सुईमुह	सूचीमुख—तीखी चोच वाला पक्षी	१५
सुक (य)	तोता	७२
सुकय	सुकृत	५९
सुघोस	घटा	२५३
सुणग	कुत्ता	३८
सुय	तोता	१५
सुयनाणी	श्रुतज्ञानी	१६७

सुयग	श्रुतज्ञान, अहिंसा का ६वा नाम	१६१
सुरूवविज्जुमतीए	सुरूपविद्युन्मती (विशेष नाम)	१३८
सुवण्णगुलिया	सुवर्णगुलिका (विशेष नाम)	१३७
सुसाण	श्मशान	२०७
सुहुम	सूक्ष्म	२०, १३८
सूई	सूची—सूई	११७
सूकरे	सूअर	७१
सूती	शुचि, अहिंसा का ५६वा नाम	१६२
सूप	दाल	२०९
सूयग	चुगलखोर	५३
सूयगड	सूत्रकृताङ्ग	२३२
सूल	शूली	३२
सूलिय	शूली	२२
सूसरपरिवादिणी	वीणाविशेष	२५३
सेण	श्येन—बाजपक्षी	१५
सेणावती	सेनापति	१४६
सेउ (तु)	पुल	२१
सेय	स्वेद, पसीना	२२२
सेल	पाषाण	१२२
सेल्लक	शल्यक जन्तु	१४
सेह	शरीर पर काटे वाला जन्तु—सेही	१४
सेहुव	रायता आदि	२५८
सोणिय	रक्त	१६
सोणि	कटि	१३२
सोत्थिय	स्वस्तिक	११७
सोम्म	सौम्य	१३२
सोय	शोक	२३
सोयरिया	सूअरो का शिकार करने वाले	२४
सकड	व्याप्त	२८
सकम	उतरने का मार्ग	२१
सकरो	वस्तुओ का परस्पर मिलाना, परिग्रह का ७ वा नाम	१४३
सकुल	व्याप्त	२९
सख	शङ्ख	१२
सघयण	अस्थियो की शारीरिक रचना	१२७
सचयो	चय—वस्तुओ की अधिकता, परिग्रह का दूसरा नाम	१४३
सजमो	सयम, अहिंसा का एक नाम	१६१

सठाण	सस्थान—शारीरिक आकृति	१२७
सडासतोड	सडास की आकृति की तरह मु ह वाला जीव	२६
सथवो	वाह्य पदार्थो का अधिक परिचय, परिग्रह का २२ वा नाम	१४३
सधिच्छेय	खात खोदने वाला	८६
सपाउप्पायको	झूठ आदि पाप को करने वाला, परिग्रह का १८ वा नाम	१४३
सदण	युद्धरथ तथा देवरथ	२२
सबह	सबाघ, वस्ती विशेष	१४१
सबर	साभर	१३
सभारो	सभार, जो अच्छी तरह से धारण किया जाय, परिग्रह का छठा नाम	१४३
समुच्छिम	सम्मूर्च्छिम, बिना गर्भ के उत्पन्न होने वाला जीव	१३८
सवरो	सवर, अहिंसा का ४२ वा नाम	१६२
सवट्टगसखेवो	हिंसा का एक नाम	९
ससग्गि	मैथुन का एक नाम	११३
ससेइम	पसीने से पैदा होने वाला जीव	१३८
सरक्खणा	सरक्षणा—मोहवश शरीर आदि की रक्षा करना, परिग्रह का १६ वा नाम	१४३
सिग	सींग	१६
सु सुमार	जलचर जन्तुविशेष	१३
हडि	काष्ठ का खोडा	६६
हत्थि	हाथी	२५७
हत्थिमड	हाथी का कलेवर	२५७
हणि हणि	प्रतिदिन	२०८
हत्थदुय	हस्तान्दुक, एक प्रकार का वन्धन	६६
हय	घोडा	१३
हयपु डरिय	हृदपुण्डरीक पक्षी	१५
हरिएसा	चाण्डाल	२४
हल	हल	१२३
हस्स	हास्य	२३
हितयत	हृदय और आत	१६
हिमवत	इस नाम का पर्वत	२१३
हिरण्ण	चादी	२४१
हीण	हीन	४७
हीणसत्ता	सत्त्व से रहित	४७
हुलिय	शीघ्र	२८
हूण	हूण नामक जाति	२५

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमो मे जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल मे स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियो मे भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायो का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थो का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या सयुक्त होने के कारण, इन का भी आगमो मे अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, त जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, त जहा—अट्ठी, मस, सोणिते, असुतिमामते, सुसाणसामते, चदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गथाण वा, निग्गथीण वा चउहि महापाडिवएहि सज्झाय करित्तए, त जहा—आसाढपाडिवए, इदमहपाडिवए, कत्तिअपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, चउहि सझाहि सज्झाय करेत्तए, त जहा—पडिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, चाउक्काल सज्झाय करेत्तए, त जहा—पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं। जिनका सक्षेप मे निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नही करना चाहिए।

२ दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पडे कि दिशा मे आग सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नही करना चाहिए।

३ गर्जित—बादलो के गरजने पर दो प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

४ विद्युत—बिजली चमकने पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।
किन्तु गर्जन और विद्युत् का अस्वाध्याय चातुर्मास मे नही मानना चाहिए। क्योकि वह

गर्जन और विद्युत प्राय ऋतु स्वभाव से ही होता है। अत आर्द्रा मे स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नही माना जाता।

५ निर्घात—बिना बादल के आकाश मे व्यन्तरादिकृत घोर गर्जन होने पर, या बादलो सहित आकाश मे कडकने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६ यूपक—शुक्ल पक्ष मे प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनो प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

७ यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा मे बिजली चमकने जैसा, थोडे थोडे समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अत आकाश मे जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

८ धूमिका कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघो का गर्भमास होता है। इसमे धूम वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पडती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पडती रहे, तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

९. मिहिकाश्वेत—शीतकाल मे श्वेत वर्ण का सूक्ष्म जलरूप धुंध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१० रज उद्घात—वायु के कारण आकाश मे चारो ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नही करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के है।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३ हड्डी मास और रुधिर—पचेन्द्रिय तिर्यंच की हड्डी मास और रुधिर यदि सामने दिखाई दे, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओ के होने पर अस्वाध्याय मानते है।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मास और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एव बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमश सात एव आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४ अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५ श्मशान—श्मशानभूमि के चारो ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

१७ सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमश आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१ श्री सेठ मोहनमलजी चोरडिया, मद्रास
२ श्री गुलाबचन्दजी मागीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३ श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४ श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरडिया, बैंगलोर
५ श्री प्रेमराजजी भवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६ श्री एस किशनचन्दजी चोरडिया, मद्रास
७ श्री कवरलालजी बेताला, गोहाटी
८ श्री सेठ खीवराजजी चोरडिया, मद्रास
९ श्री गुमानमलजी चोरडिया, मद्रास
१० श्री एस बादलचन्दजी चोरडिया, मद्रास
११ श्री जे दुलीचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१२ श्री एस रतनचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१३ श्री जे अन्नराजजी चोरडिया, मद्राम
१४ श्री एस सायरचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१५ श्री आर शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१६ श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१७ श्री जे हुक्मीचन्दजी चोरडिया मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१ श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२ श्री जसराजजी गणेशमलजी सचेती, जोधपुर
३ श्री तिलोकचदजी सागरमलजी सचेती, मद्रास
४ श्री पूसालालजी किस्तूरचदजी सुराणा, कटगी
५ श्री आर प्रसन्नचन्दजी चोरडिया, मद्रास
६ श्री दीपचन्दजी बोकडिया, मद्रास
७ श्री मूलचन्दजी चोरडिया, कटगी
८ श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९ श्री मागीलालजी मिश्रीलालजी सचेती, दुर्ग

संरक्षक

१ श्री बिरदीचदजी प्रकाशचदजी तलेसरा, पाली
२ श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३ श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेडता सिटी
४ श्री शा० जडावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५ श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपडा, ब्यावर
६ श्री मोहनलालजी नेमीचदजी ललवाणी, चागाटोला
७ श्री दीपचदजी चन्दनमलजी चोरडिया, मद्रास
८ श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चागाटोला
९ श्रीमती सिरेकुंवर बाई धर्मपत्नी स्व श्री सुगनचदजी झामड, मदुरान्तकम्
१० श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K G F) जाडन
११ श्री थानचदजी मेहता, जोधपुर
१२ श्री भैरुदानजी लाभचदजी सुराणा, नागौर
१३ श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४ श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया, ब्यावर
१५ श्री इन्द्रचदजी बैंद, राजनादगाव
१६ श्री रावतमलजी भीकमचदजी पगारिया, बालाघाट
१७ श्री गणेशमलजी धर्मीचदजी काकरिया, टगला
१८ श्री सुगनचन्दजी बोकडिया, इन्दौर
१९ श्री हरकचदजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२० श्री रघुनाथमलजी लिखमीचदजी लोढा, चागाटोला
२१ श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चागाटोला

२२ श्री सागरमलजी नोरतमलजी पीचा, मद्रास
२३ श्री मोहनराजजो मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४ श्री केशरीमलजी जवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५ श्री रतनचदजी उत्तमचदजी मोदी, ब्यावर
२६ श्री धर्मीचदजी भागचदजी बोहरा, झूठा
२७ श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढा, डोडीलोहारा
२८ श्री गुणचदजी दलीचदजी कटारिया, बेल्लारी
२९ श्री मूलचदजी सुजानमलजी सचेती, जोधपुर
३० श्री सी० अमरचदजी बोथरा, मद्रास
३१ श्री भवरीलालजी मूलचदजी सुराणा, मद्रास
३२ श्री बादलचदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३ श्री लालचदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४ श्री हीरालालजी पन्नालालजी चोपडा, अजमेर
३५ श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बेंगलोर
३६ श्री भवरीमलजी चोरडिया, मद्रास
३७ श्री भवरलालजी गोठी, मद्रास
३८ श्री जालमचदजी रिखबचदजी बाफना, आगरा
३९ श्री घेवरचदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४० श्री जवरचदजी गेलडा, मद्रास
४१ श्री जडावमलजी सुगनचदजी, मद्रास
४२ श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३ श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४ श्री लूणकरणजी रिखबचदजी लोढा, मद्रास
४५ श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१ श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी, मेडतासिटी
२ श्री छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३ श्री पूनमचदजी नाहटा, जोधपुर
४ श्री भवरलालजी विजयराजजो काकरिया, विल्लीपुरम्
५ श्री भवरलालजी चोपडा, ब्यावर
६ श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७ श्री बी गजराजजी बोकडिया, सलेम
८ श्री फूलचन्दजी गोतमचन्दजी काठेड, पाली
९ श्री के पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१० श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११ श्री मोहनलालजी मगलचदजी पगारिया, रायपुर
१२ श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३ श्री भवरलालजी गोतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४ श्री उत्तमचदजी मागीलालजी, जोधपुर
१५ श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६ श्री सुमेरमलजी मेडतिया, जोधपुर
१७ श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टाटिया, जोधपुर
१८ श्री उदयराजजी पुखराजजी सचेती, जोधपुर
१९ श्री बादरमलजी पुखराजजी बट, कानपुर
२० श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री जवरीलालजी गोठी, जोधपुर
२१ श्री रायचदजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२ श्री घेवरचदजी रूपराजजी, जोधपुर
२३ श्री भवरलालजी माणकचदजी सुराणा, मद्रास
२४ श्री जवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५ श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेडतासिटी
२६ श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७ श्री जसराजजी जवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८ श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९ श्री नेमीचदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३० श्री ताराचदजी केवलचदजी कर्णावट, जोधपुर
३१ श्री आसूमल एण्ड क०, जोधपुर
३२ श्री पुखराजजी लोढा, जोधपुर
३३ श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी साड, जोधपुर
३४ श्री बच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
३५ श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६ श्री देवराजजी लाभचदजी मेडतिया, जोधपुर
३७ श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८ श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टाटिया, जोधपुर
३९ श्री मागीलालजी चोरडिया, कुचेरा